डा. गणपतिचन्द्र गुप्त

रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन

डा. गणपतिचन्द्र गुप्त

रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन

रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन

(भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के आधार पर आधुनिक दृष्टि से रस-सिद्धान्त का पुनराख्यान, संशोधन व पुनर्निर्माण ।)

•

रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन

•

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
हिमाचल-प्रदेश–विश्वविद्यालय,
स्नातकोत्तर केन्द्र, शिमला-३

•

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६

© डा० गणपतिचन्द्र गुप्त

● नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दरयागंज, दिल्ली-६

● प्रथम संस्करण : १९७१

● प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

मूल्य : ३५ रुपये मात्र

Ras Siddhant ka Punrvivechan

(Reorientation of the theory of 'Ras' or poetic-experience, based on Indian and Western Poetics, Aesthetics, Modern Psychology and Psycho-analysis.)

By

Dr. Ganpati Chandra Gupta, M.A., PH.D. D.LITT.

Price. Rs. 35/- Only.

●

समर्पित

आचार्य प्रवर **डा० नगेन्द्र** को, जिन्होंने भारतीय व पाश्चात्य
काव्यशास्त्र की धाराओं को हिन्दी की भूमि पर
अवतरित करते हुए रस-सिद्धान्त को नयी शक्ति,
नयी गति, एवं नूतन दिशा प्रदान करने
का भगीरथ कार्य किया ।

•

संदर्भ

•

सृष्टि के विकास का यह अटल नियम है कि मूल शक्ति परम्परा और युग-धर्म के पारस्परिक द्वन्द्व व आकर्षण -विकर्षण की क्रिया-प्रक्रिया से ही परिस्थितियों के अनुकूल रूप-परिवर्तन या रूप-विस्तार करती हुई आगे बढती है—यह न केवल दर्शन का अपितु आधुनिक विज्ञान का भी सुप्रतिष्ठित एवं सर्वमान्य नियम है। यह न केवल भौतिक पदार्थों व वस्तुओं तथा अर्द्ध चेतन व चेतन प्राणियों पर, अपितु व्यक्ति समाज, राष्ट्र तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न विषयों, विचारों, धारणाओं व सिद्धान्तों पर भी लागू होता है। मनुष्य की भाषा से लेकर उसके तत्त्व-चिन्तन की सूक्ष्माति-सूक्ष्म उपलब्धियों का भी यदि विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनकी शक्ति व विकास-प्रक्रिया का मूल आधार देश और काल, परम्परा और युगधर्म, पृष्ठभूमि व वातावरण की उभयपक्षी प्रवृत्तियों के आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रिया से उपलब्ध नूतन रूप रहा है। प्रत्येक वस्तु इन उभयपक्षी तत्त्वों के प्रभाव से निरन्तर परिवर्तनशील एवं विकासोन्मुखी रहती है, अन्यथा वह जड़, निष्पन्द, और गतिशून्य होकर अपना अस्तित्व किसी अन्य पदार्थ में विलीन कर देती है। जीवन का अर्थ ही परिवर्तन-शीलता एवं विकासोन्मुखता है तो स्थिरता, जड़ता एवं निष्क्रियता का ही दूसरा नाम मृत्यु है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने-विचारने वाला कोई भी व्यक्ति न तो परिवर्तनशीलता और विकसोन्मुखता की और न ही उसके आधारभूत उभयपक्षी तत्त्वों—परम्परा और युग-धर्म—की उपेक्षा कर सकता है। वस्तुतः विकास के लिए वंश-परम्परा और वातावरण—दोनों का ही द्वन्द्व या आकर्षण-विकर्षण अपेक्षित है ; दोनों में से किसी एक की अवहेलना करना द्वन्द्व की प्रक्रिया को अस्वीकार करना है, जिसके अभाव में विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। फिर भी प्राचीन और मध्यकाल में परम्परा के अंध भक्तों की एवं आधुनिक काल में वातावरण या युग-धर्म के कट्टर उपासकों की प्रमुखता प्रायः रही है ; किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों ही एकांगी, एक पक्षीय एवं अतिवादी सिद्ध होते हैं। अवश्य ही वे अपने-अपने एक पक्षीय तत्त्व को लेकर वाद-विवाद की पटुता, स्वपक्ष-प्रतिपादन का कौशल एवं वैयक्तिक अहं का प्रदर्शन करते हुए स्वधर्म का पालन करते रहे हैं—तथा भावात्मक दृष्टि से उनका धैर्य्य व साहस प्रशंसनीय भी है, क्योंकि दोन पैरों

के स्थान पर एक ही टांग के बल पर दौड़ में भाग लेने वाला अवश्य ही दर्शकों की सहानुभूति व प्रशंसा का पात्र सिद्ध होता है, यह दूसरी बात है कि वह लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व ही लड़खड़ा जाय किन्तु वह हमारी दया का पात्र तब बनता है जबकि वह यह सिद्ध करने का प्रयास करने लगता है कि उसका एकांगी प्रयास ही स्वाभाविक, उत्तम, सर्वोत्तम एवं संगत था !

हमारे विचार से अपनी एकांगिता को छिपाने के लिए परम्परावादी सदा 'आदर्शवाद' का लेबिल लगाकर तथा वातावरण-वादी 'यथार्थवाद' 'आधुनिकता' 'समसामयिकता' आदि विशेषणों से मंडित होकर न केवल अपनी दुर्बलताओं व सीमाओं को ही मूल्य और उपलब्धि सिद्ध करने का अपितु दूसरों को भी चौंकाने व भ्रमित करने का प्रयास करते रहे हैं। किन्तु, शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि इससे भ्रमित नहीं होती, वह दोनों पक्षों की सीमाओं व अतिवादिताओं को पहचानती हुई—दोनों को ही व्यापक एवं समन्वयात्मक दृष्टि अपनाने की प्रेरणा देती है।

अस्तु, हम स्वयं चाहे परम्परा की भक्ति करें या युग-बोध का गुणगान—किन्तु वास्तविकता यह है कि हम इनमें से किसी भी एक का तिरस्कार करके आगे बढ़ने या विकासोन्मुख होने का प्रयास नहीं कर सकते, यदि प्रयास करेंगे भी तो वह निरर्थक सिद्ध होगा। जिन्हें विकास-प्रक्रिया के वैज्ञानिक नियम का थोड़ा भी ज्ञान हैं, उन्हें इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक समझाना अनावश्यक है और जिन्हें उक्त प्रक्रिया का प्रारंभिक ज्ञान भी नहीं है, उन्हें भी इस सम्बन्ध में कुछ अधिक बताना —जब तक कि वे इस प्रक्रिया का अध्ययन नहीं कर लेते—व्यर्थ सिद्ध होगा।

उपर्युक्त विवेचन का संदर्भ यह है कि आज काव्य-शास्त्र एवं साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में परंपरावादी एवं युगवादी—दोनों का संघर्ष चल रहा है; परंपरावादी अतीत की उपलब्धियों को यथावत् सुरक्षित रखना चाहते हैं तो युगवादी या नूतन-तावादी अतीत से कुछ भी ग्रहण न करने की सौगन्ध खाये बैठे हैं—इतना ही नहीं, वे परम्परागत सारी उपलब्धियों को गंगा में बहाकर 'युग-बोध' के हवाई महल में ही अपनी एक ऐसी नयी दुनिया बसाना चाहते हैं जिसका परम्परा की भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। ऐसे ही उत्साही नवयुवकों ने एक बार नया 'क, ख, ग' नामक पत्र प्रकाशित करते हुए उद्घोषित किया था कि वे अतीत से कुछ भी ग्रहण न करके सब-कुछ नया स्थापित करेंगे; परम्परागत ज्ञान को ठुकराकर नया 'क, ख,ग' आरंभ करेंगे किन्तु ये भूल गये कि जिस नये 'क ख, ग' का श्री गणेश वे कर रहे हैं, वह स्वयं पुराना है, उसका आधार पुराना है, रूप पुराना है, और क्रम भी पुराना है ! फिर जिस भाषा में उन्होंने दावा किया वह भाषा भी पुरानी है—इतनी पुरानी कि उसकी उपलब्धि के लिए मानव जाति को लाखों-करोड़ों बर्ष तक साधना करनी पड़ी। वस्तुतः आज हमारे मस्तिष्क में भाषा-ज्ञान तत्त्व-चिन्तन, विषय-बोध आदि के रूप में जो कुछ भी विद्यमान है, वह आज का

नहीं है, उसके पीछे युग-युगों की साधना व उपलब्धि का आधार है। फिर कला क्षेत्र में तो केवल ऊपरी चेतन मन ही नहीं, 'युग के अनुसार उस' सामूहिक अचेतन मन' की सामग्री का उपयोग होता है जिसका सम्बन्ध हमारी पूरी मानव-जाति व आदि वंश-परम्परा के अर्जित व विकसित संस्कारों से है: उसे ठुकराकर नया श्री गणेश करने का दावा करने का दुस्साहस वही व्यक्ति कर सकता है जो पुन: वन मानुष की स्थिति में लौटने की क्षमता और आकांक्षा रखता हो। वस्तुत: परंपरा का उच्छेद करने या उसे काटने अथवा उससे कटने व विमुक्त होने का प्रयास दन्त कथाओं के उस कालिदास के प्रयास के तुल्य है जो जिस शाखा पर बैठा था, उसी का उच्छेद कर रहा था ! अवश्य ही यह मूर्खता भी उसके लिए सबसे बड़ी योग्यता सिद्ध हुई—और हम नहीं जानते, संभव है कि हमारे ये नूतनतावादी विद्वान् भी संयोग से उक्त कालिदास की ही भाँति किसी महत्ता, योग्यता या उपलब्धि के पात्र बन जायँ—फिर भी काव्य-क्षेत्र एवं साहित्य-चिन्तन के समग्र बोध की दृष्टि से यह एकांगी दृष्टिकोण उपलब्धि का सूचक सिद्ध होगा—इसमें हमें संदेह है।

दूसरी ओर वे लोग भी हैं, जिनके मतानुसार भरत का श्लोक वेद-वाक्य है, उसमें संशोधन-परिवर्तन करना पूर्वजों का अपमान करना है। हमारे 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के सम्बन्ध में एक श्रद्धालु पाठक ने लिखा था—आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन, नामकरण एवं मत-स्थापन का खंडन करके मैंने उनकी स्वर्गस्थ आत्मा को ठेस पहुँचाने का भारी अपराध किया है। ऐसे श्रद्धालुजनों की शंकाओं का निराकरण करना और भी कठिन है। नूतनतावादी या अनास्थावादियों को भले ही कुछ समझाया जा सके क्योंकि वे कम से कम बुद्धि का उपयोग करने को तो प्रस्तुत हैं, किन्तु जिनके लिए बुद्धि का प्रयोग ही भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाला सिद्ध होता है—उनके लिए कोई भी युक्ति या तर्क बेकार है !

रस-सिद्धान्त भारतीय चिन्तन की लगभग दो सहस्राब्दियों की साधना की देन है। आचार्य भरत से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक कितने ही मनीषियों व आचार्यों ने अपनी-अपनी चिन्तना का योग देकर इसे परिष्कृत व विकसित किया है। दूसरी ओर पाश्चात्य चिन्तन के क्षेत्र में भी जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, रूसी, आदि अनेक भाषाओं में कला के एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा मिलती है, जो भाव के विभिन्न अंगों—विभावादि—के चित्रण को या उसकी अभिव्यक्ति को ही कला का लक्ष्य मानता हुआ, निर्वैयक्तिकता एव समानुभूति के द्वारा कलाकार एवं पाठक में तादात्म्य की स्थापना से उपलब्ध सौन्दर्यात्मक भाव' (Aesthetic emotion) को ही कलानुभूति या आनन्दानुभूति का मूलाधार स्वीकार करता है तथा कला का वर्गीकरण भी उसमें व्यक्त भाव की प्रमुखता—रति, करुण, हास्य, औदात्य—के आधार पर करता है ; वस्तुत: ये सारी स्थापनाएँ रस-सिद्धान्त से इतना गहरा साम्य रखती हैं कि उसे यदि 'पाश्चात्य रस-सिद्धान्त' कहदें तो अनुचित न होगा। वहाँ इसे 'भाव-सिद्धान्त'

'सौन्दर्यात्मक भाव का सिद्धान्त', 'भावाभिव्यंजना का सिद्धान्त' कहा गया है, जो शाब्दिक दृष्टि से भिन्न प्रतीत होता हुआ भी अर्थ एवं स्थापनाओं की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का समानधर्मा है। वस्तुतः यह सिद्धान्त भारतीय रस-सिद्धान्त का अप्रत्यक्ष में अनुमोदक व समर्थक होता हुआ, अनेक दृष्टियों से उसका व्याख्याता व पूरक भी सिद्ध होता है। भारतीय आचार्यों की अनेक स्थापनाएँ—विशेषतः साधारणीकरण की प्रक्रिया एवं रसानुभूति के स्वरूप से सम्बन्धित—पाश्चात्य भाव-सिद्धान्त के अनुयायियों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं मनोवैज्ञानिक रूप में विवेचित हुई हैं। अस्तु, भारतीय रस-सिद्धान्त एवं पाश्चात्य भाव-सिद्धान्त के तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक विवेचन से इन दोनों ही सिद्धान्तों को एक नूतन, स्पष्ट, समन्वित एवं व्यापक रूप दिया जा सकता है।

रस-सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्वों व प्रक्रियाओं का सम्बन्ध सौदर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से भी है। वस्तुतः सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से 'रस' कलानुभूति या सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic experience) का पर्याय है, अतः सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत सौन्दर्य-शास्त्र में जो सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन-विश्लेषण हुआ है, उसका उपयोग रस-सिद्धान्त के विवेचन या पुनर्विवेचन में सम्यक् रूप में किया जा सकता है। इसी प्रकार स्थायी भाव के स्वरूप-निर्धारण, संचारी भावों, आदि के विश्लेषण, रसानुभूति की प्रक्रिया, काव्य-सर्जन की प्रक्रिया आदि की व्याख्या के लिए मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण की उपलब्धियों को आधार बनाया जा सकता है।

रस के अतिरिक्त रसेतर सिद्धान्त—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुकृति, उदात्त, बिम्ब, प्रतीक आदि की—भी अन्ततः काव्यानुभूति या रसानुभूति की ही व्याख्या एक भिन्न कोण से करते हैं, अतः उनकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध के पाँच खण्डों में हमारा लक्ष्य क्रमशः परम्परागत एवं पाश्चात्य रस-परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन, सौन्दर्य-शास्त्र व मनोविज्ञान के आधार पर उसका विवेचन-विश्लेषण तथा आधुनिक दृष्टि से उसमें अपेक्षित संशोधन-परिवर्तन व परिवर्द्धन करते हुए रस-सिद्धान्त को एक व्यापक एवं संगत रूप में प्रतिष्ठित करने का रहा है। इस लक्ष्य की पूर्ति में हमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है—इसका निर्णय तटस्थ दृष्टि से सोचने वाले विद्वान आचार्य ही करेंगे। अपना लक्ष्य तो अपनी सूझ-बूझ के अनुसार दिशा-विशेष में दौड़ लगाने का ही रहा है।

पुस्तक की रचना में अनेक मित्रों व आत्मीय जनों से प्रेरणा व प्रोत्साहन मिलता रहा है। सुपुत्र रमेश व सुपुत्री चन्द्रकला ने पांडुलिपि तैयार करने में, मुद्रक महोदय श्री प्रेमचन्द्र जैन ने पुस्तक को शीघ्र मुद्रित करवाने में सहयोग प्रदान किया है किन्तु इन सबको धन्यवाद देकर अपना भार हलका क्यों करूँ ! अन्ततः भार-शून्य जीवन की स्थिति कहाँ है !

—गणपतिचन्द्र गुप्त

अनुक्रम

● **प्रथम खंड : रस-सिद्धान्त की भारतीय परम्परा**

१, भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र और रस-सिद्धान्त ३
२. आचार्य भरत मुनि का कला-दर्शन ८
३. आचार्य भरत का रस-विवेचन १४
४. भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद २२
५. आचार्य शंकुक का अनुकृतिवाद ३१
६. भट्टनायक का भुक्तिवाद ३९
७. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ४५
८. अभिनव-गुप्त-परवर्ती युग में रस-सिद्धान्त का विकास ५६

● **द्वितीय खंड : रस-सिद्धान्त की पाश्चात्य परम्परा**

१- पाश्चात्य रस-सिद्धान्त : सामान्य परिचय ६९
२. पाश्चात्य रस-सिद्धान्त :भावोद्दीप्तिवादी मत ७२
३. पाश्चात्य रस-सिद्धान्त : भावावलम्बनवादी मत ८०
४. पाश्चात्य रस-सिद्धान्त : भावाभिव्यक्तिवादी मत ९६
५. पाश्चात्य रस-सिद्धान्त : भाव-प्रेषणवादी मत १११

● **तृतीय खंड : रस-सिद्धान्त की सौन्दर्य-शास्त्रीय व्याख्या**

१. सौन्दर्य-शास्त्र : सामान्य परिचय १२१
२. सौन्दर्य-शास्त्र अर्थात् रस-शास्त्र १३२
३. 'रस' : सौन्दर्य-शास्त्रीय शब्दावली में १३५
४. रसानुभूति का कलागत आधार १४३
५. सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति : प्रकृति एवं स्वरूप १६३
६. सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया १७२
७. करुण,त्रासादि से रसानुभूतिका रहस्य १८६
८. रसानुभूति के लिए अपेक्षित सामाजिक की क्षमताएँ १९४

● **चतुर्थ खंड : रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विवेचन**

१. मनोविज्ञान : सामान्य परिचय २०३
२. भाव व स्थायीभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन २०९
३. संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक विवेचन २०३

४. विभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन २५७
५. अनुभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन २७३

● पंचम खंड : रस-सिद्धान्त : संशोधन व पुनर्निर्माण

१. रस-सिद्धान्त का पुनर्निर्माण : क्यों और कैसे ? २९५
२. रस : व्यापक संदर्भ में ३१२
३. रस : समन्वयात्मक दृष्टि से ३२३
४. बौद्धिक रस : एक स्थापना ३३१
५. कल्पना और शैली की दृष्टि से रस का विवेचन ३४७
६. रस-भेद एवं काव्य-रूप : पुनर्विवेचन ३५४
७. साहित्य की सर्जनप्रक्रिया और रस-सिद्धान्त ३७८
८. रस-सिद्धान्त का व्यापक रूप : स्थापनाएँ ३८८

परिशिष्ट—सहायक पुस्तक सूची ३९८

●

प्रथम खंड

रस सिद्धान्त की भारतीय परम्परा

१

भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र और रस-सिद्धान्त

जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में अठारहवीं शती से पूर्व 'सौन्दर्य-शास्त्र' (Aesthetics) नाम के किसी विशिष्ट विषय का अस्तित्व नहीं था, कलागत सौन्दर्य की मीमांसा दर्शन एवं काव्य-शास्त्र के अंतर्गत ही होती थी, उसी प्रकार भारत में भी इस प्रकार के किसी स्वतन्त्र विषय का आस्तित्व आधुनिक युग से पूर्व दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी 'सौन्दर्य-शास्त्र' के अन्तर्गत मुख्यतः कलागत सौन्दर्य की मीमांसा होती है तथा काव्य को सर्वोत्कृष्ट कला के रूप में स्वीकार किया जाता है, अतः इस दृष्टि से प्राचीन काव्य-शास्त्र के आधार पर 'सौन्दर्यं-शास्त्र'की स्थापना भली-भाँति की जा सकती है। वस्तुतः भारत में काव्य-शास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ—भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र'—विषय-वस्तु की व्यापकता एवं विवेचन की गम्भीरता की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि उसका नाम 'नाट्य-शास्त्र' के स्थान पर 'सौन्दर्य-शास्त्र' भी रख दिया जाय तो अनुचित नही होगा। एक तो 'नाट्य-शास्त्र' का सर्व प्रमुख विवेच्य तत्त्व 'रस' है—रस का सम्बन्ध संवेदनाओं एवं भावनुभूतियों से है। उधर 'Aesthetic' (ईस्थेटिक्स=सौन्दर्य शास्त्र) का भी मूल अर्थ 'संवेदनाओं का विवेचन करने वाला शास्त्र' है। दूसरे, 'नाट्य-शास्त्र' में न केवल नाटक और कविता का अपितु वास्तुकला चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि का भी विवेचन है, इस दृष्टि से भी यह 'सौन्दर्य-शास्त्र' की सी व्यापकता का परिचायक है। तीसरे, इसमें कलाओं की प्रेरणा, प्रयोजन, लक्ष्य, मूलाधार आदि के सम्बन्ध में ऐसे संकेत दिये गये हैं जिनके आधार पर 'सौन्दर्य-शास्त्र' के सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। अतः इस ग्रन्थ को भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र के आदि ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाय तो अनुचित न होगा।

भरत-परवर्ती युग में हमारे कला-मीमांसकों का ध्यान मुख्यतः कलाओं के अन्तरंग तत्त्व की अपेक्षा उनके बाह्य रूपों के विश्लेषण की ओर अधिक रहा। छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक भारत में जिन कला सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई वे सभी रूपवादी (Formalist) हैं। ये सिद्धान्त क्रमशः इस प्रकार हैं—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि। इन्होंने मुख्यतः काव्य-कला को अपने विवेचन का केन्द्र बनाकर कला के रूप-पक्ष या काव्य-शैली की मीमांसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्रस्तुत की। पर दूसरी ओर तत्त्ववादी सिद्धान्त—रस की भी उपेक्षा नहीं हुई। रस-सिद्धान्त के अनुयायियों ने इसके विभिन्न पक्षों एवं उसके अनेक प्रश्नों पर मौलिक रूप से चिन्तन करते हुए साधारणीकरण की उस प्रक्रिया को खोजा जो कि आज भी सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में आस्वादन-प्रक्रिया सम्बन्धी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। वस्तुतः यह काल जहाँ भारतीय इतिहास में सभ्यता और संस्कृति के विकास की दृष्टि से स्वर्ण-युग माना जाता है, वहाँ सौन्दर्य-चिन्तना की दृष्टि से भी इसे सर्वोत्कृष्ट युग कहा जा सकता है।

ग्यारहवीं शती के आरम्भ से ही भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र के तत्त्ववादी एवं रूपवादी संप्रदायों में क्रमशः सामंजस्य स्थापित होने लगा। आचार्य अभिनवगुप्त एवं क्षेमेन्द्र इस क्षेत्र में अग्रणी हुए। अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि में मेल करवाकर, तथा क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' या 'समन्विति' (Harmony) का सिद्धान्त स्थापित करके तत्त्ववादी एवं रूपवादी सिद्धान्तों में संगति स्थापित करने का सफल प्रयास किया। फलतः मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति साहित्य-विवेचकों ने किसी एक सिद्धान्त को प्रमुखता देते हुए भी अन्य सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार सत्रहवीं शती के अन्त तक संस्कृत भाषा के माध्यम से भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र के विकास की पहली यात्रा अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर चुकी थी। यद्यपि इस दीर्घ यात्रा में मुख्यतः काव्य कला का ही विवेचन हुआ किन्तु फिर भी इसमें काव्य के जितने तत्त्वों एवं पक्षों का विवेचन हुआ, उनसे कलागत सौन्दर्य के अधिकांश तत्त्वों एवं पक्षों का स्पष्टीकरण हो जाता है। यथा—कलागत तत्त्वों एवं सौन्दर्यानुभूति सम्बन्धी विभिन्न पक्षों का रस सिद्धान्त में, कला के रूप-पक्ष—अलंकृति, वैचित्र्य, प्रतीकात्मकता आदि की अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि में, कला की स्वाभाविकता, सहजता, संतुलन, सामंजस्य समन्विति आदि की औचित्य सिद्धान्त में व्याख्या हुई है। फिर भी पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की तुलना में भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की कुछ विशेषताएँ और न्यूनताएँ भी स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। भारतीय सौन्दर्य-शास्त्री कला का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य सदा आनन्द को मानता रहा। उसका यह आनन्द तत्त्व पाश्चात्य उपयोगितावादियों के सुख, रूपवादियों के मनोरंजन, वैचित्र्यवादियों के चमत्कार, अनुभूतिवादियों के ऐन्द्रिय-सुख की अपेक्षा अधिक

सूक्ष्म, परिष्कृत एवं गम्भीर है। दूसरे, भारतीय सौन्दर्य-विवेचक कलाकार की वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिक की सहृदयता को अधिक महत्त्व देते रहे हैं—फलतः उन्होंने कला की सर्जन-प्रक्रिया की अपेक्षा सामाजिक की आस्वादन-प्रक्रिया का विश्लेषण अधिक गहराई से किया है। तीसरे, भारतीय चिंतना कलाओं के क्षेत्र में सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावाहारिक भी रही है, अत; उन्होंने कलाओं के दर्शन पक्ष के साथ-साथ उनके व्यवहार-पक्ष का भी विश्लेषण विस्तार से किया है। अस्तु, जहाँ उपर्युक्त दृष्टियों से भारतीय कला-मीमांसक पाश्चात्य सौन्दर्य-विवेचकों से आगे है, वहाँ वह अनेक दृष्टियों से पीछे भी है। कलाओं में केवल काव्य को ही महत्त्व देते हुए अन्य की उपेक्षा कर देना, स्रष्टा के व्यक्तित्व की विशिष्टता एवं सर्जन-प्रक्रिया के महत्त्व को गौण कर देना, कलाओं के विशिष्ट प्रयोजनों तथा युगीन परिस्थितियों एवं वातावरण सम्बन्धी प्रवृत्तियों को नगण्य सा मान लेना—भारतीय सौन्दर्य विवेचकों की सीमाओं का सूचक है। वस्तुतः भारतीय सौन्दर्य चिन्तक ने कलाकार को सदा एक सुशिक्षित, सुसंयमित एवं संतुलित साधक के रूप में ही ग्रहण किया, उसके व्यक्तित्व में कोई निजी विशिष्टता, स्वच्छन्दता या उच्छृंखलता भी हो सकती है तथा उनके कारण कला-कृतियों में विशिष्ट प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हो सकता है—इस ओर उसका ध्यान नहीं गया। कदाचित् भारतीय कलाकार की ही भाँति यहाँ के कला-विवेचक का भी मस्तिष्क प्रायः सामाजिकता के नियन्त्रण से युक्त रहा; इसी लिए भारतीय सौन्दर्य- शास्त्र में वैयक्तिक स्वच्छन्दता एवं असामाजिक तत्त्वों की प्रायः उपेक्षा हुई है।

हिन्दी में विकास—भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र एवं काव्य-शास्त्र का उपर्युक्त विवेचन मुख्यतः संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हुआ है; किन्तु हिन्दू राजाओं के पतन एवं मुस्लिम साम्राज्य की प्रतिष्ठा के कारण परवर्ती युग में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन बहुत सीमित हो गया। सत्रहवीं शती के अनन्तर संस्कृत में काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा समाप्त ही होगई। पंडितराज जगन्नाथ के 'रस-गंगाधर' को इस परम्परा का अन्तिम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है जो कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्य लिखा गया था। पर सौभाग्य से लगभग इसी समय हिन्दी के आचार्यों ने इस कार्य को संभाल लिया तथा उन्होंने उन्नीसवीं शती के अन्त तक इस परम्परा को अखंडित रखा। इन आचार्यों ने मुख्यतः ब्रजभाषा पद्य के माध्यम से संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों को सोदाहरण प्रस्तुत किया। इनके चिन्तन में नूतनता एवं मौलिकता का अभाव है तथा उसमें कई अन्य त्रुटियाँ भी हैं, पर फिर भी उनका महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्रीय परम्परा को खंडित नहीं होने दिया—शास्त्रीय ज्ञान के दीपक में भले ही उन्होंने कोई नया तेल नहीं उँडेला, पर उसकी ज्योति को बुझने नहीं दिया, यही कम महत्त्व की बात

नहीं है। विशेषतः उस युग में जब कि हम एक महान् सांस्कृतिक संकट में से गुजर रहे थे, हमारी इस परम्परा का लुप्त हो जाना बहुत स्वाभाविक था।

आधुनिक युग में भारतीय काव्य-शास्त्र का नवोत्थान हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' ग्रन्थ में परम्परा और युग-धर्म के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करते हुए भावी साहित्य-चिन्तकों का पथ-प्रदर्शन किया। यद्यपि प्रारम्भ में हिन्दी के आधुनिक विद्वान भी संस्कृत के तत्त्वों के रूपान्तरण एवं स्पष्टीकरण में ही लगे रहे किन्तु डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० गुलाबराय, आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र प्रभृति आचार्यों ने इसे आधुनिक दृष्टिकोण से संशोधित एवं परिवर्द्धित भी किया। इन्होंने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों तथा परिवर्तित वातावरण को ध्यान में रखते हुए परम्परागत सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया। डा० श्यामसुन्दर दास एवं डा० गुलाबराय के प्रयासों का महत्त्व नूतन दिशाओं की ओर संकेत करने की दृष्टि से है जब कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-सिद्धान्त' की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसमें अनेक क्रान्तिकारी संशोधन किये। आचार्य वाजपेयी ने भी अनेक परम्परागत धारणाओं पर पुनर्विचार करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को निकट लाने का प्रयास किया। इधर डा० नगेन्द्र ने रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, और रीति की पुनर्विवेचना पाश्चात्य ज्ञान के आलोक में करते हुए इस परम्परा को उसके प्रौढ़तम रूप तक पहुँचा दिया है। रस-शास्त्रीय चिन्तन की अब तक की परम्परा का सर्वोत्कृष्ट रूप उनके 'रस-सिद्धान्त' में दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार आधुनिक युग में भी भारतेन्दु के 'नाटक' से लेकर डा० नगेन्द्र के 'रस-सिद्धान्त' तक भारतीय काव्य-शास्त्र की नयी व्याख्या आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत की जा चुकी है। प्राचीन एवं आधुनिक—दोनों ही दृष्टियों से भारतीय काव्य-शास्त्र में सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त के रूप में रस-सिद्धान्त को ही मान्यता प्राप्त हुई है। वस्तुतः रस-सिद्धान्त न केवल समस्त भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन का सार है अपितु भारतीय संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट रूप का प्रतिनिधि भी है। भारतीय संस्कृति में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की द्वन्द्व की अपेक्षा समन्वय की, व्यक्ति की अपेक्षा समाज की, बाह्य रूपों की अपेक्षा आन्तरिक तत्त्वों की, वैचित्र्य की अपेक्षा सहजता की तथा क्षण की अपेक्षा स्थायित्व की महत्ता रही है तथा रस-सिद्धान्त में भी ये सभी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। वह काव्य के बाह्य स्थूल उपादानों की अपेक्षा उसके सूक्ष्म भाव तत्त्व को, विभिन्न पक्षों के आंतरिक द्वन्द्व की अपेक्षा विभाव, अनुभाव, संचारी के पारस्परिक समन्वय को, व्यक्ति-वैचित्र्य की अपेक्षा साधारणीकरण (=समाजीकरण) को, अलंकृति एवं चमत्कर की अपेक्षा सहज अभिव्यक्ति को और संचारी भावों की अपेक्षा स्थायी भाव को प्रमुखता प्रदान करता है। अस्तु, अन्य कला-सिद्धान्तों का महत्त्व होते हुए भी भारतीय दृष्टिकोण का सच्चा प्रतिनिधित्व तो रस-सिद्धान्त ही करता है। पर

इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अब इस सिद्धान्त में किसी प्रकार के संशोधन-परिवर्द्धन की गुंजायश नहीं है। प्रत्येक नये युग में परम्परा का नवीनीकरण युग-धर्म के अनुसार करना पड़ता है, तभी वह जीवित रह सकती है। परम्परा और युग-धर्म के समन्वय से ही उसका नूतन विकास होता है अन्यथा वह जड़ और निर्जीव रूढ़ि बनकर समाप्त हो जाती है। आधुनिक युगीन वातावरण एवं नये साहित्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इसमें अनेक संशोधन-परिवर्द्धन किये जाने की आवश्यकता है। एक तो आज की आस्था का केन्द्र धर्म और दर्शन न होकर विज्ञान है—अतः इसे वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किये जाने की आवश्यकता है। दूसरे, आज का साहित्यकार पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र एवं काव्य-शास्त्र की उपलब्धियों से चमत्कृत है, अतः इसे उनकी कसौटी पर भी परखना आवश्यक है। तीसरे, रस-सिद्धान्त मूलतः भावना-प्रधान काव्य पर आधारित है जबकि आज का साहित्य युगीन वातावरण के अनुरूप बौद्धिकता से युक्त होता जा रहा है तथा उसमें स्थायीभावों की अपेक्षा संचारी भावों को अधिक स्थान प्राप्त हो रहा है—अतः रस-सिद्धान्त में इसके अनुकूल संशोधन अपेक्षित हैं। चौथे, रस-सिद्धान्त कवि के व्यक्तित्व एवं सर्जन-प्रक्रिया की उपेक्षा करता है तथा कला के रूप-पक्ष एवं शैली के प्रति भी वह प्रायः उदासीन है। इसके अतिरिक्त रस-सिद्धान्त महाकाव्यों एवं नाटकों पर आधारित है, जबकि आज मुक्तकों और कहानियों का प्रचलन अधिक है। अतः इन सब परिस्थितियों के अनुरूप रस-सिद्धान्त का विकास अपेक्षित है। विकास का अर्थ मूल का उच्छेदन नहीं है अपितु उसमें निहित संभावनाओं को प्रतिफलित करना मात्र है—अतः इससे उन रूढ़िवादी विद्वानों को भी चिन्तित नहीं होना चाहिए जो कि परम्परा में किसी प्रकार का परिवर्तन पसन्द नहीं करते। अस्तु, आगे विभिन्न अध्यायों में हमारा लक्ष्य इसी दिशा में बढ़ने का है।

●

२ | आचार्य भरत मुनि का कला-दर्शन

रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध भारतीय चिन्तन की लगभग २५०० वर्ष पुरानी परम्परा से है। यद्यपि इसकी आधारभूत धारणाओं के प्रारम्भिक रूप का विकास आचार्य भरत मुनि (दूसरी शती ईसापूर्व से दूसरी शती ईस्वी के लगभग) के बहुत पूर्व हो चुका था किन्तु इसका सुव्यवस्थित प्रतिपादन सर्व प्रथम उनके 'नाट्यशास्त्र' में ही उपलब्ध होता है, अतः इस सिद्धान्त की स्थापना एवं प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हें' ही दिया जाता है।[1] ऐसी स्थिति में रस-सिद्धान्त को सम्यक् रूप में समझने के लिए उसके प्रतिष्ठाता के कला-दर्शन को समझ लेना उचित होगा। वैसे आचार्य भरत ने अपने कला सम्बन्धी विचारों को बहुत स्पष्ट एवं गम्भीर रूप में प्रस्तुत नहीं किया पर उनके 'नाट्यशास्त्र' में यत्र-तत्र ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर उनके कला-दर्शन की रूप रेखा तैयार की जा सकती है। अतः यहाँ इन्हीं संकेतों के आधार पर उनके कलादर्शन को कतिपय शीर्षकों में प्रस्तुत किया जाता है।

● कला की आधारभूत प्रवृत्ति : क्रीड़ा—

कला का आविष्कार मानव-मन की किस प्रवृत्ति के कारण हुआ—इस का उत्तर 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय की ग्यारहवीं कारिका में मिलता है, जहाँ नाट्य-कला सम्बन्धी एक वृत्तान्त दिया गया है। इसके अनुसार नाट्यकला की सृष्टि से पूर्व महेन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना करते हुए कहा कि हम एक ऐसा 'क्रीड़नीयकं' चाहते हैं जो दृश्य एवं श्रव्य हो। यहाँ 'क्रीड़नीयकं' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। अभिनवगुप्त ने 'क्रीड़नीयकं' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

---

१. 'रस-सिद्धान्त'—डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण; पृष्ठ १०

'जिसके द्वारा चित्तको बहलाया जा सके' या जिसके द्वारा चित्त का विनोद किया जा सके' या जो चित्त-विनोद के लिए हितकारी हो।[२] आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी व्याख्या में 'क्रीडनीयक' का पर्यावाची खिलौना' दिया है[३] जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसके लिए 'खेल' शब्द का प्रयोग किया है।[४] नाटक के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए इन सब अर्थों में से यहाँ 'खेल' या 'क्रीड़ा का एक प्रकार' अर्थ को ही ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

उपर्युक्त चर्चा से इस तथ्य का बोध होता है कि आचार्य भरत नाटक को, जिसे कि उन्होंने विभिन्न कलाओं का प्रतिनिधि माना है, एक प्रकार की क्रीड़ा मानते थे। दूसरे शब्दों में कलाओं के मूल में भी वहीं प्रवृत्ति कार्य करती है जो क्रीड़ाओं के मूल में करती है, अतः उसे भी एक विशिष्ट प्रकार की क्रीड़ा कहा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्चिम में भी हरबर्ट स्पेन्सर, शिलर आदि विद्वानों ने कला का मूल मनुष्य की क्रीड़ावृत्ति में सिद्ध किया है। सम्भवतः कलाओं को गम्भीर अर्थ में लेने वाले विद्वान् इस मान्यता को उपेक्षा की दृष्टि से देखें क्योंकि कला को क्रीड़ा की कोटि में रख देने पर वह शायद अत्यन्त तुच्छ एवं गौण वस्तु प्रतीत हो; पर वस्तुतः ऐसा नहीं है, इसे हम आगे स्पष्ट करते हैं।

सामान्यतः कलाओं के दो वर्ग माने जाते हैं—उपयोगी और ललित। अब प्रायः सभी विद्वान यह स्वीकार करने लग गये हैं कि ललित कलाएँ ही वास्तविक कलाएँ हैं—उपयोगी कलाओं को 'कला' न कहकर 'शिल्प' कहना अधिक उचित होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला-सृष्टि किसी उपयोगिता के विचार से नहीं होती। दूसरी ओर यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि केवल क्रीड़ा या खेल को छोड़कर मनुष्य की बहुत थोड़ी ऐसी क्रियाएँ होती हैं जो किसी न किसी उपयोगिता के विचार से शून्य हो। सम्भवतः कुछ लोग स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से क्रीड़ा या खेल में प्रवृत्त हो सकते हैं किन्तु उस स्थिति में क्रीड़ा विशुद्ध क्रीड़ा न रहकर व्यायाम बन जायगी। ध्यान रहे क्रीड़ा और व्यायाम में सूक्ष्म अन्तर है—क्रीड़ा स्वच्छन्द एवं अनियमित होती है तथा वह बाह्य नियन्त्रणों से मुक्त रहती है जबकि व्यायाम सर्वदा मर्यादित, नियमित एवं नियन्त्रित होता है। क्रीड़ा का संचालन मन की सहज प्रेरणा से होता है जबकि व्यायाम का बुद्धि की प्रेरणा से; एक का लक्ष्य आनन्द होता है जबकि दूसरे का हित-साधन। इस दृष्टि से जो बातें क्रीड़ा के सम्बन्ध में कही गयी हैं वे सब कला के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। अतः भरतमुनि का उपर्युक्त सिद्धान्त जहाँ एक ओर कला की मूलभूत वृत्ति पर प्रकाश

---

२. 'हिन्दी अभिनव भारती'—आचार्य विश्वेश्वर; पृष्ठ ६७
३. वही, पृष्ठ ६७
४. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा; पृष्ठ १

डालता है वहाँ वह उनके उस रस-सिद्धान्त के भी अनुकूल है जो कला का लक्ष्य आनन्द स्वीकार करता है। भारत के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों एवं दर्शनों में भी भौतिक जगत् की सृष्टि एवं अवतार-धारण के पीछे ब्रह्म की लीला या क्रीड़ा की प्रवृत्ति को स्वीकार किया गया है—अतः भरत का क्रीड़ा सिद्धान्त भारतीय दर्शनों के लीलावाद के भी अनुकूल है।

● कला की आवश्यकता : लोक-धर्म की प्रतिष्ठा

कलाकार के लिए कला-सृष्टि उसकी सहज क्रीड़ा वृत्ति का परिणाम है या उसकी दृष्टि में यह उसकी सहज क्रीड़ा का एक विशिष्ट प्रकार है, पर लौकिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी उसका विशिष्ट महत्त्व है। जब लोग 'ग्राम्य धर्म' अर्थात् असभ्य एवं शास्त्र-विपरीत आचरण में प्रवृत्त होने लगे, काम-लोभादि में फँस गये, ईर्ष्या-क्रोध आदि से अभिभूत हो गये, तो ऐसी स्थिति में ब्रह्मा से नाट्य-कला के लिए प्रार्थना की गयी।[५] इस प्रसंग से ध्वनित होता है कि लौकिक दृष्टि से कलाओं का महत्त्व जन साधारण को सुसभ्य एवं शास्त्रानुकूल आचरण में प्रवृत्त करने तथा उन्हें काम-लोभ, ईर्ष्या-द्वेष आदि तुच्छ भावनाओं से मुक्त करवाने की दृष्टि से है। संक्षेप में कहें तो कलाओं का कार्य लोक-धर्म की प्रतिष्ठा करना है।

यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि क्या आचार्य भरत की उपर्युक्त धारणा में उनके क्रीड़ा-सिद्धान्त से कोई असंगति नहीं? क्या यह धारणा उनके पूर्वोक्त सिद्धान्त के विपरीत नहीं पड़ती? अवश्य ही कला को एक ओर क्रीड़ा के रूप में स्वीकार करना किन्तु दूसरी ओर उसे लोकोपयोगी सिद्ध करना—परस्पर विरोधी प्रतीत होता है किन्तु गहराई से देखें तो ऐसा नहीं है। कलाकार कला-सर्जन अपनी सहज क्रीड़ा के रूप में ही करता है किन्तु यदि उससे दर्शकों का कोई हित हो जाय तो इससे उसकी क्रीड़ा-वृत्ति में क्या अन्तर पड़ता है! जंगल में मयूर अपनी मस्ती में आकर नाचता है किन्तु यदि उसे देखकर कोई सहृदय उल्लसित होकर झूम उठे तो इससे मयूर की क्या हानि होती है? अतः पहला सिद्धान्त जहाँ कलाकार की दृष्टि से है वहाँ दूसरा लोक-धर्म या सामाजिक की दृष्टि से है। यदि कलाकार की सृष्टि सामाजिक के हितों के प्रतिकूल होती तो उसे समाज द्वारा वह आदर नहीं मिलता जोकि उसे प्राप्त है।

उपर्युक्त निष्कर्ष का यह भी अर्थ नहीं है कि भरतमुनि ने कलाकार पर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा का उत्तरदायित्व आरोपित करके कला को विशुद्ध उपदेश-परक रूप प्रदान कर दिया है या उसमें नैतिक एवं सुसंस्कृत कार्यों के नियोजन का प्रतिबन्ध लगा दिया है। जैसाकि आगे भरतमुनि की अन्य धारणाओं के अध्ययन से

---

५. हिन्दी अभिनव-भारती, पृष्ठ ६६ (प्रथम अध्याय, कारिकाएँ)

स्पष्ट होगा—वे कला में किसी भी प्रकार की विषय-वस्तु एवं कार्य की नियोजना का विरोध नहीं करते, उसमें देवताओं के ही नहीं, राक्षसों के कृत्यों एवं आचरण का भी चित्रण किया जा सकता है; किन्तु कला के माध्यम से प्रस्तुत होने पर हम उनके स्वरूप का बोध तटस्थ रूप में कर पाते हैं—हमारा आचरण अच्छा है या बुरा—इसका बोध प्रत्यक्ष रूप में भले ही न कर पायें किन्तु कला के माध्यम से अवश्य कर पाते हैं—दूसरे, कलाजन्य आनन्द के आस्वादन के समय हम स्वत : ही काम-लोभ, ईर्ष्या-क्रोध आदि से मुक्त हो जाते हैं। अत: स्पष्ट है कि कला के द्वारा लोक-धर्म की प्रतिष्ठा का सिद्धान्त क्रीड़ा-सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं पड़ता।

● कला-क्षेत्र की व्यापकता

धर्म-शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि की भाँति कला का क्षेत्र सीमित नहीं होता क्योंकि उसमें केवल देवताओं एवं सज्जनों का ही नहीं, राक्षसों एवं दुर्जनों का भी चरित्र अंकित होता है। आचार्य भरत ने इस प्रसंग में यथार्थोन्मुख दृष्टि का परिचय देते हुए स्पष्ट रूप में लिखा है ''देवताओं और दानवों के शुभ-अशुभ कर्मों के प्रकाशक, सबके कर्म, भाव, वेश की अपेक्षा करने वाले अर्थात् उन्हें सुस्पष्ट करने वाले इस नाट्यवेद की रचना मैंने की है।[६] इसका यह अर्थ भी नहीं है कि नाटक एवं अन्य कलाओं में केवल दैवी पात्रों का ही चित्रण होगा अपितु उनके विचार से इसमें सृष्टि के सभी प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण किया जा सकता है। उनके शब्दों में—"मैंने केवल दानवों तथा देवताओं के ही चरित्र-प्रकाशन के हेतु नाट्य रचना नहीं की है अपितु इस समस्त त्रिभुवन के भावों के दिग्दर्शन के लिए नाट्य रचना हुई है।[७]'' "यह नाट्य अनेक भावों से सम्पन्न है, अनेक अवस्थाओं से युक्त है, इस प्रकार समस्त लोगों के चरित्र के अनुकरण करने वाले इस नाट्य वेद की रचना मैंने की है।"[८]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य भरतमुनि की कला के सम्बन्ध में बहुत ऊँची एवं व्यापक धारणा थी। वे पाश्चात्य आदर्शवादियों की भाँति कला में केवल सत्पात्रों को ही स्थान देने की या अतियथार्थवादियों की भाँति केवल पतित वर्ग के ही चित्रण की बात नहीं कहते—उनकी दृष्टि में कला का क्षेत्र सबके लिए खुला है, उसमें देवता, दानव एवं सभी प्रकार के मनुष्य प्रवेश पा सकते हैं। इतना ही नहीं उनकी सभी प्रकार की भावनाओं को भी इसके माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है दुश्चरित्र पात्रों की कलुषित भावनाओं की अभिव्यक्ति से सामाजिक पर नैतिक एवं कलात्मक दृष्टि से प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है—ऐसा

---

६. नाट्य-शास्त्र, प्रथम अध्याय, कारिका १०६ (हि० अ० भा० ५,१७७)
७. वही, कारिका १०७ (हि० अ० भा० ५·१७९)
८. वही, कारिका ११२ (हि० अ० भा० ५·२०४)

सन्देह भरतमुनि नहीं करते। दुष्ट पात्रों की दुष्टता के दिग्दर्शन से भी द्रष्टा को दुष्टता के प्रति अरुचि या घृणा उत्पन्न होगी, अतः नैतिक दृष्टि से भी शुभ है तो दूसरी ओर कलात्मक दृष्टि से उसे वीभत्सरस की अनुभूति होगी जो कि आनन्दप्रद है। अतः किसी भी दृष्टि से दानवों, राक्षसों या दुश्चरित्र पात्रों का कला से बहिष्कार अपेक्षित नहीं है।

● कला का लक्ष्य एवं प्रयोजन

नाट्यशास्त्र में नाटक के विभिन्न अंगों का विवेचन करते हुए रस को सर्वोपरि स्थान दिया गया है क्योंकि रस या कलाजन्य आनन्द ही कला का वह गुण है जिससे सामाजिक उसमें प्रवृत्त होता है। उनके शब्दों में—'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' (६।३१) रस के बिना तो किसी भी अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती, अतः कला की सार्थकता रस-प्रदान करने में है पर यही कला का चरम लक्ष्य या अन्तिम प्रयोजन नहीं है—उसके और भी अनेक प्रयोजन हैं जिनकी चर्चा विस्तार से की गयी है। 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय के श्लोक-संख्या १०९—११५ में नाटक के विभिन्न प्रयोजनों के अन्तर्गत दुःख से व्याकुल, श्रम से क्लान्त एवं शोक-पीड़ित दीन-दुःखीजनों को विश्रान्ति प्रदान करना, सज्जनों एवं धार्मिक व्यक्तियों की धार्मिक रुचि को तुष्ट करना, असज्जन या दुष्टों को सच्चरित्रता की शिक्षा देना, अज्ञानियों के ज्ञान में अभिवृद्धि करना, क्लीव एवं कायर व्यक्तियों में पौरुष, बल एवं साहस का संचार करना, शूरवीरों के उत्साह में अभिवृद्धि करना, धनवानों के विलास में वृद्धि करना, पीड़ितों को धैर्य प्रदान करना, आदि प्रयोजनों की गणना की गयी है। इस प्रकार आचार्य भरत के विचार से नाटक या कला सभी प्रकार की सांसारिक समस्याओं का समाधान एवं अभावों की पूर्ति के साधन प्रस्तुत करने में समर्थ है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि एक ओर तो भरत ने रस या काव्यानन्द को सर्वोपरि महत्त्व दिया है तो दूसरी ओर विभिन्न लौकिक प्रयोजनों की चर्चा की है—यह कहाँ तक संगत है? आनन्द की धारणा उन्हें लोक-रंजन की ओर ले जाती है तो इतर प्रयोजनों का उल्लेख उन्हें लोक-मंगलवादी सिद्ध करता है—ये परस्पर-विरोधी स्थितियाँ नहीं हैं? इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं भरत के द्वारा ही प्रस्तुत दृष्टान्त से प्राप्त किया जा सकता है। रस उनके विचार से किसी स्वादिष्ट पकवान के स्वाद की भाँति है—यदि व्यंजन स्वादिष्ट ही न होगा तो उसे ग्रहण ही नहीं किया जा सकेगा तथा उसके आस्वादन से जो प्रसन्नता प्राप्त होती है वह प्राप्त नहीं होगी। इसी प्रकार कला के आस्वादन में यदि रस प्राप्त न हुआ तो लोग उसमें प्रवृत्त ही न होंगे। पर जिस प्रकार भोजन का स्वादिष्ट होना उसका तात्कालिक गुण है—स्थायी नहीं, उससे स्थायी लाभ तो क्षुधा शान्त करना, बल-शक्ति प्राप्त करना, स्वाथ्य में सुधार करना, जीवन-धारण किये रखना आदि अनेक हैं जो गौण

नहीं किये जा सकते; इसी प्रकार कला से तात्कालिक उपलब्धि तो रसानुभूति है पर वह अप्रत्यक्ष में हमारे अन्य प्रयोजनों की भी पूर्ति में योग देती है। अतः इन दोनों लक्ष्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। बादाम का हलुआ स्वादिष्ट होने के साथ-साथ हमारे शरीर और मन को भी स्वास्थ्य, बल या शक्ति प्रदान करे तो इसमें क्या बुराई है!

● कला की महत्ता

उपर्युक्त धारणाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि आचार्य भरत का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त विकसित एवं व्यापक था। नाटक को जो कि समस्त कलाओं का प्रतिनिधि है, एक ओर तो स्वयं ब्रह्मा के द्वारा आविष्कृत माना गया है तो दूसरी ओर उसकी उपयोगिता देवता, दानव, मानव आदि सभी के लिए स्वीकार की गयी है। उसका क्षेत्र इतना व्यापक माना गया है कि उसमें प्रत्येक प्रकार का चरित्र, कार्य, एवं भाव प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य भरत के अनुसार कला मूलतः मानव की क्रीड़ा-प्रवृत्ति की देन है ? अतः उसका सर्वोपरि लक्ष्य तो आनन्द प्रदान करना ही है किन्तु साथ ही वह इस लोक की अन्य समस्याओं के समाधान व अभावों की पूर्ति में भी योग देती है।

अस्तु, एक शब्द में कहें तो आचार्य भरत का कला-दर्शन 'समन्वयवादी' है। उन्होंने 'नाटक' के रूप में कला की एक ऐसी व्याख्या की है जिससे व्यक्ति और समाज, स्रष्टा और भोक्ता, आदर्श और यथार्थ, लोकरंजन व लोक-मंगल सम्बन्धी प्रचलित विभिन्न परस्पर-विरोधी अवधारणाओं में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। वस्तुतः यह सामंजस्य जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति समन्वय-शीलता का प्रतिनिधित्व करता है तो वहाँ दूसरी ओर वह उस व्यापकता एवं बहु-विधता को भी सूचित करता है जिस पर रस सिद्धान्त आधारित है। निस्संदेह, रस सिद्धान्त जैसे व्यापक सिद्धान्त की उपलब्धि एक ऐसे ही व्यापक कला-दर्शन द्वारा सम्भव है जैसा कि आचार्य भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' में दिग्दर्शित होता है।

●

३ आचार्य भरत का रस-विवेचन

● 'रस' शब्द की पूर्व परम्परा

यद्यपि रस-सिद्धान्त की स्थापना व प्रतिष्ठा का श्रेय 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि को प्राप्त है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि 'रस' शब्द उनका अपना आविष्कार है। वस्तुतः उनसे बहुत पूर्व से—यहाँ तक कि 'ऋग्वेद-काल से—ही, 'रस' का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता रहा है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में इसका प्रयोग गौ-दुग्ध, मधु, सोमरस आदि के लिए हुआ है तो उपनिषदों में इसे सारभूत तत्व, ब्रह्म आदि के लिए भी प्रयुक्त किया गया है।[1] आगे चलकर आयुर्वेद में इसका प्रयोग पारद, वीर्य, शक्ति, रसायन आदि के लिए तथा 'काम-सूत्र' में काम ; रति, प्रेम आदि के लिए हुआ है। अस्तु 'ऋग्वेद से लेकर 'काम-सूत्र' तक 'रस' शब्द का अर्थ धीरे-धीरे विकसित होता हुआ अन्ततः वह माधुर्य या आनन्द का पर्याय बन गया। डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने के अनन्तर निश्चित किया है कि भरत से पूर्व 'काम-सूत्र' में 'रस' शब्द का अर्थ इतना

---

१. (क) 'ऋग्वेद' में 'रस' का प्रयोग—

'जन्मे रसस्य वावृधे।' ऋ० १-३७-५

'स्वादू रसो मधुपेयो वराय। ऋ० ६-४४-२१

(ख) उपनिषदों में रस का प्रयोग—

'प्राणो वा अंगानां रस।' वृहदारण्यकोपनिषद

'रसो वै सः''—तैत्तिरीय उपनिषद् २-७

(देखिये-रस-सिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण; डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित पृष्ठ ३-४)

विकसित हो गया था कि उसे शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त करने में भरत को कोई कठिनाई नहीं हुई ।[२]

वस्तुतः आज भी 'रस' शब्द का प्रयोग अलग-अलग क्षेत्रों एवं प्रसंगों में अलग-अलग अर्थों में होता है । सामान्यतः वनस्पतियों एवं फलों के प्रसंग में हम 'रस' का अर्थ उनके सारभूत तरल पदार्थ से लेते हैं तो विभिन्न खाद्य-पदार्थों एवं व्यंजनों के प्रसंग में कटु, तिक्त मधुर आदि स्वादों के लिए उसका प्रयोग करते हैं । आयुर्वेद में अब भी पारद के योग से बनी हुई विशेष प्रकार की औषधियों को 'रस' एवं 'रसायन' की संज्ञा दी जाती है तो सौन्दर्य, प्रेम आदि में उनसे प्राप्त मधुर अनुभूति को 'रस' कहा जाता है । जीवन के प्रसंग में भी सामान्यतः 'रस' का अर्थ आनन्द होता है । अस्तु, समग्र रूप में 'रस' शब्द माधुर्यपूर्ण अनुभूति का ही द्योतक है तथा नाट्यशास्त्र, काव्य एवं कलाओं के क्षेत्र में भी उसका सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति से है । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि भरत मुनि ने 'रस' शब्द का प्रयोग किसी नूतन अर्थ में नहीं किया अपितु उन्होंने उसकी प्रक्रिया व निष्पत्ति की व्याख्या शास्त्रीय ढंग से करके उसे एक व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया है ।

● 'नाट्य-शास्त्र' का सामान्य परिचय

भारतीय साहित्य में रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम भरतमुनि के द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' में उपलब्ध होता है । किन्तु इस बात के भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि उनसे पूर्व भी इस विषय पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे जो आज अनुपलब्ध हैं । स्वयं भरत ने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है; यथा—कोहल, धूर्त्तिल, शांडिल्य, वात्स्य आदि । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि रस-चिन्तन की परम्परा भरत से पूर्व भी रही है ।

'नाट्य-शास्त्र के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है; सामान्यतः इसे दूसरी शती ई० पूर्व से लेकर द्वितीय शती ईस्वी के मध्य में रचित माना जाता है । इसके दो संस्करण—निर्णयसागर प्रेस बम्बई से व चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी से—प्रकाशित हुए हैं; पहले में ३७ अध्याय हैं जबकि दूसरे में ३६ अध्याय हैं । अभिनवगुप्त ने भी अपनी टीका में ३६ अध्यायों का ही उल्लेख किया है, अतः दूसरा संस्करण ही अपेक्षाकृत प्रामाणिक माना जाता है । इसके मराठी एवं अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं ।

'नाट्य-शास्त्र' का मूल विषय तो नाट्य कला का विवेचन ही है, रस की विवेचना इसमें नाटक के अंग के रूप में हुई है । मुख्यतः छठे एवं सातवें अध्याय में रस का विवेचन किया गया है ।

---

२. रस-सिद्धान्त—ले० डा० नगेन्द्र; पृष्ठ-संख्या ८-९

आचार्य भरत के अनन्तर अनेक टीकाकारों तथा अन्य व्याख्याताओं ने भरत के मत की व्याख्या करते हुए उसे अधिक स्पष्ट एवं युक्ति-संगत रूप प्रदान किया है। इन टीकाकारों एवं व्याख्याताओं में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। इनके मतों का परिचय आगे क्रमशः दिया जायगा—यहाँ हम सर्वप्रथम भरतमुनि के रस-विषयक विचारों का अध्ययन कतिपय शीर्षकों में प्रस्तुत करते हैं।

● रस क्या है ?

रस का प्रतिपादन करते हुए स्वयं भरत ने सर्वप्रथम प्रश्न किया है—"रस इति कः पदार्थः ?" अर्थात् रस क्या पदार्थ है ? या रस किस पदार्थ का नाम है ? इसके उत्तर में उन्होंने लिखा है—"आस्वाद्यत्वात्" अर्थात् आस्वाद्यत्व (=आस्वाद प्रदान करने की क्षमता या गुण) के कारण रस को 'रस' कहा जाता है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—'जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्तपुरुष रसों का आस्वादन करते है और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार सहृदय प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायीभावों का आस्वाद करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं।'[३]

उपर्युक्त धारणा का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत के अनुसार रस नाटक का वह तत्त्व या गुण है जिसके आस्वादन से सहृदय सामाजिक हर्ष की अनुभूति प्राप्त करते हैं। वह तत्त्व एक मिश्रित तत्त्व पदार्थ है, जिसमें स्थायीभाव के साथ भावों व अनुभावों का अभिनय मिश्रित रहता है—या यों कहिए कि भावों, अनुभावों आदि से मिश्रित स्थायीभाव को जब अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है तो उससे सामाजिक को जो आस्वाद प्राप्त होता है वही 'रस' है। आचार्य भरत ने यहाँ नाटक के रस का सादृश्य स्वादिष्ट पकवानों के रससे दिखाया है ; कदाचित् इसी से यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि नाटक का रस (जो कि पकवानों के रस की भाँति अनुभूति से पृथक स्थूल तत्त्व नहीं है) भी 'आस्वाद' न होकर 'आस्वाद्य' पदार्थ है। आचार्य भरत की इस भ्रान्ति का निराकरण आगे अभिनवगुप्त द्वारा कर दिया गया—उन्होंने रस को आस्वाद्य पदार्थ न मानकर आस्वाद या अनुभूति के रूप में ग्रहण किया है।

अस्तु, रस के सम्बन्ध में भरत की धारणा वस्तुगत या विषयगत है जो रस-सिद्धान्त की प्रारम्भिक अविकसित स्थिति की द्योतक है।

---

३. 'नाट्य शास्त्र' ; छठा अध्याय

● रस के अवयव

आचार्य भरत ने रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—'विभावा-नुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' (६।३१) अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यद्यपि यहाँ रस के तीन ही अवयवों—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—का उल्लेख हुआ है किन्तु अन्यत्र स्थायीभाव की भी चर्चा रस के प्रमुख अवयव के रूप में की गयी है, अतः आचार्य भरत के अनुसार रस के चार अवयव या घटक तत्त्व स्वीकार किये जा सकते हैं। इन चारों अवयवों का संक्षिप्त परिचय आगे क्रमशः दिया जाता है।

'विभाव' का अर्थ किया गया है—जो विभावन व्यापार या भावन अथवा बोध की प्रक्रिया में योग दे। इसीलिए 'नाट्यशास्त्र' में विभाव को भाव का हेतु, कारण या निमित्त माना गया है। इसके भी दो भेद किये गये हैं—(१) आलम्बन एवं (१) उद्दीपन। 'आलम्बन' के अन्तर्गत सामान्यतः उस व्यक्ति को लिया जाता है जो भाव-विशेष का विषय हो तथा 'उद्दीप्न' के अन्तर्गत उन स्थितियों, परिस्थि-तियों, चेष्टाओं आदि को लिया जाता है जो भाव को उद्दीप्न या उत्तेजित करने में सहायक सिद्ध हों। उदाहरण के लिए—उपवन के एकान्त सुन्दर वातावरण में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति भाव का उद्रेक होता है ; यहाँ शकुन्तला रति भाव की आलम्बन तथा उपवन का सुन्दर वातावरण उद्दीपन माना जाता है। आलम्बन और उद्दीपन के अतिरिक्त विभाव का एक अन्य भेद 'आश्रय' भी माना जाता है। सामान्यतः आश्रय से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसके मन में भाव उद्दीप्त होता है; यथा—उपर्युक्त उदाहरण में दुष्यन्त रति भाव का आश्रय है।

'अनुभाव की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि आश्रय की जिन चेष्टाओं से दर्शकों को उसके उद्दीप्त भाव का अनुभव या बोध होता है, उन्हें 'अनुभाव' माना गया है। व्युत्पत्ति के अनुसार भी इसका अर्थ 'भावों के पीछे उत्पन्न होने वाला' (अनु+भाव ; अनु=पीछे) सिद्ध होता है। वस्तुतः जब किसी भी व्यक्ति के हृदय में कोई भाव उद्दीप्त होता है तो उसकी अभिव्यक्ति सहज ही विभिन्न चेष्टाओं के रूप में होती है तथा इन्हीं चेष्टाओं से अन्य लोगों को उसके भावोद्रेक का पता चलता है। अतः अनुभाव के उपर्युक्त दोनों अर्थ ही संगत हैं। भरत मुनि ने अनुभावों के भी तीन प्रकार निश्चित किये हैं—(१) वाचिक (वाणी या शब्दों के रूप में भावाभिव्यंजक चेष्टाएँ) (२) आंगिक (शारीरिक चेष्टाएँ) और (३) सात्त्विक (अश्रु, रोमांच स्वेद आदि के रूप में होने वाली चेष्टाएँ)। परवर्ती विद्वानों ने एक और भेद 'आहार्य' या वेशभूषा सम्बन्धी भी माना है।

'व्यभिचारी' भावों का दूसरा प्रचलित नाम 'संचारी भाव' भी है। जो भाव किसी एक ही स्थायी भाव से सम्बद्ध नहीं हैं तथा विभिन्न स्थायी भावों में संचरण शील रहते हैं या क्षण-क्षण में उद्दीप्त एवं शान्त होते रहते हैं, ऐसे अस्थिर भावों को स्थायी भावों से भिन्न कोटि में रखते हुए व्यभिचारी या संचारी भाव की संज्ञा दी गयी है। वैसे व्यभिचारी या संचारी की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है किन्तु मूल बात यही है कि नाट्यशास्त्रकार ने भावों को दो वर्गों में विभक्त किया है—एक स्थायी भाव और दूसरा व्यभिचारी या संचरीभाव। संचारीभाव जहाँ व्यक्ति विशेष की ओर उन्मुख स्थायी मनोवृति के सूचक हैं वहाँ व्यभिचारी भाव ऐसे अस्थिर, चंचल एवं क्षणिक मनोवेगों के सूचक हैं जो किसी एक ही आलम्बन एवं मनोवृत्ति से सम्बद्ध नहीं हैं। 'व्यभिचारी' या 'संचारी' विशेषण इसी स्थिति का द्योतक है।

व्यभिचारी भावों की संख्या तेतीस मानी गयी है, जो इस प्रकार है—१. निर्वेद २. ग्लानि ३. शंका ४. असूया ५. मद ६. श्रम ७. आलस्य ८. दैन्य ९. चिन्ता १०. मोह ११. स्मृति १२. धृति १३. व्रीड़ा १४. चपलता १५. हर्ष १६. आवेग १७. जड़ता १८. गर्व १९. विषाद २०. औत्सुक्य २१. निद्रा २२. अपस्मार २३. स्वप्न २४. विबोध २५. अमर्ष २६. अवहित्था २७. उग्रता २८. मति २९. व्याधि ३०. उन्माद ३१. मृत्यु ३२. त्रास और ३३. वितर्क। इन व्यभिचारी या संचारी भावों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए भरत ने लिखा है कि स्थायी भावों को प्रकाशित एवं पोषित करने का श्रेय संचारी भावों को ही है। जिस प्रकार सूर्य के आगमन से ही दिन का आगमन होता है, उसी प्रकार संचारी भावों के द्वारा स्थायी भाव का आगमन या प्रकाशन होता है। फिर भी संचारी भाव स्थायी भाव के साधन ही हैं—नाटक या काव्य में साध्य तो स्थायी भाव ही है जिसकी परिणति अंततः रस में होती है।

स्थायी भाव के स्वरूप को भरत ने अधिक स्पष्ट न करते हुए केवल उसकी महत्ता का ही प्रतिपादन किया है। उनके शब्दों में—जैसे मनुष्यों में नृपति की तथा शिष्यों में गुरु की प्रतिष्ठा होती है वैसे ही सभी भावों में स्थायी भाव प्रतिष्ठित होता है।।[४]अस्तु, उनके विचार से स्थायी भावों का प्रमुख गुण उनकी अन्य भावों से प्रमुखता या श्रेष्ठता ही है। इस श्रेष्ठता का आधार क्या है—इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया। परवर्ती विद्वानों ने अवश्य इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया है जिससे ज्ञात होता है—'हृदय में वासना रूप में संस्थित, अन्य भावों द्वारा किसी प्रकार भी न दबने वाले, प्रधान, विरोधी-अविरोधी भावों को अन्तर्हित करके आत्म-भाव प्राप्त करा सकने वाले, चिरकाल अथवा आप्रबन्ध स्थायी रहने वाले आस्वाद-योग्य मनोभावों को स्थायी भाव कहते हैं।'[५]

---

४. नाट्यशास्त्र ७/८

५. रस-सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेषण—डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० ४५

• रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भरत ने किसी विशेष सूक्ष्म दृष्टि का परिचय नहीं दिया अपितु उन्होंने अत्यन्त स्थूल रूप में इसका विवेचन करते हुए प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार नाना भाँति के पदार्थों, व्यंजनों आदि के संयोग से खाद्य पदार्थों में मधुर, तिक्त आदि रसों (आस्वादों) की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी रस-रूप को प्राप्त होते हैं।[६] इसका तात्पर्य यह है कि भरत के अनुसार केवल विभिन्न अवयवों (विभाव, अनुभाव संचारी आदि) का संयोग या संयोजन ही रस-निष्पत्ति का मूल आधार है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि उनके विचारानुसार रस स्थायी भाव या अन्य घटक तत्त्वों से पृथक वस्तु या पदार्थ नहीं है, अपितु वह विभिन्न अवयवों के मेल (संयोजन) से निर्मित संयुक्त पदार्थ है। अस्तु, संक्षेप में—भरत का दृष्टिकोण संयोजनवादी है।

• रस-निष्पत्ति सम्बन्धी दो बाह्य तत्त्व

यद्यपि आचार्य भरत ने रस का प्रतिपादन अत्यन्त स्थूल रूप में किया है, किन्तु फिर भी उन्होंने रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में रस के उपर्युक्त चार अवयवों के अतिरिक्त दो अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का भी निर्देश किया है। वे हैं—(१) सहृदयता एवं (२) कलात्मक माध्यम। उन्होंने रस के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'.....इसी प्रकार **सहृदय** (सुमनसः) पुरुष विविध **भावों और अभिनयों** द्वारा व्यंजित —वाचिक, आँगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त करते हैं; इसी हेतु ये नाट्य-रस कहलाते हैं।'[७] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रस के लिये जहाँ नाटक या काव्य में पूर्वोक्त चार अवयवों —विभाव, अनुभाव, संचारी भाव व स्थायीभाव—का संयोग या संयोजन आवश्यक है, वहाँ इन्हे अभिनय या कला के माध्यम प्रस्तुत करना तथा पाठक या सामाजिक का सहृदय होना भी अपेक्षित है। अतः हम रस के लिए चार आन्तरिक अवयवों के साथ-साथ उपर्युक्त दो बाह्य तत्त्वों—कलात्मक माध्यम एवं सामाजिक की सहृदयता—को भी आवश्यक मान सकते हैं।

• रस और भाव का सम्बन्ध

रस और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रचलित विवाद का उल्लेख करते हुए आचार्य भरत ने कहा है कि कुछ विद्वान भावों से रसों की तथा कुछ रसों से भावों की उत्पत्ति मानते हैं तथा कुछ इन दोनों को ही परस्पर आश्रित मानते हैं पर स्वयं उनके मत में भावों से ही रसों की निष्पत्ति होती है न कि रसों

---

६. रस-सिद्धांन्त ; डॉ० नगेन्द्र ; पृष्ठ ७९

७. रस-सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ७९

से भावों की। पूर्व विवेचित दृष्टान्त के अनुसार भाव ही रस-रूप में परिणत होते हैं न कि रस भाव-रूप में। फिर भी वे इस विवाद को बहुत महत्त्वपूर्ण न मानते हुए दोनों को एक-दूसरे का पूरक या घटक मान लेते हैं—"रस कभी भाव से शून्य नहीं होता और न ही भाव रस से सर्वथा शून्य होता है। अभिनय में एक-दूसरे के आश्रय से ही इनकी सिद्धि होती है।"[८] वस्तुतः रस में भी भाव की सत्ता किसी न किसी रूप में रहती ही है तथा भाव (स्थायी भाव) में भी रस-निष्पत्ति की क्षमता किसी न किसी मात्रा में सदा रहती है—अतः इन दोनों के सम्बन्ध की घनिष्ठता को स्वीकार किया जा सकता है।

● **रस के भेद**

स्थायीभाव विभिन्न तत्त्वों के संयोग से रस-रूप में परिणत हो जाने पर भी अपनी मूल प्रकृति को पूर्णतः नहीं त्याग पाता; जिस प्रकार नींबू, संतरे या चंदन के शर्बत में सभी शर्बत स्वादिष्ट पेय हैं फिर भी उनके आधारभूत पदार्थ—नीम्बू, संतरा, चन्दन आदि,—के अनुसार उनके स्वाद एवं गुणों में परस्पर सूक्ष्म अन्तर रहता है, वैसे ही विभिन्न स्थायीभावों के अनुसार उनके रसों में परस्पर अन्तर रहता है। प्रत्येक रस का किसी विशिष्ट स्थायी भाव से सम्बन्ध होता है—इस योजना के अनुसार पूर्वोक्त आठ स्थायी भावों के आधार पर नाट्य रसों के भी आठ भेद किये गये हैं—

स्थायी भाव	रस
१. रति	१. श्रृंगार
२. हास	२. हास्य
३. शोक	३. करुण
४. क्रोध	४. रौद्र
५. उत्साह	५. वीर
६. भय	६. भयानक
७. जुगुप्सा	७. वीभत्स
८. विस्मय	८. अद्‌भुत

'नाट्य-शास्त्र' में अन्यत्र नवम् रस—शान्त रस की भी चर्चा मिलती है पर यह अंश प्रक्षिप्त माना जाता है। परवर्ती आचार्यों ने रस-भेदों की संख्या में पर्याप्त परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है जिसकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। आचार्य भरत ने आठों रसों की विस्तृत विवेचना करते हुए उनके उपभेदों एवं उनसे सम्बद्ध विभावों अनुभावों, संचारी भावों आदि का भी निर्देश किया है।

---

८. हिन्दी अभिनव भारती; पृष्ठ ५११ (नाट्यशास्त्र, ६/३३-३६)

● रस का महत्त्व

आचार्य भरत ने रस को नाटक का सर्वोपरि एवं सर्व प्रमुख तत्त्व स्वीकार करते हुए उसे ही साध्य घोषित किया है। उनकी तद्विषयक धारणा की अभिव्यक्ति नाट्यशास्त्र में अनेक स्थलों पर हुई है; यथा—

"रस के बिना किसी भी अर्थ में प्रवृति नहीं होती।"[९]

"....इस प्रकार सूत्रधार आदि को नाटक में रसों और भावों की व्यवस्था करनी चाहिए। जो इन्हें जानता है वह उत्तम सिद्धि प्राप्त करता है।"[१०]

"प्रेक्षक-समाज की दृष्टि से सिद्धि दो प्रकार की होती है—मानवीय और दिव्य। यह सिद्धि वाणी, मन और शरीर से संभूत एवं नाना भावों तथा रसों पर आश्रित होती है।"[११]

इस प्रकार आचार्य भरत के मतानुसार नाट्यकला की सिद्धि रस-निष्पत्ति में है, इसी सिद्धि के निमित्त नाटक के समस्त अंगों एवं तत्त्वों की संयोजना की जाती है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'संपूर्ण नाट्यशास्त्र में उसके अन्तर्गत समस्त नाट्य प्रसंगों के विधान एवं विवेचन में रस प्राणधारा के समान परिव्याप्त है।' कदाचित् यही कारण है कि रससिद्धान्त के साथ भरतमुनि का नाम सदा के लिए सुसम्बद्ध हो गया है।

●

---

९. हिन्दी अभिनव भारती; पृष्ठ ४४१
१०. नाट्यशास्त्र ७/१२९
११. नाट्यशास्त्र २७/२

४ | भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

रस-सिद्धान्त के भरत-परवर्ती आचार्यों में काल-क्रमानुसार सर्व प्रथम भट्ट लोल्लट का नाम आता है जिन्होंने अपनी नूतन दृष्टि से भरत के रस-सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इस सिद्धान्त के विकास में योग दिया है। दुर्भाग्य से लोल्लट का न तो ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न ही उनका जीवन-वृत्त। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने अनुसंधान के द्वारा उन्हें काश्मीर के दार्शनिक कल्लट (नवीं शताब्दी) का समसामयिक सिद्ध किया है। परम्परा से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' पर किसी व्याख्यात्मक ग्रन्थ की रचना की थी जो अनुपलब्ध है। फिर भी उनके मत का उल्लेख राजशेखर (काव्य-मीमांसा), अभिनवगुप्त (अभिनव भारती), मम्मट (काव्य-दर्पण) ने अपने-अपने ग्रन्थों में अत्यन्त संक्षेप में किया है, जिससे उनके विचारों का आंशिक ज्ञान प्राप्त होता है। आगे हम इन्हीं विद्वानों के उल्लेखों के आधार पर भट्ट लोल्लट की रस सम्बन्धी धारणाओं का अनुशीलन प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

● अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत मत

आचार्य अभिनवगुप्त (१० वीं शती) ने अपने दो ग्रन्थों—'अभिनव भारती' एवं 'ध्वन्यालोक लोचन'—में रस-सूत्र के प्रसंग में भट्ट लोल्लट के मत की चर्चा की है जो इस प्रकार है।

(क) 'अभिनव भारती'—'भट्ट लोल्लट आदि ने इस प्रकार व्याख्या की है कि विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायिभाव के साथ [विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों का संयोग] उससे रस की निष्पत्ति (अर्थात् उत्पत्ति) होती है। उन [विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों] में से विभाव स्थायिभाव रूप चित्त-

वृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य (कटाक्षादि रूप) अनुभाव विवक्षित नहीं हैं क्योंकि उन [रसजन्य अनुभावों] की गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती है। [वे तो रस के कार्यभूत होते हैं] अपितु [यहाँ रस के कारणभूत अनुभावों में रत्यादि स्थायी] भावों के ही जो [पीछे उत्पन्न होने के कारण] अनुभाव हैं [उनका ग्रहण विवक्षित है]। और [निर्वेद आदि] व्यभिचारि भाव चित्तवृत्ति-स्वरूप होने से····यद्यपि स्थायिभाव के साथ नहीं रह सकते किन्तु यहाँ उस [स्थायिभाव] के संस्कार रूप में विवक्षित हैं। [इसलिए रसरूप से स्थित इत्यादि स्थायिभाव के साथ संस्कार रूप में निर्वेदादि व्यभिचार भाव रह सकते हैं।]—[रस के उपादान के लिए आगे दिये जानेवाले व्यंजनादि रूप] दृष्टान्त में भी व्यंजनादि के बीच में किसी (रस) की स्थायिभाव-के समान अनुदभुत (वासनात्मक) रूप में स्थिति होती है, और दूसरे की व्यभिचारि भाव के समान उद्भूत रूप में। इसलिए विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है।' और अपरिपुष्ट स्थायिभाव है। वह दोनों में रहता है मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है तथा रामादिरूपता की प्रतीति (मूल-**रामादिरूपतानुसंधान**) होने के कारण नट में भी (रस की प्रतीति होती है)।"[1]

(ख) **ध्वन्यालोक-लोचन**—"पूर्वावस्था में जो स्थायी है, वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्य में ही रस हो जाता है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों का विश्लेषण करने पर भट्टलोल्लट की निम्नांकित धारणाओं का ज्ञान होता है—

१. विभाव, अनुभाव और संचारी का संयोग स्थायीभाव से होने पर ही रस-निष्पत्ति होती है।
२. विभाव स्थायीभाव की उत्पत्ति के कारण हैं।
३. अनुभावों का सम्बन्ध रस से नहीं अपितु भावों से है।
४. संचारी भाव या व्यभिचारी भाव स्थायीभाव के साथ संस्काररूप में स्थित रहते हैं।
५. दृष्टान्त के आधार पर यह स्पष्ट किया गया है कि स्थायीभाव अनुद्भूत (या अव्यक्त) रूप में रहते हैं जबकि संचारी उद्भूत (या व्यक्त) रूप में रहते हैं।
६. विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट होने पर ही स्थायी भाव रसरूप में परिणत होता है, अपरिपुष्ट रूप में वह स्थायी भाव ही रहता है।

---

१. हिन्दी अभिनव भारती; पृष्ठ ४४२-४३ (कोष्ठक में दिये हुये अंश अभिनवगुप्त के नहीं हैं अपितु आचार्य विश्वेश्वर द्वारा जोड़े हुए हैं।)
२. 'ध्वन्यालोक लोचन' से डॉ० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत-'रस सिद्धान्त', पृष्ठ १४०

७. वह (?) अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता दोनों में ही रहता है पर मुख्यतः अनुकार्यों में।

८. अनुकर्त्ता (अभिनेताओं) में अनुकार्यों की तद्रूपता के अनुसंधान-बल के कारण वह होता है।

उपर्युक्त धारणाओं की प्रामाणिकता एवं स्पष्टता के लिए मम्मट का उद्धरण भी देख लेना आवश्यक है।

● मम्मट द्वारा उद्धृत मत

मम्मट ने भी रस-सूत्र के प्रसंग में लोल्लट के मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'विभावों-ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों से रति आदि (स्थायी) भाव उत्पन्न हुआ; कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यों के रूप में प्रस्तुत अनुभावों से प्रतीति-योग्य किया गया; सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों से उपचित (पुष्ट) किया गया; मुख्य रूप में रामादि अनुकार्यों में और तद्रूपतानुसंधान (उनके स्वरूप अनुसंधान) से नट में प्रतीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही रस (हो जाता) है। यह भट्टलोल्लटादि का मत है।'[१] (काव्य-प्रकाशः चतुर्थ उल्लास)

मम्मट द्वारा प्रस्तुत धारणाएँ भी अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत मत के अनुकूल ही हैं, संभव है कि मम्मट ने अभिनव के आधार पर ही उपर्युक्त चर्चा की हो।

● भट्टलोल्लट की स्थापनाएँ

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के आधार पर भट्टलोल्लट की स्थापनाओं का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) **विभावादि का संयोग स्थायी भाव से**—आचार्य भरत ने अपने सूत्र (विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पति) में केवल विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव का ही उल्लेख किया था—स्थायी भाव का उल्लेख नहीं। इससे यह स्पष्ट नहीं होता था कि रस-निष्पत्ति इन तीनों अवयवों के पारस्परिक संयोग से ही होती है या इनका संयोग किसी अन्य तत्त्व—स्थायी भाव—से होने पर होती है? उन्होंने अन्यत्र स्थायी भाव को मान्यता देते हुए उसी की रस-रूप में परिणति मानी है, पर सूत्र में उसका उल्लेख नहीं किया जिससे स्थायी भाव की स्थिति अस्पष्ट हो गई थी। भट्ट लोल्लट ने इस अस्पष्टता को दूर करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि विभावादि का संयोग स्थायी भाव से अपेक्षित है।

(ख) **रस-निष्पत्ति की प्रक्रियाएँ**—आचार्य भरत ने विभावादि अवयवों का उल्लेख सामान्य रूप में ही किया था, प्रत्येक अवयव के क्रम, महत्त्व एवं योगदान का स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया जबकि भट्ट लोल्लट ने इस सम्बन्ध में

---

१. रससिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १४०

प्रत्येक अवयव के योगदान पर प्रकाश डालते हुए रस-निष्पत्ति की तीन प्रक्रियाएँ निश्चित कीं। उनके विचार से विभाव स्थायीभाव को उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उसकी प्रतीति करवाते हैं तथा संचारी भाव उसकी पुष्टि करते हैं—इस प्रकार उत्पत्ति, प्रतीति एवं पुष्टि—इन तीनों प्रक्रियाओं के माध्यम से रस की निष्पत्ति होती है।

(ग) **अनुभावों का स्पष्टीकरण**—काव्य या नाटक में दो प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं—एक भाव की प्रेरणा से होने वाली चेष्टाएँ जिनका सम्बन्ध अभिनेता से है, दूसरी रस-भोक्ता की चेष्टाएँ जो कि रसानुभूति की प्रतिक्रिया से होती हैं; जैसे—दर्शकों द्वारा 'ताली बजाना' 'वाह ! वाह! करना'। अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि अनुभावों के अन्तर्गत कौन सी चेष्टाएँ आती हैं —भाव से सम्बन्धित या रस-सम्बन्धी ? भट्टलोल्लट ने भाव से सम्बन्धित चेष्टाओं को ही अनुभाव माना है। 'अनुभाव' का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि जो भाव का अनुवर्ती हो। इसके अतिरिक्त अनुभाव रस के कारणों में से है, अतः उसकी सत्ता कार्य से पूर्व ही अपेक्षित है।

(घ) **संचारी भावों का स्पष्टीकरण**—आचार्य भरत ने संचारी भावों का स्थायी भाव से संयोग मानते हुए दोनों की सह-स्थिति स्वीकार की है, पर इसके विरुद्ध तर्क दिया जा सकता है कि एक ही साथ मन में दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ कैसे रह सकती हैं ? भट्ट लोल्लट ने इस सम्बन्ध में बताया कि संचारी भाव संस्कार रूप में स्थायी भाव के साथ रहते हैं। दूसरे शब्दों में—स्थायी भाव के विभिन्न संस्कार ही संचारी भाव हैं। संस्कार सामान्यतः व्यक्तियों के संपर्क एवं परिस्थितियों के प्रभाव से प्राप्त होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि एक ही स्थायी भाव व्यक्तियों एवं परिस्थितियों के प्रभाव या संस्कार से विभिन्न संचारी भावों में परिवर्तित होता रहता है; यथा—एक प्रेमी विभिन्न परिस्थितियों में—प्रेयसी के संयोग वियोगादि में—हर्ष, उल्लास, चिन्ता, स्मृति, विषाद आदि संचारियों से ग्रस्त हो सकता है जो स्थायी भाव के परिस्थितिजन्य रूपों के द्योतक हैं। ऐसी स्थिति में संचारी भावों को स्थायी भावों के ही विभिन्न संस्कारों (बाह्य प्रभावों) के रूप में ग्रहण करते हुए दोनों की सह-स्थिति स्वीकार करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

संचारी भावों के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट ने एक और नये तथ्य की ओर संकेत किया; वह यह कि संचारी भाव वस्तुतः स्थायी भाव के ही उद्भूत रूप हैं। स्थायी भाव वह मूल भाव है जो अनुद्भूत रूप में भी अचेतन मन में स्थिर रहता है, जबकि उसके उद्भूत होने से विभिन्न संचारी भावों की उद्दीप्ति होती है। उदाहरण के लिए, रति भाव अनुदभूत भाव है, जब वह विभिन्न परिस्थितियों में उद्भूत या उद्दीप्त होता है तो हर्ष, संताप, रोष आदि किसी न किसी संचारी का रूप

धारण कर लेता है। अस्तु, लोल्लट की यह धारणा पूर्वोक्त धारणा के अनुकूल ही है; संचारी स्थायी भाव का ही संस्कारित, व्यक्त या प्रस्फुटित रूप है। विभिन्न संचारी भावों की उद्दीप्ति उनके आधारभूत स्थायीभाव के प्रस्फुटन की ही अनेक आवृतियों की सूचक हैं जिससे स्थायी भाव और अधिक गम्भीर होता जाता है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने संचारी भावों से स्थायी भाव की उपचिति या पुष्टि का होना स्वीकार किया है जो उचित ही है।

(ङ) **स्थायी भाव और रस का अन्तर**—स्थायी भाव का उल्लेख सामान्य शब्दों में भी किया जा सकता है किन्तु उस स्थिति में वह रस-रूप में परिणत नहीं होगा। रस-निष्पत्ति के लिए तो उसकी विभावों के माध्यम से उत्पत्ति, अनुभावों के माध्यम से प्रतीति एवं संचारी भावों के द्वारा पुष्टि अपेक्षित है। इस प्रकार भट्ट लोल्लट ने विभावादि से परिपुष्ट स्थायी भाव की ही रस-रूप में परिणति मानी है। इस दृष्टि से स्थायी भाव और रस में केवल अपुष्टि एवं परिपुष्टि का ही अन्तर है—अन्यथा दोनों एक हैं। पर हमारे विचार में लोल्लट की यह धारणा असंगत है। लौकिक क्षेत्र में भी स्थायी भाव के सभी अवयवों—विभाव, अनुभाव, संचारी—के रहते हुए भी घृणा, भय, क्रोध आदि रस-रूप में परिणत नहीं होते। वस्तुतः दैनिक जीवन में भी स्थायी भावों की उद्दीप्ति विभावादि के संयोग से ही होती है, फिर भी वे रस-रूप में परिणत नहीं होते। अतः विभावादि के संयोग को ही रस-निष्पत्ति का कारण मानना उचित नहीं—वह केवल स्थायी भाव की उदीप्ति एवं अभिव्यक्ति का कारण है; रस-रूप में परिणति का कारण नहीं। वस्तुतः स्थायी भाव की रस-रूप में पतरिणति का वास्तविक कारण भट्टलोल्लट नहीं खोज पाये—यह खोज परवर्ती युग में भट्ट नायक एवं अभिनव गुप्त द्वारा ही हो पायी। अतः इस दृष्टि से भट्ट लोल्लट का मत अविकसित कहा जा सकता है।

(च) **रस की स्थिति किसमें ?**—रस की स्थिति मूल अनुकार्यो—ऐतिहासिक पात्रों जैसे राम, सीता आदि—में होती है या अनुकर्त्ताओं (अभिनेताओं) में ? अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट के मत को उद्घृत करते हुए लिखा है—'वह दोनों में रहता है, मुख्यतः अनुकार्यों में'। यहाँ यदि 'वह' का तात्पर्य रस है तो यह मत ठीक नहीं क्योंकि अनुकार्यों अथवा लौकिक पात्रों में रस की सत्ता मान लेने पर रस काव्यजन्य अनुभूति न होकर लौकिक भावों की देन सिद्ध हो जायगा। वस्तुतः राम-सीता आदि मूल ऐतिहासिक पात्रों में रस नहीं, स्थायी भाव ही रहता है जिसे अभिनेता अभिनय के माध्यम से या कवि काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करके रस-रूप में परिणत करता है। अतः हमारी दृष्टि में यहाँ 'वह' का तात्पर्य स्थायी भाव लेना ही उचित होगा।

(छ) **तद्रूपतानुसंधान से प्रतीति**—यद्यपि स्थायी भाव मूलतः लौकिक पात्रों में ही होते हैं पर अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत किये जाने पर रंगमंच पर भी

उनकी प्रतीति होती है । कदाचित् इसी तथ्य का सकेत करते हुए भट्टलोल्लट ने 'तद्रूपतानुसंधान' का प्रयोग किया है, जिसे अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने उल्लिखित किया है । पर 'तद्रूपतानुसंधान' के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है । 'तद्रूपता' का आशय तो स्पष्ट है कि मूल पात्रों या अनुकार्यों के अनुरूप अभिनय, पर 'अनुसंधान' के अनेक अर्थ किये जाते है, जैसे आरोप, अभिमान, योजना आदि । इन्हीं अर्थों के आधार पर भट्टलोल्लट की धारणा को विभिन्न रूपों में ग्रहण किया गया है । कुछ विद्वान् 'आरोप' अर्थ ग्रहण करते हुए अनुमान करते हैं कि लोल्लट का आशय सामाजिक या दर्शकों के द्वारा अभिनेताओं पर मूल पात्रों —राम-सीतादि—के आरोपण से था, पर यह अनुमान संगत प्रतीत नहीं होता । नाटक में आरोपण अभिनेता करता है न कि सामाजिक—अतः आरोपण की क्रिया का सम्बन्ध सामाजिक से नहीं हो सकता । दूसरी ओर 'तद्रूपतानुसंधान' से स्थायी भाव की प्रतीति का होना भी उल्लिखित है—यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि अनुसंधान की प्रक्रिया का सम्बन्ध नट से नहीं सामाजिक से है क्योंकि नट तो भावों का प्रदर्शन करता है न कि प्रतीति । 'अनुसंधान' का दूसरा अर्थ अभिमान तो प्रसंग से सर्वथा असंबद्ध है अतः इसे यहाँ ग्रहण करना ठीक नहीं । डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने तीसरे अर्थ—योजना—का समर्थन किया है, पर नाटक में योजना भी नट के द्वारा ही होती है, सामाजिक के द्वारा नहीं जबकि यहाँ अनुसंधान का सम्बन्ध सामाजिक से है । अतः ये तीनों ही अर्थ मूल प्रसंग से सुसम्बद्ध नहीं है—आरोपित हैं । हमारे विचार में 'अनुसंधान' का एक अन्य अर्थ 'अन्वीक्षण' यहाँ अधिक संगत है । नाटक में अभिनेता मूल पात्रों के क्रिया-व्यापारों का अनुकरण करते हुए उनके भावों को तद्रूप में प्रदर्शित करते हैं जिनके अन्वीक्षण से दर्शकों को भी उन भावों की प्रतीति या उनका बोध होता है तथा यह प्रतीति या बोध ही रसानुभूति का आधार है । अस्तु, **तद्रूपतानुसंधान** का अर्थ है—मूल पात्रों के अनुरूप अभिनय का अन्वीक्षण ।

● आचार्य शंकुक के आक्षेप

भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए आचार्य शंकुक ने आठ आक्षेप किये हैं, जिनका उल्लेख 'अभिनव-भारती' में किया गया है, वे ये हैं[४]—(१) विभावादि के योग के बिना अनुमापक हेतु के अभाव में स्थायी भाव की प्रतीति सम्भव नहीं । (२) भावों को पहले से ही अभिधेयात्मक माना गया है । (३) जब वह (स्थायी भाव या रस) पहले से ही स्थित है तो परवर्ती लक्षणों या तत्त्वों के संयोग की क्या आवश्यकता है ? (४) (स्थायी भावों को ही रस मान लेने पर स्थायी भाव की स्थिति के अनुसार) रस के मंद, मंदतर, मंदतम आदि अनन्त भेद मानने

४. हिन्दी अभिनव भारती; आचार्य विश्वेश्वर; पृ० ४४३-४४

पड़ेगें। (५) हास्यरस के छह भेदों का भी लोप हो जायगा। (६) काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस, भाव आदि मानने होंगे। (७) शोक प्रारम्भ में तीव्र तथा बाद में मंद होता है अत: उसकी उपचय या पुष्टि के द्वारा करुणरस में परिणति कैसे सम्भव है ? (८) इसी प्रकार क्रोध, उत्साह, रति, आदि में भी क्रमश: अमर्ष, स्थिरता एवं सेवा (संयोग) के अभाव में उपचय के स्थान पर अपचय (ह्रास) होता हैं, अत; वे भी रस-रूप में परिणत नहीं होंगे।

शंकुक के उपर्युक्त आक्षेपों को स्पष्ट करते हुए उन्हें मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विभावादि के स्थायी भाव से संयोग से सम्बन्धित। (२) स्थायी भाव और रस की एकता से सम्बन्धित। (३) स्थायी भावों की उपचिति से सम्बन्धित। यहाँ तीनों वर्गों का आख्यान क्रमश: किया जाता है—

(क) **स्थायी भाव से संयोग के विरुद्ध आक्षेप**—भट्टलोल्लट ने रस-निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग स्थायी भाव से अपेक्षित माना था, पर प्रश्न यह है कि क्या विभाव, अनुभाव आदि से पृथक स्थायी भाव की सत्ता सम्भव है ? सम्भव है कि वह वासना रूप में पहले से स्थित हो पर फिर भी विभावादि के बिना उसकी उद्दीप्ति एवं प्रतीति कैसे सम्भव है—अस्तु, शंकुक का पहला आक्षेप इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि विभावादि से पृथक स्थायी भाव की स्वतन्त्र सत्ता या उसकी पृथक प्रतीति सम्भव नहीं। यदि इन तत्त्वों के अभाव में ही स्थायी भाव का बोध करवाया जायगा तो वह केवल शाब्दिक या अभिधेयात्मक होगा, उसकी व्यंजना सम्भव नहीं। दूसरा आक्षेप इसी तथ्य पर आधारित है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यदि विभावादि के पूर्व ही स्थायीभाव की सत्ता एवं उसकी प्रतीति हो सकती है तो फिर इनके संयोग की क्या आवश्यकता है ? तीसरे आक्षेप में यही युक्ति दी गयी है। इस प्रकार ये तीनों आक्षेप भट्टलोल्लट की इस धारणा का खण्डन करते हैं कि विभावादि से पृथक स्थायीभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं बोध सम्भव है।

(ख) **स्थायीभाव एवं रस की एकता**—चौथे, पाँचवें एवं छठे आपेक्ष में स्थायीभाव एवं रस की एकता के विरुद्ध आपेक्ष किया गया है। भट्ट लोल्लट ने केवल विभावादि से परिपुष्टि के द्वारा ही स्थायीभाव की रस में परिणति मानते हुए दोनों को मूलत: एक माना था जब कि शंकुक इस धारणा का विरोध करते हुए तर्क देते हैं कि यदि स्थायीभाव ही रस है तो फिर स्थायीभाव की तीव्रता, शिथिलता, गम्भीरता आदि विभिन्न स्थितियों के अनुसार रस की भी विभिन्न अवस्थाएँ या उसके विभिन्न भेद स्वीकार करने होंगे ? उस स्थिति में काम की दस दशाओं के अनुसार श्रृंगार के भी दस भेद मानने होंगे या फिर स्थायी भावों के विभिन्न अवान्तर भेदों को त्याग देना पड़ेगा, जैसे कि हास्य के छह भेद माने गये हैं जो इस स्थिति में त्याज्य हो जायेंगे !

वस्तुतः शंकुक के ये तर्क केवल खण्डन के निमित्त ही हैं अन्यथा इनमें विशेष सार नहीं है। स्थायीभाव की विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों एवं अवस्थाओं के ही द्योतक संचारी भाव हैं जिन्हें आचार्य भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक सबने मान्यता दी है। स्थायीभाव की ये विभिन्न अवस्थाएँ संचरणशील या परिवर्तनशील हैं जिनसे रस-प्रक्रिया विच्छिन्न नहीं होती। रस-प्रक्रिया तो दूर की बात है, स्वयं स्थायीभाव भी विरोधी-अविरोधी संचारियों से विच्छिन्न नहीं होता—संचारी और स्थायी का प्रमुख भेद ही यही है— ऐसी स्थिति में संचारियों के अनुसार स्थायी भाव और रस के भेद-प्रभेद मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी यदि संचारियों के कारण स्थायी भाव की विभिन्न अवस्थाओं में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर आ जाता है तो उनके अनुसार एक रस के अवान्तर भेद भी किये जा सकते हैं जैसे कि श्रृंगार के दो प्रमुख भेद—संयोग और वियोग किये जाते हैं। वस्तुतः भेद-प्रभेद तो विवेचन-सुविधा की दृष्टि से घटाये-बढ़ाये जा सकते हैं, उनसे मूल स्थापना में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अतः हमारी दृष्टि में शंकुक के ये तर्क निस्सार हैं।

(ग) **स्थायी भावों की उपचिति**—आचार्य शंकुक ने विभावादि से स्थायी भावों की उपचिति एवं उससे रस-निष्पत्ति की सम्भावना का भी विरोध किया है; पूर्वोक्त आक्षेपों में से अन्तिम दो इसी विरोध के सूचक हैं। उपचिति या पुरिपुष्टि का आशय शंकुक ने अत्यन्त स्थूल रूप में ग्रहण किया है—कदाचित उनके विचार से स्थायी भाव का तीव्र या गंभीर होना ही उपचिति का सूचक है; पर भट्टलोल्लट का मूल आशय यह नहीं था। भट्टलोल्लट ने मुख्यतः संचारी भावों से उपचिति मानी है तथा संचारी भावों में स्थायी भाव की सभी स्वाभाविक अवस्थाएँ आ जाती हैं; प्रसंगानुसार कुछ संचारी भाव स्थायी की तीव्रता के द्योतक हो सकते हैं तो कुछ उसकी शान्ति के सूचक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'साकेत' में उर्मिला-लक्ष्मण के पुनर्मिलन के अवसर पर उनकी वियोग-जन्य व्याकुलता शांत हो जाती है, पर इससे स्थायीभाव की पुष्टि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः शंकुक का यह तर्क भी निस्सार है। हाँ, इतना अवश्य माना जा सकता है कि केवल उपचिति या परिपुष्टि से ही स्थायीभाव रस-रूप में परिणत नहीं हो सकता अन्यथा लौकिक क्षेत्र में भी शोक गम्भीर या परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता। अतः हम शंकुक के तर्क को युक्तिसंगत न मानते हुए भी उनके इस आशय का अवश्य समर्थन कर सकते हैं कि केवल उपचिति से रसनिष्पत्ति संभव नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकुक के सभी आक्षेप निस्सार या अनपेक्षित नहीं है। डॉ० नगेन्द्र ने इन आक्षेपों को सर्वथा अमान्य बताया है किन्तु हमारे विचार से ऐसा नहीं है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, **क** एवं **ग** वर्ग के आक्षेप निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं, भले ही उनके समर्थन में समुचित युक्तियाँ न दी जा

सकी हों या स्वयं शंकुक भी उनका समाधान न कर पाये हों। ख वर्ग के आक्षेप अवश्य ही अमान्य हैं।

● भट्टलोल्लट की उपलब्धियाँ

भट्ट लोल्लट की धारणाएँ एवं स्थापनाएँ केवल निष्कर्ष रूप में ही उपलब्ध हैं, और वे भी उनके प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा प्रस्तुत रूप में। ऐसी स्थिति में भट्टलोल्लट की चिन्तन-प्रणाली, युक्तियों एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन सम्यक् रूप में संभव नहीं। फिर भी अब तक के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रस-परम्परा के विकास में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। कदाचित् वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भरत की धारणाओं को अपेक्षाकृत स्पष्ट, सुसंगत एवं वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया। एक तो उन्होंने विभाव, अनुभाव एवं संचारी की प्रक्रियाओं को स्पष्ट करते हुए तीनों तत्त्वों के क्रम एवं स्वरूप का निर्धारण किया। भरत के 'संयोग' या संयोजन-व्यापार को उत्पत्ति, प्रतीति एवं उपचिति जैसी तीन प्रक्रियाओं में विश्लेषित करना भट्टलोल्लट की सूक्ष्म दृष्टि एवं गम्भीर विवेचना का प्रमाण है। दूसरे, अनुभवों के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए उन्हें स्थायीभावों से सम्बद्ध करना भी उनकी मौलिक उपलब्धि है भरत ने इनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया था जिससे अनुभावों को रस की प्रक्रिया मानने की भ्रान्ति सम्भव थी। तीसरे, संचारी भावों को स्थायी भाव के ही संस्कारों के रूप में स्वीकार करना भी उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। चौथे, रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए 'तद्रूपतानुसंधान के द्वारा भावों की प्रतीति का निर्देश करना भी उनकी नूतन स्थापना थी। इस प्रकार ये चारों धारणाएँ व स्थापनाएँ न केवल भरत के विचारों को स्पष्ट करतीं हैं अपितु उन्हें आगे भी बढ़ाती हैं।

स्थायी भाव और रस के अन्तर, रस की स्थिति, एवं सामाजिक की दृष्टि से रसानुभूति की प्रक्रिया— आदि विषयों को उन्होंने उठाया किन्तु उनके सम्यक् विश्लेषण में वे सफल नहीं हो पाये। जिन विषयों, समस्याओं एवं प्रश्नों को उन्होंने उठाया था, उनका समाधान एक सीमा तक परवर्ती आचार्यों द्वारा हुआ—इस दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नहीं है क्योंकि नूतन अनुसंधान एवं मौलिक चिन्तन के क्षेत्र में केवल समाधान और उत्तरों का ही नहीं—नयी समस्याओं और नये प्रश्नों के प्रस्तुतीकरण का भी महत्त्व होता है।

●

५ आचार्य शंकुक का अनुकृतिवाद

भारतीय रस परम्परा में भट्टलोल्लट के अनन्तर आचार्य शंकुक का नाम आता है जिन्होंने भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया। इनका जीवन-काल डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार लगभग नवीं शती का उत्तरार्द्ध है। दुर्भाग्य से भट्टलोल्लट की भाँति इनका ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है, केवल 'अभिनव-भारती' एवं 'काव्य-प्रकाश' में इनके मत की चर्चा संक्षेप में की गयी है जिससे इनके विचारों की आंशिक जानकारी प्राप्त होती है।

● **अभिनव गुप्त द्वारा उल्लिखित मत**

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव-भारती' में इनके मत का परिचय दिया है, जिसका हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—"इसलिये कारणरूप विभावों, कार्य रूप अनुभावों तथा सहचारी रूप व्यभिचारी भावों (नट के) प्रयत्नजन्य होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उस प्रकार का (कृत्रिम) प्रतीत न होने वाले लिंग की सामर्थ्य से अनुकर्त्ता में स्थिति रूप से प्रतीत होने वाला राम आदि में रहने वाले मुख्य स्थायी भाव का अनुकरण रूप होता है तथा अनुकरण रूप होने के कारण ही उससे (स्थायी भाव से) भिन्न 'रस' नाम से व्यवहृत होता है।

विभाव काव्य के द्वारा उपस्थित होते हैं। अनुभाव शिक्षा या अभ्यास से तथा व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा प्रस्तुत होते हैं। स्थायीभाव काव्यबल से भी प्रतीत नहीं होता, रति, शोक आदि शब्द अभिधा शक्ति से रत्यादि को बोधित करते हैं। वाचिक अभिनय के रूप में बोधित नहीं करते हैं............अभिनय शब्द की वाचिक शक्ति से भिन्न बोध कराने वाली दूसरी शक्ति है।............इसीलिए अनुक्रियमाण (अभिनय द्वारा अनुकरण किया जाने वाला)

रति भाव श्रृंगार रस होता है। अतः (भट्टलोल्लट ने जो) रस को स्थायी भाव रूपी अथवा स्थायी भाव जन्य माना है सो युक्ति संगत नहीं है।............और यहाँ नट ही सुखी है, यह प्रतीति नहीं होती है और न यही राम है—इस प्रकार की प्रतीति होती है। न यह 'सुखी नहीं है' अथवा 'राम नहीं है' की प्रतीति होती है। किन्तु चित्र-तुरंगादि न्याय से सम्यक् मिथ्या, संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की प्रतीति होती है।............इसलिए विरुद्ध प्रकार की बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक रूप से भ्रम आदि का निश्चय न हो सकने के कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को किन शब्दों में बताया जाय—इसका निर्णय नहीं किया जा सकता।"[1]

● 'काव्य-प्रकाश' में प्रस्तुत मत

मम्मट के काव्य प्रकाश' में प्रस्तुत शंकुक के मत का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—"काव्य-रचनाओं के अनुसंधान (अनुशीलन या अन्वीक्षण)-बल से तथा शिक्षा और अभ्यास से सिद्ध अपने कार्य (अनुभवादि) से नट या अभिनेता के द्वारा ही प्रकाशित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न प्रतीत होने वाले, विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होने वाले कारण, कार्य और सहकारियों के संयोग अर्थात् गम्य-गमक भाव रूप सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ (अभिनेतादि में वास्तविक रूप में) न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है।"[2]

● श्री शंकुक की प्रमुख धारणाएँ

उपर्युक्त उद्धरणों का विश्लेषण करने पर श्री शंकुक की निम्नाँकित धारणाएँ प्रकाश में आती हैं—

(क) **स्थायीभाव का विभावादि से सम्बन्ध**—स्थायीभाव से विभावादि के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि विभाव स्थायीभाव के कारण हैं, अनुभाव कार्य हैं तथा संचारीभाव उसके सहचारी हैं।

(ख) **स्थायीभाव की प्रत्यक्ष प्रतीति असंभव**—हम स्थायीभाव की स्थिति एवं उदीप्ति का बोध उसके कारण, कार्य एवं सहचारियों के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं, उसका प्रत्यक्ष बोध कारण (विभाव), कार्य (अनुभाव) सहचारी (संचारी भाव) के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में कभी नहीं करते। वस्तुतः स्थायी भाव के रूप में

---

१. 'हिन्दी-अभिनव भारती' पृष्ठ ४४६-४५० के आधार पर किंचित् संशोधन सहित।

२. 'रस-सिद्धान्त' डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १५३ के आधार पर।

रति, जुगुप्सा आदि ऐसी भाववाचक संज्ञाएँ हैं जिनका अर्थ-बोध हम अभिधा-शक्ति के कारण ग्रहण करते हैं, अन्यथा वे प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित होने वाले पदार्थ नहीं हैं।

विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से पृथक रूप में स्थायी भाव की प्रतीति न होने के कारण ही भरत मुनि ने रस-सूत्र में स्थायीभाव का उल्लेख नहीं किया था। भट्ट लोल्लट ने इसे रस-सूत्र की न्यूनता समझकर विभावादि से स्थायीभाव के संयोग की बात कही, जबकि शंकुक ने इस प्रयास को अनुचित घोषित करते हुए स्थायीभाव की पृथक एवं स्वतन्त्र सत्ता को अमान्य सिद्ध किया।

(ग) स्थायीभाव की अनुकृतिः रस—स्थायीभाव मूलतः लौकिक भाव है जो कि अनुकार्यों अथवा लौकिक भावों में ही रहता है जिसे अभिनेता अनुकरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं। अभिनेताओं में स्थायीभाव का उद्‌बोधन नहीं होता, वे केवल कवि द्वारा वर्णित विभावादि के अनुसार अपनी अभिनय-कला के ज्ञान एवं अभ्यास के बल पर कृत्रिम चेष्टाओं (अभिनय) के द्वारा स्थायीभाव की अनुकृति रंग-मंच पर प्रस्तुत करते हैं। यह अनुकृति ही रस है। पूर्ववर्ती व्याख्याताओं ने रस को या तो स्थायी भाव से व्युत्पन्न या उससे अभिन्न माना था, पर शंकुक ने इन दोनों ही मान्यताओं का खंडन करते हुए उसे स्थायीभाव का अनुकृत (=अभिनीत या कला के माध्यम से प्रस्तुत) रूप सिद्ध किया।

(घ) रस की प्रतीति—जिस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की अनुकृति प्रस्तुत करके अभिनेता स्थायीभाव के अनुकृत रूप (=रस) को प्रस्तुत कर देते हैं उसी प्रकार इन्हीं अवयवों की अनुकृति को देखकर सामाजिक भी स्थायीभाव के अनुकृत रूप का आस्वाद प्राप्त करते हैं। इसी क्रिया को अभिनव द्वारा उल्लिखित मत में 'प्रतीति' का नाम दिया गया है।

अभिनेताओं को देखकर दर्शकों की प्रक्रिया किस प्रकार की होती है? उनकी प्रतीति का स्वरूप क्या है? क्या अभिनेताओं को देखकर दर्शक उन्हें अनुकार्य या मूल पात्र (जैसे—ऐतिहासिक राम, सीता आदि) ही समझ लेते हैं या उनसे भिन्न? ऐसी स्थिति में उनका ज्ञान या बोध वास्तविक होता है या संशयात्मक अथवा भ्रमात्मक? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देते हुए शंकुक ने बताया है कि कलाजन्य प्रतीति को सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय, सादृश्य आदि में से किसी की भी श्रेणी में नहीं रखा जा सकता—वह प्रतीति तो विलक्षण प्रकार की ही है। उसे शब्दों में बताने की अपेक्षा चित्र-तुरंग के उदाहरण से समझाना अधिक सरल है। जिस प्रकार चित्र में घोड़े को देखकर उसे न तो हम वास्तविक घोड़ा कह सकते हैं और न ही यह कह सकते हैं कि यह घोड़ा नहीं है—उसी प्रकार नाटक में भी अभिनेताओं को न तो मूल ऐतिहासिक पात्रों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और न ही उनसे सर्वथा भिन्न

रूप में। वस्तुतः कलात्मक अनुभूति में दो भिन्न प्रकार की स्थितियों का सम्मिश्रण रहता है—वास्तविकता और अवास्तविकता का। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए शंकुक ने कहा है—'न संदेह की प्रतीति होती है न यथार्थता या भ्रान्ति की। वह राम है इस प्रकार की बुद्धि भी होती है और वह राम नहीं है यह भी। इस प्रकार परस्पर विरोधी बुद्धियों के सम्मिश्रण से एक ऐमा प्रत्यक्षात्मक अनुभव होता है जिसे बताना कठिन है।'

इस प्रकार 'अभिनव-भारती' के उल्लेखानुसार शंकुक ने सामाजिक की रस-प्रतीति को कोई विशिष्ट नाम न देकर परस्पर-विरोधी बुद्धियों के सम्मिश्रण से उपलब्ध एक विलक्षण अनुभव-मात्र कहा है पर 'काव्य-प्रकाश' में उद्धृत मत के अनुसार शंकुक ने रस-प्रतीति के लिए 'अनुमिति' का प्रयोग किया था। यद्यपि यह उल्लेख अभिनव के तत्सम्बन्धी उल्लेख के प्रतिकूल पड़ता है पर फिर भी विभिन्न व्याख्याताओं ने इसे इतना अधिक महत्त्व दिया है कि शंकुक के मत को 'अनुमितिवाद' तक की संज्ञा दी जाती है।

(ङ) **अनुमितिवाद**—डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भारतीय न्याय-दर्शन के आधार पर शंकुक के मत की अनुमितिवादी व्याख्या प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।[३] न्याय-दर्शन के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के चार साधन—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—माने गये हैं जिनमें अनुमान भी एक है। अनुमान में वस्तु का अप्रत्यक्ष रूप में ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जैसे—धुआँ को देखकर अग्नि की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना। अनुमान के भी तीन भेद माने गये हैं—(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् के अन्तर्गत वे साधन आते हैं जो वस्तु की पूर्व-स्थिति का बोध करवाते हैं, जैसे कि बादलों को देखकर वर्षा के आगमन का अनुमान कर लेना। शेषवत् का सम्बन्ध वस्तु की परवर्ती स्थिति से होता है, जैसे कि नदी में बाढ़ को देखकर पूर्ववर्ती भारी वर्षा का अनुमान करना। सामान्यतोदृष्ट में सहचारी कारणों से वस्तु का अनुमान किया जाता है जैसेकि धुँआ को देखकर आग की सत्ता का अनुमान कर लेना। इस दृष्टि से काव्य या नाटक में स्थायीभाव का प्रस्तुतीकरण या ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप में होता है; स्थायीभाव एवं उसका अनुकृत रूप रस अनुमेय है, विभाव पूर्ववत् अनुमान है। अनुभाव शेषवत् तथा संचारीभाव सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। इस प्रकार सामाजिक अनुमिति या अनुमान की प्रक्रिया द्वारा—पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्योदृष्ट अनुमानों के द्वारा—स्थायीभाव एवं रस की प्रतीति करता है। इस दृष्टि से प्रतीति का अर्थ होगा—अनुमिति।

---

३. इण्डियन ईस्थेटिक्स, पृष्ठ सं० ५३

इस अनुमितिवादी मत के विरुद्ध भी कई आरोप प्रस्तुत किये जा सकते हैं—जैसे कि अनुमान बुद्धि की प्रक्रिया है जबकि रसानुभूति में भावना का व्यापार चलता है तथा अनुमान की प्रक्रिया से ज्ञान-प्राप्ति तो हो सकती है पर उससे आह्लादक अनुभूति या रस की प्रतीति कैसे सम्भव है ? फिर लौकिक क्षेत्र में अनुमान से रस की उपलब्धि क्यों नहीं होती ?

इन आरोपों के उत्तर में कहा जा सकता है कि एक तो काव्य-प्रकाशकार के उल्लेख में भी रस-प्रतीति को सामान्य कोटि का अनुमान न मानकर विलक्षण प्रकार का अनुमान कहा गया है अतः उस पर अनुमान की सामान्य बातें लागू नहीं होती; दूसरे न्याय-दर्शन में 'ज्ञान' शब्द इतना व्यापक है कि उसमें अनुभव और अनुभूति का भाव भी सम्मिलित है—उदाहरण के लिए, प्रत्यक्ष-ज्ञान को हम लोक प्रचलित शब्दावली में 'ज्ञान' न कहकर 'अनुभव' या 'अनुभूति' कहना अधिक उपयुक्त समझेंगे जबकि न्याय-दर्शन में इसकी अपेक्षा नहीं है । इसी प्रकार उसमें अनुमिति और अनुमान भी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हैं जिनके अन्तर्गत न केवल ज्ञान के अपितु अनुभव के अप्रत्यक्ष साधन भी आ जाते हैं; यथा—चित्र में तुरंग को देखकर तुरंग का ज्ञान प्राप्त करना तुरंग सम्बन्धी अनुभूति का ही एक विशिष्ट रूप है। अतः 'अनुमिति' के व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए उसे व्यावहारिक शब्दावली में 'अनुभव' या 'अनुभूति' भी कह दिया जाय तो कदाचित् अनुचित् न होगा ।

अस्तु, पूर्वोक्त आक्षेपों का निराकरण किया जा सकता है किन्तु जब तक यही संदिग्ध है कि शंकुक अनुमितिवादी थे या नहीं—तब तक इस प्रकार की व्याख्याओं एवं तत्सम्बन्धी आक्षेपों पर बहुत गम्भीरता से विचार करना अनावश्यक है। हाँ, इतना अवश्य है कि शंकुक चाहे अनुमानवादी रहे हों या नहीं, किन्तु डॉ० पाण्डे की उपर्युक्त व्याख्या स्थायीभाव एवं उससे सम्बद्ध विभावादि के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायक होती है ।

● भट्ट लोल्लट से तुलना

शंकुक के मत की नूतनता एवं मौलिकता को हृदयंगम करने के लिए उसकी तुलना भट्ट लोल्लट के मत से की जा सकती है । यहाँ दोनों के मत संक्षेप में, तालिका-रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं ।

भट्ट लोल्लट एवं शंकुक के मत

विषय	भट्ट लोल्लट का मत	शंकुक का मत
१. स्थायीभाव	=विभाव से उत्पन्न । =अनुभावों से प्रतीयमान =संचारीभाव से पुष्ट । =अनुकार्यों में स्थित	=विभाव कारण है । =अनुभाव कार्य है । =संचारीभाव सहचारी है। =अनुकार्यों में स्थित
२. रस	=स्थायीभाव का विभावादि के माध्यम से परिपुष्ट रूप	=स्थायीभाव का अनुकृत रूप ।
३. सामाजिक की रस प्रतीति का आधार	=अभिनेताओं में अनुकार्यों से तद्रूपता का अनुसंधान	=अभिनेताओं द्वारा अनुकृति तथा सामाजिक द्वारा अनुमिति ।
४. रस और स्थायीभाव का सम्बन्ध	=मूलतः दोनों में विशेष अन्तर नहीं ।	=स्थायीभाव लौकिक अनुभूति है जबकि रस विलक्षण अनुभूति है ।
५. स्थायीभाव की सत्ता	=विभावदि से पृथक सत्ता सम्भव ।	=विभावादि से पृथक सत्ता सम्भव नहीं ।

● **तालिका की व्याख्या : समानताएँ**

(क) भट्टलोल्लट ने स्थायी भावों को विभावों से उत्पन्न, अनुभावों से प्रतीयमान एवं संचारी भावों से पुष्ट बताया वहाँ शंकुक ने इन्हें क्रमशः स्थायीभाव के कारण, कार्य एवं सहचारी के रूप में उल्लिखित किया । वस्तुतः यहाँ शब्दावली का ही अन्तर मुख्य है ; अर्थ की दृष्टि से तथा इन तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से लोल्लट एवं शंकुक की धारणाओं में विशेष अन्तर नहीं है । एक ने यदि विभाव को स्थायीभाव का जनक बताया है तो दूसरे ने उसे उसका कारण बताया है; इसी प्रकार अनुभावों को लोल्लट ने भावों के अनुवर्ती या परवर्ती स्वीकार किया है तो शंकुक ने उनको कार्य के रूप में मान्यता दी है । संचारियों को लोल्लट ने संस्कार रूप में स्थायी के सहचारी रूप में स्वीकार किया है तथा, यही बात शंकुक ने कही

है । अतः स्थायीभाव एवं उसके घटक तत्त्वों की दृष्टि दोनों लगभग एकमत हैं । दोनों का समन्वित मत है : स्थायीभाव=विभाव>अनुभाव+संचारीभाव ।

(ख) स्थायी भाव को दोनों ने ही मुख्यतः अनुकार्यों (ऐतिहासिक पात्रों) में स्थित मानते हुए लौकिक अनुभूति माना है ।

(ग) स्थायी भाव और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट ने रस को स्थायीभाव का विभावादि के माध्यम से परिपुष्ट रूप माना है जिसका अर्थ है—विभाव, अनुभाव और संचारी के माध्यम से ही स्थायी भाव का प्रस्तुतीकरण रस-निष्पत्ति के लिए अपेक्षित है तो शंकुक ने स्थायीभाव के अनुकृत रूप अर्थात् विभाव, अनुभाव, संचारी की अनुकृति को रस माना है । यहाँ भी परि-पुष्टि एवं अनुकृति में शाब्दिक अन्तर है अन्यथा दोनों का ही अभिप्राय स्थायीभाव के कलात्मक माध्यम से प्रस्तुतीकरण से ही है । यदि स्थायीभाव को शब्द के माध्यम से उल्लिखित न करके उसके विभिन्न अंगों (विभाव, अनुभाव एवं संचारी) को अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जाय तो वही रस में परिणित हो जायगा । अतः संक्षेप में दोनों की धारणाओं का समन्वित रूप है : स्थायीभाव+कलात्मक माध्यम= रस ।

(घ) सामाजिक को रस-प्रतीति अभिनेताओं के अभिनय के द्वारा होती है : इसी प्रक्रिया को भट्टलोल्लट ने सामाजिक द्वारा '**तद्रूपतानुसंधान**' (अनुकार्यों के अनुरूप अभिनय का अन्वीक्षण) कहा है तो शंकुक ने इसे **अनुकृति के माध्यम से अनुमित्ति** माना है : संक्षेप में, तद्रूपता=अनुकृति ; अनुसंधान=अनुमति ।

● भट्टलोलट एवं शंकुक में मतभेद

उपर्युक्त प्रसंगों में शंकुक की धारणाएँ मूलतः भट्टलोल्लट के अनुरूप ही हैं दोनों में अन्तर केवल शब्दावली का है, व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है । पर शंकुक की कुछ धारणाएँ ऐसी भी हैं जो लोल्लट के मत के प्रतिकूल पड़ती हैं। एक तो शंकुक ने यह स्पष्ट किया कि स्थायीभाव की विभावादि से पृथक स्वतंत्र सत्ता नहीं है, दूसरे उन्होंने स्थायीभाव की अनुभूति से रस की अनुभूति को सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण प्रकार की सिद्ध करते हुए दोनों के सूक्ष्म अंतर की ओर संकेत किया । तीसरे, उन्होंने कलात्मक अनुभूति में कृत्रिमता और स्वाभाविकता, वास्तविकता और अवास्तविकता के मिश्रित ज्ञान—दो परस्पर-विरोधी बुद्धियों के सम्मिश्रण या योग के रूप में माना है । वस्तुतः ये तीनों ही धारणाएँ भट्टलोल्लट की धारणाओं से अधिक सूक्ष्म, विकसित एवं संगत है ; अतः शंकुक को न केवल भट्टलोल्लट की अनेक धारणाओं को नयी शब्दावली में प्रस्तुत करने का श्रेय है अपितु उन्होंने पूर्ववर्ती मत को और अधिक विकसित करते हुए रस-निष्पत्ति सम्बन्धी चिन्तन को आगे बढ़ाया है—इसमें कोई संदेह नहीं ।

आक्षेप—भट्टतोल तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने शंकुक के मत पर आक्षेप करते हुए कहा है कि रस को स्थायीभाव का अनुकृत रूप कहना अनुचित है क्योंकि अभिनेता और सामाजिक—दोनों की ही दृष्टि से स्थायी भाव की अनुकृति एवं उससे रस-निष्पत्ति संभव नहीं। वस्तुतः यह आक्षेप 'अनुकृति' के अत्यन्त संकीर्ण अर्थ पर आधारित है। हमारे विचार से नाटक के प्रसंग में अनुकृति का अभिप्राय अभिनय-कला से है तथा इसे और भी व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए इसका अर्थ कलात्मक माध्यम किया जा सकता। इस प्रकार स्थायीभाव की अनुभूति का अर्थ है स्थायी भाव को अभिनय अथवा किसी अन्य कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत करना। इस दृष्टि से विचार करने से उपर्युक्त आक्षेप निरर्थक सिद्ध हो जाता है। अनुकृति की ही भाँति अनुमिति या अनुमान की प्रक्रिया पर भी आक्षेप किया गया है जो 'ज्ञान' और 'अनुमान' के सँकीर्ण अर्थों पर आश्रित है। इस आक्षेप का भी निराकरण करते हुए अन्यत्र कहा जा चुका है कि इस प्रसंग में ज्ञान का अभिप्राय अनुभव एवं अनुमिति का तात्पर्य अनुभूति या प्रतोति है—अतः यह आक्षेप भो निराधार है।

अस्तु, रस-चिन्तन की परम्परा को आगे बढ़ाने तथा उसे विकसित करने में निश्चय ही शंकुक का योगदान है—यह निःसकोच कहा जा सकता है।

६ भट्ट नायक का भुक्तिवाद

रस-सिद्धान्त के इतिहास में भट्टनायक (अनुमानतः नवीं शताब्दी) का स्थान युग-प्रवर्त्तक का है—अब तक रस-प्रक्रिया की मीमांसा बहुत स्थूल दृष्टि से होती रही थी; आचार्य भरत से लेकर शंकुक तक सभी ने रस-प्रक्रिया और लौकिक भावाभूति की प्रक्रिया को प्रायः समान स्तर पर रख कर ही विचार किया जब कि भट्टनायक कदाचित् पहले विचारक हैं जिन्होंने सामान्य अनभूति और कलाजन्य अनुभूति के तात्त्विक एवं आधारभूत अन्तर को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया। उनके द्वारा रचित मूल ग्रन्य हृदय-दर्पण अनुपलब्ध है, अतः उनके विचारों की जानकारी केवल 'अभिनव-भारती' एवं 'ध्वन्यालोक लोचन' एवं 'काव्यप्रकाश' के तत्सम्बन्धी विवरण से ही उपलब्ध होती है। अभिनवगुप्त ने इनके मत की चर्चा मुख्यतः खंडन के उद्देश्य से की है, अतः यह कहना कठिन है कि उन्होंने भट्टनायक के विचारों एवं उनके आशय को कहाँ तक शुद्ध एवं मूल रूप में प्रस्तुत किया है, 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता ने तो इन्हें अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसी स्थिति में भटनायक के मत की प्रामाणिक एवं स्पष्ट जानकारी संभव नहीं। फिर भी प्राप्त सामग्री से जितना परिचय मिलता है उसी के आधार पर इनकी प्रमुख धारणाओं का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

● काव्यास्वादन की तीन प्रक्रियाएँ

जहाँ शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक ग्रन्थों के अध्ययन एवं बोध के लिए शब्दों के सामान्य एवं प्रचलित अर्थ का ज्ञान ही पर्याप्त होता है, वहाँ काव्य या साहित्य के आस्वादन में कुछ अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा रहती है—इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए भट्टनायक ने काव्य-भाषा की तीन प्रक्रियाओं या कार्य-व्यापारों की कल्पना की —(१) अभिधा की प्रक्रिया (२) भावकत्व की प्रक्रिया (३) भोजकत्व की प्रक्रिया।

किसी भी साहित्यक रचना के आस्वादन के लिए सर्व प्रथम उसमें प्रयुक्त भाषा के अर्थ-बोध की अपेक्षा रहती है या यों कहिए कि सर्व प्रथम हमें उससे अभिधात्मक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इसी को अभिधा-व्यापार कहा गया है। काव्य-भाषा के अर्थ-बोध की प्रक्रिया के अनन्तर विषय-वस्तु का बोध भावना या अनूभूति के स्तर पर होने लगता है या यों कहिए कि विषय-वस्तु का बौद्धिक ज्ञान भावात्मक अनुभुति में परिणत होने लगता है ; यही प्रक्रिया भट्टनायक के अनुसार **भावकत्व व्यापार** है जिससे काव्य-वस्तु **भाव्यमान** (भावित) होने लगती है। काव्यास्वादन की तीसरी स्थिति वह है जब कि पाठक की काव्यजन्य भावानुभुति आनन्दानुभूति या रसानुभूति में परिणत होने लगती है—इसी को **भोजकत्व व्यापार** की संज्ञा दी गयी है। भोजकत्व या भोग का नाम इसे कदाचित् इसलिए दिया गया है कि इस प्रक्रिया के कारण पाठक काव्यजन्य अनुभूतियों का उपभोग करने लगता है, उनमें आस्वाद या आनन्दपूर्ण स्वाद का अनुभव करने लगता है। अस्तु, संक्षेप में भट्टनायक काव्यास्वादन की तीन प्रक्रियाएँ या अनुभूति के तीन स्तर स्वीकार करते हैं—

व्यापार	प्रक्रिया	अनुभूति का स्तर
१. अभिधा-व्यापार >	काव्य-भाषा का अर्थ-बोध	बौद्धिक
२. भावकत्व व्यापार >	काव्य-वस्तु का भावन	भावात्मक
३. भोजकत्व व्यापार >	काव्यानुभूति का आस्वादन	अन्तश्चेनात्मक

उपर्युक्त क्रिया-व्यापारों से यह भी स्पष्ट है कि भट्टनायक ने काव्यानुभूति के लिए हमारी बौद्धिक, भावात्मक एवं अन्तश्चेतनात्मक तीनों वर्गों की प्रवृत्तियों के सहयोग एवं समन्वय की ओर संकेत किया है।

● काव्यानुभूति या रसानुभूति का स्वरूप

काव्यानुभूति की प्रक्रिया के साथ-साथ भट्टनायक ने काव्यानुभूति के स्वरूप का भी सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो प्रकार के प्रयास किये हैं एक तो काव्यानुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण किया तथा दूसरे उन्होंने साधारणीकरण की प्रक्रिया एवं सत्त्वगुण के प्राधान्य की स्थिति का अनुसंधान करते हुए सामाजिक की अनुभूति का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया। यहाँ हम दोनों प्रयासों पर क्रमशः विचार करते हैं—

(१) काव्यानुभूति सम्बन्धी भ्रान्तियाँ

इनसे पूर्व आचार्यों ने काव्यानुभूति को प्रायः मूल ऐतिहासिक पात्रों की ही अनुभूति से सम्बन्धित माना था। उदाहरण के लिए, भट्टलोल्लट ने ही काव्य में भावों की तीन प्रक्रियाएँ उल्लिखित की थीं—विभावों से स्थायीभाव की उत्पत्ति, अनुभावों से प्रतीति एवं संचारीभावों से पुष्टि या अभिव्यक्ति ; इसका तात्पर्य यह हुआ

कि जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में भावों की उत्पत्ति, प्रतीति एवं पुष्टि या अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार काव्य से भी ये तीनों प्रक्रियाएँ संपादित होती हैं। भट्टनायक ने इन तीनों प्रक्रियाओं के विरुद्ध अलग-अलग आक्षेप प्रस्तुत करते हुए इन्हें अमान्य सिद्ध किया है।

उत्पत्ति की प्रक्रिया के विरुद्ध उनका सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि यदि काव्यानुभूति से भी हमारे हृदय में स्थायीभाव की उत्पति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार लौकिक जीवन में अथवा ऐतिहासिक पात्रों के जीवन में होती है तो फिर जुगुप्सा,भय, शोक आदि कटु भावों की भी अनुभूति प्रत्यक्ष जीवन और काव्य—दोनों में एक जैसी ही होनी चाहिए। उस स्थिति में वीभत्स, भयानक, करुण आदि की काव्यात्मक अनुभूति रसात्मक या आनन्दमय नहीं होनी चाहिए। यदि इसके उत्तर में कहा जाता है कि काव्य में वीभत्स, भयानक, करुण आदि की अनुभूति पाठक की अपनी अनुभूति नहीं होती, अपितु दूसरों की होती है—अतः दुःख नहीं होता, तो उस स्थिति में भट्टनायक का तर्क है कि दूसरों की अनुभूति पाठक की अनुभूति कैसे बन सकती है?

इसी प्रकार स्थायीभाव की प्रतीति की बात भी भट्टनायक स्वीकार नहीं करते। किसी भी वस्तु या भाव की प्रतीति के साधन स्मृति, अनुमान, प्रमाण, प्रत्यक्षबोध आदि बताये जाते हैं। काव्य से हमें जिस स्थायीभाव की प्रतीति होती है वह इन चारों प्रकार के आधारों में से किसी की भी कोटि में नही आता; यथा—'गोदान' के होरी का दुःख न तो हमारी अपनी स्मृति पर आधारित है, न उसमें बौद्धिक अनुमान रहता है, न वह प्रमाण या तर्क से बोधित है और न ही हम उसका प्रत्यक्ष-बोध प्राप्त करते हैं? ऐसी स्थिति में होरी के शोक की प्रतीति हमें किस प्रकार होती है? और यदि यह मान भी लिया जाय कि हमें प्रतीति हो जाती है तो भी दूसरों के सुखात्मक या दुःखात्मक भावों की प्रतीति से हमें ईर्ष्या, उपेक्षा या करुणा की ही अनुभूति होनी चाहिए; उसमें रसात्मकता का संचार संभव नहीं।

रही बात अभिव्यक्ति की। अभिव्यक्त होने का अर्थ है—पहले से उपस्थिति या अनुभूति। जब हम कभी किसान बने ही नहीं, खेत में काम ही नहीं किया और होरी की वेदनाओं को जीवन में कभी अनुभव ही नहीं किया तो फिर उनकी अभिव्यक्ति कैसे संभव है? अस्तु, दूसरों की भावानुभूति से अपने भावों की अभिव्यक्ति संभव नहीं—यह भट्टनायक का अभिव्यक्ति के विरुद्ध तर्क है।

इस प्रकार भट्टनायक ने अत्यन्त सशक्त तर्कों के आधार पर भावानुभूति की तीनों ही प्रक्रियाओं—उत्पत्ति, प्रतीति एवं अभिव्यक्ति—से रसानुभूति की उपलब्धि की बात अस्वीकार की है। ऐसी स्थिति में रस-प्रक्रिया की पूर्ववर्ती सभी व्याख्याएँ जो कि उपर्युक्त तीनों क्रिया-व्यापारों में से किसी एक को या सबको आधार बनाकर प्रस्तुत की गयी थी, अप्रमाणिक सिद्ध हो जाती हैं।

(२) भावानुभूति एवं काव्यानुभूति का मौलिक अन्तर : साधारणीकरण—

काव्य में चित्रित पात्रों की अनुभूतियाँ मूलतः लौकिक होती हुई भी काव्यास्वादन की प्रक्रिया की वेला में साधारणीकृत हो जाती हैं ; अतः लौकिक अनुभूतियों से काव्यानुभूति का पहला अन्तर इस साधारणीकरण का ही है। यह साधारणीकरण भट्टनायक के अनुसार काव्य की भावकत्व प्रक्रिया के कारण होता है। सामान्य जीवन की भावनाएँ और अनुभूतियाँ व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध रहती हैं जबकि काव्य में वे सर्व साधारण की, प्रत्येक सहृदय पाठक की अनुभूतियाँ बन जाती हैं। एक व्यक्ति की अनुभूति का सर्वसाधारण की अनभूति बन जाना ही साधारणीकरण है।

प्रश्न है, काव्य में ऐसी क्या बात है जिसके कारण वैयक्तिक अनुभूतियाँ साधारणीकृत हो जाती हैं ? इसके उत्तर में कहा गया है—'काव्य में दोषों के अभाव गुणों एवं अलंकारों के संयोजन से तथा नाटक में चारों प्रकार के अभिनय के द्वारा साधारणीकरण होता है। इसका अर्थ यह है कि भट्टनायक काव्य के काव्यत्व (=दोषाभाव+गुण+अलंकार) एवं नाटक के अभिनय में ही एक ऐसी प्रभावोत्पादक शक्ति मानते हैं जिससे काव्यगत विभावों का साधारणीकरण हो जाता है। यदि हम काव्यत्व एवं अभिनय—इन दोनों को सामान्यीकृत रूप में देखें तो इनके स्थान पर 'कलात्मकता' का प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि उपलब्ध उल्लेखों में यह स्पष्ट नहीं है कि काव्यात्मकता या कलात्मकता के कारण काव्य-वस्तु का साधारणीकरण किस प्रकार होता है, पर इतना स्पष्ट है कि भट्टनायक के मतानुसार काव्यात्मकता या कलात्मकता के कारण ही भावकत्व व्यापार संपादित होता है जिसका परिणाम साधारणीकरण है। संक्षेप में—

कलात्मकता > भावकत्व > साधारणीकरण।

भावकत्व व्यापार की यह प्रक्रिया जहाँ काव्य-वस्तु की दृष्टि से साधारणीकरण का कार्य करती है वहाँ व्यक्ति या पाठक की दृष्टि से वह 'निजमोह संकटता निवारण' का कार्य भी संपादित करती है। 'निज मोह संकटता' क्या है ? व्यक्ति का अपनी वैयक्तिकता के मोह से ग्रस्त रहना या अपने अहंकार की सीमाओं में आबद्ध रहना ही 'निजमोह संकटता' है जिसके कारण हम व्यावहारिक जीवन में अपने से असम्बद्ध व्यक्तियों की भावानुभूतियों को प्रायः हृदयंगम नहीं कर पाते। अतः भावकत्व व्यापार की एक ही साथ दो प्रक्रियाएँ स्वीकार करनी होगी— वस्तु के पक्ष में साधारणीकरण एवं व्यक्ति के पक्ष में वैयक्तिकता की सीमाओं से मुक्ति अतः पूर्व उपलब्ध निष्कर्ष को विकसित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

काव्यात्मकता (कलात्मकता) → भावकत्व — ⟨ साधारणीकरण / वैयक्तिकता से मुक्ति

(३) काव्यानुभूति में सत्त्व गुण की प्रधानता

यह ठीक है कि साधारणीकरण के कारण पाठक काव्यगत पात्रों की अनुभूतियाँ का अनुभव प्राप्त कर लेता है, पर फिर एक समस्या रह जाती है—काव्यगत पात्र की दुःखात्मक अनुभूतियाँ रसात्मकता में किस प्रकार परिणत होजाती है ? इसके उत्तर में भट्टनायक ने सत्त्वगुण की प्रधानता की बात कही है। सत्त्वगुण की धारणा परम्परागत भारतीय दर्शन पर आधारित है, जिसका विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन गीता के चौदहवें अध्याय में उपलब्ध होता है—अतः भट्टनायक के तत्सम्बन्धी विचारों पर अवलोकन करने से पूर्व उक्त धारणा को दार्शनिक दृष्टि से समझ लेना आवश्यक है।

सांख्य दर्शन एवं गीता के अनुसार समस्त सृष्टि या प्रकृति त्रिगुणात्मक है—इसके तीन गुण हैं ; सत्त्व, रज और तम। इन्हीं गुणों के मेल से विभिन्न भौतिक पदार्थों एवं मानसिक स्थितियों का संघटन व विकास होता है। जहाँ तक मानसिक पक्ष का सम्बन्ध है—सत्त्व ज्ञान, बुद्धि एवं निर्मलता का सूचक है, रज इच्छा एवं भावना पर आश्रित है तथा तम अज्ञान, प्रमाद आलस्य और निष्क्रियता का सूचक है। आधुनिक शब्दावली में स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि ये तीनों गुण क्रमशः बौद्धिक, भावात्मक एवं अचेतनात्मक प्रवृत्तियों के सूचक हैं। विभिन्न परिस्थितियों में इनमें से कोई एक प्रवृत्ति प्रमुख होकर शेष दो को अपने प्रभाव के अन्तर्गत ले लेती हैं। इन्हीं की प्रमुखता को क्रमशः सत्त्व, रज या तम के गुणों की प्रमुखता बताया गया है।

भट्टनायक ने भी काव्यानुभूति की गंभीरतम एवं उच्चतम अवस्था में पाठक या सामाजिक के मन में सत्त्व गुण की प्रधानता एवं रजोगुण और तमोगुण की गौणता की बात कही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन दोनों गुणों का सर्वथा लोप हो जाता है अपितु यह है कि ये दोनों गुण भी सत्त्वगुण में सम्मिश्रित एवं समन्वित होकर अपनी विशिष्टता को या प्रमुखता को त्याग देते हैं। इस स्थिति को, यदि दार्शनिकता से बचकर सामान्य शब्दावली में स्पष्ट किया जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है—

सत्त्व की प्रधानता = बौद्धिकता की प्रमुखता
रज का मिश्रण = रागात्मकता का अहं से मुक्त होकर बुद्धि के नियंत्रण में चला जाना
तम का मिश्रण = अज्ञान या भ्रान्ति अथवा मिथ्या प्रतीति (= कल्पनात्मक अनुभूति) का भी बौद्धिकता से मेल हो जाना।

उपर्युक्त स्थिति के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि भट्टनायक रसानुभूति को ऐन्द्रियक एवं भावात्मक (निजी संवेदनात्मक) अनुभूति से ऊपर के स्तर की अर्थात् बौद्धिक स्तर की अनुभूति मानते हैं। उसमें हम सत्य का ज्ञान ही

नहीं साक्षात्कार या प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं। बौद्धिक प्रवृत्तियों का चरम लक्ष्य एवं उनकी परम संतुष्टि सत्य के साक्षात्कार में निहित है—शास्त्र और विज्ञान से भी सत्य की प्रतीति होती है, पर वह पर-प्रत्यक्ष होती है, उनसे सत्य का केवल शाब्दिक ज्ञान मात्र होता है, भावात्मक अनुभव नहीं, जबकि काव्यानुभूति के क्षणों में हम भावों के सच्चे, शुद्ध (वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त) एवं पूर्ण रूप की अनुभूति प्राप्त करते हैं। संक्षेप में यह भावों की सत्यता (राग-द्वेष से मुक्त रूप) का बोध ही सत्य के भावात्मक रूप का बोध हैं, जिसे भट्टनायक ने सत्त्व का उद्रेक कहा है।

सत्य की अनुभूति के लिए भावात्मकता तो अपेक्षित है पर वह वैयक्तिकता या निजी अहं के दूषित प्रभाव से मुक्त रहनी चाहिए। काव्यानुभूति में रजोगुण के सत्त्व के अधीन रहने के कारण यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

कला में वास्तविकता और अवास्तविकता का मेल रहता है जिसे कल्पना कहा जा सकता है। यह कल्पना ही यहाँ तमोगुण की सूचक है। काव्यानुभूति में इसका भी मिश्रण रहता है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार काव्यास्वादन में बुद्धि के नेतृत्व में भावना एवं कल्पना का संयोग रहता है; सत्त्व की प्रधानता का यही अर्थ है।

● भट्टनायक की उपलब्धियाँ

भट्टनायक की उपर्युक्त धारणाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि रसास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण में उन्होंने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता एवं मौलिकता का परिचय दिया है। वस्तुतः रस परम्परा में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने काव्य के संदर्भ में रस-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उसकी तीन प्रक्रियाओं—अर्थबोध, भावना एवं आस्वादन—का क्रम निर्धारित किया जो आधुनिक दृष्टि से भी मान्य कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लौकिक भावानुभूति एवं काव्यानुभूति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने साधारणीकरण सिद्धान्त का आविष्कार किया जो कि परवर्ती युग में उनके विरोधियों द्वारा भी मान्य हुआ। काव्यानुभूति में कलात्मकता एवं बौद्धिकता के योग को भी उन्होंने सम्यक् रूप में स्पष्ट किया। अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी रस सम्बन्धी अनेक धारणाएँ मौलिक, गम्भीर एवं सन्तुलित हैं तथा रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया (काव्यास्वाद की प्रक्रिया) को स्पष्ट एवं सुसंगत रूप प्रदान करने की दृष्टि से उनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

७ अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भारतीय काव्य-चिन्तन की परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने रस-सिद्धान्त की अभिव्यक्तिवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसे एक अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया। इन्होंने अपना परिचय स्वरचित ग्रन्थों में दिया है जिससे ज्ञात होता है कि वे कश्मीर के राजा ललितादित्य के आश्रित थे तथा इनका जीवन-काल ईसा की दसवीं शती उत्तरार्द्ध से लेकर ग्यारहवीं शती पूर्वार्द्ध तक था। इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें से काव्य-शास्त्रीय वर्ग में 'अभिनव भारती' एवं 'ध्वन्यालोक-लोचन' आते हैं। इनमें क्रमशः 'नाट्य शास्त्र' (भरत मुनि द्वारा रचित) एवं 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या नूतन दृष्टि से की गयी है तथा रस-सूत्र के प्रसंग में रस सम्बन्धी निजी विचारों का प्रतिपादन किया गया है। अतः आगे इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अभिनवगुप्त के रस सम्बन्धी विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

● अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता

आचार्य अभिनवगुप्त की काव्य-शास्त्रीय मीमांसा में सर्वप्रथम लक्ष्य करने की बात उनके दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता है। जहाँ संस्कृत के अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य-चिन्तना का लक्ष्य केवल अन्य मतों का खण्डन करके स्वमत की स्थापना करने का ही रहा है—अतः ऐसी स्थिति में वे पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हो पाते थे—वहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती मतों के प्रति खण्डन-मण्डन के लक्ष्य से दूर रहकर तटस्थ दृष्टि से पूर्ववर्ती मतों के संशोधन का लक्ष्य अपनाया है, जिसकी घोषणा उन्होंने इस प्रकार की है—

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्व प्रतिष्ठापित योजनासु मूल प्रतिष्ठाफल मामनन्ति ।।

—अभिनव भारती,

अर्थात् 'इसलिए हमने प्राचीन सज्जन आचार्यों के मतों का (पूर्व आलोचना में दूषण) खण्डन नहीं किया है अपितु (उन्हीं का विशेष परीक्षा द्वारा) संशोधन किया है क्योंकि पूर्व आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की भली प्रकार संगति लगा देने में मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना का सा ही फल मिलता है।' (हिन्दी अभिनव भारती; पृ० ४६९)

अस्तु, उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने वैयक्तिक आग्रहों से मुक्त रहकर परम्परागत रस सिद्धान्त पर तटस्थ दृष्टि से विचार करते हुए उसे सुसंगत रूप देने का प्रयास किया है। उनके दृष्टिकोण को आज की शब्दावली में 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' कहा जाय तो अनुचित न होगा।

● **रस का स्वरूप**

'अभिनव भारती' में रस के स्वरूप की विवेचना करते हुए अभिनवगुप्त ने अनेक नयी बातें कही हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(क) **रस ही नाट्य है**[1] अर्थात् रस नाटक का केवल एक अंग या एक तत्त्व नहीं है अपितु समस्त नाटक या काव्य में व्याप्त सर्वांगीण तत्त्व है। इसी रस की अनुभूति ही नाटक का फल है। दूसरे शब्दों में रस का सम्बन्ध नाटक या काव्य के सम्पूर्ण प्रभाव से है।

(ख) **काव्य का अर्थ ही रस है**[2] अर्थात् रस का सम्बन्ध काव्य के सम्पूर्ण अर्थ से है। रस का सम्बन्ध नाटक या काव्य के भाव-विशेष से नहीं अपितु, उसके सम्पूर्ण अर्थ से है। इस दृष्टि से काव्य के भावात्मक तत्त्वों के अतिरिक्त बौद्धिक तत्त्वों का भी रस से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त शान्त रस को ही सर्वोपरि रस मानते थे तथा शान्त रस में तत्त्व-बोध या विचार की प्रमुखता रहती है, अतः 'अर्थ' शब्द पर विशेष बल देकर उन्होंने अप्रत्यक्ष में काव्यगत बौद्धिकता या शान्त रस का अनुमोदन किया है।

(ग) **रस नायक की स्थायिभावात्मक चित्तवृत्ति-स्वरूप होता है**[3]—एक रचना

---

१. 'तेन रस एव नाट्यम्'; ६/१५, हि० अ० पृ० ४२८
२. 'तत्काव्यार्थो रसः ६/३१
३. 'नायकामिधान भोक्तृ विशेष स्थायि चित्तवृत्ति स्वभावः' ६/१५, ४२७

में विभिन्न पात्र होते हैं जो विभिन्न स्थायी भावों को अभिव्यक्ति करते हैं; यथा—'रामचरित मानस' में परशुराम क्रोध की, दशरथ वात्सल्य की, सीता प्रणय की, अभिव्यक्ति करती हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि इस ग्रन्थ में व्याप्त रस या प्रमुख रस का निर्णय किस स्थायी भाव के आधार पर किया जाय ? आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य या नाटक में प्रधान भोक्ता—नायक के स्थायीभाव से सम्बन्धित रस ही उस रचना का रस (या अंगीरस) माना जाना चाहिए।

(घ) स्थायी भाव और रस में अन्तर—यद्यपि रस नायक के स्थायी भाव के अनुरूप ही होता है फिर भी दोनों एक ही नहीं है; आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार स्थायी भाव जहाँ सामान्य लौकिक अनुभूति है वहाँ रस की अनुभूति नाटक, काव्य आदि से ही होती है।[४] दूसरे, रस में स्थायी भाव नाट्यांग, गुण, अलंकार आदि तत्त्वों से युक्त होने के कारण सौन्दर्य युक्त हो जाता है जब कि सामान्य स्थायी भाव इन तत्त्वों से शून्य हो जाता है।[५] तीसरे, रस में स्थायी भाव साधारणीकृत रूप में होता है[६] तथा उसकी अनुभूति निर्विघ्न रूप में होती है, इसलिए उसका आस्वाद भी रसनीय या आनन्दमय हो जाता है।[७] इस प्रकार स्थायी भाव की लौकिक अनुभूति एवं रसात्मक अनुभूति में क्रमशः कलात्मकता, सौन्दर्यात्मकता, साधारणीकरण, निर्विघ्नता एवं रसनीयता—इन पाँच विशेषताओं का अन्तर है।

(ङ) रसानुभूति का स्वरूप—सामान्यतः लौकिक जीवन में हम विभिन्न वस्तुओं एवं परिस्थितियों के बोध के समय तीन प्रकार की दृष्टियाँ अपना सकते हैं—(१) योगी की भाँति तटस्थ दृष्टि (२) परायेपन की भावना के कारण उपेक्षापूर्ण दृष्टि या (३) अपनत्व की भावना के कारण स्वार्थपूर्ण दृष्टि। रसानुभूति के समय हम इन तीनों ही दृष्टियों से भिन्न प्रकार की दृष्टि अपनाते हैं। हम विषय वस्तु से तटस्थ रहते हुए भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं रहते; हम यह जानते हुए भी कि वह हमारी अपनी कहानी नहीं है हम उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते, उसमें आत्मीयता का बोध करते हुए भी व्यक्तिगत स्वार्थ, अहं और हानि-लाभ के विचार से मुक्त रहते हैं। इस अनुभूति को विलक्षण प्रकार की अनुभूति ही कहा जा सकता है।

रसानुभूति को 'साक्षात्कारात्मिका प्रतीति' 'निर्विघ्न प्रतीति' एवं विश्रान्तिरूप या चमत्कारपूर्ण प्रतीति भी कहा जा सकता है। 'साक्षात्कारात्मिका प्रतीति' से

---

४. हिन्दी अभिनय भारती; पृष्ठ ५०४
५. 'अन्ये तु काव्येऽपि गुणालंकार सौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः। (हिन्दी अभिनव भारती; अध्याय ६/पृष्ठ ५०५)
६. हिन्दी अभिनव भारती; पृष्ठ ४८६
७. हिन्दी अभिनव भारती; पृष्ठ ४८३

आशय यह है कि रसानुभूति के समय हमारे मानसिक चक्षुओं के सम्मुख मूल ऐतिहासिक पात्र या उनके क्रिया-कलाप वास्तविक रूप में न होते हुए भी नाटक में अभिनय के कारण तथा काव्य में बिम्ब-विधान के कारण हमें प्रत्यक्ष से ही दिखाई पड़ते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने इसे कल्पना से भी सम्बन्धित किया है जो ठीक है। वस्तुतः कला के क्षेत्र में विषय वस्तु का बोध न सर्वथा वास्तविक रूप में होता है न अवास्तविक रूप में, और न उसे हम पूर्णतः प्रत्यक्ष कह सकते हैं और न ही परोक्ष—अपितु वह इन सबसे भिन्न काल्पनिक या कल्पनात्मक बोध होता है।

लौकिक अनुभूति में हम देश-काल के बन्धनों एवं वैयक्तिक सीमाओं के कारण किसी भी दृश्य की अनुभूति पूर्ण निश्चिन्तता एवं निर्विघ्नता से नहीं कर पाते। चल-चित्र पर जब हम आग लगने का दृश्य देखते हैं तो न तो हम अपने घर को बचाने के लिए दौड़ते हैं, और न ही सामनेवालों की सहायता के विचार से प्रेरित होते हैं। जबकि व्यावहारिक जीवन में ऐसा नहीं होता। दैनिक जीवन में सुन्दर दृश्यों को देखकर भी पूर्णतः निर्विघ्न नहीं रह पाते—उसे स्थायी रूप से पाने की लालसा या दूसरों की बाधा अथवा अपनी अन्य चिन्ताओं के कारण उस अनुभूति में कोई न कोई वैचारिक या व्यावहारिक विघ्न उपस्थित हो जाता है, अतः उसका आस्वादन पूर्णतः नहीं कर पाते। ये विघ्न और भी कई प्रकार के हैं जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी।

रसानुभूति के समय एक ओर तो हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, वास्तविक एवं अवास्तविक, अपने और पराये की भावना से भिन्न एक विलक्षण चमत्कार पूर्ण अनुभूति प्राप्त करते हैं, दूसरी ओर हमारी चेतना सभी प्रकार की वैयक्तिक चिन्ताओं से मुक्ति पाकर पूर्ण विश्रान्ति (शान्ति) की अनुभूति प्राप्त करती है जो आनन्दमय होती है। इसीलिए उसे चमत्कार, विश्रान्ति, रसनीयता आदि से उपमित किया गया है।

इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने रस के स्वरूप को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी अनुभूति के विभिन्न पक्षों, तत्त्वों एवं रूपों का विश्लेषण सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किया है। उनके विचार से लौकिक भावानुभूति एवं रसानुभूति में मुख्यतः कलात्मकता, सौन्दर्यात्मकता, साधारणीकरण, निर्विघ्नता एवं रसनीयता का अन्तर है।

● रसानुभूति के आधार

आचार्य अभिनवगुप्त ने रसानुभूति के विभिन्न आधारों की चर्चा की है जिन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) काव्यगत आधार (२) सामाजिकगत आधार और (३) परिस्थितिगत आधार। इनकी विवेचना आगे क्रमशः की जाती है—

(क) **काव्यगत आधार**—आचार्य भरतमुनि ने तथा अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों ने रसानुभूति के मूलाधार के रूप में केवल स्थायीभाव तथा उसके विभिन्न अवयवों ही चर्चा की थी इससे काव्य या नाटक के भावपक्ष को ही रसानुभूति का सारा श्रेय मिल जाता था—काव्यगत बौद्धिक तत्त्वों एवं शैलीगत सौन्दर्य की सर्वथा उपेक्षा हो जाती थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने यद्यपि भावपक्ष का महत्त्व न्यून नहीं किया किन्तु उन्होंने काव्य या नाटक के अभिव्यक्ति पक्ष या प्रस्तुतीकरण के सौन्दर्य पर भी बल देते हुए उसे रसानुभूति का प्रमुख आधार घोषित किया। उनके मतानुसार गीत, नृत्य आदि नाट्यांगों से युक्त तथा स्वीकृत लक्षणों, गुणों, अलंकारों, संगीत वाद्यों आदि के संयोग से 'सम्यक् सुन्दरीभूत' अर्थात् अत्यन्त सौन्दर्य युक्त चित्तवृत्ति या स्थायीभाव ही रस कहा जाता है।[८] इस प्रकार उन्होंने पूर्व प्रचलित वस्तुवादी दृष्टिकोण का समन्वय करते हुए कला-वस्तु के साथ-साथ उसके अभिव्यक्ति पक्ष के महत्त्व को स्वीकार किया। उपर्युक्त मान्यता को व्यापक रूप देते हुए कहा जा सकता है कि रसानुभूति का मूलाधार केवल स्थायी भाव नहीं अपितु उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति हैं। दूसरे शब्दों में **कलात्मक सौन्दर्य** रसानुभूति का एक प्रमुख आधार है।

(ख) **व्यक्तिगत आधार**—नाटक या काव्य में जिस विषय-वस्तु का चित्रण या प्रस्तुतीकरण किया जाता है वह प्रायः सामाजिक से असम्बद्ध होती है; उसमें व्यक्त भाव भी किन्ही ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्रों से सम्बद्ध होते हैं; ऐसी स्थिति में हम उनसे क्यों प्रभावित होते हैं ? कला में व्यक्त भावनाओं से हमारा क्या सम्बन्ध है ? इन प्रश्नों का सम्यक् उत्तर अभिनवगुप्त से पूर्व नहीं दिया जा सका था। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रसंग में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय देते हुए प्रतिपादित किया कि सभी सामाजिकों के मन में सामान्यतः एक जैसी वासना होती है जो अनादिकाल से प्राप्त संस्कारों से चित्रित या प्रभावित होती हैं। इसी के कारण हम काव्यगत भावों का आस्वादन करते हैं।[९] यदि हम वासना शून्य होते तो काव्यास्वादन सम्भव नहीं था।

आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में इस 'वासना' को सहज प्रवृत्ति (Instinct) कहा जा सकता है। मनोविश्लेषण—संप्रदाय के अनुसार यह हमारे अचेतन मन की शक्ति है। अभिव्यक्तिवादी क्रोचे ने कला सम्बन्धी विशेष प्रवृत्ति या

---

८. "........गीत गेय पदादिलास्याङ्ग दशकोपजीवन स्वीकृत लक्षण गुणालंकार गीतातोद्यादि सम्य्क सुन्दरी भूत, काव्य-महिम प्रयोगमालाभ्यासविशेषा-श्रयत्वात्..........रस शब्देनामिधीयते।"

अभिनव भारती ६।१५, पृ० ४२८

९. "सर्वेषामनादिवासना चित्रीकृत चेतसां वासनासंवादात्"

वही ६।३१; पृ० ४७१

शक्ति को ही सहजानुभूति का नाम दिया है। अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित संस्कार-युक्त वासना पूर्णतः सहजप्रवृत्ति' अचेतनमन' एवं 'सहजानुभूति' की पर्याय न होती हुई भी इतनी व्यापक है कि उसमें इन तीनों का समावेश हो जाता है। वस्तुतः इस शक्ति को हम नाम जो चाहे दे, यह एक बहुमान्य विचार है कि सामाजिक के भावोद्वेलन का मूल कारण केवल विभावपक्ष का प्रभाव ही नहीं है अपितु उसकी निजी अन्तर्निहित मानसिक शक्ति भी है, जिसे अभिनवगुप्त ने 'वासना' का नाम दिया है। वस्तुतः काव्यगत विभाव तो इस वासना शक्ति को उद्बोधित करने का ही कार्य करते हैं—रसास्वादन का वास्तविक कार्य उनके द्वारा नहीं अपितु स्वयं इस वासना-शक्ति की ही प्रक्रियाओं द्वारा संपादित होता है।

वासनाओं या सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हमें कितना तोष एवं आनन्द प्रदान करती है—यह व्यावहारिक जीवन में भी देखा जा सकता है। नर-नारी के शारीरिक मिलन में काम वासना की अभिव्यक्ति होती है; शत्रु को दण्ड देने से द्वेष की वृत्ति अभिव्यक्ति होकर सन्तुष्ट होती है; बच्चे को प्यार करने से हमारी संतति पालन की वृत्ति व्यक्त एवं संतुष्ट होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न वासनाओं या सहज वृत्तियों की अभिव्यक्ति व्यावहारिक जीवन में भी संतोष प्रदान करती है; किन्तु कला के माध्यम से जो अभिव्यक्ति होती है वह तो और भी उच्चकोटि तथा विशिष्ट प्रकार की होती है—अतः उससे प्राप्त होने वाला आनन्द तो विलक्षण प्रकार का होता है।

(ग) परिस्थितिगत आधार—रसानुभूति के पूर्वोक्त दो आधारों—कलात्मक सौन्दर्य एवं सामाजिक की वासना—को संयुक्त करने वाली स्थिति ही परिस्थिति है। काव्यास्वादन या रसानुभूति की प्रक्रिया में इस परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता का भी कम योग नहीं है। सामान्यतः यदि परिस्थिति अनुकूल हो तो सामाजिक को काव्य-सौन्दर्य के आस्वादन से रसानुभूति प्राप्त होगी ही, पर यदि परिस्थिति प्रतिकूल हुई तो उसमें विघ्न या अवरोध उत्पन्न हो सकता है इसी परिस्थितिजन्य अवरोध को आचार्य अभिनवगुप्त ने सात प्रकार के विघ्नों के रूप में चर्चित किया है जो ये हैं—

(१) **अर्थ-बोध की असमर्थता**[१०]—जब पाठक या दर्शक निजी अयोग्यता के कारण प्रस्तुत विषय के अर्थ-बोध में ही अक्षम रहे तो उस स्थिति में सामाजिक को रसानुभूति प्राप्त नहीं हो सकती।

(२-३) **देश-काल से प्रमाता की अविच्छिन्नता**[११]—यदि सामाजिक कला

---

१०. प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहः (अभिनव-भारती ६/३१); पृ० ४७४)

११. स्वगत-परगतत्व—नियमेन देशकाल विशेषावेशः (वही)

स्वादन के समय निजी देश-काल अर्थात् परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता है तो इससे भी रसानुभूति में विघ्न उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

(४) **वैयक्तिक सुख-दुःख का प्रभाव**[१२]—यदि पाठक या दर्शक अपने सुख-दुःख से अत्यधिक अभिभूत हो तो उसकी भी प्रतिपाद्य वस्तु में प्रवृत्ति एवं तल्लीनता नहीं हो पाती जिसके अभाव में रसानुभूति सम्भव नहीं।

(५) **प्रतीति साधन की दुर्बलता या अस्पष्टता**[१३]—जिस माध्यम से वस्तु प्रदर्शित की जा रही हो, वही यदि अशक्त या अस्पष्ट हो तो रसानुभूति में विघ्न उपस्थित हो जाना स्वाभाविक है।

(६) **प्रधान की अप्रधानता**[१४]—काव्य या नाटक में प्रधान पात्र, प्रधानभाव या प्रधान समस्या के स्थान पर यदि अप्रधान को प्रमुखता दे दी जाय तो उससे भी उसका प्रभाव न्यून हो जाता है।

(७) **प्रदर्शन को संशयात्मकता**[१५]—नाट्य-प्रदर्शन में विभावादिक तत्त्वों का प्रदर्शन संशयात्मक अर्थात् निश्चित रूप में न हो तो वहाँ भी रस-विघ्न उपस्थित हो जाता है।

उपर्युक्त विघ्नों या बाधाओं को हम मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पाठक या सामाजिक से सम्बन्धित विघ्न या दोष—जैसे अर्थबोध की अक्षमता, देशकाल के प्रभाव से आबद्ध होना तथा निजी सुख-दुःख से अभिभूत होना। (२) विषयवस्तुगत विघ्न या दोष, जैसे—प्रस्तुतीकरण की अशक्तता, अप्रधान की प्रधानता तथा वस्तु की संशयात्मकता। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार यदि पाठक या दर्शक विषय-वस्तु के बोध में असमर्थ रहे या निजी परिस्थितियों या मनः स्थितियों के प्रभाव से अभिभूत हो अथवा काव्य वस्तु का प्रस्तुतीकरण प्रभाव शून्य, असंतुलित, अस्पष्ट या अस्वाभाविक रूप में हो तो रसानुभूति की प्रक्रिया में अवरोध उपस्थित हो जाता है। अस्तु, रसानुभूति के लिए सामाजिक एवं कलाकृत्ति का उपर्युक्त दोषों से मुक्त होना आवश्यक है।

● रसानुभूति की प्रक्रिया

आचार्य अभिनव गुप्त ने रसानुभूति की प्रक्रिया का भी सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उसके अनेक सोपानों का उद्घाटन किया है जो मुख्यतः ये हैं—(१) अर्थ का

---

१२. निज सुख-दुःखादि विवशी भावः (वही)
१३. प्रतीत्युपाय-वैकल्य—स्फुटत्वाभाव : (वही)
१४. अप्रधानता (वही)
१५. संशय योगः (वही)

प्रकाशन (२) सौन्दर्यानुभूति (३) साधारणीकरण व तादात्म्य (४) अभिव्यक्ति। इनका परिचय संक्षेप में दिया जाता है ।

(क) **अर्थ का प्रकाशन**—काव्य या नाटक के आस्वादन की सर्वप्रथम प्रक्रिया अर्थ का प्रकाशन है[१६] क्योंकि आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार मूलतः काव्यार्थों का भावन ही रस है। इस भावन के पूर्व अर्थ का प्रकाशन अपेक्षित है। काव्य एवं नाटक में अर्थ-प्रकाशन व्यावहारिक क्षेत्रों में होने वाले अर्थ-प्रकाशन से भिन्न प्रकार का होता है। यह भिन्नता दो प्रकार की बताई गई है—(१) साक्षात्कारात्मक प्रतीति (२) मन की एकाग्रताजन्य अनुभूति ।[१७] यद्यपि काव्य या नाटक की वस्तु हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित नहीं होती किन्तु फिर भी काव्य की अभिव्यंजना शैली या नाटक के अभिनय में ऐसी क्षमता होती है जिससे हम अप्रत्यक्ष घटनाओं का भी प्रत्यक्षीकरण कर पाते हैं। यह ठीक है कि यह प्रत्यक्षीकरण वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं का नहीं होता फिर भी वह उसके अनुरूप ही होता है। इसीलिए काव्य या नाटक के माध्यम से प्राप्त अर्थ-बोध को साक्षात्कारात्मक प्रतीति कहा गया है। इसी प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में प्रत्यक्षीकरण (Perception) की प्रक्रिया कह सकते हैं ।

अप्रत्यक्षीकरण के प्रभाव से विषय वस्तु में जिज्ञासा, रुचि एवं तल्लीनता उत्पन्न होने लगती है जिसके कारण पाठक को विषयवस्तु का केवल ज्ञान या बोध ही नहीं अपितु अनुभूति भी प्राप्त होने लगती—है यह अर्थ-प्रकाशन की दूसरी स्थिति है ।

(ख) **सौन्दर्यात्मक अनुभूति**—काव्य और नाटक में प्रत्यक्षीकरण एवं तल्लीनता जन्य अर्थ-बोध के अनन्तर पाठक या दर्शक की विषयवस्तु में रुचि उत्पन्न हो जाती है जो क्रमशः अधिकाधिक गंभीर होती चलती है। काव्य के विभिन्न शैलीगत साधनों के कारण तथा नाटक में अभिनय की चारुता व नृत्यगीत आदि के कारण वस्तु के सौन्दर्य एवं आकर्षण में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहती है ।[१८] इसी को सौन्दर्यात्मक अनुभूति की प्रक्रिया कह सकते है ।

(ग) **साधारणीकरण एवं तादात्म्य**—रसास्वाद की अगली स्थिति साधारणीकरण एवं तादात्म्य की है। इस स्थिति में काव्य या नाटक के नायक की प्रमुख भावना या चित्तवृत्ति (स्थायीभाव) के साथ पाठक या सामाजिक की अनुभूति का ऐकीकरण होने लगता है; जिससे काव्यगत विभाव आलम्बन, उद्दीपन आदि का

---

१६. अभिनव भारती ६/१५; पृ० ४२८

१७. वही

१८. "....गुणालंकार गीतातोद्यादि सम्यक् सुन्दरीभूत" अ०भा० ६/१६, पृ० ४२८

सम्बन्ध केवल काव्यगत नायक से ही नहीं रहता अपितु सर्वसाधारण से हो जाता है, नायक द्वारा व्यक्तभाव किसी एक व्यक्ति का भाव नहीं रहता अपितु वह सभी पाठकों या सामाजिकों की अनुभूति का विषय हो जाता है, उसके साथ सबकी सहानुभूति स्थापित हो जाती है। नायक के भावों एवं विचारों का सामाजीकरण ही दूसरे शब्दों में साधारणीकरण की प्रक्रिया है तो साथ ही वह पाठक या सामाजिक की दृष्टि से तादात्म्य की प्रक्रिया है। वस्तुतः साधारणीकरण एवं तादात्म्य—दो भिन्न क्रिया व्यापार नहीं हैं अपितु एक ही कार्य के दो पक्ष हैं। जहाँ वस्तु की दृष्टि से वह साधारणीकरण है वहाँ पाठक या सामाजिक की दृष्टि से वह तादात्म्य की प्रक्रिया है। उदाहरण के लिए—'शकुन्तला' नाटक में यह अनुभूति की शकुन्तला दुष्यन्त की प्रेयसी है (वह हमारी प्रेयसी नहीं है)—यह साधारणीकरण से पूर्व की—व्यक्तिगत सीमाओं के बन्धन से युक्त—स्थिति है। जब पाठक या दर्शक यह अनुभव करने लगते हैं कि शकुन्तला केवल दुष्यन्त की ही प्रेयसी नहीं है वह सामान्यतः सभी के प्रणय भाव की सामान्य आलम्बन है, तो यह आलम्बन एवं तत्सम्बन्धी भाव के साधारणीकरण का सूचक है ; दूसरी ओर यह स्थिति इस तथ्य की भी सूचक है कि सामाजिक का नायक के साथ तादात्म्य हो गया है। संक्षेप में, काव्यगत भाव एवं उसके विचारों का साधारणीकरण तथा उसके आश्रय के साथ तादात्म्य—ये दोनों स्थितियाँ एक ही स्थिति के दो पक्ष हैं।

साधारणीकरण एवं तादात्म्य की स्थिति में हम पूर्णतः काव्य-वस्तु में लीन हो जाते हैं, उस समय हम व्यक्तिगत परिस्थितियों (देश-काल सीमाओं) के बन्धन से तथा काव्यवस्तु की अयथार्थता एवं परकीयता के विचार से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

(घ) **अभिव्यक्ति**—रसास्वादन की अगली स्थिति अभिव्यक्ति की है। काव्य-वस्तु के संपर्क एवं संप्रेषण के कारण पाठक की अपनी वासनायें या सहज वृत्तियाँ जागृत या उद्बुद्ध हो जाती हैं। साधारणीकरण एवं तादात्म्य की स्थिति में पाठक की उद्दीप्त वासनाएं भावात्मक रूप में परिणत होकर काव्य-वस्तु के साथ सुसम्बद्ध हो जाती है। वस्तुतः साधारणीकरण की स्थिति में काव्यगत विभाव के सम्बन्ध से हमारी अपनी ही वासनाएं भावरूप में प्रस्फुटित होती हैं। लौकिक जीवन में हम अपने-पराये के भाव से इस तरह बँधे रहते हैं कि किसी आलम्बन को प्रत्यक्ष रूप में पाकर भी हम उद्वेलित नहीं होते और यदि उद्वेलित होते हैं भी तो वहाँ निजी हानि-लाभ की चिन्ताओं व विचारों के कारण वह निर्विघ्न स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते जो कि काव्यास्वादन के समय प्राप्त होती है। वस्तुतः वासनाओं के उद्वेलन एवं अभिव्यक्ति के लौकिक अनुभव एवं काव्यजन्य अनुभव में परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं का सूक्ष्म अन्तर रहता है जिसके कारण दोनों के स्वाद में भी अन्तर होना स्वाभाविक है।

रसास्वादन की चरम स्थिति में हम (पाठक) काव्य-वस्तु के माध्यम से—काव्यगत नायक की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के रूप में हम वस्तुतः अपनी ही तत्सम्बन्धी वासना का भावात्मक उद्वेलन एवं अभिव्यंजन करते हैं । यही अभिव्यक्ति रसानुभूति की चरम स्थिति हैं ।

इस प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त ने रसानुभूति की विभिन्न प्रक्रियाओं व स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इस नये तत्त्व का अनुसंधान किया कि काव्यानुभूत्ति (रसानुभूति) की मूलाधार तो पाठक की अपनी वासनाएँ ही हैं, काव्यसामग्री तो उसके उद्दीपन, उद्वेलन, एवं अभिव्यंजन की साधन या माध्यम मात्र है । हाँ, इतना अवश्य है कि काव्य, नाटक या कला के माध्यम से ही वह निर्विघ्न प्रतीति, एवं पूर्ण विश्रान्तिपूर्ण अनुभूति प्राप्त हो सकती है जिसे रसनीय या चम त्कारपूर्ण कहा जाता है ; अन्य क्षेत्रों में उसकी संभावना नहीं है ।

- **आचार्य अभिनवगुप्त का योगदान**

रस-सिद्धान्त के स्पष्टीकरण एवं विकास में आचार्य अभिनवगुप्त का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने एक ओर तो रस को 'काव्यार्थ का भावन' बताकर काव्य के अर्थ पक्ष या बौद्धिक पक्ष को भी सम्यक् महत्त्व प्रदान किया तो दूसरी ओर रस को काव्य या नाटक का एक अंग न मानकर उसे सम्पूर्ण रचना में व्याप्त सर्वोपरि तत्त्व सिद्ध किया । स्थायीभाव और रस के अन्तर को भी जितनी सूक्ष्मता से आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया, उतना उससे पूर्व नहीं हो पाया था । रसानुभूति में काव्य के शैली पक्ष—गुण अलंकार आदि के भी महत्त्व को स्वीकार करके उन्होंने काव्य-वस्तु एव शैली में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया । रसानुभूति के मूल आधार के रूप में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खोज है—सहृदय की वासनाओं के उद्वेलन एवं अभिव्यंजन सम्बन्धी विचार । साथ ही रसानुभूति के बाधक तत्त्वों के रूप में उसके सात प्रकार के विघ्नों की स्थापना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अभिनव गुप्त ने रस।सिद्धान्त के विभिन्न उपेक्षित पक्षों, अंगों व तत्त्वों का उद्घाटन करके उसे एक अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया और साथ ही रसास्वादन की प्रक्रिया के साधक एवं बाधक तत्त्वों की गवेषणा करते हुए उसे मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया । यह दुर्भाग्य की बात है कि आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा उद्घाटित अनेक नये तत्त्वों को परवर्ती आचार्यों ने अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया । अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित साधारणीकरण एवं अभिव्यक्तिवाद की ही चर्चा परवर्ती आचार्यों ने अधिक की—उनके द्वारा निरूपित अन्य

पक्ष जैसे रसास्वाद के विघ्न, रसानुभूति में अलंकारादि का योगदान, आदि की उन्होंने उपेक्षा करदी। वस्तुतः रससिद्धान्त को जो व्यापकता एवं गंम्भीरता आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रदान की थी वह परवर्ती युग के आचार्यो द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकी। कदाचित् इसका कारण यही है कि परवर्ती आचार्यों में उस व्यापक दृष्टि एवं सूक्ष्म चिन्तना का अभाव था जो कि आचार्य अभिनवगुप्त की नूतन स्थापनाओं को ग्रहण करने के लिए अपेक्षित थी। पर इसके लिए अभिनवगुप्त को दोष नहीं दिया जा सकता।

८ अभिनव गुप्त-परवर्ती युग में रस-सिद्धान्त का विकास

आचार्य अभिनव गुप्त—परवर्ती युग (११ वीं-शती के उत्तरार्द्ध से अब तक) को रस-सिद्धान्त के विकास-क्रम की दृष्टि से दो काल-खंडों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मध्यवर्ती युग (११ वीं शती के उत्तरार्द्ध से १८५७ ई० तक) और (२) आधुनिक युग (१८५८ ई० से अब तक)। भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के इतिहास में भी हम आधुनिक युग का प्रवर्त्तन सन् १८५७ ई० की राष्ट्रीयक्रान्ति एवं कम्पनी के शासन की समाप्ति से मानते हैं - अतः यहाँ भी उसे इसी समय से स्वीकार किया जाय तो अनुचित न होगा। दोनों काल-खंडों के रस-सैद्धान्तिक चिन्तन का विवरण यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

● **मध्यवर्ती युग (११ वीं शती मध्य से १८५७ ई० तक)—**

ग्यारहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती के मध्य तक का युग भारतीय इतिहास में मुस्लिम आक्रमणकारियों के आगमन, मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना एवं उस के पतन का युग था। मुस्लिम आक्रमणकारियों एवं मुस्लिम शासकों ने न केवल हिन्दू राज्य की परंपराओं को समाप्त किया अपितु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दू शिक्षा-केन्द्रों को भी क्षति पहुँचाने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परागत व्यवस्था, काव्य-शास्त्रीय चिन्तन की परम्परा एवं मौलिक चिन्तन-मनन की परिपाटी को गहरा धक्का लगा। पूर्ववर्ती युग में संस्कृत के आचार्य हिन्दू नरेशों के आश्रय में निश्चिन्तता पूर्वक अध्ययन—अध्यापन एवं चिन्तन-मनन में लगे रहते थे जबकि मुस्लिम साम्राज्य में संस्कृत का स्थान अरब-फारसी ने ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त अनेक मुस्लिम शासकों की कट्टर सांप्रदायिकता के कारण हिन्दू धर्म के लिए बड़ा संकट उपस्थित हो गया।

ऐसी स्थिति में हमारे चिन्तकों की चिन्तना का केन्द्र काव्य-शास्त्र के स्थान पर धर्म और दर्शन हो गया। यही कारण हैं कि जहाँ ग्यारहयों शती से लेकर सत्रहवीं शती तक काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में नये सिद्धान्तों एवं नूतन संप्रदायों की स्थापना का कोई प्रयास नहीं मिलता, वहाँ धर्म और दर्शन के क्षेत्र में इसी युग में अनेक नूतन संप्रदायों एवं सिद्धान्तों का स्थापना हुई। अस्तु, इस युग में काव्य-शास्त्रकारों का लक्ष्य सामान्यतः परम्परागत सिद्धान्तों के ही अध्ययन, स्पष्टीकरण एवं समन्वय का ही रहा, नव चिन्तन की ओर उनका ध्यान नहीं गया। फिर भी अपवाद-स्वरूप कुछ आचार्य अवश्य ऐसे हैं जिन्होंने रस-सिद्धान्त के किसी-पक्ष या अंग के सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इनमें भोजराज (११वीं शती), मम्मट (११वीं शती), रामचन्द्र गुणचन्द्र, (१२वीं शती), शारदातनय (१३ वीं शती) विश्वनाथ (१४वीं शती), रूपगोस्वामी (१६वीं शती) प्रभृत्ति के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ इनकी स्थापनाओं का परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया जारहा है।

भोजराज—भोजराज (११वीं शती) द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या ८४ तक मानी जाती है, जिनमें से काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ मुख्यतः दो ही हैं—(१) सरस्वतीकंठाभरण एवं (२) शृंगार-प्रकाश। 'सरस्वती कंठाभरण' में पाँच परिच्छेद हैं जिनमें से अन्तिम में रस-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। 'शृंगार-प्रकाश' के ३६ अध्यायों में से अन्तिम २५ का सम्बन्ध रस-सिद्धान्त से ही है। इन दोनों ग्रन्थों में रस-सिद्धान्त का निरूपण अत्यन्त सूक्ष्मता से किया गया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'रस के प्रत्येक अवयव का जितना सांग और परिपूर्ण वर्णन शृंगार-प्रकाश में किया गया है उतना संस्कृत काव्य-शास्त्र में और कहीं नहीं मिलता'।[1] वस्तुतः भोजराज संस्कृत की काव्य-शास्त्रीय परम्परा की चरम प्रौढ़ता के सूचक हैं।

भोजराज के दृष्टिकोण में सर्वत्र मौलिकता-प्रदर्शन, भेदोंपेदों के विस्तार एवं समन्वय स्थापना का लक्ष्य दृष्टिगोचर होता है। काव्य की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—'दोष से मुक्त, गुण से युक्त, अलंकार से अलंकृत एवं रस से अन्वित काव्य की रचना करने वाला कवि ही कीर्ति एवं प्रीति का भागी होता है।' यहाँ दोष, गुण, अलंकार का उल्लेख उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का सूचक है। काव्य-प्रकारों में भी उन्होंने वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति का निरूपण किया, पर इनमें सर्वाधिक महत्व रसोक्ति को ही देना, उनके रसवादी दृष्टिकोण का सूचक है। रस के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता रस को अभिमान, अहंकार या शृंगार का पर्याय मानते हुए शृंगार रस को ही एक मात्र रस मानना है। अन्य, रसों को उन्होंने शृंगार के ही अन्तर्गत समन्वित कर दिया है। रस या शृंगार रस का मूल उन्होंने अहंकार को मानते हुए उसकी तीन अवस्थाएं निर्धारित की हैं।

---

१. रस-सिद्धान्त ; पृष्ठ ४७

'पहली अवस्था पराकोटि है जिसमें अहंकार तत्व रहता है। इस अवस्था में एक ही रस रहता है। दूसरी मध्यमावस्था है जिसमें अहंकार रस विभिन्न बाह्य पदार्थों के संपर्क में आकर अनेक भावों के रूप में प्रकट हो जाता है। यही भाव प्रकर्ष प्राप्त करके विभिन्न रस-दशाओं को प्राप्त होते हैं। तीसरी अवस्था उत्तराकोटि है जिसमें सभी भाव प्रकर्ष प्राप्त कर एकात्मक रस के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं जिसे प्रेमन् कहते हैं। उनके कहने का तात्पर्य है कि सभी भावों का प्रकर्ष प्रेमन् है अर्थात् सभी भावों में प्रेमन् विद्यमान रहता है जो अहम् का ही रूप है।[२] इस प्रकार भोजराज के अनुसार रस का आधार मूलतः एक ही मानवीय चेतना है जिसे उन्होंने अहंकार का नाम दिया है। यही अहंकार विभिन्न प्रकार के आलम्बनों एवं परिस्थितियों के संपर्क से विभिन्न रूपों में उद्दीप्त होता है जिसे अन्य आचार्यों ने उनचास स्थायी एवं संचारी भावों में परिगणित किया है। अन्ततः सभी भावों की रसानुभूति प्रेममयी या आनन्दमयी ही होती हैं—क्योंकि सभी से हमारे अहं का पोषण, विस्तार एवं अभिव्यंजन होता है; अतः भोजराज के अनुसार रस के विभिन्न भेदोपभेद नगण्य हैं।

यद्यपि भोजराज की इस नूतन स्थापना को परवर्ती आचार्यों द्वारा सम्यक् मान प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु आधुनिक मनोविश्लेषण की दृष्टि से यह पर्याप्त महत्व-पूर्ण है। फ्रायड ने जीवन और साहित्य में अहं और काम के जिस व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की है, वह कुछ अंशों में भोजराज के अनुरूप ही हैं। इस दृष्टि से दोनों का तुलनात्मक अध्ययन स्वतंत्र शोध का विषय है।

मम्मट—'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मट (११ वीं शती) का संस्कृत काव्य-शास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। उनका यह ग्रन्थ इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। पर हमारे विचार में मम्मट का महत्व पूर्व-वर्ती सिद्धान्तों के संग्रह एवं समन्वय की दृष्टि से ही है, मौलिकता का प्रायः उनमें अभाव है। आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी रस और ध्वनि के प्रगाढ़ सम्बन्ध को स्वीकार किया है, यद्यपि ध्वनि की ओर उनका झुकाव अपेक्षाकृत अधिक प्रतीत होता है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—इन्होंने 'नाट्य दर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना बारहवीं शती के उत्तरार्ध में की जिसमें नाटक के प्रसंग में रस की विवेचना प्रस्तुत की गयी है। वैसे तो इनका रस-विवेचन परम्परा के अनुसार ही है किन्तु रसानुभूति के सम्बन्ध में इन्होंने दो महत्वपूर्ण व नूतन स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। एक तो यह है कि रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही नहीं होती, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि में दुःखात्मक भी होती है। दूसरी स्थापना यह है कि रसानुभूति में चमत्कार

---

२. साधारणीकरण—ले० डॉ० रामलखन शुक्ल; पृष्ठ १११

जन्य आनन्द का मिश्रण रहता है। अभिनेताओं के अभिनय-कौशल के कारण दर्शक विस्मय या चमत्कार की अनुभूति प्राप्त करते हैं, इसी के कारण दुःखात्मक भाव भी आनन्दमय प्रतीत होते हैं। इनके मत को स्पष्ट करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनन्दानुभूति नहीं करता वरन् उसकी अभिव्यंजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-नैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्रान्ति अथवा आभास हो जाता है।"[३] अस्तु, नाट्य दर्पण' कार के अनुसार रस चमत्कार का पर्याय है तथा कलाजन्य आनन्द चमत्कार रूप है।

शारदातनय—इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'भाव-प्रकाशन' (१३वीं शती) का प्रतिपाद्य विषय रस और भाव है। इसमें रस के विभिन्न पक्षों का विवेचन अत्यन्त व्यवस्थित रूप में किया गया है। इनके मत का परिचय देते हुए राममूर्ति त्रिपाठी ने लिखा है—'भोज की भांति ये अहंकार और श्रृंगार को पर्याप्त नहीं मानते। विपरीत इसके वे अग्नि पुराण की भाँति 'रति श्रृंगार' सिद्धान्त को मानते हैं। ये मानते हैं कि 'या चेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः, विषयात्का रतिः सैव श्रृङ्गार इति गीयते।' मूल 'काम' या 'इच्छा' जगत्-स्रष्टा परमात्मा की है। परमात्मा की जो इच्छा सृष्टि-निर्माण के मूल में रहती है—वह उस समय विषय का अभाव होने से निर्विषय या सर्वविषय रहती है। वही 'इच्छा' सृष्टि का निर्माण हो जाने पर विभिन्न सांसरिक विषयों से उपरोक्त होकर 'रति' कही जा सकती है—यही 'रति' अन्ततः 'श्रृंगार' कही जाती है'।[४] पर साथ ही इन्होंने अहंकार या उससे उत्पन्न रजोगुण को रस मात्र में विद्यमान तत्त्व भी माना है क्योंकि उसके बिना बाह्य वस्तुओं में प्रवृत्ति या भावों की उद्दीप्ति ही संभव नहीं। हमारे विचार में उन्होंने भोजराज की अनेक कल्पनाओं को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया था, जो स्तुत्य है।

विश्वनाथ—इन्होंने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' (१४ वीं शती) में रस, अलंकार, रीति आदि सिद्धान्तों में परस्पर समन्वय स्थापित करते हुए काव्य का नया लक्षण—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—प्रस्तुत किया जिसके अनुसार रसात्मकता काव्य के लिए अनिवार्य है। उनके विचारानुसार गुण, अलंकार, रीति आदि काव्य की उत्कृष्टता के तो कारण हैं पर उन्हें काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता; इस पद का अधिकारी तो रस ही है। रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में उनकी नूतन देन यह है कि उन्होंने चमत्कार या चित्तविद्रुति को रस का सार

---

३. रस-सिद्धान्त; पृष्ठ सं० १२७

४. राममूर्ति त्रिपाठी—रसविमर्श पृ० ६६-६७

मानते हुए एक मात्र अद्‌भुत रस को प्रमुख रस एवं अन्य सभी रसों को इसके अंग रूप में प्रस्तुत किया है ।

रूप गोस्वामी—यह बंगाल की वैष्णव-परंपरा के प्रसिद्ध आचार्य थे जिनका आविर्भाव १६वीं शती में हुआ था । इनके द्वारा रचित 'भक्ति रसामृत सिन्धु' एवं 'उज्ज्वल नील मणि' में क्रमशः भक्तिरस एवं उज्ज्वलरस की स्थापना सांगोपांग रूप में की गयी है । भक्तिरस के भी पाँच भेद किये गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और माधुर्य । भगवद्रति या ईश्वर-प्रेम को ही उज्ज्वल रस का स्थायी भाव माना गया है । आगे चलकर मधुसूदन सरस्वती ने भी 'भगवद्‌भक्ति रसायन' में भक्ति रस को ही परम रस सिद्ध किया है । वस्तुतः इन आचार्यों ने तद्‌युगीन भक्ति आन्दोलन की प्रेरणा से भक्ति साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिए ही भक्ति रस की स्थापना का प्रयास किया है ।

सत्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती के मध्य तक रस सिद्धान्त के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय नूतन कार्य नहीं हुआ । संस्कृत और हिन्दी के कवि एवं आचार्य परम्परागत धारणाओं की ही व्याख्या एवं अनुवाद में संलग्न रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यवर्ती युग (११—१९वीं शती) में मौलिकिता की दृष्टि से रस सिद्धान्त के क्षेत्र में बहुत थोड़ा कार्य हुआ । उपर्युक्त विवरण के आधार पर इस काल में स्थापित नूतन धारणाओं को संक्षेप में इस प्रकार परिगणित किया जा जा सकता है—

- शृंगार ही एक मात्र रस हैं तथा शृंगार का मूलाधार अहंकार है । (भोजराज)
- कटु भावों पर आश्रित रसों की अनुभूति दुःखात्मक होती है । (रामचंद्र गुणचंद्र)
- रसानुभूति का मूल अधार कला-कौशल जन्य चमत्कार है, उसी से कटु भाव भी रसानुभुति में परिणत हो जाते है । (रामचन्द्र गुणचन्द्र)
- रसानुभूति का सार चमत्कार है, इसलिए अद्‌भुत रस ही प्रमुख रस है । (विश्वनाथ)
- भक्तिरस या उज्ज्वल रस ही परम रस है । (रूप गोस्वामी)

ये धारणाएँ भी कहाँ तक तर्क-संगत हैं, इस पर अन्यत्र प्रसंगानुसार विचार किया जायगा । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इनमें से कोई भी बहुमान्य एवं प्रचलित नहीं हो पाई—यह तथ्य एक सीमा तक इनकी अशक्तता को प्रमाणित करता । पर इसका एक अन्य कारण भी है ; यह रूढिवादिता का युग था, अतः उपर्युक्त नूतन धारणाओं पर बिशेष विचार किये बिना ही उन्हें ठुकरा दिया गया, अन्यथा ये इतनी उपेक्षणीय नहीं हैं ।

● आधुनिक युग (१८५० ई० से अब तक)

हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग के प्रवर्तक **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** (१८५०-१८८४ ई०) माने जाते हैं जिन्होंने कविता, निबन्ध और नाटक की ही भाँति काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी नूतन दृष्टि का परिचय देते हुए, अपने 'नाटक' शीर्षक समीक्षा शास्त्रीय ग्रन्थ में प्रतिपादित किया कि आधुनिक युग के साहित्यकारों को न तो सभी परम्परागत रीतियों व रूढ़ियों का अन्धानुसरण करना चाहिए और न ही कट्टरतापूर्वक सभी प्राचीन रीतियों का परित्याग करना चाहिए ।[४] उन्होंने अपने इसी दृष्टिकोण के अनुसार रस-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए परम्परागत रसों के अतिरिक्त माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद या आनन्द आदि नूतन रसों की स्थापना की ।[५] इसी प्रकार नाटक के उद्देश्यों में उन्होंने शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार एवं देश वत्सलता को भी स्थान देते हुए प्रतिपादित किया कि स्वदेशानुराग की अभिव्यक्ति करुण एवं वीररस के रूप में की जा सकती है । अस्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस सिद्धान्त के विकास के लिए अनेक नूतन एवं महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं—यह दूसरी बात है कि दुर्भाग्य से अकालमृत्यु के कारण वे स्वयं इन संकेतों के अनुसार रस सिद्धान्त को पल्लवित करने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाये ।

हिन्दी आलोचना के शास्त्रीय पक्ष के नवोत्थान का श्री गणेश भारतेन्दु युग के अनन्तर बीसवीं शती के आरम्भ में ही हुआ । अयोध्यासिंह उपाध्याय, डॉ० श्यामसुन्दरदास, रामदहिन मिश्र, डा० गुलाब राय, लक्ष्मी नारायण सुधांशु प्रभृति ने अपनी सैद्धान्तिक विवेचनाओं में परम्परागत काव्य-शास्त्र को नूतन दृष्टि से देखने का प्रयास किया । यद्यपि परम्परागत काव्य-सिद्धान्तों में से रस-सिद्धान्त को ही आधुनिक युग में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई तथा सैद्धान्तिक समीक्षा पर लेखनी चलाने वाले प्रायः सभी हिन्दी आलोचकों ने (कुछ प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादियों को छोड़कर) रस-विवेचन प्रमुख या गौण रूप में किया है पर फिर भी इस सिद्धान्त को नूतन दृष्टि से देखते हुए नयी धारणाओं से मंडित करने का श्रेय कुछ आलोचकों को ही प्राप्त है—जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, और डॉ० नगेन्द्र का विशेष रूप में उल्लेखनीय है । आगे हम इन्हीं विद्वानों की रस सम्बन्धी मौलिक धारणाओं का परिचय संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१ ई०) ने रस सिद्धान्त को परम्परागत रूढ़िबद्ध शब्दावली से मुक्त करके उसे आधुनिक दृष्टि से व्यापक रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया । विभाव अनुभाव, व्यभिचारी वाली

---

४. भारतेन्दु ग्रन्थावली (नाटक) ; पृष्ठ ७२१

५. वही ; पृ० ७३४

परिभाषा को छोड़कर उन्होंने रसानुभूति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर बल देते हुए लिखा—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।'[६] यह हृदय की मुक्तावस्था क्या है? इसके उत्तर में उनके शब्दों में कहा जा सकता है 'जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों ओर व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।'[७] इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने एक मात्र हृदय की मुक्तावस्था को ही रस-दशा या रसानुभूति का अनिवार्य लक्षण मानते हुए उसके विभिन्न काव्यगत साधनों—विभावादि—के महत्त्व को न्यून कर दिया है।

रस के प्रसंग में मध्यकालीन आचार्यो ने 'ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व' एवं लोकोत्तरता' की भी चर्चा की थी, जिससे प्रायः यह भ्रान्ति हो जाती है कि रस कोई अलौकिक या लोकोतर अनुभूति है। आचार्य शुक्ल ने इसका निराकरण करते हुए रस को लौकिक अनुभूति का ही एक प्रकार सिद्ध किया। इतना ही नहीं उनके विचार से न तो केवल काव्य में अपितु व्यावहारिक जीवन में भी यदि हम वैयक्तिकता या 'स्व' के बन्धन से मुक्त होकर आलम्बन को साधारणीकृत या सामान्य रूप में देख सकें तो वहाँ भी रसानुभूति संभव है। यद्यपि प्रत्यक्ष जीवन में इस प्रकार की स्थिति की संभावना बहुत कम हैं, पर वह असंभव नहीं।

सामान्य मनोरंजन, कौतुहल एवं चमत्कार से रस की भिन्नता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि इनमें हमारी मानसिक वृत्तियाँ रमण तो करती हैं किन्तु विषय-वस्तु का साधारणीकरण न हो पाने के कारण हमारा हृदय उस मुक्तावस्था को प्राप्त नहीं होता जो कि रसानूभूति का अनिवार्य लक्षण है। इसलिए ऐसे काव्य को जिसमें आलम्बन के व्यक्ति-वैचिभ्य के कारण पाठक का आश्चर्यपूर्ण प्रसादन या अवसादन मात्र होता है; वहाँ वे शुद्ध रसानुभूति की संभावना स्वीकार नहीं करते; अधिक से अधिक उसे वे मध्यम कोटि की रसानुभूति के रूप में मान्यता देने को प्रस्तुत हैं।

रस का अर्थ आनन्द किया गया है—ऐसी स्थिति में रस-सिद्धान्त पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि यह सिद्धान्त जीवन की विषमताओं, कटुताओं

६, रस-मीमांसा पृ० सं० ५

७. वही, पृ० सं० ६

एवं कष्टपूर्ण स्थितियों की उपेक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, यह कलाकार को लोकमंगल के स्थान पर लोक-रंजन की ओर अग्रसर करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने लेख—'लोक मंगल की साधनावस्था एवं सिद्धावस्था' में प्रतिपादित किया है कि रसानुभूति का आधार मूल भाव की व्यापकता में निहित है तथा जो मूल भाव जितने बड़े व्यापक लोक-हित पर आधारित है वह उतना ही अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। कटु भावों पर आधारित काव्य आनन्द की साधनावस्था की श्रेणी में आता है तथा ऐसा काव्य आनन्द की सिद्धावस्था से भी अधिक मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकता है, यदि उनके मूल में निहित स्थायीभाव अत्यधिक व्यापक हो। वस्तुतः इस स्थापना के द्वारा उन्होंने रस सिद्धान्त को लोक-मंगल एवं लोकहित की भावना से समन्वित करने का यत्न किया है। आचार्य शुक्ल काव्य में लोकमंगल के साधक तत्त्वों का पर्याप्त महत्त्व मानते थे—कदाचित् इसलिए उन्होंने रस-सिद्धान्त की लोक-मंगल वादी व्याख्या प्रस्तुत की।

अस्तु, आचार्य शुक्ल ने परमम्परागत रस-सिद्धान्त के महत्त्व की पुनर्प्रतिष्ठा करते हुए उसे अपनी धारणाओं के अनुसार पुष्ट एवं विकसित करने का सफल प्रयास किया है। संक्षेप में रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में उनकी मौलिक उद्भावनाएँ ये हैं—

- हृदय की मुक्तावस्था=रसदशा या रसानुभूति
- रसानुभूति के दो आधार हैं—(१) निर्वैयक्तिकता एवं (२) साधारणीकरण।
- साधारणीकरण के अभाव में साहित्य से केवल मनोरंजन (आश्चर्यपूर्ण अवसादन, प्रसादन या कौतूहल) हो सकता है जिसे 'मध्यम कोटि की रसानुभुति' कह सकते हैं।
- काव्य का मूल भाव जितना व्यापक या लोकहित का साधक होगा उतना ही वह रसानुभूति' की दृष्टि से गंभीर होगा।
- रसानुभूति प्रत्यक्ष जीवन में भी संभव है।

डॉ० नगेन्द्र—आधुनिक युग में रस-सिद्धान्त की सर्वांगीण एवं सुव्यवस्थित विवेचना करने का श्रेय डा० नगेन्द्र (१९१५ ई०) को प्राप्त है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'रस—सिद्धान्त' (१९६४) में रस सम्बन्धी सम्पूर्ण भारतीय परम्परा का अवगाहन करते हुए उसके विभिन्न पक्षों, अंगों एवं तत्त्वों की व्याख्या अत्यन्त गम्भीर किन्तु सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत की है। आचार्य अभिनवगुप्त की भाँति डा० नगेन्द्र का लक्ष्य भी स्वतन्त्र नूतन सिद्धान्तों की स्थापना की अपेक्षा परम्परागत सिद्धान्तों का ही स्पष्टीकरण एवं संशोधन करते हुए उन्हें तर्क-संगत रूप प्रदान कर देने का रहा है, इस लिए उन्होंने खंडन-मंडन की अपेक्षा परम्परागत धारणाओं को सहानुभूतिपूर्वक

समझने का प्रयास अधिक किया है । दूसरे, उनका दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण की भाँति आत्मपरक (Subjective) न होकर विषयपरक (Objective) रहा है ; जहाँ आचार्य शुक्ल ने निजी मान्यताओं के संदर्भ में रस-सिद्धान्त को अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत किया है वहाँ डा० नगेन्द्र ने इस सिद्धान्त को अपने चिन्तन का केन्द्र बनाते हुए उसकी विवेचना के संदर्भ में आवश्यकतानुसार अपनी नूतन दृष्टि का उपयोग किया है, इसीलिए उनके द्वारा किया गया विवेचन-विश्लेषण अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं प्रौढ रूप को प्राप्त कर सका है । यहाँ हम रस के संबंध में उनके द्वारा उपलब्ध एवं स्थापित कतिपय निष्कर्षों व स्थापनाओं का उल्लेख संकेत-रूप में प्रस्तुत करते हैं—

● डा० नगेन्द्र के मतानुसार काव्य के प्रसंग में 'रस' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—(१) भावमूलक काव्य-सौन्दर्य के अर्थ में । (२) भावमूलक काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति के अर्थ में और (३) सामान्य काव्य-सौन्दर्य के अर्थ में ।[८]

● मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रसानुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित संवेदनों या स्मृतियों पर आधारित संवेदनों अथवा स्मृति के बौद्धिक विश्लेषण से भिन्न स्मृतिगत संवेदनों के भावन के अनुरूप है । इसे ही क्रोचे ने सहजानुभूति कहा है ।[९]

● रसास्वाद अनिवार्यतः आनन्दरूपी है ।[१०]

● करुणरस के आस्वादन के मूल में कल्पनात्मक अनुभव, साधारणीकरण चेतना के वैशद्य, औदात्यजन्य आत्मोत्कर्ष, एवं सामंजस्य की प्रक्रिया का सम्मिलित प्रभाव निहित है ।[११]

● रस की स्थिति एक ओर तो कवि या कलाकार के हृदय में तथा दूसरी ओर पाठक के हृदय में होती है । कवि अपनी अनुभूति को रस-रूप में प्रस्तुत करता है, इसलिए पाठक भी उससे रसास्वादन कर पाता है ।[१२]

● साधारणीकरण आश्रय का होता है या आलम्बन का अथवा स्थायीभाव का ?—इस परम्परागत समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए डा० नगेन्द्र ने प्रतिपादित किया है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का ही होता है । कवि की सफलता भी इसी तथ्य पर निर्भर है कि वह अपनी अनुभूति को किस सीमा तक

---

८. रस-सिद्धान्त ; पृष्ठ सं० ८४
९. वही, पृष्ठ सं० १२०
१०. वही ।
११. वही, पृ० १२३
१२. रस-सिद्धान्त ; पृ० १९१

साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत कर पाता है। सामान्य व्यक्ति में और कवि में मौलिक अन्तर इसी बात का है।[१३]

● काव्य में साधारणीकरण के दो आधार हैं—(१) भाषा का भावमय प्रयोग और (२) मानव सुलभ-सहानुभूति।[१४]

उपर्युक्त स्थापनाओं का विस्तृत विवेचन हम आगे विभिन्न प्रसंगों में करेंगे, अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज के युग में जबकि अति बौद्धिकता, शुष्कता, नीरसता एवं अनास्था के वातावरण के कारण न केवल काव्य-शास्त्र में अपितु स्वयं काव्य-क्षेत्र से भी रस का तिरस्कार होने लगा था, डॉ० नगेन्द्र ने अपनी सबल लेखनी के बल पर उसे नूतन गौरव प्रदान किया है। उन्होंने एक ओर तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में उसकी नूतन एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है तो दूसरी ओर विरोधियों के आक्षेप-प्रहारों का भी निराकरण सफलतापूर्वक किया है। अतः निश्चय ही रस-सैद्धान्तिक परम्परा के विकास में डॉ० नगेन्द्र का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अन्य हिन्दी व्याख्याता—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ० नगेन्द्र के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य कई विद्वानों ने भी रस-सिद्धान्त के विवेचन विश्लेषण का सुन्दर प्रयास किया है, जिनमें डॉ० श्यामसुन्दरदास (साहित्यालोचन), डॉ० गुलाबराय (सिद्धान्त और अध्ययन) पं० रामदहिन मिश्र (काव्य-दर्पण), आचार्य बलदेव उपाध्याय (भारतीय साहित्य शास्त्र), पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाङ्मय-विमर्श), डॉ० आनन्दप्रसाद दीक्षित (रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण), डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त (रस-गंगाधर का काव्य शास्त्रीय अध्ययन), डॉ० कृष्ण देव झारी (बीभत्सरस और हिन्द साहित्य, रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा), डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी (रस-विमर्श) डॉ० तारकनाथ बाली (रस-सिद्धान्त की दार्शनिक एवं नैतिक व्याख्या), डॉ० निर्मला जैन (रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र), डा० रामलखन शुक्ल (साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन) प्रभृति के नाम तथा कोष्ठक में उद्धृत रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। वैसे तो इन विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिकोण से रस सिद्धान्त को समझने का प्रयास किया है, किन्तु अनेक ने उस पर नूतन दृष्टि से भी विचार किया है। **डॉ० गुलाबराय एवं पं० रामदहिन मिश्र** ने आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस की नूतन व्याख्या की चेष्टा की है। आचार्य **बलदेवप्रसाद उपाध्याय** ने रस की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया है तो **पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र** एवं **डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित** ने उसके अनेक विवादस्पद पक्षों पर नूतन आलोक विकीर्ण किया है। **डॉ० कृष्णदेव झारी** ने अपने शोध-प्रबन्ध में रस सम्बन्धी

१३-१४. वही ; पृ० २११

परम्परागत धारणाओं एवं मान्यताओं में संशोधन करते हुए अनेक नये निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से कतिपय ये हैं – १. उदात्त भावानुभूति ही रसानुभूति है। २. पाश्चात्य सेंटिमेंट भी हमारे स्थायी भाव नहीं हैं, केवल उदात्त स्पृहणीय भाव या सेंटिमेंट ही स्थायी भाव हैं । ३. उदात्त रस ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदंड है । डॉ० झारी ने नयी कविता एवं आधुनिक कथा-साहित्य के संदर्भ में भी रस-सिद्धान्त पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि मानदंड के रूप में रस का उपयोग इन क्षेत्रों में भी सफलतापूर्वक किया जा सकता है। **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी** ने समस्त रस-परम्परा का गंभीरतापूर्वक अवगाहन करते हुए उसके अनेक उपेक्षित पक्षों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। **डॉ० तारकनाथ बाली** ने रस के दार्शनिक एवं नैतिक आधार को स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है तो **डॉ० निर्मला जैन** ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में रस-सिद्धान्त का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसे नयी दिशा दी है। 'साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन, में **डॉ० रामलखन शुक्ल** ने रस-निष्पत्ति एवं साधारणीकरण की प्रक्रिया पर न केवल परम्परागत दृष्टि अपितु पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से पुनर्विचार करते हुए अनेक मौलिक एवं प्रमाणिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में रस सैद्धान्तिक अध्ययन को नयी गति एवं नयी दिशा प्राप्त हुई है। उपर्युक्त प्रयासों के अतिरिक्त भी श्रृंगाररस (डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी, डॉ० रामपाल सिंह) हास्यरस (डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी), करुण वात्सल्य, शान्त आदि रसों पर भी पृथक-पृथक रूप से शोध-कार्य हुआ है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आदि विभिन्न विषयों के संदर्भ में रस का पुनर्विवेचन हिन्दी के आचार्यों की नूतन उपलब्धि है। दूसरी ओर मराठी, बंगला, गुजराती अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी रस के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है—जिसका विवरण देना यहाँ संभव नहीं। फिर भी आज इस बात की आवश्यकता है कि रससिद्धान्त के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत परस्पर-विरोधी निष्कर्षों पर पुनर्विचार करते हुए उन्हें एक संश्लिष्ट, व्यापक एवं प्रमाणिक रूप प्रदान किया जाय—इसी लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास प्रस्तुत ग्रन्थ में किया जा रहा है; किन्तु इसकी सफलता का निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे।

द्वितीय खंड

रस-सिद्धान्त की पाश्चात्य परम्परा

१

पाश्चात्य रस-सिद्धान्त : सामान्य परिचय

रस-सिद्धान्त भारतीय आचार्यों की महान् उपलब्धि है तथा इस दृष्टि से यह एक विशुद्ध भारतीय सिद्धान्त हैं पर यह विचित्र संयोग है कि पाश्चात्य कला-चिन्तन के क्षेत्र में भी सत्रहवीं-अठारहवीं शती में डेकार्टे; लबस्सु एडिसन, हचेसन ह्यूम, बर्क, हरमन लात्ज प्रभृति विद्वानों द्वारा कुछ ऐसे सिद्धान्तों का विकास हुआ जिन्हें वहाँ अनुभव वादी (Empirical), भाववादी (Emotional) अभिव्यक्ति वादी (Expressionalist) आदि विभिन्न विशेषणों से भूषित किया गया किन्तु इन सिद्धान्तों के प्रवर्त्तकों ने सामान्यत. कला एवं साहित्य में भावों के चित्रण, उद्दीपन एवं अभिव्यंजन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए उनका लक्ष्य सामाजिक को भावोद्वेलनजन्य आनन्द प्रदान करना स्वीकार किया है। साथ ही उन्होंने कला-वस्तु का वर्गीकरण भी प्रणय, करुणा, निर्वेद आदि भावों के आधार पर किया है। भारतीय आचार्यों की भाँति कला के माध्यम से साधारणीकरण एवं तादात्म्य की प्रक्रिया को भी उन्होंने प्राय: स्वीकार किया है तथा करुण रस की अनुभूति का भी विश्लेषण विशेष रूप में किया है। कहना न होगा कि ये सभी मान्यताएँ रस-सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाओं के अनुकूल हैं अत: यदि इन्हें समन्वित रूप में 'पाश्चात्य रस सिद्धान्त' का नाम दे दिया जाय तो अनुचित न होगा। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है—अवश्य ही उनमें अनेक बातों का अन्तर है पर वह अन्तर चिन्तन की दिशा एवं पद्धति का ही है ; दोनों की आधारभूत स्थापनाएँ बहुत कुछ समान हैं। फिर स्वयं भारतीय आचार्यों में भी व्यक्ति-भेद से रस सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं में परस्पर सूक्ष्म अन्तर मिलता है ; यथा—भट्ट लोल्लट एवं अभिनव गुप्त की या आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल एवं डॉ० नगेन्द्र की व्याख्याएँ परस्पर एक रूप नहीं है, पर इससे इन सबको रसवादी मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। वस्तुतः एक ही सिद्धान्त के विभिन्न व्याख्याताओं में वैयक्तिक दृष्टि एवं देश-काल के अनुसार परस्पर सूक्ष्म अन्तर का मिलना स्वाभाविक है; अतः इस अन्तर के होते हुए भी यदि हम पाश्चात्य भाववादी चिन्तकों की धारणाओं को रस-सिद्धान्त के पाश्चात्य रूप के अन्तर्गत सम्मिलित करलें तो अनुचित न होगा। वस्तुतः जिसे पाश्चात्य क्षेत्र में 'कला का भाव सिद्धान्त' (Emotional theory of Art) कहा गया है, उसे ही हम भारतीय शब्दावली में 'रस-सिद्धान्त' की संज्ञा देते हुए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त पाश्चात्य चिन्तकों को रस-सिद्धान्त की परम्परा में स्थान देने का अभिप्राय यह भी नहीं है कि हम उन्हें भारतीय रस सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। वस्तुतः हमारे विचार में भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों ने स्वतन्त्र रूप में चिन्तन करते हुए अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है किन्तु जब कोई सिद्धान्त किसी सार्वभौमिक या सार्वकालिक तथ्य पर आधारित होता है तो भिन्न देशों और भिन्न कालों के विभिन्न विचारक, एक-दूसरे के विचारों से अपरिचित रहते हुए भी उस तथ्य एवं तत्सम्बन्धी सत्य का बोध समान रूप में प्राप्त कर लेते हैं। यह बात रस सिद्धान्त पर भी लागू होती है।

स्वतन्त्र रूप से विचार करते हुए भी भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों का रसानुभूति के सम्बन्ध में समान निष्कर्षों तक पहुँचना, इस सिद्धान्त की सार्वभौमिकता को प्रमाणित करता है। पर यदि रस सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनकी आधारभूत स्थापनाओं में संशोधन-समन्वय की प्रक्रिया के द्वारा उनका सामान्यीकरण (generalisation) कर लिया जाय तो इससे रस-सिद्धान्त को और भी अधिक व्यापक, स्पष्ट, संगत एवं सुनिश्चित रूप प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः रस-प्रक्रिया के कुछ पक्ष ऐसे हैं जिन पर भारतीय आचार्यों ने अधिक विचार किया है जब कि कुछ अन्य पक्षों पर पाश्चात्य चिन्तकों का ध्यान अधिक केन्द्रित रहा है—अतः दोनों पक्षों का चिन्तन एक-दूसरे का पूरक सिद्ध होता है। यथा, भारतीय आचार्यो ने जितना अधिक विवेचन वस्तु-पक्ष एवं भोक्ता का किया है उतना उसके सर्जन-पक्ष एवं अभि-व्यंजना-व्यापार का नही किया। एक का लक्ष्य समाजपरक अधिक रहा है तो दूसरे का व्यक्तिपरक अधिक रहा। अतः दोनों का चिन्तन निश्चय ही एक दूसरे का पूरक है। इसी धारणा के आधार पर हम आगे रस सिद्धान्त की पाश्चात्य परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके आधार पर रस सिद्धान्त को अपेक्षाकृत व्यापक एवं परिष्कृत रूप देने का प्रयास करेंगे।

पाश्चात्य रस-वादियों को उनकी धारणाओं के आधार पर पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) **भावोद्दीप्तिवादी**, जो कला का लक्ष्य भावों का उद्दीपन मानते हैं। (२) **भावावलम्बनवादी**, जो कला-कृति में भावों का चित्रण आवश्यक मानते हैं। (३) **भावाभिव्यक्तिवादी** जो कला के माध्यम से भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। (४) **भाव-संप्रेषणवादी** जो कला के माध्यम से भावों के संप्रेषण पर विशेष बल देते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार भारतीय क्षेत्र में उत्पत्तिवाद, अनुकृतिवाद, भुक्तिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद क्रमश; भारतीय चिन्तना के क्रमिक विकास को सूचित करते हैं उसी प्रकार ये पाश्चात्य वाद भी रस सम्बन्धी पाश्चात्य चिन्तना के विकास-क्रम के सूचक हैं। अतः आगे हम इनका विवेचन अलग-अलग अध्यायों में प्रस्तुत करते हुए उन पर भारतीय दृष्टि से भी विचार करेंगे ।

●

२ पाश्चात्य रस-सिद्धान्त : भावोद्दीप्ति-वादी मत

पाश्चात्य कला-चिन्तन के क्षेत्र में जिन विद्वानों ने कला एवं काव्य का लक्ष्य भावोद्दीपन मानते हुए अप्रत्यक्ष रूप में रस-सिद्धान्त का अनुमोदन किया है, उन्हें भावोद्दीप्तिवादी वर्ग के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। इस वर्ग में मुख्यतः डेकार्टे (१५९६-१६५०), एडिसन (१६७२-१७१९), ह्यूम (१७११-१७७६) प्रभृति विचारक आते हैं। यहाँ क्रमशः उनके विचारों का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

● डेकार्टे (Descartes)

सत्रहवीं शती के सौन्दर्य-चिन्तकों में डेकार्टे (१५९६-१६५० ई०) का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में भी इनकी देन इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इन्हें नवीन दर्शन का जनक तक कहा गया है। ये परम्परागत धारणाओं व विचारों को अनुभव एवं विवेक की कसौटी पर ही कसकर स्वीकार करने के पक्षपाती थी—इसीलिए इन्हें अनुभववादी (Empirical) भी कहा गया है। ये बुद्धि या ज्ञान-शक्ति के चार कार्य मानते थे—समझना, कल्पना करना, स्मरण रखना और अनुभूति प्राप्त करना। भावों को भी इन्होंने ज्ञान या बोध से ही सम्बन्धित स्वीकार किया। कला के क्षेत्र में इन्होंने भावों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए कलानुभूति या रसानुभूति को एक ऐसे बौद्धिक आनन्द के रूप में स्वीकार किया जो कला द्वारा उद्दीप्त भाव से समन्वित होता है।[1]

---

1. "Aesthetic experience, according to him, is intellectual joy, accompanied by a 'passion' or emotion that may be aroused by reading a strange adventure, a creation of free imagination or by presentation of it on the stage.'

—*Western Aesthetics* : By K. C. Pandey ; page 177

भाव-विवेचन—कलात्मक भावों की विवेचना करते हुए डेकार्ट ने भाव के तीन सामान्य लक्षण निर्धारित किये—(१) एक ही प्रकार की वस्तु के प्रभाव से विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न हो सकते हैं; अर्थात् भावों की उत्पत्ति का कोई निश्चित कारण नहीं होता। (२) भाव स्वेच्छा से उत्पन्न नहीं किये जा सकते, किन्ही बाह्य वस्तुओं के प्रभाव से ही भाव उत्पन्न हो सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भावोद्दीप्ति के लिए किसी न किसी आलम्बन का होना अनिवार्य है। (३) भावों के उत्तेजित होने पर उन्हें एकाएक नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

डेकार्ट ने भावों के मुख्यतः दो वर्ग किये हैं—(१) मौलिक भाव (Primary emotions) और (२) परतन्त्र भाव (Dependent emotions)। मौलिक भाव छह बताये गये हैं—(१) आश्चर्य (२) प्रेम (३) घृणा (४) इच्छा (५) आनन्द और (६) शोक। इन मूल भावों के ही आधार पर तथा इनके मिश्रण के द्वारा अन्य भाव या परतन्त्र भाव उत्पन्न और विकसित होते हैं। ये मौलिक भाव भी दो श्रेणियों के हैं—एक जो सीधे मस्तिष्क से या बुद्धि की प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे वे जो हृदय या भावानुभूति से सम्बद्ध हैं। प्रथम वर्ग में केवल आश्चर्य को स्थान दिया गया है जबकि दूसरे में शेष पाँच भाव रखे गये हैं। परतन्त्र भावों की संख्या निश्चित नहीं की गयी किन्तु उनमें से प्रमुख ये बताये गये हैं—श्रद्धा, उपेक्षा, उदारता, अभिमान, आशा, विनम्रता, भय, ईर्ष्या आदि।

प्रत्येक भाव से सम्बद्ध अनुभावों (External signs of emotions) की व्याख्या करते हुए उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) नियन्त्रित अनुभाव—जिन्हें हम स्वेच्छा से रोक सकते हैं, जैसे—ओठों का फड़कना, आहें भरना आदि। (२) अनियन्त्रित—जिन्हें नियन्त्रित नहीं किया जा सकता; जैसे—चेहरे का रंग बदल जाना, काँपना, हँसी, अश्रुपात, रुदन, मूर्च्छा, जड़ता आदि।[२]

रसानुभूति की व्याख्या—डेकार्ट के मत से काव्यानुभूति या रसानुभूति एक ऐसा बौद्धिक आनन्द है जो कि कला और साहित्य के आस्वादन से उद्दीप्त भाव से समन्वित होता है। आनन्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि यह एक प्रकार का मनोनुकूल भाव है; जब हमारी आत्मा अनुकूल वस्तु का आस्वादन करती है तो आनन्द का उद्रेक होता है। आनन्द को भी उन्होंने व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए उसके तीन भेद निश्चित किये—(१) ऐन्द्रियक आनन्द (२) काल्पनिक आनन्द और (३) बौद्धिक आनन्द।[३] काल्पनिक आनन्द के भी दो भेद किये गये हैं—एक, पाशविक वृत्तियों से प्रेरित तथा दूसरा—साहित्यक आधार से प्रेरित।

---

2. Western Aesthetics, By K. C. Pandey, Page 190-210
३. वही ; पृष्ठ २११-२१२

इनमें से बौद्धिक आनन्द को विशुद्ध आत्म-चैतन्य से प्रेरित माना गया है, किन्तु जब कलाओं के माध्यम से बौद्धिक आनन्द की अनुभूति होती है तो उसे सौन्दर्यात्मक आनन्द (रस ?) कह सकते हैं ।

करुण-रस की अनुभूति—साहित्य में करुण रस से आनन्द की अनुभूति किस प्रकार होती है—इस प्रश्न पर विचार करते हुए डेकार्टे ने स्पष्ट किया है कि दुष्ट एवं क्रूर पात्रों को दुःखी देखकर हमें करुणा की अपेक्षा हर्ष की ही अनुभूति अधिक होती है पर जब हम ऐसे पात्रों को दुःखी देखते हैं जो वस्तुतः दुःख के पात्र नहीं होते तो हमारी करुणा जागृत होती है । करुणा का मूल तत्त्व शोक है जिसमें प्रेम और सद्‌भावना का मिश्रण रहता है । करुणा के दो प्रेरक भाव प्रेम और उदारता हैं । जब हम किसी के प्रति प्रेम और उदारता का भाव प्रदर्शित करते हैं तो उससे सहज ही आत्म-तोष की अनुभूति होती है । किसी असहाय के प्रति उदारता दिखाकर हम जिस संतोष का अनुभव करते हैं वही काव्यगत करुणा को आनन्द में परिवर्तित कर देने का कारण है । काव्य में चित्रित सज्जन पात्र के दुःख के प्रति मन ही मन करुणा प्रकट करके हम एक संतोषदायक कर्त्तव्य का पालन करते हैं । अस्तु, यह संतोष ही करुण-रस से आनन्दानुभूति का कारण है । साथ ही डेकार्टे ने यह भी कहा है कि काव्य में प्रस्तुत शोक या रंगमंच पर प्रस्तुत शोकपूर्ण दृश्य वास्तविक दृश्य नहीं होता । ऐसे दृश्यों का आस्वादन करते समय हमारे अन्तर्मन में उनकी अयथार्थता का ज्ञान भी बना रहता है जिससे उनकी कटुता या तीव्रता बहुत-कुछ कम हो जाती है । इस प्रकार काव्यगत शोक से आनन्दानुभूति के दो मूल कारण सिद्ध होते हैं—(१) उदारता एवं सहानुभूति के प्रदर्शन से प्राप्त संतोष एवं (२) शोकपूर्ण दृश्यों की अवास्तविकता का ज्ञान । ये कारण भारतीय दृष्टि से कहाँ तक उचित हैं—इस पर आगे विचार किया जायगा, यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि करुण-रस की समस्या पर भारतीय आचार्यों की भाँति डेकार्टे ने भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया है ।

● **डेकार्टे के मत की समीक्षा—**

विशेषताएँ—डेकार्टे की धारणाओं पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उनकी निम्नांकित विशेषताएँ स्वीकार की जा सकती हैं—

(क) डेकार्टे की यह स्थापना कि भावों का पाशविक वृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है—भारतीय रस सिद्धान्त एवं आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल है । भारतीय आचार्य अभिनव गुप्त ने भावों को वासनाओं पर आधारित माना है तो आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार वे सहज प्रवृत्तियों (Instincts) पर आधारित माने जाते हैं । इस दृष्टि से पाशविक वृत्तियों, वासनाओं एवं सहज प्रवृत्तियों को परस्पर पर्याय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

(ख) भावों के तीन सामान्य लक्षण—आलम्बन की अनिश्चितता भाव का स्वेच्छा से उत्पन्न न हो सकना और भावों का नियन्त्रण एकाएक अशक्य होना भी डेकार्टे की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

(ग) भावों को दो वर्गों में—मौलिक और परतन्त्र—में विभाजित करना भी डेकार्टे की नूतन स्थापना है। इन्हें भारतीय दृष्टि से क्रमशः स्थायी भाव एवं संचारी भाव कहा जा सकता है।

(घ) करुण रस में आनन्दानुभूति स्वीकार करना भारतीय दृष्टि के अनुकूल है।

न्यूनताएँ—भारतीय दृष्टि से डेकार्टे के मत में निम्नांकित न्यूनताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं—

(क) भाव के सामान्य लक्षणों के अन्तर्गत डेकार्टे ने बताया कि एक ही आलम्बन से विभिन्न व्यक्तियों के मन में विभिन्न भाव उत्पन्न हो सकते हैं—उनकी यह धारणा भारतीय दृष्टि के अनुकूल है पर उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि इस भिन्नता का मूल कारण क्या है ? भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार स्थायी भाव ही इसका मूल कारण है। एक सुन्दरी को देखकर रति स्थायी भाव से अनुप्राणित व्यक्ति प्रणय से उद्वेलित हो सकता है जबकि निर्वेद से ग्रस्त उसके प्रति विरक्ति प्रदर्शित कर सकता है। किन्तु डेकार्टे स्थायी भाव की इस विशेषता का अनुसन्धान नहीं कर पाये।

(ख) डेकार्टे का मूल भावों (स्थायी भावों) में इच्छा और आनन्द को भी स्थान देना उचित नहीं था। इसके अतिरिक्त उत्साह और भय जैसे महत्त्वपूर्ण भावों की ओर भी उनका ध्यान नहीं गया जो कि मूल भाव के रूप में स्वीकार किये जा सकते थे।

(ग) परतन्त्र भावों के सम्बन्ध में भी डेकार्टे का दृष्टिकोण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। उदारता, अभिमान, विनम्रता जैसी स्थायी चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं आशा, उपेक्षा जैसी मनोवृत्तियों को इनके अन्तर्गत स्थान देना समीचीन नहीं है।

(घ) काव्य जन्य आनन्द को कहीं उन्होंने भाव समन्वित बौद्धिक आनन्द माना है तो कहीं उसे कल्पनाजन्य आनन्द के रूप में स्वीकार किया है—वस्तुतः इस सम्बन्ध में वे कोई स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाये।

(ङ) करुण रस से प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति का जो कारण डेकार्टे ने बताया है वह भी सर्वांश में सत्य नहीं है। केवल उदारता या सहानुभूति के प्रदर्शन से प्राप्त संतोष या काव्यगत शोक की अवास्तविकता का ज्ञान ही इस आनन्द का कारण नहीं माना जा सकता। लौकिक जीवन से भी हम दुःखी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हैं पर वहाँ हमें वह आनन्दानुभूति प्राप्त नहीं होती जो कि

काव्यगत करुणा से प्राप्य है। दूसरे, यदि काव्यगत शोक के प्रति सदा अवास्तविकता का विचार ही रहेगा तो उस स्थिति में हमारी अनुभूति गम्भीर नहीं हो सकेगी। अतः ये दोनों कारण बहुत ही गौण हैं। वस्तुतः डेकार्टे इस समस्या के समाधान में पूर्णतः सफल नहीं हो पाये।

अस्तु, डेकार्टे की धारणाएँ आंशिक रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी उनका महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने पाश्चात्य कला-चिन्तन के क्षेत्र में सर्वप्रथम भाव तत्त्व को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते हुए काव्यगत भावों के विवेचन-विश्लेषण का प्रयास किया। वस्तुतः उनकी उपलब्धि इस बात में है कि उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन को एक नयी दिशा और नूतन पथ की ओर अग्रसर कर दिया, वे स्वयं इस ओर भले ही बहुत आगे तक न बढ़ पाये हों—इससे इनका महत्त्व कम नहीं होता।

● **एडिसन** (Addison)

एडिसन (१६७२-१७१९ ई०) महोदय ने कला-कृति का लक्ष्य भावोद्दीपन स्वीकार करते हुए कहा कि जो कृति हमारे भावों को उत्तेजित करने में जितनी अधिक समर्थ होगी वह उतनी ही अधिक प्रसन्नता प्रदान कर सकेगी। जो भाव सामान्य जीवन में प्रसन्नतादायक होते हैं वे ही कला-कृति के माध्यम से उद्दीप्त होने पर और भी अधिक प्रसन्नता प्रदान करते हैं किन्तु कला का जादू तो यह है कि दैनिक जीवन के कटु एवं तिक्त भाव भी कलाओं के माध्यम से कोमल और मधुर बन जाते हैं। करुण और भयानक रसों में भी सामाजिक को प्रसन्नता की अनुभूति क्यों होती है—इसका समाधान करते हुए एडिसन ने बताया कि जब हम इस प्रकार की कृतियों को देखते हैं तो हम मन ही मन कलागत पात्रों की स्थिति से अपनी स्थिति की तुलना करते रहते हैं और जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस दुख या भय से कलागत पात्र पीड़ित हैं उससे हम स्वयं मुक्त हैं तो यह निष्कर्ष हमें अमित तोष प्रदान करता है।[4] अस्तु, एडिसन के विचार से पात्रों की अपेक्षा पाठकों की अच्छी स्थिति ही करुणजन्य आनन्द का मूल कारण है।

रसास्वादान की प्रक्रिया—काव्यास्वादन या रसास्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए एडिसन महोदय ने स्पष्ट किया कि इसमें स्वयं काव्य-कृति के अतिरिक्त पाठक की व्यक्तिगत स्थितियाँ एवं परिस्थितियाँ भी पर्याप्त योग देती हैं। इस सम्बन्ध में चार बातें अपेक्षित हैं—एक तो पाठक में अच्छी बिम्बग्राहक कल्पना-शक्ति का होना अपेक्षित है। दूसरे, उसे भाषा की शक्ति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। तीसरे, उसमें भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त साधनों को समझने की भी

4. Western Aesthetics : K. C. Pandey, Page 235-44

क्षमता होनी चाहिए। चौथे, उसमें आत्म-विस्मृति का भी गुण होना चाहिए। इन चारों अपेक्षाओं के अभाव में पाठक रसास्वादन में पूर्णतः सफल न हो सकेगा।

रस की प्रकृति—काव्यानन्द या रस को एडिसन ने कल्पनाजन्य आनन्द मानते हुए बताया कि जब हमारी कल्पना काव्यगत सौन्दर्य, औदात्य एवं अन्य तत्त्वों के बोध में निमग्न हो जाती है तो हम एक सुखद आत्म-विस्मृति की अवस्था में पहुँच जाते हैं—थोड़ी देर के लिए हमारी आत्मा कल्पना के एक नूतन लोक में विचरण करती हुई आनन्दानुभूति में लीन हो जाती है। इस प्रकार उनके विचार से रस-निष्पत्ति में कल्पना की सक्रियता, भावों के उद्दीपन एवं आत्म-विस्मृति के सुखद अनुभव आदि का मिश्रित योग रहता है।

● **एडिसन के मत की समीक्षा**—

काव्यानुभूति के सम्बन्ध में एडिसन की कुछ धारणाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक तो उन्होंने भावों की लौकिक अनुभूति की अपेक्षा कलाजन्य अनुभूति को अधिक मधुर माना है, जो भारतीय दृष्टिकोण के अनुकूल है। दूसरे, उन्होंने डेकार्ट की भाँति काव्यानन्द को बौद्धिक आनन्द मानने की भूल नहीं की अपितु उसे काल्पनिक आनन्द बताकर उसकी भ्रान्ति का निराकरण किया। तीसरे, उन्होंने काव्यास्वादन के प्रसंग में सामाजिक की योग्यता पर भी विचार किया है। इस सम्बन्ध में एडिसन ने जिन चार योग्यताओं का निर्देश किया है, वे आचार्य भरत के द्वारा उल्लिखित योग्यताओं से मिलती-जुलती हैं? आचार्य भरत ने प्रेक्षक के लिए ये दस योग्यताएँ बताई थीं— (१) बौद्धिक पृष्ठ भूमि (२) सौन्दर्य वर्धक साधनों का ज्ञान (३) मानस तथा शारीरिक अवस्थाओं का परिचय (४) विभिन्न भाषाओं और बोलियों का ज्ञान (५) एकाग्रता-शक्ति (६) तीव्रग्राहिका शक्ति (७) निरपेक्षबुद्धि (८) चरित्र तथा संस्कार (९) रुचि (१०) तन्मयता की शक्ति। स्पष्ट ही आचार्य भरत के द्वारा उल्लिखित योग्यताओं में से प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, एवं दशम में एडिसन महोदय की योग्यताओं का समन्वय हो जाता है।

एडिसन के मत में कुछ महत्त्वपूर्ण न्यूनताएँ एवं त्रुटियाँ भी हैं। एक तो करुण रस से आनन्दानुभूति के विषय में उनके द्वारा की गई व्याख्या असंगत है। एक ओर तो वे पाठक के लिए आत्म-विस्मृति की योग्यता आवश्यक मानते हैं तो दूसरी ओर करुण-रस के आस्वादान के समय पाठक के व्यक्तित्व की पृथक चेतना के आधार पर वे करुण से आनन्द की निष्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। यदि करुण रस में हम काव्य-गत पात्रों से अपनी अच्छी स्थिति के कारण आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं तो अन्य सुखात्मक रसों में अपनी हेय स्थिति के कारण हमें ईर्ष्या या शोक की अनुभूति होनी चाहिए। वस्तुतः उन्होंने परस्पर-विरोधी बातें कहकर अपने ही मत का खंडन कर दिया है।

इस प्रकार एडिसन की सभी धारणाएँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु काव्यानुभूति या रसानुभूति के स्वरूप-विश्लेषण एवं सामाजिक की तत्सम्बन्धी अपेक्षाओं के उद्घाटन में उन्होंने संतोषजनक सफलता प्राप्त की है। काव्यानन्द को कल्पनाजन्य आनन्द घोषित करना उनकी सबसे बड़ी देन है।

• ह्यूम (Hume)

ह्यूम (१७११-१७७६ ई०) महोदय ने कला का सर्वोच्च लक्ष्य प्रसन्नता या आनन्द को ही स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया कि कला-सौन्दर्य के आस्वादन में तीन तत्त्वों का योग रहता है—(१) मानव-प्रकृति (२) संस्कार एवं प्रथाएँ (३) मानसिक परिवर्तन। अर्थात् किसी कला के सौन्दर्य के आस्वादन में हम अपनी मानवी-प्रकृति, संस्कारों, एवं मानसिक परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं। वस्तुतः भारतीय शब्दावली में ये सामाजिक की विशेषताएँ बताई जा सकती हैं।

रसानुभूति का मूलाधार—कलाओं के आस्वादन या रसानुभूति का मूलाधार क्या है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए ह्यूम महोदय ने प्रतिपादित किया है कि यह आस्वादन तर्क-बुद्धि की देन न होकर शुद्ध भावात्मक होता है। इसके अतिरिक्त हम स्वार्थ भाव से मुक्त होकर ही रसास्वादन (कला का आस्वादन) कर पाते हैं, वस्तु की उपयोगिता या हानि-लाभ के विचार से उस समय शून्य रहते हैं। साथ ही कलागत पात्रों के प्रति हम सर्वथा उदासीन भी नहीं रह पाते। उनके प्रति हमारी सहानुभूति जागृत हो जाती है और यह सहानुभूति हमारी प्रसन्नता का एक कारण है। कलागत पात्रों से सहानुभूति इतनी गहरी होती है कि हम प्रायः उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुख समझने लगते हैं।[5]

समीक्षा—ह्यूम महोदय ने यद्यपि बहुत विस्तार से कलानुभूति के विविध पक्षों पर विचार नहीं किया किन्तु जिन-पक्षों को उन्होंने अपनी चिन्तना का केन्द्र बनाया है, उनके समाधान में उन्होंने निश्चित ही मौलिक प्रतिभा एवं सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है। सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति मानवेतर प्राणियों को बहुत कम हो पाती है, अतः इसे मानव-प्रकृति की विशिष्टता मानना तर्क-संगत है। संस्कार एवं प्रथाओं का भी उल्लेख करके उन्होंने चिन्तन-परंपरा को आगे बढ़ाया है। पर उनकी सर्वोपरि उपलब्धि है—रसानुभूति में स्वार्थभाव से मुक्ति या निर्वैयक्तिकता एवं सहानुभूतिजन्य तादात्म्य सम्बन्धी विचारों की स्थापना। उनकी ये धारणाएँ भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त के बहुत निकट पड़ती हैं। इतना अवश्य है कि वे साधारणीकरण का आधार केवल सहानुभूति को मानते हैं जबकि भारतीय दृष्टि से यह प्रक्रिया काव्यार्थ-भावन से सम्बन्धित है। सहानुभूति का सम्बन्ध मुख्यतः करुणरस के ही आलम्बन से होता है—अन्य रसों के आलम्बन से नहीं। अतः इस

---

5. Western Aesthetics ; K. C. Pandey, Page 255-8

प्रसंग में सहानुभूति की अपेक्षा अधिक व्यापक शब्द के प्रयोग की अपेक्षा थी। आगे चलकर 'सहानुभूति' के स्थान पर 'समानुभूति' (Empathy) का प्रयोग होने लगा जो अधिक उपयुक्त है। फिर भी इससे ह्यूम महोदय की उपलब्धियों का महत्त्व कम नहीं हो जाता—उन्होंने निश्चित ही पाश्चात्य रस-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

● **निष्कर्ष—**

भावोद्दीप्तिवाद के तीन प्रमुख चिन्तकों की पूर्वोल्लिखित महत्त्वपूर्ण धारणाओं का निष्कर्ष यहाँ संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

- कला या काव्य का लक्ष्य आनन्दानुभूति प्रदान करना है।
- काव्यजन्य आनन्द कल्पनाजन्य आनन्द होता है।
- कला या काव्य का आनन्द उसकी भावोत्तजन की क्षमता पर निर्भर है।
- सामान्य जीवन के भाव कलाकृति में आनन्ददायक बन जाते हैं।
- भावों को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—मौलिक भाव एवं परतंत्र भाव। ये भाव व्यक्ति की वासनाओं या सहजप्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं।
- करुण, भयानक आदि कटु भावों से रसानुभूति के अनेक कारण हैं—(१) सहानुभूति प्रदर्शन जन्य संतोष (२) काव्य वस्तु की यथार्थता का ज्ञान (३) काव्यगत पात्रों की दुःखद स्थिति की तुलना में सामाजिक की निजी स्थिति की सुखदता। (४) सहानुभूति-जन्य तादात्म्य। (५) निर्वैयक्तिकता।
- रसानुभूति के लिए पाठक या सामाजिक में ये योग्यताएँ अपेक्षित हैं—(१) बिम्ब-ग्राहक कल्पना-शक्ति (२) भाषा-शाक्ति का सम्यक् ज्ञान (३) भावाभिव्यक्ति के माध्यमों का ज्ञान (४) आत्म-विस्मृति का गुण (५) अनुकूल संस्कार।

उपर्युक्त निष्कर्षों का उपयोग अन्यत्र प्रसंगानुसार किया जायगा, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इनमें से अधिकाँश भारतीय आचार्यों की धारणाओं के अनुकूल हैं।

●

३ पाश्चात्य रस सिद्धान्त : भावावलम्बनवादी मत

जिन कला-मीमांसकों व साहित्याचार्यों ने कला के लिए केवल भावों के उद्दीपन को ही पर्याप्त न मानकर उसमें भावों का चित्रण भी आवश्यक माना है, उन्हें हम 'भावावलम्बन वादी वर्ग' के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं। सत्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती के अनेक पाश्चात्य विचारकों को इस वर्ग में स्थान दिया जा सकता है—इनमें ल-बस्सु, हचेसन, बर्क, हरमन लात्ज, सैंतायना प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु इनसे बहुत पूर्व ग्रीक आचार्य लौंजाइनस (प्रथम शती ईस्वी) भी भावावलम्बनवादी विचारों का उन्मेष अपने उदात्ततत्त्व सम्बन्धी ग्रन्थ में कर चुके थे। अतः पूर्वोक्त आचार्यों के विचारों का परिचय देने से पूर्व लौंजाइनस की भावावलम्बनवादी धारणाओं पर थोड़ा प्रकाश डाल देना उचित होगा।

● **लौंजाइनस (Longinus)**

यद्यपि लौंजाइनस महोदय ने काव्य के सर्व प्रमुख तत्त्व के रूप में 'औदात्य' को मान्यता दी है किन्तु साथ ही उन्होंने औदात्य के प्रमुख स्रोतों में उद्दाम भावावेग को भी स्थान दिया है। सच्ची कला की सर्वोत्कृष्ट कसौटी क्या है? कला का पूर्ण उत्कर्ष कहाँ प्रकट होता है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप में भावावेगपूर्ण चित्रण को ही प्रमुखता दी है। वे लिखते हैं—"जिस कौशल से वह (कवि) आवेग की अधिक से अधिक प्रबल एवं प्रभावोत्पादक परिस्थितियों का चयन और निबन्धन करता है, वही उसकी (कला की) उत्कृष्टता का मूल है।"[१]

इसी प्रकार काव्यगत औदात्य का लक्ष्य भी उन्होंने भावोद्रेक को स्वीकार करते हुए लिखा है—'उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यय के रूप में

१. काव्य में उदात्त तत्त्व ; पृष्ठ संख्या ६१

नहीं भावोद्रेक के रूप में पड़ता है।'[२] इस भावोद्रेक की अनुभूति आनन्दमयी होती है—इस तथ्य को स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—"साधारणतः औदात्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सके।'[३]

साधारणीकरण एवं तादात्म्य की चर्चा भी अप्रत्यक्ष रूप में लौंजाइनस ने की है। उनके विचार से पाठक का काव्यगत पात्रों से साधारणीकरण होने से पूर्व कवि का उनके साथ तादात्म्य होता है। होमर के एक पात्र फएथोन की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—"क्या तुम नहीं कहोगे कि लेखक की आत्मा फएथोन के साथ ही साथ रथ में प्रवेश कर जाती है और उसके साहस तथा घोड़ों के वायु-वेग का समानुभव करने लगती है।" यहाँ 'समानुभाव' समान अनुभूति या तादात्म्य का ही द्योतक है।

दूसरी ओर कवि की अनुभूति का साधारणीकरण हो जाने से वह पाठक की अनुभूति बन जाती है। लौंजाइनस महोदय के शब्दों में—"सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है मानो जो कुछ उसने सुना हो वह स्वयं उसी का अपना कार्य हो।"[५] यहाँ उद्धृत शब्दों में 'तादात्म्य' का प्रयोग न होते हुए भी उसकी प्रक्रिया को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया गया है।

वस्तुतः लौंजाइनस के ग्रन्थ का लक्ष्य उदात्त तत्त्व के प्रतिपादन का होते हुए भी वे काव्यगत भाव की महत्ता को स्वीकार किये बिना न रह सके। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में 'आवेग' पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की इच्छा व्यक्त की थी। कदाचित्, इस इच्छा को वे पूरी नहीं कर पाये, किन्तु उससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि अन्ततः उनका भी झुकाव आवेग तत्त्व की ओर हो गया था।

अस्तु, काव्यगत आवेग या भाव का बहुत विस्तृत विवेचन न करते हुए भी उन्होंने इन पाँच बातों को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है—(१) काव्यगत औदात्य का आधार भावावेग है। (२) औदात्य की अनुभूति भी विचार के रूप में न होकर भावावेग के रूप में होती है। (३) काव्य-रचना का लक्ष्य श्रोता को आनन्द प्रदान करना है। (४) काव्य में मूल ऐतिहासिक पात्रों के साथ कवि का तथा कवि की

---

२. वही ; पृष्ठ सं० ४४

३. वही पृष्ठ सं० ६१

४-५. 'काव्य में उदात्त तत्त्व' ; पृष्ठ ७१

अनुभूति के साथ पाठक का तादात्म्य अपेक्षित है। कहना न होगा के ये धारणाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त की आधारभूत स्थापनाओं के बहुत निकट पड़ती हैं। अतः औदात्य तत्त्व की प्रतिष्ठा के साथ-साथ पाश्चात्य भाव-सिद्धान्त के भी प्रवर्त्तन का श्रेय उन्हें दिया जाय तो अनुचित न होगा।

● **ल बस्सु (Le Bessu)**

सत्रहवीं शती के काव्य-चिन्तक ल बस्सु (१६३१-१६८० ई०) कदाचित् पहले पाश्चात्य चिन्तक हैं जिन्होंने काव्य के संदर्भ में भावों का विवेचन सांगोपांग रूप में किया। उन्होंने प्रत्येक महाकाव्य के लिए भावात्मकता को अनिवार्य तत्त्व माना है। प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री गिल्बर्ट महोदय ने ल बस्सु के विचारों का परिचय देते हुए लिखा है—"The epic narrative....must also be moving and impassioned, so that it may transport the mind of the reader, fill it with disquiet, give it joy, throw it into terror, make it feel again the violence of all the movements····the passions are necessary than for great poems ; but they are not all necessary or suitable for all. Comedy has for its share joy and pleasant surprise. Tragedy on the other hand has terror and compassion.[6] 'अर्थात् 'प्रबन्धात्मक महाकाव्य···· इतना प्रभावोत्पादक एवं भावोत्तेजक होना चाहिए कि वह पाठक के मन को उद्वेलन से भर सके, उसे हर्ष-विभोर कर सके, उसे भय की दुनियाँ में फेंक सके अथवा उसे सभी प्रकार के क्रिया-कलापों का साहस अनुभव करवा सके····अतः महान काव्यों के लिए भावावेग आवश्यक है किन्तु सभी प्रकार के काव्यों लिए सभी प्रकार के भाव उपयुक्त नहीं होते—जहाँ कामदी में आश्चर्य मिश्रित हर्ष होता है वहाँ त्रासदी में भय एवं करुणा की प्रमुखता होती है।'

इस प्रकार लबस्सु के विचार से महाकाव्य के लिए न केवल भावात्मकता आवश्यक है अपितु उनकी प्रकृति के अनुसार तद्नुकूल भाव की प्रमुखता भी अपेक्षित है। भाव-वैविध्य की दृष्टि से त्रासदी एवं कामदी का क्षेत्र महाकाव्य की अपेक्षा सीमित है, उनमें भावात्मकता के संचार के लिए उतना अवकाश नहीं है जितना कि महाकव्य में है, उसी तर्क के आधार पर उन्होंने महाकाव्य को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

क्या सभी महाकाव्य समान भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ल बस्सु ने स्पष्ट किया है कि सभी महाकाव्यों में एक जैसे

---

6. A History of Esthetics ; By K. E. Gilbert and Kuhn ; 1954 ; Page 223.

भावों का प्रस्तुतीकरण नहीं किया जा सकता। जिस महाकाव्य का नायक जैसी प्रकृति का होगा, वैसा ही भाव उसमें प्रमुखता प्राप्त करेगा। यथा, 'इलियड' का नायक क्रोधी एवं पराक्रमी है अतः उसमें रौद्र एवं भय की प्रमुखता है; इसके विपरीत 'एनीड' का नायक उदार और सज्जन है, अतः उसमें कोमल भावों को प्रमुखता दी गयी है। अतः एक महाकाव्य का अन्य महाकाव्यों से पार्थक्य-सूचक तत्त्व यह भाव विशेष की प्रमुखता ही है।

काव्य में भावों के प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं—एक तो कवि के लिए भाव-विशेष का प्रस्तुतीकरण ही पर्याप्त नहीं है अपितु पाठक या श्रोता के द्वारा उसकी स्वीकृति भी प्राप्त होनी चाहिए। दूसरे, पाठकों को उस भाव का केवल ज्ञान ही नहीं—उसकी अनुभूति भी प्राप्त होनी चाहिए। साथ ही एक ही रचना में परस्पर-विरोधी भावों की भी आयोजना नहीं की जानी चाहिए।

भावों को संप्रेषणीय बनाने के लिए कवि को चाहिए कि वह पाठक की मनः स्थिति के अनुरूप अपने विषय को प्रस्तुत करे। उनके शब्दों में—"एक व्यक्ति शान्त मन से बैठा हुआ है और तुम बातचीत के द्वारा उसे क्रोधित करना चाहते हो तो सबसे पहले तुम्हें भी शान्तिपूर्वक बात आरम्भ करनी चाहिऐ, फिर धीरे-धीरे जब वह तुम्हारी बातचीत में सम्मिलित हो जाय तो तुम उसे अपना अनुगामी बना सकते हो।" यहाँ ल बस्सु का तात्पर्य यही है कि काव्य में भावों का प्रस्तुतीकरण क्रमशः इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे वह पाठक के मन को प्रभावित कर सके इसके अतिरिक्त उन्होंने कवि और आलोचकों के लिए भावों के शारीरिक एवं मानसिक पक्षों—अनुभावों और संचारी भावों—का ज्ञान भी आवश्यक बताया है।

ल बस्सु के मत की समीक्षा—ल बस्सु की उपर्युक्त धारणाओं पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर वे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। काव्य या महाकाव्य में पात्र के अनुरूप किसी एक भाव को प्रमुखता देना, काव्यों का वर्गीकरण इस प्रमुख भावों के आधार पर ही करना, भावों को अनुभूतिगम्य रूप में प्रस्तुत करने पर बल देना, अनुभावों एवं संचारीभावों के अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव करना—ये सारी प्रवृत्तियाँ भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुकूल हैं। अतः पाश्चात्य भाव-सिद्धान्त या रस-सिद्धान्त के विकास में उनका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—इसमें कोई संदेह नहीं।

- **हचेसन** (Hutcheson)

पाश्चात्य कला-समीक्षकों में भावावलम्बनवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने में हचेसन (१६९४-१७४७ ई०) महोदय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने काव्य में भावों के प्रस्तुतीकरण का समर्थन करते हुए काव्यानुभूति या रसानुभूति

के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर विशेष बल दिया—(१) स्वार्थशून्यता (Dis-interest) एवं (२) अन्तर्भावना (Inner-sense)[7]— स्वार्थशून्यता से उनका तात्पर्य यह है कि सामाजिक कलाओं के आस्वादन के समय किसी व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचार से मुक्त रहता है। यह स्वार्थशून्यता ही काव्यानन्द का मूल कारण है। अन्तर्भावना को उन्होंने रुचि (taste) का पर्याय मानते हुए प्रतिपादित किया कि यह एक ऐसी शक्ति है जो कवि, काव्य और पाठक—तीनों में विभिन्न रूपों में विद्यमान रहती है। कवि में विद्यमान अन्तर्भावना को सामान्य शब्दावली में 'प्रतिभा' कहा जाता है तो काव्य में प्रतिबिम्बित अन्तर्भावना 'भावना' (sentiment) के नाम से प्रसिद्ध है। इसी 'अन्तर्भावना' को पाठक के प्रसंग में 'रुचि' (taste) कहा जाता है। वस्तुतः हचेसन महोदय के विचार से यह अन्तर्भावना ही कवि, काव्य और पाठक—तीनों में विद्यमान वह विशेष तत्त्व है जिसे काव्यानुभूति या रसानुभूति का आधार माना जा सकता है।

भारतीय दृष्टि से हचेसन की अन्तर्भावना स्थायी भाव या मूल भाव की पर्याय मानीं जा सकती है। कवि अपने स्थायी-भाव को काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करता हुआ पाठक के स्थायी भावों को उद्वेलित करता है। काव्य के प्रसंग में हचेसन ने इसे भावना या सेंटिमेंट बताकर अप्रत्यक्ष रूप में स्थायीभाव का ही अनुमोदन किया है क्योंकि भारतीय आचार्यों का 'स्थायी भाव' 'सेंटिमेंट' के बहुत निकट पड़ता है।

● बर्क (Burke)

बर्क (१७२९-१७९७ ई०) महोदय वे कविता, नाटक आदि कलाओं से प्राप्त अनुभूति को भावात्मक अनुभूति मानते हुए यह स्वीकार किया है कि इन कलाओं में विभिन्न भावों का प्रस्तुतीकरण भी आवश्यक है। उन्होंने इस दृष्टि से भावों का विवेचन एवं वर्गीकरण नूतन रूप में किया है। अब तक प्रायः अनुभूति (Feeling) और भाव (Emotion) को एक ही अर्थ में ग्रहण किया जाता था, जबकि बर्क ने दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया कि अनुभूति का सम्बन्ध दुःख, सुख और उदासीनता की स्थिति से है जबकि भाव इनसे पृथक हैं। भावों को भी उनके विचारानुसार दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आत्म रक्षा की प्रवृत्ति से सम्बन्धित एवं (२) सामाजिक। प्रथम वर्ग में भय और आश्चर्य को स्थान देते हुए उन्होंने प्रशंसा, श्रद्धा और सम्मान की भावना को भी आश्चर्य से ही रूपान्तरित माना। दूसरे वर्ग अर्थात् सामाजिक भावों के अन्तर्गत उन्होंने मुख्यतः छह भावों की गणना की—(१) जिज्ञासा (२) सहानुभूति (३) अनुकरण की प्रवृत्ति (४) महत्त्वाकांक्षा (५) शोक और (६) प्रेम।

---

7. Western Aesthetics : K. C. Pandey ; Page 233-4

काव्यानुभूति में क्रमशः जिज्ञासा, सहानुभूति एवं अनुकरण की प्रवृत्ति का गहरा योग रहता है—इनके कारण ही हमें आनन्द की अनुभूति होती है। प्रेम को उन्होंने अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए उसके अन्तर्गत सम-लैंगिक एवं भिन्न लैंगिक व्यक्तियों तथा अन्य जीवों व पदार्थों के प्रति उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों को समाविष्ट कर लिया।[8]

भावोद्दीपन में भाषा का योग—काव्यजन्य भावोद्दीपन में भाषा किस प्रकार योग देती है—इसे स्पष्ट करते हुए बर्क ने शब्दों को तीन वर्गों में विभक्त किया—(१) पूर्णवाची शब्द—इनके द्वारा विभिन्न सरल विचारों का प्रस्तुतीकरण होता है; जैसे, घोड़ा, मनुष्य आदि। (२) सरल भाववाचक—जैसे लाल, गोल आदि। (३) मिश्रित भाववाचक शब्द—जैसे, प्रेम, गुण, भय आदि।

प्रथम दो प्रकार के शब्दों से श्रोता को शब्द की ध्वनि, उनके द्वारा सांकेतित वस्तु एवं तज्जन्य अनुभूति का क्रमशः बोध होता है। किन्तु तीसरे प्रकार के शब्दों से उनके ध्वनि-बोध के अनन्तर सीधे भावों की अनुभूति हो जाती है अर्थात् बीच की एक प्रक्रिया—वस्तु-बोध—की अपेक्षा वहाँ नहीं रहती। मिश्रित भाववाचक शब्द किसी वस्तु को सूचित न करके भाव को सूचित करते हैं, अतः उनसे आत्मा को सीधे भावों की अनुभूति हो जाती है। इस प्रकार बर्क के दृष्टिकोण से काव्य में भाव-वाचक शब्दों का प्रयोग भावोद्दीप्ति में अधिक सहायक सिद्ध होता है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि वस्तुओं की प्रत्यक्ष अनुभुति की अपेक्षा शब्दों के माध्यम से होने वाली अप्रत्यक्ष अनुभूति अधिक गंभीर होती है—यही कारण है कि दैनिक जीवन की घटनाओं की अपेक्षा हम काव्य में वर्णित घटनाओं से अधिक प्रभावित होते हैं।

रसानुभूति की प्रक्रिया—काव्यानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए बर्क ने तीन माध्यमों की चर्चा की जिनके द्वारा पाठक काव्य-वस्तु का बोध प्राप्त करता है—(१) इन्द्रियाँ (२) कल्पना और (३) तर्क या बुद्धि। बर्क के विचारानुसार रसानुभूति में इनमें से किसी एक माध्यम का ही नहीं अपितु तीनों का ही समन्वित योग रहता है। इन तीनों की समन्वित शक्ति को ही रुचि (taste) या 'आस्वादन-क्षमता' का नाम दिया गया है। अस्तु, उनके विचार से यह क्षमता ही काव्यास्वाद की आधारभूत शक्ति है।

करुण रस और आनन्दानुभूति—करुण और भयानक में अपेक्षाकृत अधिक प्रबल भावों की उत्पत्ति होती है, इसीलिए काव्य में भी इनकी अनुभूति अधिक गम्भीर एवं उदात्त होती है। करुण से आनन्द की अनुभूति क्यों होती है ? इस सम्बन्ध में बर्क ने पूर्ववर्ती विद्वानों के अनेक मतों का खण्डन करते हुए प्रतिपादित

8. Western Aesthetics ; Pandey; Page 260-61

किया कि कलाजन्य आनन्द अनुकृति का आनन्द है। जब हमें इस तथ्य का बोध होता है कि कला में प्रस्तुत विषय न वास्तविक है न मिथ्या अपितु अनुकृति मात्र है तो इससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है।

कवि के साथ तादात्म्य—काव्यानुभूति के सम्बन्ध में बर्क ने इस तथ्य का भी उद्घाटन किया कि काव्यास्वादन के समय पाठक का कवि की आत्मानुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है; जैसी अनुभूति कवि की होती है, वैसी ही अनुभूति पाठक प्राप्त करता है।

बर्क के मत की समीक्षा—पाश्चात्य कला-समीक्षा के क्षेत्र में बर्क के विचारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाव-सिद्धान्त के क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि एक तो उन्होंने अनुभूति और भाव का अन्तर स्पष्ट करते हुये भावों का वर्गीकरण नये ढंग से करने का प्रयास किया। यह ठीक है कि महत्त्वाकांक्षा, अनुकरण की प्रवृत्ति एवं जिज्ञासा को भी भावों में स्थान देना यह प्रमाणित करता है कि उन्हें इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता नहीं मिली क्योंकि महत्त्वाकांक्षादि भावावेग न होकर मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं—पर फिर भी उनका प्रयास नूतन दिशा में अवश्य है। काव्यानुभूति में जिज्ञासा और सहानुभूति के योग पर अत्यधिक बल देना भी समीचीन प्रतीत होता है। दूसरे, भावोद्दीपन की दृष्टि से काव्य-भाषा का विश्लेषण करते हुये शब्दों के वर्गीकरण का प्रयास भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ वे भाव वाचक शब्दों में भावोत्पादन की अधिक क्षमता स्वीकार कर लेते हैं जबकि भारतीय आचार्यों की धारणा इसके प्रतिकूल है। क्या 'प्रेम' कहने से प्रेम की अनुभूति प्राप्त हो सकेगी? इसका उत्तर निषेधात्मक ही दिया जा सकता है क्योंकि भाववाचक शब्दों से वस्तु का बिम्ब ग्रहण नहीं होता, अतः वे काव्य में त्याज्य माने गये हैं।

रसानुभूति की प्रक्रिया में इन्द्रियों, कल्पना और बुद्धि—तीनों का योग स्वीकार करना तथा कवि के साथ पाठक के तादात्म्य को मानना—बर्क की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं किन्तु करुण रस में आनन्दानुभूति का आधार एक मात्र अनुकृतिजन्य अनुभूति को मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

अस्तु, हमारे विचार में बर्क का महत्त्व नयी दिशाओं की ओर अग्रसर होने व नूतन प्रयास करने की दृष्टि से ही अधिक है; स्थापनाओं की प्रामाणिकता की दृष्टि से कम। फिर भी पाश्चात्य रस-सिद्धान्त को गति देने में उनका न्यूनाधिक योग अवश्य है।

● हरमन लात्ज (Hermann Lotze)

जर्मन विद्वान हरमन लात्ज (१८१७—१८८१ ई०) ने भावावलम्बनवादी दृष्टि से कला की मीमांसा करते हुए स्पष्ट रूप में घोषणा की कि कला का वास्तविक

सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान करने वाले भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[9] प्रश्न है, वह भाव क्या है ? इसके उत्तर में उन्होंने बताया कि बाह्य वस्तुओं या घटनाओं के प्रभाव से हमारे मन में जो प्रतिक्रिया होती है उसी को सूचित करने वाले चिह्न भाव हैं। कला से आनन्दानुभूति का आधार यह भाव तत्त्व ही है। संक्षेप में, लात्ज महोदय के अनुसार कला का सर्व प्रमुख तत्त्व भाव है जिसे भारतीय शब्दावली से 'रस' भी कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने कला में भाव के रसात्मक या आनन्द दायक रूप पर ही विशेष बल दिया है।

रसानुभूति की प्रक्रिया––कलानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसकी तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं––(१) इन्द्रिय-बोधानुकूलता (२) प्रसन्नतादायक बौद्धिक उत्कर्ष और (३) सौन्दर्यानुभूति। सर्वप्रथम हम कला का बोध इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त करते हैं। जिससे हमारा मन उनकी ओर आकर्षित होता है। यदि हमारी इन्द्रियाँ ही उसके प्रति आकर्षित नहीं हुई तो उस स्थिति में हमारे मन में उसके प्रति विकर्षण उत्पन्न हो जायगा जिससे कलानुभूति की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायगी। इन्द्रिय बोधानुकूलता के अनन्तर द्वितीय स्थिति में हमारी बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदनाओं को हमारे संस्कारों, स्मृतियों एवं अनुभूतियों से समन्वित करती हुई प्रसन्नतादायक प्रभाव उत्पन्न करती है। तीसरी अवस्था में हमारी आत्मा कला के समस्त सौन्दर्य का समन्वयात्मक रूप में आस्वादन करती हुई आनन्द प्राप्त करती है।

लात्ज महोदय ने यह भी स्पष्ट किया है कि रसानुभूति के उपर्युक्त तीनों स्तर यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, जो क्रमश: शारीरिक स्तर, आत्मिक स्तर एवं चेतना के स्तर की प्रसन्नतादायक अनुभूति को सूचित करते हैं। किन्तु समग्र रूप में तीनों एक ही सौन्दर्यात्मक भाव (Aesthetic Emotion) की अनुभूति के सूचक हैं।

रसानुभूति में संस्कारों एवं नैतिक आस्थाओं का योग—लात्ज महोदय ने कलानुभूति या रसानुभूति में कला की भावोत्पादिनी शक्ति के साथ-साथ सामाजिक की नैतिक आस्थाओं, उसके पूर्व संस्कारों, उसकी स्मृतियों और वैयक्तिक अनुभूतियों का भी पर्याप्त योग स्वीकार किया है। किसी भी कला का मूल्यांकन चाहे हम सोच समझ कर करें या अप्रत्यक्ष रूप में—हमारा आस्वादन एवं मूल्यांकन हमारी नैतिक आस्थाओं, संस्कारों, अनुभवों आदि से अप्रभावित नहीं रह सकता। इस प्रकार लात्ज महोदय रसानुभूति में कला-कृति के वैशिष्टय एवं सामाजिक की वैयक्तिकता —इन दोनों को ही उचित महत्त्व प्रदान करते हैं।

लात्ज के मत की समीक्षा—लात्ज महोदय का रस-विवेचन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। उन्होंने कलानुभूति का मूल आधार भावानुभूति को

---

9. A History of Esthetics : K. E. Gilbert and Kuhn; 1954 Page 508-512.

मानते हुये समग्र रूप में उसके प्रभाव को 'सौन्दर्यात्मक भाव' (Aesthetic Emotion) की संज्ञा दी है, जिसे भारतीय शब्दावली में 'रस' कहा जा सकता है ।

कलानुभूति या रसानुभूति की तीन स्थितियों ऐन्द्रियक, बौद्धिक एवं आत्मिक की कल्पना एक ओर आचार्य अभिनवगुप्त की धारणाओं तथा दूसरी ओर आधुनिक मनोविज्ञान के भी बहुत कुछ अनुकूल है ।

रसानुभूति में संस्कारों, स्मृतियों, अनुभवों व नैतिक आस्थाओं का योग स्वीकार करना भी सर्वथा समीचीन है । भारतीय आचार्यों ने ऐसी कलानुभूति को जो कि सामाजिक के संस्कारों एवं नैतिक आस्थाओं के प्रतिकूल पड़ती हो 'रसाभास' की संज्ञा देते हुये अप्रत्यक्ष में वही बात कही है जिसका प्रतिपादन यहाँ लात्ज महोदय ने किया है । अस्तु हमारे विचार में लात्ज महोदय की रसानुभूति सम्बन्धी धारणाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त के भी सर्वथा अनुकूल मानी जा सकती हैं ।

● **जार्ज सैंतायना** (George Santayana)

सुप्रसिद्ध अमरीकन विद्वान् जार्ज-सैंतायना की कला सम्बन्धी पुस्तक "दी सेन्स आफ ब्यूटी" (The sense of Beauty) सन् १८९६ ई० में प्रकाशित हुई थी, जिसमें उन्होंने कलागत सौन्दर्य की भावपरक व्याख्या प्रस्तुत की है । सौन्दर्य क्या है ? इसका उन्होंने जो उत्तर दिया, वह भारतीय रस-सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। उनके शब्दों में 'सौन्दर्य' एक भावात्मक तत्त्व है जिसका स्वरूप प्रसन्नतादायक है किन्तु उसे हम वस्तुओं का गुण समझते हैं । "[१०] यदि इसे और अधिक स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वस्तु का वह गुण है जो आनंददायक भाव उत्पन्न करता है । रस-सिद्धान्त की शब्दावली में सौन्दर्य आलम्बन का वह गुण है जो प्रमाता के मन में आनन्द उत्पन्न करता है । इस प्रकार सैंतायना महोदय ने सौन्दर्य को रस-निष्पत्ति का आधार मानते हुए उसकी भाव-परक व्याख्या प्रस्तुत की है ।

रसानुभूति के विभिन्न स्तर

सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के विभिन्न स्तरों की मीमांसा करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम ऐन्द्रियता का विवेचन किया है । कोई वस्तु सुन्दर है या नहीं—इसका निर्णय सर्वप्रथम हम ऐन्द्रियानुभूति के आधार पर ही करते हैं । इन्द्रियों को सुखद अनुभूति प्रदान करने वाला गुण ही प्रायः सौन्दर्य माना जाता है । किन्तु सृष्टि का समस्त सौन्दर्य केवल इन्द्रियों पर ही आधारित नहीं है । करुण रस की कविता श्रवणेन्द्रिय को मधुर प्रतीत न होती हुई भी हमारी भावनाओं को उद्दीप्त कर सकती है—अतः सौन्दर्य का दूसरा स्तर भाव-सौन्दर्य कहा जा सकता है । ऐन्द्रियक सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त एक तीसरा स्तर बौद्धिक सौन्दर्य का माना जा सकता है ।

---

10. The Sense of Beauty : George Santayana; Page 35

यद्यपि सैंतायना महोदय ने इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति के कई स्तर माने हैं तथा भाव-सौन्दर्य एवं बौद्धिक सौन्दर्य को ऐन्द्रिय सौन्दर्य से अधिक उच्च कोटि का बताया है फिर भी वे ऐन्द्रियक सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं करते। उनके विचार से कला के प्रभाव की अभिवृद्धि में ऐन्द्रियानुभूति का गहरा योग रहता है। ऐन्द्रियता के कारण सौन्दर्यानुभूति में सघनता और विशदता आती है।

रति भाव का विवेचन—कला सम्बन्धी भावों की विवेचना करते हुए सैंतायना महोदय ने सर्वाधिक महत्त्व रति भाव को प्रदान किया है। उनके शब्दों में—"यदि किसी भी विषय-वस्तु को निश्चित रूप से सुन्दर बनाना है तो उसके लिए रति भाव से बढ़कर और कोई अच्छा साधन प्राप्त नहीं होगा।"[११] शृंगार रस की महत्ता के सम्बन्ध में जिन शब्दों का प्रयोग भारतीय आचार्यों ने किया है, लगभग उन्हीं शब्दों में जार्ज सैंतायाना कहते हैं—"संसार को गंभीरतम भाव और सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य प्रदान करने के लिए इससे (रतिभाव) बढ़कर साधन और क्या हो सकता है! इसका प्रभाव अत्यन्त शान्तिपूर्ण और व्यापक होता है। रतिभाव से हृदय और कल्पना के स्रोत एकाएक खुलकर बह पड़ते हैं। उसका प्रभाव आत्मा की गहराई तक पहुँच जाता है और उसकी गुप्त निधियाँ बाहर फूट पड़ती हैं"।[१२]

रति भाव को सैंतायना ने अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया है। वे इसका प्रमुख लक्ष्य यौन-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति को मानते हैं, किन्तु यौन-सम्बन्धों के अभाव में इसे अन्य सम्बन्धों की ओर भी अभिमुख किया जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में भक्ति-भावना, विश्व-बन्धुत्व एवं मानव-प्रेम, पशुओं के प्रति करुणा, तथा प्रकृति-प्रेम आदि सब रति भाव के ही विभिन्न परिवर्तित रूप हैं। जब हम घर की रानी से वियुक्त हो जाते हैं तो प्रकृति रानी का साहचर्य ढूँढ़ते हैं—अतः कहना चाहिए कि प्रकृति हमारी दूसरी प्रेयसी है। प्रकृति-प्रेम का वास्तविक रहस्य इस रति-भाव में ही निहित है।

सामाजिक भाव—रति भाव की महत्ता सिद्ध करने के अनन्तर सैंतायना ने अन्य भावों की भी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्यतः वात्सल्य, देश-प्रेम सामाजिकता आदि कलाओं की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते, किन्तु काव्य के क्षेत्र में ये पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। आज का मनुष्य भले ही उन्नति के शिखर पर पहुँच गया हो, किन्तु उसकी मूलभूत प्रेरणाओं की स्रोत अब भी उसकी वे ही सामाजिक आवश्यकताएँ—मित्रता, धन, यश, शक्ति, प्रभाव, पारिवारिक जीवन आदि—हैं, जो सभ्यता के प्राचीन युग में रही होंगी। किन्तु ये बातें ऐसी हैं, जिनका मूर्त्तरूप कला में प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। इनकी प्राप्ति की इच्छा को कला में विचार, भाव, आकांक्षा आदि के

11-12. The Sense of Beauty : Santayana ; Page 47.

रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः इनके चित्रण में आँशिक रूप में ही सफलता मिलती है। हाँ, यदि कलाकार उनके चित्रण में सफलता प्राप्त करले तो अवश्य ही ये भाव सौन्दर्यात्मक बन सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सँतायना काव्य में सामाजिक भावों की उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाये थे। इसी से वे आगे चलकर अपनी पहली बात के ही विरुद्ध लिखते हैं—"अतः सामाजिक विषय अधिक सौन्दर्यात्मक नहीं है, क्योंकि उनकी निश्चित रूप से कल्पना नहीं की जा सकती।………वे बिखरे हुए से और शून्य से होते हैं तथा उनका रूप शाब्दिक ही होता है, स्थूल नहीं। वे इन्द्रिय-गोचर नहीं हो पाते। इसी से वे महान् भाव जो कि सामाजिक विषयों पर आधारित होते हैं अधिक शीघ्रता से सौन्दर्य के रूप में परिणत नहीं किये जा सकते।"

करुण-भाव का विश्लेषण—त्रासदी का विश्लेषण करते हुए सँतायना ने बताया है कि आशा, प्रेम, आकांक्षा आदि भावों के समन्वय से ही त्रासदी का निर्माण होता है। त्रासदी का प्रमुख आकर्षण ही यह भावों का चित्रण ही है। उसमें चित्रित भावों के कारण हमारी कल्पना-शक्ति जाग्रत होती है और उनके प्रति हमारी सहानुभूति उत्पन्न होती है जिससे हम स्वेच्छापूर्वक नायक के दुःख में भाग लेने लगते हैं और उनके दुःख की अनुभूति प्राप्त करते हैं।[१३]

करुण रस के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है—करुण से आनन्द की अनुभूति किस प्रकार होती है? इसका उत्तर देते हुए सँतायाना ने बौद्धिकता की चर्चा की है। मनुष्य की बौद्धिकता सदा सत्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहती है। सत्य भले ही कितना ही कटु क्यों न हो—उसे जानने की इच्छा हमारे मन में सदैव बनी रहती है। सत्य की प्यास के कारण ही हम दुःखद धटनाओं को देखना पसन्द करते हैं। ज्ञान या सत्य की उपलब्धि से हमें अमित संतोष प्राप्त होता है। चाहे हम किसी दुर्घटना का या जीवन के किसी कटु अनुभव का विवरण किसी व्यक्ति के मुँह से सुन रहे हों या काव्य में पढ़ रहे हों—हमारी ज्ञान की उत्सुकता ही हमें उसमें प्रवृत्त करती है। इस प्रकार जार्ज सँतायना के विचार से करुण-रस से आनन्द उपलब्धि का कारण हमारी जिज्ञासा की ही तुष्टि है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिज्ञासा का सम्बन्ध बौद्धिकता से है, किन्तु कलाओं के माध्यम के कारण बौद्धिक उपलब्धियाँ भी सौन्दर्यात्मक मूल्यों में परिणत हो जाती हैं।

उदात्तभाव या निर्वेद—त्रासदी से आनन्दभूति के कारणों में सँतायना ने उदात्त की भी चर्चा की है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने उदात्त भाव की करुण से पृथक स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है। प्रायः लोग समझते हैं कि बड़ी-बड़ी विपत्तियों का

13. The Sense of Beauty : page 172

सामना करते समय महापुरुष जिस आत्मशक्ति का परिचय देते हैं, वही उदात्त भाव है, किन्तु सैंतायना महोदय इस धारणा का खंडन करते हुए बताते हैं कि करुण और भयानक से उदात्त का अबिच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है। सही बात तो यह है कि भयानक को उदात्त में परिणत करने के लिए उसे इस भाँति नियन्त्रित या दमित करना होगा कि जिससे उसमें भयानकता न रहे। वस्तुतः उदात्त का सम्बन्ध भय से नहीं अपितु निर्वेद और मुक्तावस्था से है।[१४]

उदात्त का आलम्बन वस्तु-विशेष न होकर कर्म-विशेष होता है। कोई ऐसी शोकपूर्ण दुर्घटना या कोई ऐसा कार्य जो निर्वेद उत्पन्न कर सके, उदात्त का आलम्बन है। जहाँ अन्य प्रकार की कला प्रवृत्तिमूलक भावों को उपस्थित करती है वहाँ उदात्त से युक्त कला निवृति मूलक भावों को पोषित करती है। प्रवृतिमूलक कलाओं में हम बाह्य सौंदर्य और प्रेम की धाराओं के आस्वादन में तल्लीन हो जाते हैं—और सामान्यतः कलाओं का यही लक्ष्य माना जाता है। पर जीवन—तथा उसके अनुरूप कला में एक ऐसी परिस्थिति का भी प्रादुर्भाव होता है, जबकि हमें अपनी समस्त रागात्मक प्रवृतियों को कुंठित करना पड़ता है। उस परिस्थिति में हमें बाह्य जगत् के सौंदर्य से उदासीन हो जाना पड़ता है। संसार के प्रति राग का नहीं—विराग का ; मिलन का नहीं—पृथकता का अनुभव होने लगता है। वस्तुतः यही परिस्थिति है जबकि 'उदात्त' की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार उदात्त का स्थायीभाव— निर्वेद को मानते हुए सैंतायना ने इसका और अधिक स्पष्टीकरण किया है। यद्यपि सामान्यतः लौकिक सुखों से निराशा को ही निर्वेद का उत्पादक माना जाता है, किन्तु कुछ अन्य कारणों से भी इसकी उत्पत्ति हो सकती है। अनन्तता और तुच्छता का बोध भी निर्वेद का जनक हो सकता है। किसी वस्तु की अनन्तता का बोध यदि हमें अन्य वस्तुओं से विरक्त करता है तो उसकी तुच्छता का बोध स्वयं उसी से दूर ले जाता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उदात्त का स्थायी भाव घृणा है और उसका आलम्बन कुरूपता है। वस्तुतः निर्वेद और घृणा की अनुभूति में सूक्ष्म अन्तर है, जिसे ध्यान में रखकर ही दोनों को पृथक किया जा सकता है। निर्वेद एक चिन्तन-जन्य आनन्द है जो गंभीर होने पर हमें आलम्बन के आलम्बनत्व से सर्वथा पृथक करता है। सौंदर्य और उदात्त में यह अन्तर है कि जहाँ सौंदर्य हमें वस्तुओं की ओर आकर्षित करके उनमें तल्लीन करता है वहाँ उदात्त हमें उन वस्तुओं के अभाव में भी पूर्णता का बोध कराता है।[१५] वस्तुतः उदात्त एक ऐसी अनुभूति है जिसमें हमारी दृष्टि एकाएक विकसित हो जाती है, जीवन के सामान्य स्वार्थों से हम एकाएक छुटकारा पा जाते हैं, क्षणभर के लिए हमारा तादात्म्य एक लोकातीत चिरन्तन सत्ता से हो जाता है

---

14. The Sense of Beauty : Page 180.

और हम भौतिक पदार्थों के आकर्षण से मुक्त हो जाते हैं। यह अनुभूति हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करती है। इस प्रकार भौतिक बन्धनों एवं सांसारिक कष्टों से ऊपर उठकर प्राप्त की गई यह स्वतन्त्र जीवन की अनुभूति ही उदात्त की अनुभूति है।

उदात्त का सम्बन्ध इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं से नहीं; अपितु चिन्तन सम्बन्धी वस्तुओं से है। दूसरे शब्दों में उदात्त का सम्बन्ध ऐन्द्रियानुभूतियों से न होकर बौद्धिक चिन्तन से है। यही कारण है कि उसमें हम सांसारिक दुखों की अपेक्षा उन्हें जन्म देनेवाली कटु परिस्थितियों का अधिक भावन कर पाते हैं। उदात्त की स्थिति में हम लहरों से संघर्ष करते हुए नाविक की अपेक्षा स्वयं लहरों के प्रति ही अधिक सहानुभूतिशील हो उठते हैं। इसे शायद निर्दयता कहा जाय—किन्तु वह निर्दयता किसी अन्य के प्रति नहीं अपितु स्वयं अपने प्रति ही होती है। हम दूसरे के दुःखों का नहीं अपितु अपने दुःखों का स्वागत करने लगते हैं। अतः उदात्त दुःखों से मुक्ति की नहीं अपितु उनका सहर्ष आलिंगन करने की प्रेरणा प्रदान करता है। वस्तुतः इस अवस्था में दुःख दुःख नहीं रह जाते वे कुछ और बन जाते हैं।

उदात्त का काव्यगत उदाहरण देते हुए जार्ज सैंतायाना ने 'ओथेलो' के नायक की आत्म-ग्लानि पूर्ण उक्तियाँ उद्धृत की हैं। वह आत्म हत्या करने से पूर्व ये उक्तियाँ व्यक्त करता है। इनकी व्याख्या करते हुए सैंतायना ने बताया है कि इस स्थिति में व्यक्ति व्यक्ति न रहकर विश्वात्मा का रूप बन जाता है। वह अपनी ही भूलों की सार्वजनिक दृष्टि से भर्त्सना करने लगता है जिससे उसे आत्म-तोष की अनुभूति होती है। इस प्रकार सैंतायना ने उदात्त के संचारी भावों में आत्म-ग्लानि को भी स्थान दिया है।

हास्य एवं व्यंग्य—सैंतायाना महोदय ने उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त हास्य और व्यंग्य का भी पृथक रूप में विवेचन किया है। इन भावों का सम्बन्ध कामदी से है जिसमें सर्वत्र प्रसन्नता का ही वातावरण होता है जिसके सामान्यतः तीन रूप माने जाते हैं—(१) स्नायविक उत्तेजना, (२) भावों का उत्तेजन और (३) बुद्धि का उत्तेजना इस प्रकार का मनोरंजन उत्तेजक ही सिद्ध होता है।

हास्य एवं व्यंग्य सृष्टि के लिए आवश्यक परिस्थितियों की व्याख्या करते हुए सैंतायाना महोदय ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार त्रासदी में सहानुभूति अनुकूल तत्त्व है, ठीक वैसे ही वह हास्य-व्यंग्य में प्रतिकूल सिद्ध होता है। साथ ही हास्य के आलम्बन के प्रति किंचित् मैत्री भाव भी अपेक्षित है। साथ में यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि व्यंग्य अधिक तीखा हो गया तो वह हास्य के

---

15. The Sense of Beauty : Page 184.

स्थान पर शोक या करुणा का जनक हो जायगा। अतः सहानुभूति और शत्रुता दोनों का ही अभाव हास्य-व्यंग्य के लिए अपेक्षित है।

• समीक्षा

जार्ज सैंतायना के विचारों में भारतीय रस-सिद्धान्त से गहरा साम्य दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुतः उनकी सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा इसके ही विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालती है। जिस प्रकार रस-सिद्धान्ती कलाओं का लक्ष्य भावनाभूति के द्वारा आनन्दानुभूति प्रदान करना मानता है, ठीक वही बात सैंतायना कलागत सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहते हैं। सौन्दर्यानुभूति के जिन तीन स्तरों—ऐन्द्रियक, भावात्मक एवं बौद्धिक की चर्चा उन्होंने की है, वे भी अभिनव गुप्त के द्वारा विवेचित रसानुभूति के विभिन्न स्तरों के अनुकूल हैं। रस-सिद्धान्त के आचार्य यदि शृंगार रस को रसराज मानते हैं तो दूसरी ओर सैंतायना भी रति भाव को कला की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। सैंतायना का उदात्त-भाव रस-शास्त्र की शब्दावली में शान्त-रस का पर्यायवाची है। उन्होंने उदात्त भाव की निम्नांकित विशेषताएँ बताई हैं—(१) उसका आलम्बन कोई व्यक्ति-विशेष न होकर परिस्थिति या दुर्घटना के रूप में होता है। (२) वह निवृत्तिमूलक भाव है तथा उसका प्रमुख भाव निर्वेद है। (३) उसमें बाह्य जगत् के प्रति उदासीनता आ जाती है तथा व्यक्ति संसार के भौतिक आकर्षणों से ऊपर उठ जाता है। (४) उदात्त या निर्वेद चिन्तन जन्य आनन्द है। (५) उसके संचारियों में ग्लानि पश्चाताप आदि का समावेश होता है। निस्सन्देह ये सारी विशेषताएँ शान्त-रस के अनुकूल हैं जिन्हें देखते हुए दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची मान लिया जाय तो अनुचित न होगा।

करुण-रस के विवेचन में जिज्ञासा को ही रसानुभूति का मूल कारण माना गया है। किन्तु साथ ही उन्होंने सहानुभूति और नायक के साथ तादात्म्य की बात भी स्वीकार की है। सामाजिक भावों के विवेचन में वात्सल्य आदि के महत्त्व की उन्होंने उपेक्षा की है। पर रतिभाव को उन्होंने इतने व्यापक रूप में ग्रहण किया है कि स्नेह, वात्सल्य आदि का समावेश उसी में हो जाता है। उनका हास्य सम्बन्धी विवेचन भी रस-सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है।

जहाँ सैंतायना की अधिकांश मान्यताएँ रस-सिद्धान्त से मिलती-जुलती हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से उसे और अधिक स्पष्टता प्रदान करती हैं—जैसे कि शान्त रस के स्पष्टीकरण में सैंतायना का विवेचन सहायक सिद्ध होता है—वहाँ उनके मत में कुछ न्यूनताएँ भी हैं। एक तो वे वीभत्स, भयानक, वीर आदि रसों के स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सके। दूसरे, वे सभी रसों के लिए किसी सामान्य नियम की खोज नहीं कर सके—जैसा कि भारतीय विद्वानों ने विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का निर्धारण किया है—अतः वे एक रस की व्याख्या करते समय दूसरे रस का खंडन

कर देते हैं। उदाहरण के लिए वे करुण-रस में रसानुभूति का मूलाधार जिज्ञासा को घोषित करते हैं तो हास्य में सहानुभूति के अभाव को ही उसका मूल कारण मानते हैं। अस्तु, उनका विवेचन पूर्णतः स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त नहीं है, फिर भी भाव-सिद्धान्त के विकास की दिशा में उनका प्रयास प्रगति का सूचक है। वस्तुतः उदात्त भाव या शान्त रस सम्बन्धी विवेचन उनकी सर्वोत्तम उपलब्धि है, जो कि न केवल पाश्चात्य दृष्टि से अपितु भारतीय दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है।

● भावालम्बनवाद की उपलब्धियाँ

भावालम्बनवाद के प्रमुख चिन्तकों की धारणाओं का परिचय पीछे दिया जा चुका है। यहाँ उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का निर्देश संक्षिप्त एवं समन्वित रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

● कला की कसौटी उसका भावावेगपूर्ण चित्रण है। (लौंजाइनस)

● काव्य का सौन्दर्य उसकी भावात्मकता में निहित है। (सैंतायना)

● काव्य का मूलाधार तत्व उसमें चित्रित 'भावना' (Sentiment) है। (हचेसन)

● काव्य का आस्वादन भावानुभूति की शक्ति के द्वारा होता है। (हरमन लात्ज)

● काव्य में भावों का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार होना चाहिए कि पाठकों को ग्राह्य हो सकें। (लबस्सु)

● महाकाव्य में नायक की प्रकृति के अनुसार रौद्र, करुण या कोमल भावों को प्रमुखता दी जानी चाहिए। (लबस्सु)

● एक महाकाव्य एवं दूसरे महाकाव्य का प्रमुख अन्तर उनके द्वारा प्रस्तुत प्रमुख भाव की विशिष्टता का अन्तर है। (लबस्सु)

● काव्यानुभूति या रसानुभूति के आधारभूत तत्व ये हैं—

हक्सन—(१) स्वार्थ शून्यता (२) अन्तर्भावना।

बर्क—(१) जिज्ञासा (२) सहानुभूति। (३) रुचि

● करुण रस की अनुभूति आनन्दमयी होती है; इसके कारण ये हैं—

बर्क—अनुकृति जन्य आनन्द।

सैंतायना—सहानुभूति, सत्य की प्यास या बौद्धिक तुष्टि, समन्विति, आत्मा की मुक्ति।

● रसानुभूति की प्रक्रियाएँ ये हैं—

हरमन लात्ज—(१) इन्द्रिय बोधानुकूलता (२) बौद्धिक उत्कर्ष (३) चेतना द्वारा सौन्दर्यानुभूति।

बर्क—इन्द्रिय, कल्पना और बुद्धि का समन्वित व्यापार।

सैंतायना—एन्द्रिय बोध, भावानुभूति, बौद्धिक आनन्द।

- रसानुभूति के सहायक तत्व—

बर्क—(१) भावोद्दीपन के अनुकूल भाषा-शैली (२) सामाजिक की रुचि।

हरमन लात्ज—सामाजिक के संस्कार, स्मृतियाँ, अनुभव एवं उसकी नैतिक आस्थाएँ।

- काव्य के प्रमुख भाव या रस ये हैं—

लबस्सु—करुण, रौद्र, वीर, प्रेम।

सैंतायना—प्रेम, करुण, औदात्य (शान्त), हास्य

- रसानुभूति सम्बन्धी अन्य तथ्य—

लौंजाइन्स—काव्यानुभूति में कवि के साथ पाठक का तादात्म्य।

बर्क—कवि के साथ पाठक का तादात्म्य।

सैंतायना—चिरन्तन सत्ता से पाठक का तादात्म्य।

उपर्युक्त निष्कर्षों को और भी संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि भावावलम्बनवादी विचारकों के अनुसार कला या काव्य के सौन्दर्य का मूल आधार उसकी भावात्मकता में निहित है, काव्य में चित्रित भाव की प्रमुखता के अनुसार ही पाठक काव्यानुभूति या रसानुभूति प्राप्त करता है तथा इस रसानुभूति में काव्यगत भावना, उसकी अभिव्यंजना-शैली के अतिरिक्त सामाजिक की रुचि, जिज्ञासा, सहानुभूति, स्वार्थशून्यता, उसके संस्कारों, स्मृतियों, अनुभवों, नैतिक आस्थाओं का भी न्यूनाधिक योग रहता है। रसानुभूति की मुख्यतः तीन प्रक्रियाएँ ये हैं—एन्द्रियबोध, भावानुभूति एवं आत्मिक आनन्द की अनुभूति। करुण रस में से भी आनन्दानुभूति होती है तथा काव्य के प्रमुख भाव प्रेम, करुणा, रौद्र, औदात्य आदि हैं। ये निष्कर्ष भारतीय रस-सिद्धान्त एवं आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापनाओं के भी बहुत निकट पड़ते हैं।

●

४ पाश्चात्य रस सिद्धान्त : भावाभिव्यक्तिवादी मत

भावाभिव्यक्तिवादी वर्ग के अन्तर्गत हम उन चिन्तकों को स्थान दे सकते हैं जिन्होंने कला एवं काव्य का लक्ष्य मूलतः भावों की अभिव्यक्ति माना है। इस वर्ग के प्रतिनिधि चिन्तकों के रूप में यहाँ आर० जी० कॉलिंगवुड एवं ई० एफ० कैरिट्ट के विचारों को क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

● आर० जी० कॉलिंगवुड

आर० जी० कालिंगवुड (R. G. Collingwood) की महत्त्वपूर्ण कृति "दी प्रिंसिप्लस ऑफ आर्ट" सन् १९३६ ई० में प्रकाशित हुई थी, जिसमें उन्होंने कला के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन करते हुए भाव-सिद्धान्त को नई गति प्रदान की। सामान्यतः कालिंगवुड को क्रोचे का अनुयायी बताया जाता है, किन्तु यह सत्य नहीं है। यह ठीक है कि कालिंगवुड ने क्रोचे के मत को विकसित करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, किन्तु उनका विचार-क्षेत्र क्रोचे के मत की अपेक्षा बहुत व्यापक है। उनमें क्रोचे की सी अस्पष्टता, तर्कशून्यता एवं अव्यावहारिकता के दर्शन नहीं होते। वस्तुतः उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त को अपनी चिन्तना के बल पर एक अत्यन्त स्पष्ट, व्यापक एवं नूतन रूप प्रदान किया है, अतः उन्हें क्रोचे का अनुयायी या व्याख्याता मात्र बताना उचित नहीं है।

कला और शिल्प में अन्तर—कालिंगवुड ने अपने कला सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय सर्व प्रथम कला और शिल्प का अन्तर स्पष्ट किया है।[1] उनके विचारानुसार एक तो शिल्प में किसी पूर्व नियोजित उद्देश्य एवं निश्चित

1. The Principles of Art ; Page 15-16

सामग्री को लेकर कार्य आरम्भ किया जाता है जबकि कला में ऐसा नहीं होता। कलाकार के सम्मुख रचना से पूर्व कोई निश्चित उद्देश्य एवं साधन नहीं रहते। दूसरे, शिल्प में उसका अंतिम रूप या उसकी अंतिम परिणति की कल्पना पहले से ही शिल्पकार के मन में विद्यमान रहती है जबकि कलाकार कला-सर्जन के अनन्तर ही उसके रूप से अवगत हो पाता है। तीसरे, शिल्पकार की एक कृति का दूसरा शिल्पकार ज्यों का त्यों अनुकरण या उपयोग कर सकता है जबकि कला में ऐसा नहीं हो पाता। चौथे, शिल्पकार जिस सामग्री का प्रयोग करता है वह अलग २ स्थानों या अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा प्रस्तुत होती है, जैसे मकान के निर्माण में ईंट कोई पकाता है, चूना कोई तैयार करता है, सीमेंट कोई बनाता है और लोहा कोई तैयार करता है ; इसके विपरीत कलाकार अपनी सारी सामग्री स्वयं ही तैयार करता है, वह इधर-उधर से सामग्री का संचयन नहीं करता। यदि उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम किसी कला की परीक्षा करें तो यह भली-भाँति ज्ञात हो हो जायगा कि वह शिल्प है या कला।

रीति सिद्धान्त का खंडन—कला एवं शिल्प के उपर्युक्त भेदक लक्षणों के आधार पर परीक्षा करने पर वे सारी कृतियाँ जो कि शास्त्रीय नियमों या अर्जित विधि-विधानों के आधार पर निर्मित होती हैं, 'कला' संज्ञा से वंचित हो जाती हैं।[2] कालिंगवुड ने रीति-सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित सभी कलाओं को 'शिल्प' घोषित करते हुए उनकी घोर भर्त्सना की है। उनकी मान्यता के अनुसार कला सर्जन के लिए शास्त्रीय लक्षणों का ज्ञान एवं विधि-विधानों का अभ्यास अनावश्यक है तथा जो रचना इनके आधार पर निर्मित होती है, वह वस्तुतः 'शिल्प' से अधिक कुछ नहीं है। पाठशालाओं में अभ्यास के द्वारा शिल्पकार ही गढ़े जा सकते हैं, कलाकारों की उत्पत्ति वहाँ संभव नहीं। अस्तु, रीति-शिक्षा कला के विकास में योग देने की अपेक्षा उसे विकृत अधिक करती है।

भाव-सिद्धान्त के प्रचलित रूपों का खंडन—रीति-सिद्धान्त के स्थान पर कालिंगवुड ने भाव-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है किन्तु उनका यह सिद्धांत परम्परागत भाव सिद्धान्त से बहुत भिन्न है। उन्होंने परम्परागत भाव सिद्धांत के तीन दूषित रूपों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि उसका पहला दूषित रूप वह है जिसके अनुसार कलाकार अपनी रचना को एक ऐसा भावोद्दीपक रूप प्रदान कर देता है जिससे सामाजिक का मनोरंजन मात्र होता है।[3] इस रूप में भावों का उद्दीपन किसी विशेष लक्ष्य से न होकर मात्र उद्दीपन के लिए होता है किन्तु उसका दूसरा रूप वह है जिसमें इस उद्दीपन का लक्ष्य किसी विशिष्ट बौद्धिक प्रवृत्ति को उकसाना

2. The Principles of Art : Page 26
३. वही ; पृष्ठ ३२

होता है । तीसरा दूषित रूप इससे भी आगे जाता है जो कि सामाजिक का भावात्मक एवं बौद्धिक उद्दीपन करके ही नहीं रह जाता अपितु उसे किसी कार्य-विशेष की ओर भी प्रेरित एवं प्रवृत्त करता है । इन तीनों दूषित रूपों के परिणाम स्वरूप मिथ्या-कलाओं का प्रादुर्भाव होता है जिन्हें कालिंगवुड महोदय छह वर्गों में विभक्त करते हैं—(१) जहाँ भावोद्दीपन शुद्ध भावोद्दीप्ति के लक्ष्य से होता है, उसे 'मनोरंजन' की संज्ञा दी जा सकती है । (२) जहाँ कला से व्यवहारोपयोगी भावों का उद्दीपन करना लक्ष्य होता है, वहाँ कलात्मकता के स्थान पर 'जादू' (Magic) का अस्तित्व होता है । (३) जो कलाएँ बौद्धिक व्यायाम का साधन प्रस्तुत करती हैं, उन्हें 'पहेली-बुझौवल' कहना चाहिए । (४) ज्ञान-वृद्धि के निमित्त रचित भावोद्दीपक कलाओं को 'उपदेश' की संज्ञा देना ठीक होगा । (५) कार्य-विशेष की प्रेरणा देने वाली कलाएँ 'प्रचार' कही जा सकती हैं । (६) इसी प्रकार पवित्र आचरण की शिक्षा देने वाली कलाएँ भी शुद्ध कला न होकर 'संस्कार' मात्र होती हैं। अस्तु, उनके मतानुसार मनोरंजन, जादू, पहेली, उपदेश, प्रचार संस्कार आदि लक्ष्यों के निमित्त रचित रचनाएं भावोद्दीपक होती हुई भी शुद्ध कला के अन्तर्गत नहीं आतीं ।

मिथ्या कलाओं की मीमांसा—उपर्युक्त मिथ्या-कलाओं की मीमांसा करने पर उनमें सर्व प्रथम तो यह दोष अवगत होता है कि वे प्रकृति की प्रतिकृति मात्र होती हैं । प्रतिकृति का तात्पर्य स्थूल रूप में मूल वस्तु का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना मात्र ही नहीं है अपितु मूल वस्तु से उत्पन्न होने वाले भाव का आभास उत्पन्न करना भी है । उदाहरण के लिए भावों की प्रतिकृति प्रस्तुत करने के लिए ऐसी परिस्थितियों की आयोजना की जाती है जिससे वांछित भाव उत्पन्न हो सकें । इस प्रतिकृति के भी तीन स्तर हैं—(१) बिल्कुल यथा-तथ्य चित्रण (२) किसी विशिष्ट भाव की उत्तेजना के अनुकूल चुने हुए दृश्यों का चित्रण और (३) स्थूल प्रतिकृति का सर्वथा प्रभाव, किन्तु फिर भी उत्पत्ति ; जैसे—संगीत में युद्ध का कोई दृश्य न होते हुए भी ऐसी लय का संचार किया जाता है जिससे युद्ध के वातावरण की सी अनुभूति होती है । इस प्रकार यथा-तथ्य चित्रण, चुने हुए दृश्यों का चित्रण या अनुरूप-प्रभाव की उत्पत्ति—ये तीनों प्रकार की ही प्रतिकृतियाँ सच्ची कला के प्रतिकूल हैं ।

मिथ्या कला के पूर्वोक्त रूपों में से प्रथम को छोड़कर शेष सब में दूसरा दोष यह है कि वे किसी पूर्व नियोजित उद्देश्य को सामने रखकर चलती हैं किसी का उद्देश्य इच्छित विचारों का प्रचार करना होता है तो किसी का किसी निश्चित कर्म या आचरण की प्रेरणा देना । जैसा कि प्रारम्भ में बताया गया था, उद्देश्य की पूर्व नियोजना शिल्प की विशेषता है न कि कला की—अतः यह विशेषता भी इन्हें शिल्प-कोटि में रखने योग्य प्रमाणित करती है । तीसरा दोष, यह

है कि वे कलाएं जो कुछ करने की प्रेरणा देती हैं, एक प्रकार से पाठक के भावों को उत्तेजित करके ही रह जाती हैं जबकि सच्ची कला में भावों की उत्तेजना के अनन्तर उनका शमन भी होता है। जिस कला को पीछे 'जादू' की संज्ञा दी गई है वह कला की अपेक्षा विज्ञान अधिक है, यह दूसरी बात यह है कि विज्ञान जिस कार्य को सच्चे ज्ञान से करना चाहता है उसी को जादूगर अज्ञान के द्वारा संपादित करता है। अतः कालिंगवुड के विचार से भावोद्दीपन पर आधारित उपर्युक्त कलाएँ जादू, उपदेश प्रचार, संस्कार आदि की श्रेणी में ही रखी जा सकती हैं, सच्ची कला की श्रेणी में उन्हें स्थान देना उचित नहीं।

कला और मनोरंजन—मिथ्या कलाओं पर आरोपित यह आक्षेप कि वे किसी निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर चलती हैं, उन कलाओं पर आरोपित नहीं होता जो मनोरंजन के लिए रची जाती हैं, क्योंकि उनमें भावों का उत्तेजन भावोत्तेजन के लिए ही होता है, कोई अपर उद्देश्य वहाँ नहीं होता। क्या ऐसी स्थिति में उन्हें भी 'मिथ्या-कला' की श्रेणी में रखा जायगा? इसका उत्तर स्वीकारात्मक ही देना होगा क्योंकि कालिंगवुड की मान्यता के अनुसार मनोरंजन और आनन्द में गहरा अन्तर है।[४] जहाँ सच्ची कला आनन्द प्रदान करती है वहाँ इस प्रकार की कला मनोरंजन मात्र प्रस्तुत करती है। आनन्द नई शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता है जबकि इसके विपरीत मनोरंजन हमारी शक्ति का ह्रास करता है। कोरे मनोरंजन से हमारे जीवन में आलस्य, थकावट, कार्य के प्रति अरुचि, दैनिक समस्याओं के प्रति उदासीनता का संचार होता है जो कि जीवन के लिए घातक है। सच्ची कला से प्राप्त आनन्द में ऐसा नहीं होता।

विशुद्ध मनोरंजन को लेकर चलने वाली कलाओं से केवल भावनाओं को ही उद्वेलित या उद्दीप्त किया जाता है ; उसमें ऐसे कौशल का प्रयोग किया जाता है कि जिससे सामाजिक उत्तेजित हो जाय। इस प्रकार की कला में ऐसे ही भावों को लक्ष्य बनाया जाता है जो सहज ही स्फुरित हो सकें।[५] इस प्रकार के भाव—कामुकता, भय, ईर्ष्या-द्वेष आदि ही हैं। यही कारण है कि सस्ती एवं हलकी मनोरंजक कलाओं में इन्हीं भावों को भड़काने का प्रयत्न किया जाता है। सस्ते मनोरंजन की चाह की पूर्ति के लिए हमारे उपन्यासों, नाटकों और फिल्मों में एक ओर अश्लीलता, नग्नता एवं यौन-व्यापारों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन होता है तो दूसरी ओर भय के भाव को उत्तेजित करने के लिऐ भूतों और डाकुओं की कहानियाँ लिखी जा रही हैं। चोरी, डाका, मार-काट आदि का चित्रण भी भय, साहस, ईर्ष्या द्वेष सम्बन्धी भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए किया जाता है। आधुनिक

४. दी प्रिन्सिपल्स आफ् आर्ट ; पृष्ठ ९६
५. वही पृष्ठ ७९

सभ्यता-पर इस सस्ते मनोरंजन का रंग कितना गहरा चढ़ गया है और उसके परिणाम-स्वरूप हमारी संस्कृति कितनी विकृत हो गई है, इस पर दृष्टिपात करते हुए कालिंगवुड ने आज के समाज को चेतावनी दी है कि यदि वह अपने भावी विनाश से बचना चाहता है तो इस मनोरंजन के खूनी भूत से अपना पिंड छुड़ा ले।[६] संसार के इतिहास में हम देखते हैं कि जब भी कोई जाति इस सस्ते मनोरंजन के फेर में पड़ी है तो उसका पतन हो गया है। यूनान और रोम की सभ्यताओं का पतन उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है।

सच्ची कला और भावाभिव्यक्ति—सच्ची कला के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कालिंगवुड ने बताया है कि उसका लक्ष्य भावों की उद्दीप्ति नहीं अपितु भावों की अभिव्यक्ति होता है।[७] जब कलाकार किसी भाव को व्यक्त करना चाहता है तो वह उस स्थिति में यह नहीं बता सकता कि वह कौनसे भाव को व्यक्त करेगा। वह केवल यही कह पाता है—"मुझे कुछ हो रहा है—पता नहीं क्या !"

अपनी इस भावाकुल स्थिति में वह जो कुछ करता है वही उसकी अभिव्यक्ति है—निश्चित ही वह अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है उसके अनन्तर उसका मन हलका हो जाता है। कलाकार की यह भावाव्यक्ति सामाजिक में भी किसी भाव को जगा सकती है, किन्तु कलाकार का यह उद्देश्य नहीं होता अन्यथा उसे सामाजिक की चिन्ता करनी पड़ेगी, उसे ऐसी शिल्प-विधि ढूँढनी पड़ेगी जो सामाजिक के लिए अनुकूल रहे। उस स्थिति में कलाकार अपनी अभिव्यक्ति के साथ न्याय नहीं कर पायेगा। अतः यही कहना ठीक है कि कलाकार सामाजिक की ओर से निश्चिन्त रह कर ही भावाव्यक्ति करता है।[८] अभिव्यक्ति एक ऐसी क्रिया है जिसकी कोई शिल्प-विधि नहीं होती।[९] अतः सच्ची कला का न तो कोई विशिष्ट उद्देश्य होता है और न ही उसकी कोई खास शिल्प-विधि।[९]

---

६. वही पृष्ठ ८५

7. 'Since the artist proper has some-thing to do with emotion, and what he does with it is not to arouse it, what is it that he does ? Nothing could be more entirely common place than to say he expresses them.'

—The Principles of Art ; Collingwood ; Page 109

8. "It follows from this that the expression of emotion, simply as expression is not addressed to any particular audience. It is addressed primarily to the speaker himself."

—Same ; Page 111

9. ...'The act of expressing it is therefore an exploration of his own emotions... expression is an activity of which there can be no technique.'

—Same Page 111

भावाभिव्यक्ति और भाव वर्णन में अन्तर—यह तो निश्चित है कि सच्ची कला का सम्बन्ध भी मिथ्या कला की भाँति भावों से होता है किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ एक में **भावों की अभिव्यक्ति** होती है वहाँ दूसरी में **भावों का वर्णन** मात्र होता है। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कालिंगवुड ने एक उदाहरण दिया है—जब एक व्यक्ति कहता है कि "मैं गुस्से में हूँ" तो अवश्य ही वह भाव की अभिव्यक्ति नहीं, उसका वर्णन कर रहा है। गुस्से की व्यंजना करने वाला व्यक्ति इसके स्थान पर कहेगा—"मैं उसे मार डालूँगा,....." आदि।

बौद्धिक भाव—यह नहीं समझना चाहिए कि कलागत सारे भाव केवल हृदय सम्बन्धी ही होते हैं। बुद्धि से सम्बन्धित भी बहुत से भाव हैं जिनकी व्यंजना कला में सफलतापूर्वक की जा सकती है।[१०] बौद्धिक भावों की सत्ता का प्रमाण देते हुए कालिंगवुड ने एक वैज्ञानिक का उदाहरण दिया है जिसने कि स्नान करते समय एकाएक एक नया सिद्धान्त ढूँढ़ लिया था तथा जिसके आनन्द में विह्वल होकर यह नग्नावस्था में ही, "मैंने खोज लिया ! मैंने खोज लिया !!" कहता हुआ बाहर निकल भागा। दूसरे, जिस प्रकार भावों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही हमार चिन्तन-प्रक्रिया की भी अभिव्यक्ति होती है जिसमें बौद्धिक भाव मिश्रित होते हैं। बौद्धिक भावों की अभिव्यक्ति के समय हमारी भाषा में प्रतीकात्मकता आ जाती है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी न भूलना चाहिए कि कला के कारण जिन भावों की उद्दीप्ति होती है उनमें बौद्धिकता का भी योग रहता है। सच्ची कला में भावों की अभिव्यक्ति केवल आलम्बन को प्रस्तुत करके ही नहीं की जाती, वहाँ आलम्बन को विशेष परिस्थितियों (उद्दीपन) में प्रस्तुत किया जाता है जिनके अभाव में भाव की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। इस परिस्थिति का बोध बुद्धि की सहायता से ही होता है।

हमारी अनुभूतियाँ विचारों से सर्वथा मुक्त नहीं रहतीं। अतः विचारवान् कलाकार की अनुभूति में भी कुछ विचार मिश्रित रहते हैं, जो उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम से पाठक के हृदय तक संक्रमित हो जाते हैं। दाँते, शैले, इलियट आदि की कविताओं को प्रमाण-स्वरूप देखा जा सकता है। कालिंगवुड के विचार से यह बौद्धिकता काव्य से लिए महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसके अभाव में काव्य खोखला रहता है। इसीलिए वे एक ओर वैज्ञानिकों ओर इतिहासकारों को परामर्श देते हैं कि वे साहित्यकारों के शिष्य वन कर लेखनी चलाना सीखें तो दूसरी ओर वे कलाकारों से भी अनुरोध करते हैं कि वे विज्ञान की पाठशालाओं में जाकर विषय-वस्तु का विकास करना सीखें अन्यथा वे कोरी शैली के चमत्कार में ही उलझे रहेंगे।[११] जिस

---

१०. दी प्रिन्सिपल्स आफ आर्ट ; पृष्ठ २६८
११. वही पृष्ठ २९९

प्रकार शैली के अभाव में विषय अपरिष्कृत रहता है, वैसे ही विषय के अभाव में शैली खोखली रहती है, अतः विषय और शैली के समन्वय में ही सच्ची कला का अधिवास है।

प्रत्यक्षानुभूति और रसानुभूति—लौकिक जीवन की सामान्य भावानुभूति में एवं कलाजन्य भावानुभूति (सौदर्यानुभूति) में क्या अन्तर है—इसका उत्तर देते हुए कालिंगवुड महोदय ने बताया है कि जहाँ प्रत्यक्षानुभूति वास्तविकता पर आधारित होती है जबकि काव्यानुभूति कल्पना पर आश्रित होती है।[12] इसीलिये जहाँ प्रत्यक्षानुभूति ऐन्द्रियकता के स्तर पर होने के कारण अपरिष्कृत होती है वहाँ काव्यानुभूति में संवेदनाओं का संस्कार हो जाता है। इसके अतिरिक्त लौकिक भाव काव्य के माध्यम से अनुभूत होने पर उदात्त एवं सौन्दर्यात्मक बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि काव्यात्मक भावों को सामान्य भावों से पृथक करते हुए 'सौन्दर्यात्मक भाव' (Aesthetic emotion) के नाम से भी अभिहित किया जाय तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है।

प्रत्यक्षानुभूति एवं काव्यानुभूति में दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम में हमारी चेतना का संवेदनाओं पर नियन्त्रण नहीं रहता वहाँ दूसरी में ऐसा होता है। तीसरा अन्तर यह है कि काव्यानुभूति में न केवल भावों का उद्दीपन होता है अपितु उनकी अभिव्यक्ति भी होती है। जिस प्रकार काव्य-रचना के समय कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है, ठीक उसी प्रकार रंग-मंच पर अभिनय के समय अभिनेता और कला का आस्वादन करते समय पाठक या सामाजिक भी अपने-अपने भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी धारणा के आधार पर कालिंगवुड ने कवि, कलाकार, अभिनेता, पाठक या सामाजिक—इन सभी को काव्यास्वादन एवं भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया का समान रूप से भागीदार माना है; हाँ, कवि और पाठक में इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ कवि अपनी भावाभिव्यक्ति में स्वयं समर्थ है वहाँ पाठक ऐसा नहीं है।[13]

● कालिंगवुड के मत की समीक्षा

भारतीय रस सिद्धान्त की दृष्टि से कालिंगवुड की स्थापनाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनेक प्रकार की अतिवादिता के होते हुए भी

12. The Principles of Art ; Page 274
13. "Thus if art is the activity of expressing emotions, the reader is an artist as well as the writer……the poet's difference from his audience lies in the fact that, though both do exactly the same thing, namely express the particular emotion in these particular words, the poet is a man who can solve for himself the problem of expressing it, where as the audience can express it only when the poet has shown them how." —same : Page 119.

वे भारतीय धारणाओं के बहुत निकट हैं। यद्यपि उन्होंने प्रारम्भ में भाव-सिद्धान्त के दूषित रूपों का प्रतिपादन करते हुए भावोद्दीपनवाद, भावावलम्बनवाद एवं भाव-संप्रेषणवाद का भी खण्डन कर दिया है किन्तु अन्ततः उन्होंने भावाभिव्यक्तिवाद का समर्थन करते हुए भावों की अभिव्यक्ति को ही सच्ची कला माना है। इस दृष्टि से वे भारतीय आचार्यों में से भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद, व शंकुक के अनुमितिवाद के विरोधी तथा अभिनवगुप्त के सहयोगी सिद्ध होते हैं। अभिनवगुप्त ने भी भावों की अभिव्यक्ति को ही रसानिष्पत्ति का वास्तविक रूप स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्त से कालिगवुड की दूसरी समानता यह है कि दोनों ही काव्य में केवल राग-द्वेष पर आधारित लौकिक भावों की ही नहीं अपितु 'काव्यार्थों' (अभिनव गुप्त के शब्दों में) या बौद्धिक तत्त्वों (कालिंगवुड के अनुसार) की भी भावात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। तीसरे, दोनों ही कवि, कलाकार एवं सामाजिक में भावात्मक तादात्म्य की स्थिति स्वीकार करते हैं।

लौकिक भावों एवं काव्यात्मक भावों का अन्तर भी दोनों को ही मान्य है; कालिंगवुड ने उस अन्तर को बताते हुए कल्पना पर अधिक बल दिया है, जबकि अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण या निर्वैयक्तिकता को अधिक महत्त्व दिया। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त का मत अधिक स्पष्ट है किन्तु कालिंगवुड ने आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में भावाभिव्यक्ति वादक को प्रस्तुत करके उसे अधिक ग्राह्य बना दिया है।

अस्तु, उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त एवं कालिंगवुड की आधारभूत धारणाएँ लगभग समान हैं—यहाँ तक कि दोनों को ही 'भावाभिव्यक्तिवादी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा; किन्तु दोनों ने उनका विकास भिन्न-भिन्न दिशाओं में किया है—अतः हम उन्हें एक-दूसरे का अनुमोदक एवं पूरक कह दें तो अनुचित न होगा।

● ई० एफ० कैरिट्ट

बीसवीं शती के सौन्दर्य-शास्त्रीय विद्वानों में ई० एफ० कैरिट्ट का स्थान महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने सौंदर्य-शास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें 'एन इन्ट्रोडक्शन टू 'ईस्थेटिक्स' यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने न केवल भाव सिद्धान्त का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन एवं विश्लेषण किया है अपितु परिशिष्ट रूप में प्लेटो से लेकर आधुनिक युग तक के लगभग पचास प्रमुख कला-समीक्षकों की भी ऐसी उक्तियाँ उद्धृत की हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि सभी युगों के समीक्षक जाने या अनजाने कला और काव्य में भाव तत्त्व की प्रमुखता स्वीकार करते रहे हैं। इसलिए कैरिट्ट महोदय ने कविता में ही नहीं, साहित्य के अन्य अंगों में—जैसे, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि में— भी भावाभिव्यक्ति के सिद्धान्त को लागू करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

सौन्दर्य की भावपरक व्याख्या—कैरिट्ट मूलतः सौदर्य-शास्त्री रहे हैं, अतः उन्होंने सर्वप्रथम कला-सौंदर्य की भावपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादित किया है कि कलाओं का मूल्य सौन्दर्य उनकी भावाभिव्यक्ति की ही विशेषताओं में है तथा सौन्दर्यानुभूति किसी कृति के माध्यम से प्राप्त होने वाली भावाभिव्यक्ति की अनुभृति है ।[१] यह बात केवल काव्य पर ही नहीं, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि कलाओं पर भी लागू होती है । जब हम किसी संगीत की प्रशंसा करते हैं तो उस समय हम 'करुण रागिनी', 'आह्लादक गीत जैसे वाक्यांशों का प्रयोग करते हुए अप्रत्यक्ष में उक्त संगीत में निहित भावतत्त्व की ही सत्ता स्वीकार करते हैं । इतना ही नहीं स्वयं प्रकृति में भी हम जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं वह भी एक प्रकार से भावाभिव्यंक होता है। गुलाब की अधिखिली कली में हम यौवन के विकास, वसंत की रंगीनी में सहज उल्लास, गरजते हुए तूफान में भय के ही अट्टहास का अनुभव होता है जो उन्हें कला का आकर्षण प्रदान करता है । प्रश्न किया जा सकता है कि प्रकृति में इन भावों की अभिव्यक्ति कौन करता है ? अवश्य ही वहाँ प्राणी-विशेष के भाव नहीं होते, हम अपनी ही प्रकृति, अनुभुति एवं संस्कारों के कारण उनमें भावव्यंजकता का अनुभव करते हैं किन्तु शुष्क हृदय ऐसा नहीं कर पाते उन्हें प्रकृति भी सौन्दर्य-हीन प्रतीत होगी । अतः कैरिट्ट महोदय के विचार से जीवन-के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य की मूलाधार शक्ति भावाभिव्यंजकता ही है ।

भावाभिव्यक्ति सिद्धान्त कुछ आक्षेप—भावाभिव्यक्ति-सिद्धान्त पर आरोपित विभिन्न आक्षेपों का निराकरण करते हुए कैरिट्ट महोदय ने उन्हें मूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया है ।[२] प्रथम वर्ग में वे आक्षेप आते हैं जिनका आधार नैतिक होता है । इन आक्षेपों को आरोपित करने वाले विद्वानों की मान्यता है कि हमारे अनेक भाव कुत्सित एवं पाशविक होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति से कला में निष्कृष्टता आ जाती है । इसके उत्तर में कैरिट्ट महोदय ने कहा है कि यदि वे भाव कुत्सित एवं पाशविक होते हुए भी मानवीय संवेदनाओं से युक्त हैं तो उनका महत्त्व कम नहीं हो सकता। कुत्सित से कुत्सित भाव भी परिस्थिति-विशेष में इतना उचित हो सकता है कि उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति जागृत हो जाय । अतः अवश्य ही ऐसी स्थिति में वह भाव सौन्दर्यात्मक माना जायगा ; किन्तु यदि कलाकार ने ऐसे भाव का इस ढंग से चित्रण किया हो कि जहाँ वह अमानवीय एवं अनुचित प्रतीत होता है तो अवश्य ही पाठक का साधारणीकरण उससे नहीं हो सकेगा । अवश्य ही ऐसी परिस्थिति

---

1. 'The beauty we ascribe to sensible objects is really their expressiveness of some feeling—of fear, of confidence, of joy in life, of longing for death......"
   —An introduction to Aesthetics' Page 50 ; By E. F. caritt
2. An introduction to Aesthetics, Page 64.

में वह अग्राह्य होगा। केवल कुत्सित एवं घृणित भावों की ही बात नहीं है, यदि उत्कृष्ट एवं पवित्र भाव भी अमानवीय एवं अनुचित ढंग से प्रस्तुत किये जाएँ तो वे भी कला की दृष्टि से अस्वीकार्य सिद्ध होंगे। अतः कला-कृति में कोई भी भाव अपने आप में निकृष्ट नहीं है, उसका कलागत औचित्य एवं अनौचित्य ही उसकी उत्कृष्टता या निकृष्टता का आधार होता है।

भावाभिव्यक्ति-सिद्धान्त के विपक्ष में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि सभी भावों की अभिव्यक्ति सुन्दर नहीं होती। यह तर्क भी खोखला है। वस्तुतः यह बात वे ही लोग कहते हैं जो सामान्य ऐन्द्रियक अनुभूति या मानसिक उद्वेलन मात्र को ही 'भाव' मान लेते हैं ; जबकि कैरिट्ट महोदय ने भाव की स्पष्ट परिभाषा करते हुए बताया है कि 'उत्तेजना भाव मात्र नहीं है, अपितु आलम्बन विशेष के प्रति प्रेरित (उद्बुद्ध) भावना ही भाव है।'[3] उदाहरण के लिए, जब कोई हमें पिन चुभाता है तो पिन चुभने से जो पीड़ा होती है वह उत्तेजना मात्र है, जबकि पिन चुभाने वाले के प्रति जो रोष उत्पन्न होता है—वह भाव है। अतः हमें भाव सिद्धान्त की विवेचना करते समय उत्तेजनाओं और भावों के इस अन्तर को ध्यान में रखकर ही कोई निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहिए।

विरोधियों का तीसरा तर्क यह है कि भावों के अतिरिक्त अन्य क्रिया-कलापों या अवस्थाओं की अभिव्यक्ति भी सुन्दर हो सकती है ; अतः भावों पर ही इतना बल देने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि किसी भी अन्य क्रिया-कलाप के मूल में या तो किसी न किसी भाव की प्रेरणा परिलक्षित होगी अन्यथा उसमें कलात्मक सौंदर्य की प्रतिष्ठा संभव नहीं। कई बार जिन्हें हम बौद्धिक तत्त्व कहते हैं उनके मूल में भी जिज्ञासा, निर्वेद, उत्सुकता आदि की भावात्मक प्रवृतियाँ विद्यमान रहती हैं।

भावाभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण—भावाभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए कैरिट्ट महोदय ने बताया है कि सामान्यतः लोग भावों के वर्णन, भावों के चित्रण, भावों के उत्तेजन, आदि को भावाभिव्यक्ति से अभिन्न समझने की भूल कर बैठते हैं जबकि इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। उदाहरण के लिए 'आँसूओं' को हम दुःख का चिह्न तो कह सकते हैं किन्तु कोरे आँसुओं के उल्लेख से शोक की अभिव्यक्ति हो गई, ऐसा नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'काले कपड़े धारण करना' या 'झंडे को आधा झुका देना' शोक का प्रतीक समझा जाता है, किन्तु यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति से भिन्न तत्त्व है। इन प्रतीकों को देखकर, इन्हें जानने वाले बौद्धिक संकेत मात्र ग्रहण कर पाते हैं, अभिव्यक्ति जन्य अनुभूति उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती

---

3. 'Emotion is not sensation but sentiment directed to an object..'
—An Introduction to Aesthetics ; same, Page 66

इसी प्रकार भावोत्तेजना और भावाभिव्यक्ति में भी स्पष्ट अन्तर है। किसी व्यक्ति को अस्पताल में लेजाकर उसकी करुणा जाग्रत की जा सकती है या अश्लील चेष्टाओं से उसकी काम-वासना को उद्दीप्त किया जा सकता है। किन्तु क्या इन्हें भावाभिव्यक्ति का नाम दिया जा सकता है ?

अतः कैरिट्ट महोदय के विचार से कला का वास्तविक लक्ष्य विशुद्ध भावाव्यक्ति है—किसी इतर उद्देश्य से वांछित भावों का उत्तेजन सच्ची कला का गुण नहीं है। कुछ लोग अपने किसी राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक मत के प्रचार के लिए पाठकों की बुद्धि को उत्तेजित करने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोगों की भर्त्सना करते हुए कैरिट्ट ने लिखा है—यदि कला में प्रतीकों का प्रयोग सौन्दर्य की अल्पता का सूचक है तो अपनी धारणाओं और नीतियों का मिश्रण सौन्दर्य-भावना के साथ दुराचार है—पाप है।[4] कला के साथ इससे बढ़कर अन्याय कोई और नहीं कि उसे अपने प्रचार का साधन बनाया जाय।

भाव-सिद्धान्त और बौद्धिकता—भाव-सिद्धान्त की दृष्टि से कला में बौद्धिकता का क्या स्थान है—इस पर प्रकाश डालते हुए कैरिट्ट महोदय ने कहा है कि वैसे तो बौद्धिकता और भावात्मकता को सर्वथा एक दूसरी से पृथक नहीं किया जा सकता—अतः काव्य में विचारों की भी अभिव्यक्ति किसी न किसी मात्रा में होती ही है। इतना ही नहीं प्रत्येक साहित्य में अनेक दार्शनिक कवि हुए हैं, जिनकी कविता में विचारों की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप में मिलती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हम परस्पर विरोधी विचारों को प्रस्तुत करने वाली दो रचनाओं का भी आस्वादन समान रूप में कर पाते हैं; प्रश्न है—ऐसा क्यों ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि हमारे काव्यास्वादन के मूलाधार उनमें व्यक्त विचार-विशेष नहीं हैं—अन्यथा हम परस्पर विरोधी विचारों वाली रचनाओं का आस्वादन नहीं कर पाते—अपितु वे भाव हैं जो विचारों के साथ व्यक्त होते हैं। अतः कविता में अच्छे और बुरे—या किसी भी प्रकार के विचारों का समावेश हो सकता है बशर्ते कि वे कवि की अनुभूति से संवलित हों। फिर भी यदि कुछ लोग काव्य का अध्ययन केवल विचारों की उपलब्धि के लिए ही करते हैं, तो समझना चाहिए कि ऐसे लोगों का लक्ष्य सौन्दर्यानुभूति न होकर कुछ और होता है।[5]

संभवतः प्रचारवादी इस पर आक्षेप करेंगे कि कोरे भावों का चित्रण पलायनवाद है किन्तु कैरिट्ट के विचार से एक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए दूसरे क्षेत्र से पलायन करना ही पड़ता है। जो अपने घर से पलायन करने की क्षमता रखता है वही राष्ट्र की वेदी पर आत्मोत्सर्ग का आदर्श प्रस्तुत कर सकता है—अतः ऐसा पलायन भी कर्तव्य-परायणता का सूचक होगा।

---

4. An introduction to Aesthetics ; Page 59
5. Same Page 69

भावाभिव्यक्ति और कला का सर्जन-पक्ष—कलाकार का लक्ष्य भावाभिव्यक्ति होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह आर्थिक लिप्सा, राजनीतिक चेतना, यश-कामना आदि से सर्वथा शून्य होता है। ये सारी प्रेरणाएँ उसके पीछे हो सकती है किन्तु हमें देखना यह है कि काव्य-सर्जन के समय उसकी कलम अतीत के सुख दुःख, विषाद, घृणा आदि की अनुभूतियों से परिचालित हो रही है या नहीं? यदि उसकी रचना से लगता है कि सचमुच ऐसा है, तो अवश्य ही उसे अपने लक्ष्य में सफल माना जा सकता है।[6]

'भावाभिव्यक्ति' का यह भी तात्पर्य नहीं है कि कला-सर्जन के समय कलाकार भावों की प्रत्यक्ष अनुभूति से आन्दोलित होता है। ऐसी स्थिति में तो कला का सर्जन संभव ही नहीं है। वस्तुतः प्रत्यक्ष अनुभूति के शान्त हो जाने पर पुनः कल्पना के बल पर उस अनुभूति के साक्षात्कार के आधार पर ही सच्ची कला का सर्जन होता है। इस सम्बन्ध में कैरिट्ट महोदय ने वर्ड्सवर्थ की उस परिभाषा का समर्थन किया है जिसके अनुसार 'शान्तक्षणों में स्मृत भावनाओं से ,कविता का जन्म होता है।'

अस्तु, कला-सर्जन के लिए कवि में भावों की अनुभूति तो अपेक्षित ही है। साथ में दो गुण और भी चाहिए—एक तो उसकी कल्पना शक्ति पर्याप्त सशक्त होनी चाहिए जिससे कि वह अतीत एवं अप्रत्यक्ष की गहराईयों में उतर कर अपरोक्ष का साक्षात्कार कर सके। दूसरे, उसके पास अर्जित शिल्प-विधि होनी चाहिए। क्रोचे की भाँति कैरिट्टने अर्जित शिल्प-ज्ञान को उपेक्षणीय नहीं माना है। वस्तुतः कैरिट्ट की मान्यता के अनुसार कल्पना और शिल्प दोनों का ही महत्त्व है; उसके शब्दों में—'शिल्प या माध्यम के अभाव में महान् कल्पना-शील को भी चुप हो जाना पड़ता है तो दूसरी ओर प्रतिभा के अभाव में शिल्पी शुद्ध अनुकृतियाँ—या इससे भी बुरी—भावहीन मौलिक रचनाएँ—प्रस्तुत कर देगा'।[7] अतः दोनों का सामंजस्य अपेक्षित है।

कला का आस्वादन-पक्ष : इम्पैथी (समानुभूति)—जिस प्रकार कला के माध्यम से कलाकार अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करता है, वैसे ही सामाजिक कलाकार के भावों को ग्रहण करता हुआ अनुभूति को व्यक्त करता है। इस प्रकार कलाकार की अनुभूति कला के माध्यम से पाठक तक प्रेषित होती है। प्रेषण की इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिए जर्मनी के समानुभूति-संप्रदाय की भी चर्चा की गई है। इस संप्रदाय के अनुसंधान-कर्त्ताओं ने सिद्ध किया है कि इम्पैथी (empathy) या समानुभूति ही वह तत्त्व है जिसके कारण हम कलागत विषय के साथ तादात्म्य

6. Same Page 60
7. An introduction to Aesthetics, page 60.

स्थापित करते हैं। कला का आस्वादन करते समय कलागत पात्रों के भावों एवं क्रिया-कलापों में हम अपने ही भावों एवं क्रिया-कलापों का प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं जिससे हम अपनी पृथक सत्ता के अस्तित्व को भूल जाते हैं। किसी अन्य के क्रिया-कलापों के साथ हमारा तादात्म्य कैसे सम्भव है ? इस शंका का निराकरण करते हुए कहा गया है कि कई बार हम अपने अतीत के क्रिया-कलापों की अनुभूति वर्तमान में प्राप्त करने लगते हैं—अतीत कालीन दृश्यों के चिन्तन या स्मरण में इस तरह लीन हो जाते हैं कि प्रत्यक्ष वर्तमान को भूल जाते हैं। अतः यदि हम वर्तमान में रहते हुए भी अतीत से तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं तो पर-प्रत्यक्ष को स्व-प्रत्यक्ष करना भी कोई कठिन नहीं है।[8]

इम्पैथी या समानुभूति का एक दूसरा रूप और भी है, जिसे हम अपने भावों का आरोपण (projection) कह सकते हैं। दौड़ते हुए हरिण के क्रिया-कलापों पर हम अपने बचपन की चंचलता का आरोपण करके उनका आस्वादन कर सकते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य का आस्वादन करते समय हम प्रायः ऐसा ही करते हैं। इस प्रकार तादात्म्य और भावारोपण दोनों ही किसी सीमा तक सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं किन्तु इनसे समस्या का अन्तिम समाधान नहीं हो पाता। सुखानुभूतियों में तो ये दोनों बातें ठीक हैं किन्तु शोकानुभूतियों की मीमांसा में इनसे काम नहीं चलता। तादात्म्य एवं भावारोपण सिद्धान्त के अनुसार तो त्रासदी में भी शोक की ही अनुभूति होनी चाहिए जबकि वास्तव में उससे आनन्द की अनुभूति स्वीकार की जाती है। इस प्रश्न का उत्तर देते समय इम्पैथी संप्रदाय के प्रवर्त्तक लिप्पस महोदय भी बौखला गये हैं। कैरिट्ट महोदय ने त्रासदी को ध्यान में रखते हुए तादात्म्य की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति सिद्धान्त को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। अरस्तू, क्रोचे, फ्रायड आदि ने—विभिन्न विचार-धाराओं के अनुयायी होते हुए भी काव्य जन्य आनन्द का मूल भावाभिव्यक्ति को ही स्वीकार किया है—यह दूसरी बात है कि उनकी भावाभिव्यक्ति की व्याख्या में परस्पर अन्तर है। अरस्तू ने भावाभिव्यक्ति को विरेचन के तुल्य मानते हुए शोक, भय आदि की ही अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया था तो क्रोचे ने सहजानुभूति (intuition) की अभिव्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया। इसके विपरीत फ्रायड के अनुयायी केवल अवचेतन में दबी हुए कुंठित वासनाओं की अभिव्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। इन सब मतों के सार रूप में कहा जा सकता है कि कला के द्वारा हम अपनी मूल प्रकृति का साक्षात्कार करते हुए उसके अधिक निकट आते हैं। उसके माध्यम से हमारी वैयक्तिकता—जिसमें व्यक्ति की अनुभूतियाँ, उसकी शिक्षा, उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्कार आदि समन्वित होते हैं—की अभिव्यक्ति होती है।

---

8. An Introduction to Aesthetics'; page 79—80

भावाभिव्यक्ति की स्वतन्त्र रूप से विवेचना करते हुए कैरिट्ट ने 'सहानुभूति' की भी व्याख्या की है। 'सहानुभूति' शब्द का प्रचलन सामान्यतः दो अर्थों में होता है—एक अपने भावों को किसी अन्य पर आरोपित करना तथा दूसरे, किसी अन्य के भावों को स्वयं अनुभव करना। दूसरे के भावों को स्वयं अनुभव करने की प्रक्रिया कल्पना-शक्ति के सहयोग से ही सम्पन्न होती है; अतः इस दृष्टि से सहानुभूति का दूसरा रूप कल्पना का ही पर्याय सिद्ध होता है तथा यही रूप सौन्दर्यानुभूति का मूलाधार है। सहानुभूति के पूर्वोक्त पहले रूप को कैरिट्ट महोदय सौन्दर्यानुभूति के अनुकूल नहीं मानते जबकि उनके विचारानुसार सहानुभूति के दूसरे रूप (कल्पना) की आवश्यकता कलाकार और सामाजिक—दोनों को रहती है। वैसे तो सामान्यतः कोई भी व्यक्ति कल्पना-शक्ति से पूर्णतः वंचित नहीं होता किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में उसकी मात्रा समान नहीं होती। कलाकार के लिए कल्पना की अधिक मात्रा अपेक्षित है जिससे कि वह अतीत एवं परोक्ष का बिम्ब-ग्रहण करने में सफल हो सके। दूसरी ओर पाठक के लिए भी कल्पना आवश्यक है। अस्तु, कला के सर्जन एवं आस्वादन—दोनों में ही सहानुभूति एवं कल्पना का योग अपेक्षित है।

● कैरिट्ट के सिद्धान्तों की समीक्षा

कला में भावाभिव्यक्ति को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते हुए कैरिट्ट महोदय ने अप्रत्यक्ष में अभिनवगुप्त के भावाभिव्यक्ति सिद्धान्त को स्वतन्त्र एवं नूतन रूप में प्रस्तुत किया है। कला में अन्य तत्त्वों का भी अस्तित्व उन्होंने स्वीकार किया है किन्तु भावाभिव्यक्ति को उन्होंने कला का आधार सिद्ध किया है। उनका यह दृष्टिकोण भारतीय रस सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है।

कला के आस्वादन-पक्ष की मीमांसा करते हुए उन्होंने 'इम्पैथी' (समानुभूति) की प्रक्रिया को स्वीकार किया है, जिसे रस सिद्धान्त की शब्दावली में साधारणीकरण के द्वारा स्थापित होने वाले 'तादात्म्य' का पर्याय कहा जा सकता है। वस्तुतः कैरिट्ट ने साधारणीकरण के व्यापार को दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता के स्थान पर मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया है।

इस प्रकार कैरिट्ट की आधारभूत धारणाएँ भारतीय रस सिद्धान्त के अनुकूल हैं, साथ ही उन्होंने कुछ ऐसे विषयों की भी विवेचना की है जिनके आधार पर रससिद्धान्त को व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए काव्य में भावों के अतिरिक्त बौद्धिक तत्त्वों का क्या स्थान है, काव्य के शिल्पपक्ष का उसके भाव पक्ष से क्या सम्बन्ध है, काव्य की सर्जन-प्रक्रिया में रसानुभूति का क्या योग है—आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में परम्परागत रस सिद्धान्त मौन है। कैरिट्ट ने इन प्रश्नों का उत्तर देकर रस-प्रक्रिया के विभिन्न अंगों एवं पक्षों को स्पष्ट किया है, जिसके प्रकाश में भारतीय रस सिद्धान्त की भी अनेक ग्रन्थियों को सुलझाया जा सकता है।

निष्कर्ष—अन्त में हम कालिंगवुड एवं कैरिट्ट के आधार पर भावाभिव्यक्ति वाद की प्रमुख स्थापनाओं को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं—

(क) कला का मूलाधार भावाभिव्यक्ति है; जिस कृति में कृतिकार के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह कृति 'कला' न होकर 'शिल्प' या और कुछ होती है।

(ख) कला में भाव के अतिरिक्त बुद्धि तत्त्व (बौद्धिकता) के लिए भी स्थान है, पर उसमें बौद्धिक तत्त्व भी भावनाओं के अंग बन कर ही व्यक्त हो पाते हैं।

(ग) 'भावाभिव्यक्ति' 'भावोद्दीपन' एवं 'भावों के वर्णन' इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। वह रचना जो केवल भावों का वर्णन या उद्दीपन ही करती है—भावाभिव्यक्ति नहीं, वह भी सच्ची कला की कोटि में नहीं आती।

(घ) भावाभिव्यक्तिवाद शैली का बहिष्कार नहीं करता किन्तु उसमें सहजता अपेक्षित है।

(ङ) प्रत्यक्षानुभूति एवं कलानुभूति (रसानुभूति) में वास्तविकता और कल्पना का अन्तर है।

(च) कला के माध्यम से कलाकार एवं सामाजिक दोनों की ही भावाभिव्यक्ति होती है।

(छ) कला का चरम लक्ष्य भी भावाभिव्यक्तिजन्य आनन्द है, ; नीति, शिक्षा, प्रचार आदि नहीं।

(ज) रसानुभूति (कलानुभूति) की प्रक्रिया 'इम्पैथी' (समानुभूति), सहानुभूति एवं कल्पना शक्ति के द्वारा सम्पन्न होती है। यह 'इम्पैथी' भारतीय दृष्टि से साधारणीकरण एवं तादात्म्य स्थापित करने वाली शक्ति कही जा सकती है।

५

पाश्चात्य रस सिद्धान्त : भाव-प्रेषण वादी मत

पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र एवं कला मीमांसा के क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने कला व काव्य के लिए भावों के चित्रण या उनकी अभिव्यक्ति मात्र को पर्याप्त नहीं माना अपितु उनके लिए भावों का प्रेषण भी अनिवार्य सिद्ध किया। इन विद्वानों में टालसटाय रिचर्ड्स प्रमुख हैं। इनके तत्सम्बन्धी विचारों का परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

● टालस्टाय

सुप्रसिद्ध लेखक टालस्टाय (१८२८-१९१० ई०) ने अपनी कृति (कला क्या है?)[1] में अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए कला का मूल कार्य कलाकार द्वारा अनुभूत भावों को सामाजिक तक प्रेषित करना बताया है। उनके शब्दों में—'अपने अनुभूत भावों को उद्दीप्त करना और उन्हें किसी गति, पंक्ति, रंग ध्वनि या शब्दों के रूप-विशेष के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करना कि कलाकार की भावानुभूति अन्य लोगों तक प्रेषित हो जाय तथा वे भी उसी अनुभूति का अनुभव कर सकें—यही कला का कार्य है।"[2] इसीलिए कला की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि कला वह मानवीय क्रिया है जिसमें एक व्यक्ति सचेत रूप में विशिष्ट बाह्य

---

1. 'What is Art ?' (अँग्रेजी अनुवाद)
2. "To evoke in oneself a feeling one has once experienced and having evoked it in oneself then by means of movments, lines colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that others experience the same feeling—this is the activity of art." (what is Art ? page 123.)

संकेतों के माध्यम से अपनी उन अनुभूतियों को जिन्हें निजी जीवन में अनुभूत किया है, दूसरों तक संक्रमित करता है, जिससे दूसरे लोग भी उन्हीं अनुभूतियों का अनुभव कर पाते हैं।' अतः कला किसी रहस्यात्मक दैवी विचार की अभिव्यक्ति या कोई क्रीड़ा-विशेष नहीं है, न ही केवल मानवीय भावों की अभिव्यक्ति है और न ही केवल मनोरंजन की वस्तु है अपितु वह तो एक ऐसी वस्तु है जो दो भिन्न हृदयों को एक ही भावानुभूति के माध्यम से संयुक्त करती है।

अस्तु, संक्षेप में कहें तो टालस्टाय के अनुसार भावों का प्रेषण ही कला है।

भाव-प्रेषण की कोटियाँ—कला के माध्यम से होने वाले भाव-प्रेषण की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए। टालस्टाय ने उसकी तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं जिनसे किसी भी भावात्मक प्रेषण का मूल्यांकन किया जा सकता है। वे कोटियाँ इन तीनों गुणों पर आश्रित हैं—(१) वैयक्तिकता (२) स्पष्टता एवं (३) सत्यता। कला के द्वारा प्रेषित भाव कलाकार की वैयक्तिकता या विशिष्टता से जितना अधिक संयुक्त होगा उतना ही वह अधिक सामाजिक को प्रभावित कर सकेगा, साथ ही उसकी अभिव्यक्ति की स्पष्टता भी इस प्रभाव की अभिवृद्धि में योग देगी। अतः प्रथम दोनों गुण महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तीसरा गुण है—कलाकार की सत्यता। कलाकार द्वारा प्रेषित भाव जितनी अधिक गम्भीरता से कलाकार की अनुभूति पर आश्रित होगा या जितनी अधिक ईमानदारी से उसे व्यक्त किया जायगा उतनी ही अधिक गहराई से वह पाठक के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेगा। अतः अनुभूति की सत्यता या ईमानदारी को टालस्टाय ने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

तादात्म्य एवं मुक्ति—भाव-प्रेषण के प्रसंग में टालस्टाय ने कलाकार एवं पाठक के तादात्म्य एवं व्यक्तित्व की मुक्त दशा की चर्चा की है।[3] कला के द्वारा भावों की उत्तेजना या अभिव्यक्ति ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसके लिए भावों का प्रेषण भी अनिवार्य है—इस धारणा पर बल देते हुए उन्होंने भली-भाँति स्पष्ट किया है कि यदि पाठक या सामाजिक कलाकार की आत्मा से इतना अधिक संयुक्त हो जाता है कि दोनों में पूर्ण भावात्मक तादात्म्य स्थापित हो जाय तो उसी स्थिति में सच्ची कला का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।

कला से कलाकार एवं सामाजिकों का व्यक्तित्व पृथकता की भावना से भी मुक्त हो जाता है। पृथकता एवं वैयक्तिक भिन्नता से मुक्त होकर एक व्यक्ति का दूसरे

3. ''If a man is infected by the authors condition of soul. If he feels this emotion and this union with others than the object which has effected this is art.' (what is art)' page 227

व्यक्ति से तादात्म्य स्थापित कर लेना ही कला की आकर्षण-शक्ति का सबसे बड़ा कार्य है।[4]

इस भाव-तादात्म्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पाठक या सामाजिक कोई विशेष चेष्टा करे या अपने दृष्टिकोण व विचारों को बदले। अपितु सच्ची कला का तो गुण यही है कि बिना ऐसा किये ही दो भिन्न विचारधारा के व्यक्तियों में भी उससे भावात्मक तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

भावों की उत्कृष्टता एवं कला—कला के माध्यम से सभी प्रकार के भावों का संप्रेषण किया जा सकता है। अतः टालस्टाय महोदय ने सामान्यतः देश-प्रेम, आत्म-त्याग, समर्पण, भक्ति, प्रणय, आश्चर्य, साहस, आनन्द, हास्य-व्यंग्य, निर्वेद, प्रशंसा आदि सभी को कला के लिए उपयुक्त माना है फिर भी वे इस विचार को व्यक्त किये बिना नहीं रहते कि भाव जितने अधिक उच्चकोटि के होंगे, कला भी उतनी ही अधिक उच्च होगी। कला की विषय-वस्तु भावानाएँ हैं, तथा ये भावनाएँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष में कला के गुणों के विकास या ह्रास में योग देती हैं। इसीलिए वे कला में ऐसे भावों या भावनाओं को प्राथमिकता देते हैं जो कि मानव जाति को ऊपर उठाने या उसका कल्याण करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। उनके विचार से विश्व-बंधुत्व, भ्रातृत्व भाव एवं प्रेम का संदेश देने वाली कला अपेक्षाकृत अधिक उच्च कोटि की मानी जायगी। इस प्रकार के व्यापक एवं उदात्त भावों पर आधारित कला को ही 'सार्वभौमिक कला' की संज्ञा दी जा सकती है।

• टालस्टाय के मत की समीक्षा—

भारतीय दृष्टिकोण से टालस्टाय के उपर्युक्त विचारों की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि भाव-प्रेषण वादी सिद्धान्त रस-सिद्धान्त के बहुत-कुछ अनुकूल है। कला के द्वारा भावों का प्रेषण, कलाकार एवं पाठक का तादात्म्य, सामाजिकों से भावानुभूति की एकता, वैयक्तिकता से मुक्ति आदि से सम्बन्धित विभिन्न धारणाएँ भारतीय रस वादियों की धारणाओं के अनुरूप हैं। भट्टनायक के भोग वाद में वैयक्तिक अहं से मुक्ति एवं भावों के प्रेषण को स्वीकार किया गया है तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आत्मा की मुक्त दशा' को ही रस-दशा स्वीकार किया है। कला-

---

4. A real work of art destroys in the consciousness of the recipient the seperation between himself and the artist and not that alone, but also betweeen himself and all whose minds receive the work of art. In this feeling of our personality from its separation and isolation, in this uniting of it with others, lies the chief characteristic and the great attractive force of art 'What is Art ?' page 227

कार एवं पाठक में भावात्मक तादात्म्य की बात को वैसे तो सभी रसवादी स्वीकार करते हैं किन्तु डॉ० नगेन्द्र ने इसे स्पष्ट रूप में मान्यता दी है। साधारणीकरण के प्रसंग में उन्होंने विस्तार से स्पष्ट किया है कि किस प्रकार काव्य के माध्यम से कलाकार की अनुभूतियों का साधारणीकरण हो जाता है तथा कलाकार और सामाजिक के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है। अस्तु, टालस्टाय के मत को भारतीय रस-सिद्धान्त का ही एक रूप कहा जा सकता है।

अनेक दृष्टियों से टालस्टाय ने ऐसी भी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं जो भारतीय रस सिद्धान्त के लिए नूतन कहीं जा सकती हैं। कलाकार द्वारा व्यक्त भावनाएँ उसकी निजी अनुभूतियों पर आधारित हों तथा उन्हें पूर्ण ईमानदारी से व्यक्त किया जाय—इस बात पर भारतीय विचारकों ने बहुत कम बल दिया है। इसी प्रकार काव्यगत भावों का मूल्यांकन लोक-कल्याण की दृष्टि से भी प्रायः नहीं किया गया। आचार्य शुक्ल ने अवश्य आनन्द की साधनावस्था से सम्बन्धित लेख में मूल भाव या स्थायी भाव की व्यापकता को कला की उच्चता का आधार सिद्ध करते हुए टालस्टाय की तत्सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन किया है; पर जहाँ तक निष्कर्ष की बात है टालस्टाय और शुक्ल के निष्कर्षों में अधिक अन्तर नहीं है। जिस बात का अनुमोदन टालस्टाय ने शुद्ध नीति के आधार पर किया है उसी का आचार्य शुक्ल ने मनोविज्ञान के आधार पर किया है, अर्थात् दोनों ही अन्ततः यह स्वीकार करते हैं कि भाव का आधार जितना अधिक व्यापक होगा उतना ही वह कला को अधिक उच्चता प्रदान कर सकेगा।

अतः समग्र रूप में टालस्टाय की धारणाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुरूप ही हैं—इसमें कोई संदेह नहीं।

● आई० ए० रिचर्ड्स—

डा० आई० ए० रिचर्ड्स ने अपने ग्रन्थ 'प्रिन्सिपल्स आफ् लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' में काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित किया है कि काव्य का मूल उद्देश्य हमारी परस्पर विरोधी मनोवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति भावात्मक प्रेषण द्वारा होती है इस सम्बन्ध में रिचर्ड्स के दो सिद्धान्त—प्रेषणीयता का सिद्धान्त एवं रसास्वादन का सिद्धान्त—विशेषरूप से विचारणीय हैं।

प्रेषणीयता का सिद्धान्त—काव्य के माध्यम से कवि और पाठक के बीच भावात्मक तादात्म्य स्थापित होता है जिसे 'भाव-प्रेषण' या 'संप्रेषण' की भी संज्ञा दी जाती है। प्रश्न है—इस प्रेषणीयता से हमारा क्या तात्पर्य है? क्या एक व्यक्ति के मन की कोई वस्तु दूसरे व्यक्ति के हृदय में पहुँच जाती है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए रिचर्ड्स ने स्पष्ट किया है कि प्रेषणीयता कोई अद्भुत या रहस्यात्मक

व्यापार नहीं है अपितु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है। उनके शब्दों में—"All that occurs is that, under certain conditions, separate minds have closely similar experiences" अर्थात् 'प्रेषणीयता में जो कुछ होता है वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं।'

कला एवं काव्य के लिए रिचर्ड्स ने प्रेषणीयता को आवश्यक मानते हुए भी इस बात पर बल दिया कि कलाकार को इसके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि कलाकार अपनी रचना को प्रेषणीय बनाने के लिए अपनी ओर से कोई विशेष चेष्टा करेगा तो इससे उसमें कृत्रिमता और अस्वाभाविकता आ जायगी जो कि कलात्मकता के लिए घातक है। इसलिए 'कलाकार जितना अधिक सामान्य या स्वाभाविक रूप में कार्य करेगा, अपनी अनुभूतियों के ठीक प्रकार से प्रस्तुतीकरण में वह उतना ही अधिक सफल होगा तथा उतने ही अधिक तदनुकूल भाव पाठक के मन में उत्पन्न होंगे।' अस्तु, रिचर्ड्स के अनुसार भावानुभूतियों का सहज स्वाभाविक रूप में प्रस्तुतीकरण ही भाव-प्रेषण का मूल आधार है।

रसास्वादन की प्रक्रिया—काव्यास्वादन या रसास्वादन की प्रक्रिया का भी सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स महोदय ने उसे छह क्रियाओं में विभक्त किया है—(१) मुद्रित (लिखित) शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण। (२) नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से सम्बन्धित बिम्बों का ग्रहण (३) स्वतन्त्र बिम्बों का उदय (४) सम्बन्धित विभिन्न विषयों का बोध (५) भावानुभूति और (६) दृष्टिकोण का प्रभावित होना।

इनमें से प्रथम चार क्रियाओं का सम्बन्ध तो काव्य के अर्थ-बोध की सामान्य प्रक्रिया से है जिनका लक्ष्य पाठक को भावानुभूति प्रदान करना है। किन्तु भावानुभूति का भी महत्त्व अपने-आप में नहीं है अपितु उसका लक्ष्य पाठक के भावात्मक दृष्टिकोणों (Attitudes) को प्रभावित एवं उद्वेलित करना है। भावों और भावात्मक दृष्टिकोणों में रिचर्ड्स ने लगभग वही अन्तर माना है जो भारतीय रसवादियों ने संचारी भावों एवं स्थायी भाव में माना है। दृष्टिकोण स्थायी भाव की ही भाँति स्थायी मनोवृत्ति का सूचक है जबकि भाव अपेक्षाकृत संचारी एवं क्षणिक अनुभूति है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'स्थायीभाव' एवं 'दृष्टिकोण' में कोई अन्तर नहीं है। स्थायी भावों की मूलाधार हमारी सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) हैं जबकि दृष्टिकोण बौद्धिक प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं। अस्तु, इस सूक्ष्म अन्तर के होते हुए भी रिचर्ड्स की उपर्युक्त धारणाएँ भारतीय रस सिद्धान्त के अनुकूल हैं।

काव्य में भावानुभुति की प्रधानता—काव्य में तथ्यों एवं विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश है पर फिर भी उनका महत्त्व गौण ही है। कविता में

तथ्यों, विचारों एवं सिद्धान्तों का निरूपण अन्ततः भावानुभूति के लक्ष्य से ही होता है—इस धारणा पर बल देते हुए रिचर्ड्स महोदय ने लिखा है—"........the statement which appear in the poetry are there for the sake of their effect upon feelings, not for their own sake. Hence to challenge their truth or to question whether they deserve serious attention as statements, claiming their truth, is to mistake their function. The point is that many, if not most, of the statements in poetry are there as a means to the manipulation and expression of feelings and attitudes not as contribution to any body of doctrine of any type whatever" (Practical Criticism : Page 184) अर्थात् जब कविता में किसी प्रकार से विचारों की अभिव्यक्ति होती है तो वहाँ वे भावों के प्रभाव के लिए होते हैं न कि स्वयं अपने लिए। अतः उनकी सत्यता को चुनौती देना या उन्हें सत्य के प्रतिपादक मान कर उन पर गंभीरता से विचार करना उनके मूल लक्ष्य को ही गलत समझना है। मूल बिन्दु यह है कि यदि अधिकतम नहीं तो अधिकांश विचार काव्य में भावों और दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति के निमित होते हैं—किसी सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादक के रूप में नहीं—चाहे वह सिद्धान्त कैसा भी क्यों न हो।'

अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ० रिचर्ड्स काव्य में भावानुभूति की प्रमुखता स्वीकार करते हुए अप्रत्यक्ष में रसवादी धारणाओं का पोषण करते हैं। साथ ही उन्होंने भाव-प्रेषण की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत करके उसे स्पष्ट भी किया है।

● रिचर्ड्स के मत की समीक्षा

भारतीय रस-सिद्धान्त की तुलना में डॉ० रिचर्ड्स का भाव-प्रेषण सिद्धान्त अधिक स्पष्ट, व्यावहारिक एवं मनोविज्ञान-सम्मत है। उन्होंने आधुनिक संदर्भ में काव्य-पाठन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए अर्थ-बोध, बिम्ब ग्रहण, भावानुभूति की प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया है। अन्ततः उन्होंने भी भावानुभूति एवं भाव-प्रेषण को प्रमुखता देते हुए अप्रत्यक्ष में रस-सिद्धान्त की आधारभूत स्थापनाओं का अनुमोदन किया है, इतना अवश्य है कि उन्होंने विभाव, अनुभाव आदि अवयवों तथा साधारणीकरण एवं निर्वैयक्तिकता आदि की चर्चा स्पष्ट रूप में नहीं की, एक प्रकार से इनकी उपेक्षा करदी है, पर फिर भी उनकी स्थापनाएँ रससिद्धान्त के आधुनिकीकरण में बहुत सहायक सिद्ध हो सकती हैं। दूसरी ओर, भारतीय रस सिद्धान्त के आधार पर रिचर्ड्स की स्थापनाओं को भी और अधिक व्यापक रूप दिया जा सकता है, अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय रस सिद्धान्त एवं रिचर्ड्स के तत्सम्बन्धी विचार एक-दूसरे के पूरक हैं।

निष्कर्ष—अन्त में हम पाश्चात्य भाव-प्रेषणवादी विचार-धारा के दो प्रमुख विचारकों की महत्त्वपूर्ण धारणाओं को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं—

- कला एवं काव्य का मूल कार्य भावानुभूतियों का प्रेषण करना है।
- ये भावानुभूतियाँ कलाकार या कवि के निजी जीवन की अनुभूतियों पर आधारित होती हैं।
- 'भावात्मक प्रेषण' का अर्थ है—कवि एवं पाठक में एक जैसी अनुभूतियों का संचार।
- कला जन्य भावात्मक प्रेषण में कवि एवं सामाजिक में परस्पर तादात्म्य स्थापित हो जाता है।
- काव्यानुभूति या रसानुभूति में सामाजिक निर्वैयक्तिक रूप में अनुभूतियों का आस्वाद करता है।
- रसानुभूति के लिए अपेक्षित आवश्यक गुण—
  (क) टाल्सटाय—अनुभूति की वैयक्तिकता, सत्यता एवं अभिव्यक्ति की स्पष्टता।
  (ख) रिचर्ड्स—सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति।
- कला के माध्यम से प्रेषित भावों की व्यापकता पर ही कला की उच्चता निर्भर है।
- कला में विचारों एवं सिद्धान्तों का स्वतंत्र महत्त्व नहीं, उनका लक्ष्य अनुभूतियों एवं मनोवृत्तियों को उद्दीप्त एवं प्रभावित करना है।
- मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रसास्वादन की प्रक्रियाएँ ये हैं—(१) अर्थबोध (२) बिम्बग्रहण (३) भावों की उद्दीप्ति (४) भावात्मक दृष्टिकोणों का उद्वेलन। (५) कवि और पाठक में तादात्म्य स्थापित होना।

●

तृतीय खंड

रस-सिद्धान्त की सौन्दर्य-शास्त्रीय व्याख्या

१ सौन्दर्य-शास्त्र : सामान्य परिचय

'सौन्दर्य-शास्त्र' आंग्ल भाषा के ईस्थेटिक्स' (Aesthetics) के पर्यायवाची के रूप में प्रचलित है तथा स्वयं 'ईस्थेटिक्स' का भी मूलाधार एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है—'एन्द्रिय बोध सम्बन्धी या संवेदना सम्बन्धी'। इस दृष्टि से 'सौन्दर्य-शास्त्र' शब्द 'ईस्थेटिक्स' का शुद्ध पर्याय नहीं है क्योंकि संवेदनाओं का क्षेत्र सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र से बहुत अधिक व्यापक होता है तथा बहुत सी संवेदनाएँ सौन्दर्यानुभूति के सर्वथा प्रतिकूल भी होती हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि 'ईस्थेटिक्स' के पर्यायवाची के रूप में इस शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है तथा ऐसा करना कहाँ तक उचित है ?

यदि हम 'ईस्थेटिक्स' का इतिहास देखें तो पता चलेगा कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व इस नाम के किसी शास्त्र-विशेष का अस्तित्व कहीं भी नहीं था। इस नाम से एक नये एवं स्वतन्त्र शास्त्र की स्थापना करने का श्रेय जर्मन विद्वान् बामगार्टन (१७१४-१७६२ ई०) को है। उनसे पूर्व सौन्दर्य की विवेचना दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत ही होती थी, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में सत्य को सौन्दर्य से अधिक महत्त्व दिया जाता था। बामगार्टन से पूर्व प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता स्पाइनोजा ने ज्ञान के दो भेद करते हुए, एक को तर्क-सम्मत ज्ञान एवं दूसरे को ऐन्द्रिय ज्ञान कहा। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध सत्य से है जबकि दूसरे का सौंदर्य से। स्पाइनोजा तथा उसके अनुयायियों ने ज्ञान के इस दूसरे भेद—सौंदर्य को, 'अस्पष्ट', 'अनिश्चित; 'धुँधला आदि बताते हुए इसका तिरस्कार किया जो कि बामगार्टन जैसे सौंदर्योपासकों को सह्य नहीं था। अतः सौंदर्य को उचित महत्त्व प्रदान करने के लक्ष्य से ही एक स्वतन्त्र विषय की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। यह प्रस्ताव उस युग के सौंदर्य-चिन्तकों के लिए इतना अधिक मनोनुकूल था कि उन्होंने इस नाम के औचित्य

पर अधिक विचार किये बिना ही तुरन्त स्वीकार कर लिया—और इस प्रकार एक नये विषय की स्थापना हो गई।

बामगार्टन के मतानुसार ईस्थेटिक्स 'ऐन्द्रिय बोध का विज्ञान' है जिसमें संवेदनाओं का विश्लेषण होता है।[1] उसका सम्बन्ध 'अस्पष्ट ज्ञान' से है—'अस्पष्ट ज्ञान' वह ज्ञान है जो संवेदनाओं के रूप में प्राप्त होता है, जिसे शब्दों में ठीक-ठीक प्रस्तुत करना संभव नहीं।'[2] यद्यपि यह परिभाषा नामकरण के अनुरूप ही है किन्तु वास्तव में 'ईस्थेटिक्स' के अन्तर्गत सौंदर्य सम्बन्धी संवेदनाओं का ही विवेचन एवं विश्लेषण अधिक किया जाता है—शेष प्रकार की अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्रायः उसके क्षेत्र से बाहर रखा जाता है। इसी तथ्य को देखते हुए आगे चलकर हीगल ने स्पष्ट किया कि 'ईस्थेटिक्स केवल ललित कलाओं का दर्शन मात्र है। ललित कलाओं का भी सामान्य गुण सौंदर्य माना जाता है तथा इस शास्त्र की विवेचना करने वाले विद्वान् प्रायः सौंदर्य-मीमांसा को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते रहे हैं।'[3] इससे भी यह समझा जाने लगा कि इस शास्त्र का मुख्य विषय सौंदर्य ही है। ईस्थेटिक्स के इसी विकसित अर्थ को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध सौंदर्य-शास्त्री श्री बोसाँके महोदय ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया था—'ईस्थेटिक्स का तात्पर्य है सौंदर्य-दर्शन।[4] अस्तु, अब सामान्यतः बोसाँके के मत को ही मान्यता दी जाती है। उदाहरण के लिए हम यहाँ एक नवीनतम मत उद्धृत कर सकते हैं, जिसके अनुसार 'ईस्थेटिक्स ज्ञान की वह शाखा है जिसका मुख्य कार्य यह खोजना है कि सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या होता है। इसका सम्बन्ध सौंदर्य सम्बन्धी धारणाओं के तर्कबद्ध विवेचन, कलाओं के विशिष्ट तत्त्वों के विश्लेषण एवं सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त निर्णयों के लिए उपयुक्त सिद्धान्तों के निर्धारण से है।'[5] इससे स्पष्ट है कि 'ईस्थेटिक्स' शब्द का मूल अर्थ यद्यपि भिन्न है, किन्तु प्रचलित अर्थ में उसे 'सौंदर्य-शास्त्र' का ही पर्यायवाची मानना उचित है।

(२) **सौन्दर्य-शास्त्र का क्षेत्र**—'सौंदर्य-शास्त्र' नाम से यह धारणा उत्पन्न होती है कि इसके क्षेत्र में सभी प्रकार का सौंदर्य आता होगा किन्तु वस्तुतः ऐसा

---

1. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 183
2. Western Aesthetices : K. C. Pandey, Page 287
3. The same, Page 2.
4. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 3.
5. "Aesthetic is that branch of Knowledge whose function is to investigate what to be asserted when we write or talk correctly about beauty. It is concerned logically to elucidate the notion of beauty as the distinguishing feature of works of art and to propound the valid principles which underlie all aesthetic judgements."—"Harold osborne : Aesthetics & Criticism, Page 24.

नहीं है। निःसन्देह सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति और शिल्प के विभिन्न उपादानों में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु वह अपना सम्बन्ध केवल ललित कलाओं तक ही सीमित रखता है। सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हुए इसके पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। एक तो उनका कहना है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों और क्रिया-कलापों का अध्ययन करना सौंदर्य-शास्त्र का नहीं—भौतिक विज्ञान का कार्य है। दूसरे, सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि में केवल वे ही रूप आ सकते हैं जो मानव के द्वारा अनुभूत होकर लिपिबद्ध रूप में सुलभ हो गये हों। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति एवं बाह्य जगत् का अध्ययन सीधे रूप में और उनके प्रकृत रूप में न करके कलाओं के माध्यम से उनके संवेदित रूप का ही अध्ययन करता है। सौन्दर्य-शास्त्र के आधार-भूत ग्रन्थों को देखने से भी यह स्पष्ट है कि उनमें सौंदर्य के नाम पर विभिन्न कलाओं की ही—या कलागत सौन्दर्य की ही मीमांसा हुई। यदि उनमें प्रकृति के सौन्दर्य की कहीं चर्चा हुई भी है तो वह कलागत सौन्दर्य के प्रसंग में—उसी की मीमांसा के साधन-रूप में हुई है। अतः इस दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र—केवल कला-शास्त्र ही है, और कलाओं में भी केवल ललित कलाओं से ही उसका सम्बन्ध है। इतना ही नहीं ललित कलाओं के भी केवल एक ही पक्ष—सैद्धान्तिक या दार्शनिक पक्ष तक ही उसका सम्बन्ध माना जाता रहा है। कलाओं के व्यावहारिक पक्ष—उनकी रचना के विधि-विधानों एवं तत्सम्बन्धी अन्य विशिष्ट नियमों—से सौन्दर्य शास्त्र को सर्वथा असंपृक्त बताया जाता रहा है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बोसाँके महोदय ने लिखा था—सौन्दर्य-शास्त्र दर्शन की एक शाखा है, उसकी सत्ता ज्ञान के निमित्त है, उससे व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन की आशा नहीं रखनी चाहिए।' अस्तु सही अर्थ में सौन्दर्य-शास्त्र को, 'सौन्दर्य-शास्त्र' भी नहीं, 'कला शास्त्र' भी नहीं, अपितु 'कला-दर्शन' कहना चाहिए।

बीसवीं शती तक आते जाते 'सौन्दर्य-शास्त्र' के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। जब तक यह शास्त्र दार्शनिकों के आश्रय में था 'दर्शन' बना रहा किन्तु अब वैज्ञानिकों की कृपा-दृष्टि से पुनः इसका रूप-परिर्वन होने लग गया है। दार्शनिक लोग कलाओं के सामान्य तत्त्वों पर विचार करते थे, जबकि इस शती के विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न कलाओं के विभिन्न पक्षों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण करने में संलग्न हैं। समन्वयात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर अग्रसर होने के कारण पुनः उसका रूप शास्त्रीय एवं व्यावहारिक होता जा रहा है, अब वह केवल ज्ञान-पिपासा की शान्ति का ही साधन-मात्र नहीं, कलाओं की सृष्टि, व्याख्या, आलोचना एवं अनुभूति की प्रक्रियाओं का भी सहयोगी बन गया है। दूसरी ओर अब सौन्दर्य का अर्थ सौंदर्य न रहकर—'मूल्य' हो गया है, अतः नये दृष्टिकोण से इसे 'मूल्यों की मीमांसा करने वाला विज्ञान' भी समझा जाने लगा है। अस्तु, अब तक की प्रगति के आधार पर उसे 'सौंदर्य-दर्शन' 'सौंदर्य-शास्त्र' एवं 'सौंदर्य-विज्ञान'—तीनों की संज्ञा दी जा सकती है।

(३) **सौन्दर्य-शास्त्र का विकास-क्रम**—यद्यपि 'सौन्दर्य-विज्ञान' की स्थापना अठारहवीं शती में ही हुई है किन्तु इसके अन्तर्गत उन सब पूर्ववर्ती दार्शनिकों, साहित्याचार्यों एवं कला-मीमांसकों को भी स्थान दिया जाता है जिन्होंने किसी न किसी रूप में कलागत सौन्दर्य की समस्या पर विचार किया है। यही कारण है कि सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास यूनानी चिन्तन के आरम्भ से—सुकरात और प्लेटो के भी पूर्व युग से प्रारम्भ होता है। किसी नये विषय को भी परम्परागत चिन्तन से सम्बद्ध करके उसे किस प्रकार व्यापक बनाया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास है। सौन्दर्य-शास्त्र के लगभग पच्चीस सौ वर्षों के इतिहास में सहस्राधिक विद्वानों के विभिन्न मंतव्यों का विवेचन उपलब्ध होता है। इन सबका परिचय यहाँ दिया जाना संभव नहीं है, अतः हम यहाँ सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ प्रमुख वादों की ही संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

(४) **सौन्दर्य-शास्त्र के प्रमुखवाद**—सौन्दर्य-शास्त्र की मूल समस्या सौन्दर्य के स्वरूप की व्याख्या करना रही है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं जिन्हें हम मुख्यतः इन सात वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण (२) उपयोगिता वादी दृष्टिकोण (३) बुद्धिवादी दृष्टिकोण (४) भाववादी दृष्टिकोण (५) रूपवादी दृष्टिकोण (६) साहर्चयवादी दृष्टिकोण (७) मूल्य वादी दृष्टिकोण। यहाँ इनका क्रमश; परिचय दिया जाता है।[६]

● **अध्यात्मकवादी दृष्टिकोण**

सौन्दर्य की अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में से प्लेटो, प्लाटिनस, हीगल आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्लेटो ने विश्व के समस्त सौन्दर्य को मूलतः ईश्वर का रूप बताते हुए सौन्दर्यानुभूति को एक दिव्य अध्यात्म-साधना के समक्ष महत्त्व प्रदान किया। उनके विचार से विभिन्न शास्त्रों

---

६. यह परिचय मुख्यतः इन ग्रन्थों के आधार पर दिया जा रहा है—

1. A History of Aesthetics : Bosanquet.
2. A Hitsory of Esthetics : Gilbert & Kuhn.
3. Western Aeshetics : K. C. Pandey.
4. The Theory of Beauty : E. F. Carritt.
5. An Introduction to Aesthetics : E. F. Carritt
6. An Introduction to Aesthetics ; Hunter Mead.
7. The Quest for Beauty : J. L. Jarrett.
8. The Sense of Beauty : George Santayana.
9. The Principles of Art : R. G. Collingwood.

के गम्भीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य का बोध कर सकते हैं। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से उदित होती है फिर भी वह तर्क से शून्य होती है—सौन्दर्य तर्क-गम्य नहीं, अनुभूति गम्य है। अतः अन्य विषयों की तरह से सौन्दर्यानुभूति को हम शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर द्रष्टा का हृदय इस प्रकार ज्योतित हो उठता है कि उसे अखिल जगत का सौन्दर्य किसी एक ही सौन्दर्य-पुंज से संबंधित दिखाई देने लगता है और विभिन्न सुन्दर वस्तुओं का स्थूल भेद उसके लिए नगण्य हो जाता है।" इस प्रकार प्लेटो ने सौन्दर्य के नाम पर सूक्ष्म-सौन्दर्य की मीमांसा की है, जिसका सम्बन्ध केवल रहस्यवादियों से ही है। सौन्दर्य-शास्त्र का विषय अलौकिक सौन्दर्य नहीं—लौकिक सौन्दर्य है, जिससे प्लेटो के विवेचन का बहुत कम सम्बन्ध है।

आगे चलकर प्लॉटिनस (२०४-२६९ ई०) ने प्लेटो की ही विचार-धारा को आगे बढ़ाते हुए ईश्वर को ही सौन्दर्य का मूलाधार घोषित किया। भौतिक पदार्थों में हमारी आत्मा जिस सौन्दर्य का अन्वेषण करती है वह वस्तुतः उसके पूर्व संस्कारों का ही परिणाम है। लौकिक स्तर पर आकर हमारी आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—या यों कहिए कि उस महान सौन्दर्य-पुंज से वह दूर आ जाती है, फिर भी वह अपने उस पुरातन अनुभव को सर्वथा भूल नहीं पाती ; उस ज्योतित-स्वरूप के पुनः साक्षात्कार के लिये ही वह इस जीवन में भटकती रहती है। इस प्रकार ईश्वर के रूप की प्यास ही सौन्दर्य की प्यास है या सौन्दर्य की प्यास ही ईश्वर से मिलने की प्यास है। इस प्रकार प्लाटिनस सौन्दर्य का सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित करते हुए बहुत कुछ प्लेटो का ही अनुसरण करता है किन्तु वह कलाकृतियों की मीमांसा करते समय प्लेटो से भी एक कदम आगे बढ़ जाता है। प्लेटो ने जहाँ कलागत सौन्दर्य को हमारी वासनाओं को उभारने वाला मिथ्या सौंन्दर्य बताकर उसका तिरस्कार किया था, वहाँ प्लाटिनस ने कलागत सौन्दर्य को भी आध्यात्मिक सौन्दर्य से ही सम्बन्धित करने का प्रयास किया। कला में सौन्दर्य का आधार उसके स्थूल उपकरणों एवं भौतिक तत्त्वों में निहित नहीं है अपितु उस सूक्ष्म आत्मा में निहित है जिसे कलाकार प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में—मूर्त्ति या चित्र में कलाकार अपनी आत्मा को ढालता है और आत्मा का वही स्पर्श कला का सौन्दर्य है। मूर्त्ति को जो रूप कलाकार प्रदान करता है वही उसका सौन्दर्य है। दर्शकों या सामाजिकों के हृदय भी परस्पर आत्मिक एकता के सूत्र में गूँथे हुए हैं—अतः जब हम कला के रूप में कलाकार की आत्मा की छवि देखते हैं तो गद्-गद् हो उठते हैं। मृत व्यक्ति की अपेक्षा जीवित में अधिक सौन्दर्य होता है, उसका कारण भी यह आत्मिक सम्बन्ध ही है। अस्तु, प्लाटिनस सृष्टि और कलाओं के समस्त सौन्दर्य को इसी आत्मिक सम्बन्ध पर आधारित मानते हुए उसे परम-तत्त्व का ही रूप सिद्ध कर देता है।

आधुनिक युग में सौन्दर्य की पुनः अध्यात्मपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने वाले विचारकों में विल्हेन जोसेफ शिलिंग (१७७५-१८५४) एवं हीगल (१७७०-१८३१) का नाम उल्लेखनीय है। शिलिंग ने सृष्टि एवं कलाओं के सौन्दर्य को ईश्वर के रूप से अभिन्न बताया। उसके विचार से स्वयं सृष्टि भी ईश्वर की एक कला है। कलाओं में भी शाश्वत नियमों एवं चिरन्तन सत्य का ही चित्रण होता है तथा सत्य भी ईश्वर का एक रूप है ; इस प्रकार कलाओं का ईश्वर से गहरा सम्बन्ध है, इतना ही नहीं, ईश्वर ही कलाओं का प्रेरक एवं तात्कालिक कारण है।

जार्ज फ्रेडरिख विल्हेम हीगल (१७७०-१८३१) ने दर्शन की द्वन्द्वात्मक-पद्धति के आधार पर सौन्दर्य की मीमांसा की। उसके विचार से परम तत्त्व के बोध के तीन साधन हैं—कला, धर्म एवं दर्शन। कलाओं में हम ऐन्द्रियक माध्यम से ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करते हैं। उनके विचार से कला और सौन्दर्य में परस्पर अन्तर है—कला यदि ईश्वरानुभूति का माध्यम मात्र है जबकि सौन्दर्य स्वतः ही ईश्वर का रूप है। उसके शब्दों में "The sensuous object through which the absolute shines is beautiful. Beautiful object addresses itself to the senses as well as the mind" जिस ऐन्द्रियक वस्तु के माध्यम से परमतत्व प्रकाशित होता है वही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु स्वतः ही हमारी इन्द्रियों एवं मस्तिष्क को आकर्षित कर लेती है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे, हीगल सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा केवल कला में ही मानता है। उसके विचार से प्रकृति भी सौन्दर्य की ओर अग्रसर है, जबकि उसकी उपलब्धि कला में ही होती है। अतः कहना चाहिए कि हीगल के अनुसार कलागत सौन्दर्य में ही परमतत्व की सत्ता होती है।

● उपयोगितावादी दृष्टिकोण

प्राचीन एवं आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने सौन्दर्य की समाजपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए उसे नैतिकता एवं उपयोगिता से सम्बद्ध करने का प्रयास किया। यूनानी दार्शनिक सुकरात के विचार से किसी वस्तु की उपयोगिता में ही उसका सौन्दर्य निहित है, इसीलिए उसने कहा था—"एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि उसका कोई उपयोग हो, अन्यथा उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण होने पर एक चमचमाती हुई स्वर्ण-घटित ढाल भी असुन्दर मानी जावेगी।" आगे चलकर अठारहवीं, उन्नीसवीं शती में भी अनेक विचारकों ने सौन्दर्य को सामाजिक हित से सम्बद्ध किया। एडमंड बर्क (१७२९-१७९७) ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए कहा "I call beauty a social quality" अर्थात 'मैं सौन्दर्य को एक सामाजिक गुण मानता हूँ। इतना ही नहीं, उसने सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसे हमारी सामाजिक वृत्तियों पर आधारित सिद्ध किया' उसके विचार से हम सौन्दर्य का आस्वादन सहानुभूति, अनुकरण एवं आत्म-विस्तार

की मनोवृत्तियों से करते हैं और ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ सामाजिक वृत्ति (Social Instinct) पर आधारित हैं। जान रस्किन (१८१९-१९००) ने एक ओर तो कलागत सौन्दर्य को ईश्वर के दिव्यगुणों से सम्बन्धित माना, तो दूसरी ओर उसने यह भी स्पष्ट किया कि ईश्वर के गुण नैतिक गुण हैं—अत; नैतिकता को ही सौन्दर्य की आधार-शिला माननी चाहिए।

विक्टर कजन (१७९२-१८६७), जाफ्राय (१७९६-१८४२) लापराडे (१८१२-१८८३), कामते (१७८९-१८५७) आदि ने कलाओं को अकेले व्यक्ति की सृष्टि न मानकर समाज की उपज मानते हुए कलागत सौन्दर्य को सामाजिक दृष्टिकोण की देन के रूप में स्वीकार किया।

काडवेल ने साम्यवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए प्रतिपादित किया कि देश और काल-भेद के अनुसार सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं में भी परिवर्तन होता रहता है, अतः कहना चाहिए कि सौन्दर्य सामाजिक परिस्थितियों एवं दृष्टिकोण पर आधारित होता है। यही कारण है कि विभिन्न समाज की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाएँ होती हैं।

● बुद्धिवादी दृष्टिकोण

कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य को बुद्धि, विचार या सत्य के प्रतिरूप के रूप में भी ग्रहण किया है। सैंट थामस (१२२७-१२७७) के विचार से "ऐन्द्रियक माध्यम से तर्क की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।" इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए लॉक (१६३२-१७०४) ने प्रतिपादित किया कि सौन्दर्य वह मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। उसके दृष्टिकोण के अनुसार विचार दो प्रकार के होते हैं—सरल और मिश्रित। इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त विचार सरल विचार होते हैं जबकि प्राप्त एवं अप्राप्त सरल विचारों के पारस्परिक संयोग के उद्‌भूत विचार मिश्रित विचार होते हैं। इस प्रकार सभी मिश्रित विचार सरल विचारों से ही निर्मित होते हैं। इन मिश्रित विचारों की भी तीन श्रेणियाँ की गई हैं—(१) रूप (Modes) (२) वस्तु (Substance) (३) सम्बन्ध। रूप सूचक विचारों के भी दो उपभेद किये गये हैं—सरल रूप एवं मिश्रित रूप। यह 'मिश्रित रूप' ही सौन्दर्य है। इस प्रकार लॉक के विचार से सौन्दर्य एक मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित रूप से उत्पन्न होता है—या यों कहिये कि वह विभिन्न प्रकार के काल्पनिक विचारों के मेल से उत्पन्न होता है। कलागत सौन्दर्य न तो किसी बाह्य वस्तु के सदृश होता है और न ही सर्वथा मौलिक सृष्टि।

काँट (१७२४-१८०४) ने बुद्धि के तीन रूप बताये—(१) शुद्ध बुद्धि (२) व्यावहारिक बुद्धि (३) निर्णयात्मक बुद्धि। शुद्ध बुद्धि से जहाँ सत् का ज्ञान होता है, वहाँ व्यावहारिक बुद्धि हमें औचित्य की ओर ले जाती है। शुद्ध बुद्धि 'क्या है ?' का

उत्तर देती है तो व्यावहारिक बुद्धि 'क्या होना चाहिए ?' का निर्णयात्मक बुद्धि इन दोनों से समन्वित होती है; सौन्दर्य का सम्बन्ध इसी से है। इस प्रकार सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए काँट इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "स्वच्छन्द कल्पना द्वारा प्रस्तुत वह विचार जो और अधिक चिन्तन को प्रवाहित करता है—सौन्दर्य है।"

● भाववादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भावपरक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले विद्वानों की संख्या बहुत अधिक रही है—किन्तु इन्होंने प्रायः कलागत सौन्दर्य को ध्यान में रख कर ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन भाव-परक व्याख्याओं को भी दृष्टिकोण-भेद के आधार पर चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्ति वादी दृष्टिकोण (२) भावालम्बन वादी दृष्टिकोण (३) भावाभिव्यक्ति वादी दृष्टिकोण (४) भाव-प्रेषणवादी दृष्टिकोण। वस्तुतः भाववादी सभी दृष्टिकोणों का भारतीय रस-सिद्धान्त से गहरा साम्य है, अतः इन सबका विस्तृत अध्ययन पीछे 'रससिद्धान्त की पाश्चात्य परंपरा' के अन्तर्गत किया जा चुका है—अतः यहाँ इनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

● रूपवादी दृष्टिकोण

विभिन्न विद्वानों ने वस्तुओं के विभिन्न रूपगत तत्वों को सौंन्दर्य का आधार मानकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन विद्वान् अरस्तू ने सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसे तीन तत्त्वों पर आधारित माना है—(१) सम्मात्रा (Symmetry) (२) व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement) (३) निश्चित आकार (Certain magnitude)। होगार्थ ने अपने ग्रन्थ 'एनेलेसिस आफ् ब्यूटी' में सौन्दर्य के छह उपादान स्थिर किये हैं—(१) वस्तु की उपयुक्तता (Fitness) (२) विभिन्नता (Variety) (३) सम्मात्रा (Symmetry) (४) स्पष्टता (Distinctiveness) (५) जटिलता (Intricacy) और (६) विशालता (Magnitude)। बर्क महोदय ने अपने एक लेख में आकार-सूक्ष्मता, मसृणता, कोमलता, वर्ण-दीप्ति, शुद्धता आदि में सौन्दर्य का अस्तित्व बताया तो दूसरी ओर क्रूसाज के विचार से सौन्दर्य का निवास वैचित्र्य, एकत्व, समता व्यवस्था, अनुपात आदि गुणों में हैं। बर्कले ने सम्मात्रा (Symmetry) और अनुपात (Proportion) में सौन्दर्य का अस्तित्व माना।

आधुनिक युग में पार्कर ने कलागत रूप की व्याख्या करते हुए सामंजस्य, क्रम, अनुपात, आवयविक संगठन आदि तत्वों पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार रूपवादियों ने विभिन्न रूपगत विशेषताओं में ही सौन्दर्य का अस्तित्व सिद्ध किया है।

• साहचर्यवादी दृष्टिकोण

कतिपय विद्वानों ने सौन्दर्य का सम्बन्ध व्यक्ति की आदत, या संस्कार आदि से सिद्ध किया। पिअर बफियर के अनुसार प्रत्येक जाति के प्राणियों की सुन्दरता का एक-एक आदर्श होता है। जो बात सब जातियों की रूप-आकृति में सामान्य रूप से पाई जाती है वही उस जाति के सौन्दर्य की आदर्श हो जाती है। सर जे० रेनाल्डस ने भी बफियर के सिद्धान्तों से ही मिलता-जुलता आदत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके विचारानुसार हमें जिन वस्तुओं को जिन रूपों में देखने की आदत पड़ गई, वही उस वस्तु का सौन्दर्य माना जाने लगा। हम मनुष्य के चेहरे पर तीखी नाक और पतले ओठों को सदा से देखते आये हैं अतः वे हमारे लिए सुन्दरता के आदर्श बन गये हैं; यदि मनुष्य जाति के चेहरे पर सदा से नाक न होती या उसका चेहरा गोल के स्थान पर चौकोर होता तो आज हम उसी में सौन्दर्य मानते। एलिसन ने साहचर्य-नियम के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की। उनके विचार से हमारे मन पर आनन्द प्रदायी वस्तुओं के संस्कार संचित रहते हैं। किसी वस्तु के देखने पर उससे संस्कारों के रूप में संचित आनन्द जाग्रत हो जाता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी प्राचीन दुर्ग को देखते हैं तो उस दुर्ग से सम्बन्ध रखने वाले कई प्राचीन युद्धों की स्मृति आ जाती है जिसके फल-स्वरूप हमें सौन्दर्य का बोध होता है। अस्तु इस वर्ग के विद्वानों के विचार से सौन्दर्य का अस्तित्व हमारे साहचर्यजन्य संस्कारों में है।

• मूल्यवादी दृष्टिकोण

आई० ए० रिचर्ड्स, हंटरमीड, जैरिट्ट आदि विद्वानों ने सौन्दर्य की मूल्यपरक व्याख्या की है। इनके अनुसार किसी वस्तु का सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है (या मूल्य सम्बन्धी धारणा है) जो देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। किसी भी वस्तु के प्रति मूल्य सम्बन्धी दृष्टिकोण देश-काल के वातावरण, उसकी परिस्थितियों, संस्कार, शिक्षा आदि से प्रभावित होता है। रिचर्ड्स के अनुसार मूल्य का सम्बन्ध हमारी मूलभूत प्रवृत्तियों से होता है किन्तु ये प्रवृत्तियाँ भी देश-काल के अनुसार विकसित एवं परिवर्तित होती रहती हैं। सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ को मुख्यतः दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रागात्मक एवं (२) विरागात्मक। इन प्रवृत्तियों को स्वरूप की दृष्टि से इच्छा की पर्यायवाची माना जा सकता है। मानव-मन सभी प्रवृत्तियों को तुष्ट करना चाहता है, फलतः कुछ प्रवृत्तियों में परस्पर विरोध एवं संघर्ष भी होता है। हमारी एक प्रवृत्ति के कारण दूसरी प्रवृत्ति में व्याघात होता है किन्तु हमारा प्रयास यह रहता है कि हम अपनी प्रवृत्तियों को इस प्रकार संतुलित करें कि जिससे हमारी अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ तुष्ट हो सकें। सामान्यतः अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए हम अपनी गौण प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी कर देते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वस्तु मूल्यवान है

जोकि हमारी एक प्रवृत्ति को—बिना किसी अन्य समान या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति को निराश किए संतुष्ट करती है, या यों कहिए कि जो एक प्रवृत्ति को तो तुष्ट करती है किन्तु साथ ही उससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को असंतुष्ट नहीं करती। यहाँ एक प्रश्न है कि हमारी कौनसी प्रवृत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, और कौनसी गौण ? इसके उत्तर में रिचर्ड्स का विचार है कि जिस प्रवृत्ति की तुष्टि अन्य प्रवृत्तियों में अधिकाधिक संतुलन प्रस्तुत करती है तथा जिसकी तुष्टि से व्यक्ति की अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ तुष्ट होती हैं—वही महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार मूल्य का आधार मानसिक प्रवृत्तियों की तुष्टि है।

जेरिट महोदय ने इन मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) साधनात्मक मूल्य (Instrumental Value) (२) आंतरिक मूल्य (Intrinstic Value) (३) परम्परागत मूल्य (Inherent Value)। साधनात्मक मूल्य उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जो कि स्वयं प्रसन्नतादायक न होते हुए भी किसी लक्ष्य-विशेष की पूर्ति में साधन बनती है। उदाहरण के लिए चाकू का मूल्य साधनपरक मूल्य है किसी वस्तु को चाकू से काटने में हमें कोई प्रसन्नता नहीं मिलती, किन्तु वह किसी अन्य लक्ष्य में सहायक होता है। अतः उसका मूल्य साधनपरक है। किन्तु जो वस्तु स्वयं प्रसन्नता प्रदान करती है, उसे आंतरिक मूल्य का उदाहरण बताया जा सकता है; जैसे कि स्वादिष्ट आम। परम्परागत मूल्य से सम्बन्धित वस्तुएँ भी उपयोगिता के अनन्तर प्रसन्नता प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए चाय या काफी को ले सकते हैं। जो व्यक्ति चाय या काफी के आदी हैं उन्हें इनके पीने से एक विशेष तृप्ति का अनुभव होता है जबकि अन्य लोगों को कदाचित् नहीं होता—या बहुत कम होता है। इस प्रकार वस्तु एवं उससे प्राप्त प्रसन्नता के आधार पर मूल्य के उपर्युक्त तीन प्रकार निश्चित किये गये हैं जिनमें सौन्दर्य का सम्बन्ध तीसरे प्रकार के—या परम्परागत मूल्य से है। किन्तु परम्परागत मूल्यों में से भी सभी सौन्दर्य के पर्याय नहीं है। जहाँ उपभोक्ता निःस्वार्थभाव से ही परम्परागत मूल्यों का आस्वादन कर पाता है, उन्हें ही सौन्दर्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कुछ अन्य विचारकों ने उपर्युक्त वर्गीकरण के स्थान पर मूल्यों के केवल दो भेद ही स्वीकार किये हैं—(१) नैतिक मूल्य एवं (२) सौन्दर्यात्मक मूल्य। इस सौन्दर्यात्मक मूल्य के तीन उपभेद किये हैं—(१) वस्तुपरक या ऐन्द्रियक (२) रूपात्मक और (३) साहचर्य जन्य। वस्तुओं के जिस गुण में हमारी इन्द्रियों को आस्वादन प्राप्त होता है—वस्तुपरक या ऐद्रियक मूल्य माना गया है। कलाओं में रंग, ध्वनि चमक-दमक आदि से सम्बन्धित गुणों को इसी वर्ग में रखा गया है। रूपात्मक वर्ग में वस्तु की आकृति एवं शैली सम्बन्धी विशेषताएँ आती हैं। किन्तु जब हम किसी वस्तु को उसके अपने गुणों के स्थान पर किसी अन्य सम्बन्ध के कारण स्वीकार करते हैं तो वहाँ साहचर्य जन्य मूल्य माना जावेगा। उदाहरण के लिए किसी

प्राचीन ऐतिहासिक खंडहर का महत्त्व उसकी अपनी भव्यता के कारण न होकर उससे सम्बन्धित घटनाओं या व्यक्तियों के कारण होता है तो वहाँ उसका मूल्य साहचर्य-जन्य होता है। इस प्रकार कला का सौन्दर्य कहीं वस्तुपरक मूल्य पर, कहीं रूपात्मक मूल्य पर एवं कहीं साहचर्यजन्य मूल्य पर आधारित होता है और कहीं ये सब सम्मिलित रूप में होते हैं। किन्तु इनमें भी रूपात्मक मूल्यों को ही कलागत सौंदर्य के लिए सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

● **उपसंहार**—इस प्रकार हमने यहाँ सौंदर्य-शास्त्र के प्रमुख दृष्टिकोणों व सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है, जिससे कि आगे रस-सिद्धान्त की सौंदर्य-शास्त्रीय व्याख्या में इनका उपयोग किया जा सके। वैसे, रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से उपर्युक्त दृष्टिकोणों में से भाववादी दृष्टिकोण का ही अधिक महत्त्व है क्योंकि इसी की स्थापनाएँ रस-सिद्धान्त के अधिक निकट हैं, फिर भी अन्य दृष्टिकोणों की जानकारी हमारे लक्ष्य की पूर्ति में सहायक ही सिद्ध होगी—इसका हमें विश्वास है।

●

२ सौन्दर्य-शास्त्र अर्थात् रस-शास्त्र

यद्यपि हिन्दी में 'ईस्थेटिक्स' (Aesthetics) के पर्याय के रूप में 'सौन्दर्य-शास्त्र' शब्द प्रचलित हो गया है किन्तु मूलतः दोनों शब्द समानार्थक नहीं है। इसीलिए समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने इसके लिए अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया है ; यथा—डॉ० कान्तिचंद्र पाण्डेय ने 'स्वतंत्र-कला शास्त्र' का डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लालित्य-मीमांसा', तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने 'कला-शास्त्र' 'कला-मीमांसा', 'कला-दर्शन' आदि को 'ईस्थैटिक्स' के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया है। ये सभी शब्द वस्तुतः 'ईस्थैटिक्स' के अलग-अलग पक्षों या अंगों के सूचक तो हैं, किंतु इनमें से कोई भी अकेला शब्द ऐसा नहीं है जो 'ईस्थैटिक्स' के विभिन्न अर्थों को सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करता हो। इसलिए प्रत्येक शब्द एक पक्षीय होने के साथ-साथ भ्रामक भी है। जैसे—'सौंदर्य-शास्त्र' शब्द से यह ध्वनित होता है कि इससे सम्बधित शास्त्र के अंतर्गत सभी प्रकार के सौंदर्य का विवेचन होता होगा जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं होता। प्राकृतिक एवं मानवी सौन्दर्य का विवेचन करना 'सौंदर्य-शास्त्र' का कार्य नहीं है—उसके क्षेत्र में तो केवल कलागत सौंदर्य ही आता है। 'कला-मीमांसा' 'कलादर्शन', 'कला-शास्त्र' आदि शब्द इसी तथ्य के द्योतक हैं—पर इन शब्दों से भी यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि तत्सम्बन्धी शास्त्र में सभी प्रकार की कलाओं का विवेचन होता होगा जबकि इसका सम्बन्ध केवल ललित कलाओं से ही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'लालित्य-मीमांसा' शब्द इसी तथ्य पर अधिक बल देता है किन्तु इससे ऐसा भी प्रतीत होता है मानों इस शास्त्र में केवल लालित्य या कला-सौंदर्य की ही मीमांसा होती होगी जबकि ईस्थैटिक्स का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें न केवल कलाओं के सौंदर्य की अपितु उनकी सर्जन प्रक्रिया से लेकर आस्वादन-प्रक्रिया तक के विभिन्न क्रिया-व्यापारों एवं तत्सम्बन्धी

तत्त्वों की भी व्याख्या होती है। अतः यह शब्द भी इतना व्यापक नहीं है कि उससे 'ईस्थैटिक्स' से पूर्ण विस्तार का बोध हो सके। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का 'स्वतंत्र कला-शास्त्र' शब्द इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि यह शास्त्र किसी अन्य दर्शन या विज्ञान के अधीन नहीं है अपितु स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित शास्त्र है—बामगार्टन ने इसी धारणा के आधार पर 'दर्शन' से अलग स्वतंत्र रूप में 'ईस्थैटिक्स' की स्थापना की थी, पर भारतीय साहित्य में बहुत पहले से कलाओं की विवेचना दर्शन शास्त्र से पृथक रूप में होती रही है तथा 'स्वतंत्र' विशेषण का प्रयोग किये बिना भी 'कला शास्त्र' अपनी पृथकता एवं स्वतंत्रता की घोषणा करने के लिए पर्याप्त है—अतः हमारे विचार में यह नामकरण भी बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि क्या हिन्दी में कोई एक ऐसा शब्द नहीं है जो 'ईस्थैटिक्स के विभिन्न अर्थों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हो? कदाचित् हमारे विद्वानों ने अब तक गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार नहीं किया अन्यथा 'रस-शास्त्र' ऐसा शब्द है जो 'ईस्थैटिक्स' के सभी अर्थों को ध्वनित करने में समर्थ है। यहाँ संक्षेप में दोनों के अर्थ-साम्य को दिग्दर्शित किया जाता है।

(क) **व्युत्पत्ति की दृष्टि से**—जैसा कि पिछले अध्याय में विस्तार से बताया जा चुका है; 'ईस्थेटिक्स' मूलतः एक ग्रीक शब्द पर आधारित है जिसका अर्थ है—'ऐन्द्रियबोध या अनुभूति सम्बन्धी।' रस भी मूलतः ऐन्द्रियबोध, अनुभूति एवं भाव की ही व्याख्या करता है।

(ख) **विषय-क्षेत्र की दृष्टि से**—'ईस्थैटिक्स' का विषय-क्षेत्र ललित कलाओं तक सीमित है—उसमें व्यावहारिक जीवन की अन्य अनुभूतियों तथा उपयोगी कलाओं के शिल्प का विवेचन नहीं होता। भारतीय रस सिद्धान्त का भी सम्बन्ध नृत्य, काव्य, चित्र अभिनय आदि ललित कलाओं से है, अतः 'रस-शास्त्र' भी उसी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है जो 'ईस्थैटिक्स' से सम्बन्धित है।

(ग) **मूल लक्ष्य की दृष्टि से**—ईस्थैटिक्स का मूल लक्ष्य सौन्दर्य या लालित्य का उद्घाटन करना है, पर वह सौंदर्य या लालित्य सामान्य न होकर शुद्ध कलात्मक होता है। रसानुभूति को भी अलौकिक या व्यावहारिक क्षेत्र से भिन्न बताते हुए उसे कलानुभूति की पर्याय माना गया है। वस्तुतः ललित कलाओं के सौंदर्य की अनुभति के विवेचन विश्लेषण को रस सिद्धांत भी उतनी ही प्राथमिकता देता है जितनी कि ईस्थैटिक्स में दी जाती है। अतः इस दृष्टि से भी 'रस-शास्त्र' 'ईस्थै-टिक्स' का उपयुक्त पर्याय सिद्ध होता है।

(घ) **विषय-विस्तार की दृष्टि से**—यद्यपि ईस्थैटिक्स की मूल समस्या कला-सौन्दर्य के विवेचन की ही है, पर उसके अन्तर्गत कलाकार और सामाजिक से सम्बन्धित अन्य समस्याओं पर भी विचार किया जाता है; जैसे—कला-सर्जन की प्रक्रिया, कला के आस्वाद का स्वरूप, कला की विषय-वस्तु का सामाजिक की दृष्टि

से महत्त्व, कला में शोकपूर्ण विषयों की आनन्द में परिणति के कारण—आदि। ये सारी बातें भारतीय रस-विवेचन पर भी लागू होती हैं ; अतः 'रस-शास्त्र' ईस्थैटिक्स के इस पक्ष का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टियों से 'ईस्थैटिक्स' के अन्य हिन्दी पर्यायों की अपेक्षा 'रस-शास्त्र' अधिक उपयुक्त शब्द है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'ईस्थैटिक्स' और रस-शास्त्र में किसी भी दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है—प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट संदर्भ एवं अर्थ होता है, अतः ऐसा तो किसी भी शब्द के लिए नहीं कहा जा सकता—फिर भी, दोनों के अर्थों में पर्याप्त साम्य एवं नैकट्य है। यद्यपि अब 'सौन्दर्य शास्त्र' शब्द इतना अधिक प्रचलित हो चुका है कि उसे त्यागकर नया शब्द अपनाना अव्यावहारिक सा प्रतीत होता है, किन्तु उपर्युक्त तुलना से रस सिद्धान्त की पाश्चात्य 'ईस्थैटिक्स' से निकटता एवं उसकी व्यापकता का बोध होता है। इतना ही नहीं, यह तुलना इस तथ्य को भी प्रमाणित करती है कि भले ही भारतीय एवं पाश्चात्य कला चिन्तकों की पृष्ठभूमि, परिस्थितियाँ एवं भाव-भूमि भिन्न-भिन्न रही हों किन्तु दोनों की यात्रा के चरण अन्ततः एक जैसी ही विचार-सारणियों पर आगे बढ़े हैं—दोनों ही कला-बोध के लिए क्रमशः ऐन्द्रिय बोध अनुभति, भावानुभूति की सीमाओं को पार करते हुए शुद्ध सौन्दर्य या लालित्य की अनुभूति तक पहुँचे हैं—इसी अनुभूति को जहाँ एक ने कलानुभूति का नाम दिया वहाँ दूसरे ने रसानुभूति के नाम से पुकारा है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। अस्तु, व्यवहार में हम भले ही 'ईस्थैटिक्स' के लिए सौन्दर्य शास्त्र या कला-मीमांसा जैसे शब्दों का प्रयोग करें, किन्तु सिद्धांततः इसका निकटतम पर्याय 'रस-शास्त्र' ही है—ऐसा हम निस्संकोच कह सकते हैं।

●

३ 'रस' : सौन्दर्य शास्त्रीय शब्दावली में

रस-सिद्धान्त की सौंदर्य शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक है कि सर्व प्रथम इस बात का निर्णय कर लिया जाय कि 'रस' को सौन्दर्य शास्त्रीय शब्दावली में क्या कहा जाय ? वैसे इस प्रश्न का उत्तर अनेक पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी दिया है, जिनमें प्रो० ए० सी० शास्त्री, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है ; अतः इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करने के पूर्व पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों का अध्ययन कर लेना उचित होगा।

प्रो० ए० सी० शास्त्री का मत—प्रो० शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'स्टडीज इन संस्कृत इस्थैटिक्स' में रस की सौन्दर्य शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'अब हमें यह देखना चाहिए कि 'रस' से क्या तात्पर्य है ? यह हमें एकाएक स्पष्ट कर लेना चाहिए कि पूर्व में हम जिसे 'रस' कहते हैं वही पश्चिम में 'सौन्दर्य (ब्यूटी) के नाम से पुकारा जाता है।'[1] इस दृष्टि से रस सौन्दर्य का पर्याय सिद्ध होता है किन्तु प्रो० शास्त्री अपने इस मत पर स्थिर नहीं रह पाये। इसी संदर्भ में वे आगे चलकर लिखते हैं—'जब सौन्दर्य का अर्थ 'रस' ग्रहण किया जाता है तो इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति एक अतीन्द्रिय अनुभूति है। यह आत्मा के अस्तित्व एवं चैतन्य के पूर्ण एवं अखंड रूप की आनन्दानुभूति है। अतः रस सौन्दर्य

---

1. 'Let us now see what is meant by this 'rasa'. It should at once be made clear that what is called रस in the East, is called 'Beauty' in the west.'—*Studies in Sanskrit Aesthetics*' Page 3.

की अनुभूति का आधार है। जो भी सुन्दर है वह इसलिए सुन्दर है क्योंकि उसका मूलाधार रस है'।[२]

शास्त्री जी की उपर्युक्त स्थापना उनके इस पूर्ववर्ती मत के प्रतिकूल है कि रस सौन्दर्य का पर्याय है। यहाँ उन्होंने रस को सौन्दर्य का पर्याय मानने के स्थान पर 'सौन्दर्य की अनुभूति का आधार' मान लिया है। सौन्दर्य को भी एक अतीन्द्रिय आत्मिक अनुभति का रूप देकर उसे बलात् रस के निकट लाने का प्रयास किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शास्त्रीजी का प्रयास यहाँ भारतीय रस और पाश्चात्य सौन्दर्य में सामंजस्य स्थापित करने का रहा है किन्तु वे किसी स्पष्ट एवं समीचीन निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये।

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का मत—डॉ० पाण्डेय ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'इंडियन ईस्थैटिक्स' में 'रस' की सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करते हुए लिखा है—'सौन्दर्य-शास्त्र के संदर्भ में यह (रस) सौन्दर्यात्मक वस्तु को सूचित करता है। इसका अर्थ अत्यन्त गंभीर एवं शास्त्रीय है, किन्तु शास्त्रीय अर्थ में भी इसका मूल अर्थ 'आस्वाद की एसी वस्तु जो ऐन्द्रियक न होकर सौन्दर्यात्मक हो'—सुरक्षित है।[३] अस्तु, यहाँ डॉ० पाडेय ने रस को सौन्दर्यात्मक वस्तु या पदार्थ का पर्याय माना है। इसे यदि और स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि रस का तात्पर्य किसी सुन्दर पदार्थ से है। प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने और भी कई विचार व्यक्त किये हैं जो विचारणीय हैं ; जैसे—

(क) 'रस जो कि सौन्दर्यात्मक (कलात्मक ?) पदार्थ है, अनिवार्यतः नाट्य कला से उत्पन्न होता है तथा वह प्रकृति द्वारा उत्पन्न पदार्थों में प्राप्य नहीं है।[४]

(ख) भरतमुनि का लक्ष्य केवल उस पदार्थ की व्याख्या करना था जो कि कलात्मक अनुभूति का मूलाधार है।[५]

---

2. 'So when beauty is termed रस it means that the feeling of beauty is some non-sensuous experience. It is the feeling of bliss of the self always in the fulness of its being or consciousness.... Rasa is then the basis of the feeling of beauty. Whatever is beautiful is so because it is rooted in रस.'—*Studies in Sanskrit Aesthetics*, Page-3

3. In the context of aesthetics, however, it stands for the aesthetic object. It has a highly technical meaning, though, even in the technical sense, it retains the element of original meaning, namely the object of relish, not sensuous but aesthetic"—*Indian Aesthetics* ; Page 20

४. वही ; पृष्ठ २१

५. वही ; पृष्ठ ३१

(ग) रस या सौन्दर्यात्मक पदार्थ एक सौन्दर्यात्मक या कलात्मक रचना है।[६]

(घ) रस या सौन्दर्यात्मक तथ्य या वस्तु एक ऐसी रचना है जो विभावानुभावादि तत्त्वों से रचित या निर्मित होती है केवल मनुष्य ही विभावादि तत्त्वों के समन्वित रूप को प्रस्तुत कर सकता है। अत: रस या कलात्मक संरचना एक ऐसी भावात्मक स्थिति है जो मानवीय दृष्टि से की गयी हो।[७]

डॉ० पांडेय के उपर्युक्त विचारों का सारांश यह है कि रस एक सौन्दर्यात्मक पदार्थ या वस्तु है, वह एक कलात्मक संरचना है ; वह कलाकृतियों में ही प्राप्य है—प्राकृतिक पदार्थों में नहीं ; वह एक भावात्मक स्थिति है तथा उसका प्रस्तुतीकरण मनुष्य द्वारा ही संभव है।

यद्यपि डॉ० पांडेय के ये निष्कर्ष बहुत स्पष्ट एवं सुसम्बद्ध दिखाई नहीं पड़ते किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे रस को कलागत भावात्मक सौन्दर्य के रूप में स्वीकार करते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र की परम्परागत शब्दावली में कोई एक ऐसा शब्द नहीं मिलता जो डॉ० पांडेय के उपर्युक्त आशय को भली-भाँति व्यक्त कर सके। ऐसी स्थिति में रस को सौन्दर्य-शास्त्रीय शब्दावली में रूपान्तरित करने की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसके अतिरिक्त और भी कई ऐसी बातें हैं जिनके कारण हमें उपर्युक्त निष्कर्ष स्वीकार्य प्रतीत नहीं होता। एक तो रस का सम्बन्ध सदा केवल भावात्मक स्थिति से ही स्वीकार करना कठिन है। दूसरे, रस का प्रस्तुतीकरण सदा मनुष्यों द्वारा ही नही, जड़ पदार्थों (कलाकृतियों के रूप में) द्वारा भी संभव है। जब एक कलाकार कला-कृति का निर्माण कर देता है तो रस के प्रस्तुतीकरण के लिए स्वयं कलाकार की सत्ता आवश्यक नहीं रहती—उस कृति के द्वारा ही रस का प्रस्तुतीकरण संभव है। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ी आपत्ति यह है कि डॉ० पांडेय ने अपने समस्त रस-विवेचन में भरतमुनि के प्रारंभिक मत को ही आधार बनाया है—उसके परवर्ती विकसित रूप की उन्होंने उपेक्षा कर दी है। प्रारंभ में भरत ने रस को नाट्यकला के माध्यम से प्रस्तुत पदार्थ के रूप में विवेचित किया था, जिसमें अनेक अस्पष्टताएँ एवं असंगतियाँ थीं जब कि आगे चल कर अभिनवगुप्त तथा अन्य व्याख्याताओं ने रस को कलागत पदार्थ मानने के स्थान पर सामाजिक की अनुभूति के रूप में स्वीकार किया। डॉ० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है—"भरत-सूत्र के व्याख्याता आचार्यों के विवेचन के फल-स्वरूप रस का स्वरूप क्रमश: विषयिगत होता गया और वह 'आस्वाद्य' से 'आस्वाद' बन गया। इस अर्थ-परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभि-

६. 'इंडियन ईस्थैटिक्स' ; पृष्ठ ३५

7. Indian Aesthetics ; page 36

नवगुप्त पर है·········उनके अनुसार रस का अर्थ है, आनन्द और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है।·····अभिनवगुप्त से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक रस का यही रूप स्वीकार किया गया, व्याख्या का आधार थोड़ा बहुत बदल गया, किन्तु प्रतिपाद्य वही रहा।[८]

वस्तुतः जैसा कि हम पीछे आचार्य अभिनवगुप्त तथा अन्य भारतीय आचार्यों के मतों का विवेचन करते हुए विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं, अन्ततः रस नाटक या काव्य के माध्यम से प्राप्य प्रेक्षक की विशिष्ट अनुभूति का नाम है। रस सिद्धान्त की नूतन व्याख्या के लिए भी उसके इसी प्रौढ़तम विकसित अर्थ को ही स्वीकार करना उचित होगा जबकि डा० पांडेय ने उसके प्रारंभिक अविकसित अर्थ को आधार बनाया है। ऐसी स्थिति में डॉ० पांडेय की व्याख्या भी पूर्वोक्त समस्या के समाधान में सहायक सिद्ध नहीं होती।

डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे का मत—डॉ० बारलिंगे ने रस, सौन्दर्य और आनन्द के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करते हुए अपना निष्कर्ष इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—'रस तो सौन्दर्य की **प्रतिमा** है, सौन्दर्य नहीं है। इसी कारण रस और सौन्दर्य शब्द एक-दूसरे के पूरक हैं और कला के लिए सौन्दर्य का ध्येय निर्धारित करते समय रस-सिद्धान्त से आँखें नहीं मूँदी जा सकती।[९] डॉ० बारलिंगे ने यहाँ 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'इमेज' (Image) के अर्थ में ही किया है—इस तथ्य की पुष्टि उनके अन्य लेख 'मूल रस सिद्धान्त और कतिपय आलोचक' से होती है। इस लेख में उन्होंने आई० ए० रिचर्ड्स की काव्यास्वादन सम्बन्धी छह प्रक्रियाओं की विवेचना करते हुए बिम्बों के अर्थ में प्रतिमाओं का उल्लेख किया है।[१०] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वे सौन्दर्य के बिम्ब या प्रतिबिम्ब को ही रस मानते हैं। उदाहरण के लिए, एक चित्रकार किसी सुन्दरी के सौन्दर्य को देखता है, उसका बिम्ब उसके मन में उदित होता है जिसे वह बाद में अपने चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है। कला विवेचन के प्रसंग में बिम्ब, प्रतिमा या इमेज (Image) का आशय प्रायः सौन्दर्य के बिम्ब-प्रतिबिम्ब अथवा कलात्मक बिम्ब योजना से ही लिया जाता है—अतः इस स्थिति में हम डॉ० बारलिंगे के द्वारा रस के लिए प्रयुक्त 'सौन्दर्य की प्रतिमा' के स्थान पर केवल 'बिम्ब' या अधिक से अधिक 'कलात्मक बिम्ब' कह दें तो भी काम चल सकता है। अस्तु, संक्षेप में डॉ० बारलिंगे के अनुसार रस 'प्रतिमा' या 'बिम्ब' का पर्याय सिद्ध होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डा० बारलिंगे ने अपनी उपर्युक्त व्याख्या में दो बातों पर विशेष बल दिया है; एक तो उन्होंने रस को उसके परम्परागत अर्थ में—

---

८. रस-सिद्धान्त (डॉ० नागेन्द्र) पृ० ८१
९. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त; पृष्ठ ११२
१०. वही; पृष्ठ ९०

अर्थात् आनन्द के अर्थ में—ग्रहण नहीं किया है तथा दूसरे, उन्होंने रस की व्याख्या भोक्ता की दृष्टि से न करके स्रष्टा या कवि की दृष्टि से की है। उन्होंने स्पष्ट रूप में घोषणा की है—'आज तक जिसे रस-सिद्धान्त समझा गया है, वह रस-सिद्धान्त न होकर आनन्द सिद्धान्त है। इस आनन्द-सिद्धान्त को त्याग कर हमें रस सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए'।[११] इसी प्रकार रस की स्रष्टा की दृष्टि से व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है—"कला के लिये जनक की आवश्यकता होती है और उसकी कल्पना से ही कला का जन्म होता है।........प्रत्येक कलाकार अपनी-अपनी कला के लिये इस प्रकार की प्रतिमाओं का निर्माण करता रहता है। इस प्रतिमा से ही कला का और कला से सौन्दर्य का दर्शन होता है।........सारांश यह है कि........ भरतमुनि ने सबसे पुष्ट तन्मात्र जो 'रस' है उसे 'काव्य-नाट्य' रूप कला की प्रतिमा के लिये चुन लिया है और आगे चलकर रस शब्द अन्य संगीत आदि कला की प्रतिमाओं को व्यक्त करने के लिये भी प्रयोग में आने लगा। इस आशय से देखें तो 'रस' शब्द साहित्य आदि कलाकृतियों की प्रतिमाएँ व्यक्त करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त शब्द है।"[१२]

डॉ॰ बारलिंगे की इन धारणाओं को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) प्रतिमा=बिम्ब या Image

(ख) रस=सौन्दर्य का बिम्ब।

(ग) रस=कला-प्रतिमा

(घ) कला-प्रतिमा=कवि-कल्पना

उपर्युक्त स्थापनाएँ निश्चय ही डॉ॰ बारलिंगे की नूतन दृष्टि एवं मौलिक चिन्तना की परिचायक हैं; पर वे स्पष्ट एवं सुसंगत प्रतीत नहीं होतीं। एक स्थान पर जहाँ वे रस को सौन्दर्य की प्रतिमा मानते हैं तो अन्यत्र उसे कला-प्रतिमा का पर्याय घोषित करते हैं। फिर 'कला-प्रतिमा अपने-आप में क्या है तथा उसका आवास कहाँ होता है—इसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया। यदि हम 'कला-प्रतिमा' को कला से पृथक तत्त्व माने तो वह कहाँ है? और यदि वह कलागत तत्त्व ही है तो वह कौन सा है? फिर कला-प्रतिमा कवि कल्पना का ही पर्याय या परिणाम है तो उसका अस्तित्व कला-सर्जन से पूर्व ही सम्भव है। अस्तु, इन सब शंकाओं का समाधान यहाँ नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त ड:० बारलिंगे ने रस को परम्परागत अर्थ से भिन्न अर्थ में भी ग्रहण किया है, जिसका औचित्य संदिग्ध है।

---

११. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त; पृष्ठ ११२

१२. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त; पृष्ठ ११

नया प्रयास—उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि रस की सौन्दर्यशास्त्रीय व्याख्या के सम्बन्ध में किये गये उपर्युक्त प्रयास ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वे अपने लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में नूतन प्रयास की आवश्यकता है। हमारे विचार में जब तक हम रस और सौन्दर्य के परम्परागत अर्थों को भलीभाँति स्पष्ट नहीं कर लेते तब तक उनमें सामंजस्य स्थापित करना कठिन है, अतः सर्वप्रथम हमें इसी ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

'रस' का अर्थ-विवेचन करते समय हमें यह तथ्य बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि ज्यों-ज्यों रस सम्बन्धी विवेचना अधिकाधिक सूक्ष्म एवं गम्भीर होती गयी त्यों-त्यों 'रस' शब्द का अर्थ भी अधिकाधिक विकसित होता गया है। प्रारम्भ में आचार्य भरत ने भोज्य पदार्थों में प्राप्य रसों के समकक्ष नाट्य रस को स्थान देते हुए उसे आस्वाद्य तत्त्व माना। जिस प्रकार विभिन्न मिर्च-मसालों के संयोग से किसी भी भोज्य पदार्थ को स्वादिष्ट बना दिया जाता है, उसी प्रकार विभावादि तत्त्वों के मेल से स्थायी भाव को भी रसात्मक रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है—इस दृष्टि से रस स्थायी भाव का वह स्वादिष्ट रूप है जो नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। संक्षेप में, भरत की व्याख्या के अनुसार रस नाट्यगत सामग्री का ही एक संयोजित या समन्वित रूप है; इस दृष्टि से वह कलागत या वस्तुगत तत्त्व सिद्ध होता है।

परवर्ती युग में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गयी। साथ ही उसे केवल नाटक तक ही सीमित न रखकर काव्य-संगीत आदि अन्य कलाओं के संदर्भ में भी देखा गया। इसके अतिरिक्त, उसका सामंजस्य शैलीपक्ष से भी स्थापित करने की चेष्टा की गयी, जिससे अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व, व्यंजना शक्ति या ध्वनि के संदर्भ में भी उसकी मीमांसा की गयी। विशेषतः भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनंजय, मम्मट प्रभृति आचार्यों ने रस-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए उसे कलागत तत्त्व के स्थान पर प्रमाता की अनुभूति की विशिष्टता के रूप में मान्यता प्रदान की। आचार्य अभिनवगुप्त ने रस-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण एवं उसकी अनेक असंगतियों का निराकरण अपनी इसी धारणा के आधार पर किया है कि रस प्रमाता की अनुभूति है। इसका अनुमोदन आधुनिक युग के भी अनेक आचार्यों—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० बाटवे, डॉ० नगेन्द्र प्रभृति—ने भी किया है।[१३] वैसे स्वयं भरत ने भी रस को नाटक का फल या उद्देश्य बताया है, जिसका अर्थ है रस नाट्य-कला का अन्तरंग तत्त्व न होकर उसके आस्वाद से उत्पन्न परवर्ती तत्त्व या अनुभव है।

नाट्यकला से पृथक रूप में, अन्य कलाओं के संदर्भ में भी यदि रस पर विचार

---

१३. रस-सिद्धान्त; पृष्ठ १०३

किया जाय तो उपर्युक्त स्थापना और भी स्पष्ट हो जाती है। नाटक के प्रदर्शन के समय उसके अंगरूप अभिनेतागण होते हैं, जिनमें रसानुभूति का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु किसी काव्य-पुस्तक, पत्थर-निर्मित मूर्ति या चित्र जैसे निर्जीव पदार्थ में रसानुभूति का अस्तित्व किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है? काव्य-कृति में अंकित शब्द एवं वाक्य अधिक से अधिक कवि की अनुभूति के संकेत मात्र ही होते हैं जिनके माध्यम से पाठक अनुभूति प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुभूति तत्त्व या तो कवि-हृदय में संभव है या पाठक में तथा इस दृष्टि से रस (रसानुभूति) की भी निष्पत्ति कवि या पाठक के ही हृदय में सम्भव है। जहाँ तक कवि का प्रश्न है, भारतीय काव्य-शास्त्र कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता, किन्तु पाठक को रस की अनुभूति होती है, इसके सम्बन्ध में उसका निर्णय स्पष्ट है। अतः हम संक्षेप में, रस को काव्य या कला के प्रभाव की अनुभूति मान सकते हैं। नाटक, काव्य या कला के आस्वादन से हमारे मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी अनुभूति को ही भारतीय आचार्यों ने रस माना है। चूँकि सभी प्रकार की कला-कृतियों से एक जैसा प्रभाव उत्पन्न नहीं होता—कलाकृति की वस्तुगत प्रकृति के अनुसार विभिन्न कृतियों के प्रभाव में भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर रहता है—इस सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही रस के विभिन्न भेदों की कल्पना की गयी है; जैसे, श्रृंगार, करुण आदि। अतः निष्कर्ष रूप में कला-प्रभाव या कलास्वाद की अनुभूति ही रस है।

अब दूसरा प्रश्न है—सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से 'सौन्दर्य' क्या है? इसके उत्तर में शताधिक मत प्रचलित हैं, किन्तु यदि हम संक्षेप में सबको समन्वित रूप में प्रस्तुत करना चाहें तो कहा जा सकता है कि जिस विशिष्ट गुण के कारण कोई कला हमें प्रभावित या आकर्षित करती है, उसी को कला-विवेचन के संदर्भ में 'सौन्दर्य' कहा गया है। सामान्य जीवन में भी हम वस्तु के उसी गुण को सौन्दर्य कहते हैं जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय को प्रभावित या आकर्षित करता है। अभिधात्मक अर्थ में सौन्दर्य का सम्बन्ध चक्षुरिन्द्रिय से ही है किन्तु लाक्षणिक अर्थ में अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित आकर्षक तत्त्वों को भी सौन्दर्य मान लिया जाता है। कलाओं के क्षेत्र में 'सौन्दर्य' शब्द का अर्थ-विस्तार हो जाता है; उसमें कला के उस गुण को 'सौन्दर्य' कहा जाता है जो न केवल हमारी इन्द्रियों को अपितु मन और बुद्धि को भी आकर्षित करता है। इस दृष्टि से कला-कृति के उन सब गुणों को समन्वित रूप में 'सौन्दर्य' कहा जाता है जो कि सामाजिक को आकर्षित, प्रभावित, उद्वेलित या आनन्दित करते हैं जब कि इस **सौन्दर्य के आस्वाद से प्राप्त अनुभूति**, जो कि प्रायः आह्लादक या आनन्द-रूपी होती है, 'रस' कहलाती है।

अस्तु, हमारे विचार से 'रस' सौन्दर्य का पर्याय न होकर सौन्दर्य की अनुभूति है जिसे सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में 'सौन्दर्यानुभूति' (Aesthetic Experience) कहा

जाता है । वस्तुतः अब तक रस की सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से सम्यक् व्याख्या न हो पाने का मूल कारण भी यही है कि उसे 'सौन्दर्यानुभूति' के स्थान पर 'सौन्दर्य' 'सौन्दर्यात्मक पदार्थ' 'सौन्दर्य-प्रतिमा' आदि का पर्याय मान लिया गया । अवश्य ही 'सौन्दर्यानुभूति' 'सौन्दर्य' से बहुत पृथक नहीं है, क्योंकि अन्ततः सौन्दर्य से ही उसकी अनुभूति प्राप्त होती है किन्तु फिर भी सौन्दर्य कारण है तो सौन्दर्यानुभूति उसका कार्य है । अतः कारण को ही कार्य या साधन को ही साध्य मान लेने से जो असंगति उत्पन्न हो सकती है, वही अनेक पूर्ववर्ती प्रयासों में हुई है । वस्तुतः जब हम किसी प्रयास के प्रारम्भ में ही भ्रान्तिग्रस्त होकर गलत दिशा की ओर चल पड़ते हैं तो स्वाभाविक है कि बहुत दौड़-धूप करने पर भी हम अपने लक्ष्य तक न पहुँच पायें ।

•

४ रसानुभूति का कलागत आधार

सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic Experience) या रसानुभूति का कलागत आधार क्या है—अर्थात् कला-कृति में वह विशिष्ट तत्त्व क्या है ; जिसके कारण सामाजिक को कला से सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति प्राप्त होती है—इस प्रश्न पर पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों एवं भारतीय रस-विवेचकों ने गंभीरता से विचार किया है। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न का सामान्य उत्तर तो यही है कि कला में कलात्मकता या सौन्दर्य के कारण ही प्रमाता को कलानुभूति या सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होती है, किन्तु फिर एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है कि कलात्मकता या कलागत सौन्दर्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में शताधिक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विभिन्न तत्त्वों एवं सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है—जिनका संक्षिप्त विवरण हम प्रस्तुत खंड के प्रथम अध्याय में ही प्रस्तुत कर चुके हैं। वस्तुतः समूचा सौन्दर्य-शास्त्र ही इस प्रश्न को लेकर स्थापित एवं विकसित हुआ है, किन्तु इसका कोई सर्वमान्य उत्तर अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। अतः यहाँ तत्सम्बन्धी सभी मतों एवं सिद्धान्तों का विवेचन-विश्लेषण करना तो संभव नहीं, किन्तु पाश्चात्य भाववादी एवं भारतीय रसवादी वर्ग के विद्वानों के तद्विषयक विचारों का अनुशीलन अवश्य यहाँ तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जायगा जिससे कलागत आधार के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो सके।

● पाश्चात्य भाववादी विद्वानों के मत

प्रस्तुत विषय पर पाश्चात्य भाववादी सौन्दर्य-शास्त्रियों का सामान्य मत तो यही है कि भाव तत्त्व ही कला का वह प्रमुख तत्त्व या गुण है जिसके कारण पाठक या सामाजिक को सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति प्राप्त होती है ; किन्तु इस

भाव तत्त्व का स्वरूप क्या है ; इसे किस रूप में प्रस्तुत किया जाय तथा इसके साथ और किन-किन गुणों, तत्त्वों एवं विधि-विधानों की अपेक्षा है—इन प्रश्नों को लेकर इनमें भी परस्पर मत-भेद है, जिस पर यहाँ विचार किया जा सकता है।

जैसा कि प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है ;[1] स्थूल रूप में इन सभी भाववादियों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) भावोद्दीप्तिवादी (२) भावावलम्बनवादी (३) भाव-संप्रेषणवादी और (४) भावाभिव्यक्तिवादी।[2] ये चारों ही वाद कला में भाव तत्त्व की प्रमुखता को स्वीकार करते हुए भी उसकी स्थिति एवं प्रक्रिया के बारे में एकमत नहीं हैं। **भावोद्दीप्तिवादियों** के अनुसार कला वस्तु का संयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि उससे प्रमाता के भाव उद्दीप्त हो जाएँ, जबकि **भावावलम्बनवादी** इसी से संतुष्ट नहीं हैं, उनके विचार से स्वयं कला में भी भावों का प्रस्तुतीकरण या चित्रण अपेक्षित है क्योंकि भावोद्दीप्ति तो केवल स्थूल घटनाओं एवं तथ्यों के प्रस्तुतीकरण से भी सम्भव है। भावाभिव्यक्तिवादी इनसे भी आगे हैं ; इनके विचारानुसार केवल भावोद्दीप्ती एवं भावों का चित्रण ही कला के लिए पर्याप्त नहीं है, अपितु स्वयं कलाकार को स्वानुभूति के आधार पर ही अपने भावों की अभिव्यंजना कला के माध्यम से प्रस्तुत करनी चाहिए ; किन्तु **भाव-प्रेषणवादी** भावाभिव्यक्ति के अनन्तर उनका सामाजिक तक प्रेषण या संप्रेषण होना भी आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार इन चारों वर्गों के अनुसार क्रमशः कला के आधारभूत गुण ये हैं—(१) भावोद्दीपन की क्षमता (२) भाव का चित्रण (३) भावाभिव्यक्ति और (४) भाव-प्रेषण।

उपर्युक्त गुणों या तत्त्वों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य तत्त्वों का निर्देश विभिन्न चिन्तकों द्वारा हुआ है। सत्रहवीं शती के प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् ल **बस्सु** (Le Bossu) के अनुसार भावावेग कला के लिए आवश्यक है किन्तु सभी भाव सभी प्रकार की कृतियों के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं होते।[3] कला-कृति की प्रकृति के अनुसार ही भावों का आयोजन होना चाहिए ; उदाहरण के लिए—जहाँ कामदी में हर्ष एवं विस्मय सम्बन्धी भावों की बहुलता रहेगी वहाँ त्रासदी में भय एवं करुणा की प्रधानता अपेक्षित है।[4] साथ ही विभिन्न महाकाव्यों में नायक की प्रकृति का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है।[5] यथा—'इलियड' का नायक शूरवीर योद्धा है, अतः उसमें रौद्र एवं भय सम्बन्धी भावों की प्रमुखता है जबकि 'एनीड' का नायक कोमल प्रकृति का व्यक्ति है, अतः उसमें उसी के अनुरूप कोमल एवं मधुर भावों का आयोजन

---

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खंड में 'रस-सिद्धान्त की पाश्चात्य परम्परा' शीर्षक भाग।

२. इन सभी वादों का विस्तृत परिचय पीछे द्वितीय खंड में दिया जा जुका है।

३-५, 'ए हिस्ट्री आफ् ईस्थैटिक्स'; गिल्बर्ट एवं कुहन ; पृ० सं० २२३-२५

हुआ है। इसके अतिरिक्त कलागत भाव में दो विशेषताएँ और अपेक्षित हैं—एक तो वे श्रोता को स्वीकार्य या ग्राह्य होने चाहिए ; दूसरे उनकी पाठक को अनुभूति भी होनी चाहिए ; इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उन्हें एक तो सहज रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए और दूसरे उन्हें स्पष्ट एवं असंदिग्धरूप में चित्रित किया जाना चाहिए उनके साथ ऐसे तत्वों का मिश्रण नहीं करना चाहिए कि जिससे वे अस्पष्ट एवं संदिग्ध हो जाएँ।[६]

इस प्रकार ल-बस्सु के अनुसार कलागत भाव में निम्नांकित विशेषताएँ अपेक्षित हैं—

- कला-कृति के प्रकृति एवं लक्ष्य के अनुरूप भावों का चित्रण होना चाहिये ; जैसे—कामदी में हर्ष व विस्मय सम्बन्धी तथा त्रासदी में भय और करुणा सम्बन्धी भाव का चित्रण अपेक्षित है।
- काव्य में (विशेषतः महाकाव्य में) उसके नायक की प्रकृति (स्थिर भावना) के अनुसार ही भावों का चित्रण अपेक्षित है।
- चित्रित भाव में सहजता एवं स्पष्टता अपेक्षित है। जिससे कि वे सामाजिक को ग्राह्य एवं अनुभूत हो सकें।

अठारहवीं शती के प्रसिद्ध चिन्तक बर्क (Burke) ने नाटक एवं काव्य में भावों के प्रस्तुतीकरण को ही रसानुभूति का मूलाधार मानते हुए प्रतिपादित किया कि काव्य में भावों का प्रस्तुतीकरण शब्दों के माध्यम से होता है।[७] ये शब्द भी तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) पूर्णवाची शब्द ; जैसे 'मनुष्य' 'घोड़ा' आदि। (२) सरल भाववाचक शब्द—'लाल' 'गोल' आदि। (३) मिश्रित भाव वाचक शब्द—प्रेम, भय, सत्य आदि।[८] बर्क के मतानुसार इनमें से प्रथम दो प्रकार के शब्द तो क्रमशः ध्वनि के बोध एवं बिम्ब-ग्रहण के बाद ही श्रोता में भाव उद्दीप्त कर सकते हैं जबकि तृतीय प्रकार—मिश्रित भाव वाचक—के शब्द ध्वनि-बोध के अनन्तर सीधे ही प्रमाता को भावों का बोध प्रदान कर देते हैं, उनमें मध्यवर्ती बिम्ब-बोध की प्रक्रिया अपेक्षित नहीं रहती, अस्तु वे तृतीय प्रकार की शब्दावली को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[९]

जैसा कि बर्क के मत की समीक्षा करते हुए हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं ; भावात्मक या भाववाचक शब्दों का उल्लेख काव्य में भावात्मक बोध प्रदान करने की दृष्टि से प्रायः प्रभाव-शून्य ही सिद्ध होता है क्योंकि किसी भी भाव के बोध में पूर्व उसका बिम्ब-ग्रहण प्रायः आवश्यक माना जाता है तथा इसलिए रस-सैद्धान्तिक

---

६. 'ए हिस्ट्री आफ ईस्थैटिक्स' : गिल्बर्ट एवं कुहन ; पृ० सं० २२४
७-९ 'वैस्टर्न ईस्थैटिक्स' : डॉ० कान्तिचन्द्र पांडेय ; पृ० स० २७२-४

आचार्यों ने भाववाचक शब्दों के प्रयोग को 'स्वशब्द वाच्यत्व' नामक दोष माना है —अतः हमारे विचार से बर्क की उपर्युक्त धारणा भ्रामक है। उसमें तथ्य इतना ही है कि श्रोता को शब्दों के ध्वनि-बोध के बाद बिम्ब-ग्रहण होता है तथा उसीकी प्रक्रिया से उसका भावद्वेलन होता है। अस्तु, उनके मत को आंशिक एवं संशोधित रूप में स्वीकार करते हुए कहा जा सकता है कि कला में ऐसे शब्दों (या भाषा शैली) के माध्यम से भावों का प्रस्तुतीकरण होना चाहिए कि जिससे सामाजिक के भाव उद्दीप्त हो सकें।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् **हरमन लात्ज** (Hermann Lotze) ने प्रतिपादित किया कि कला की वह शक्ति जिसके कारण सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होती है, निश्चय ही भावानुभूति की शक्ति हो है।[१०] इस सृष्टि में वास्तविक सौन्दर्य चेतना के द्वारा आस्वाद्य भाव' के अतिरिक्त और कोई नहीं है। उन्होंने कलागत भाव को 'सौन्दर्यात्मक भाव' की संज्ञा देते हुए उसकी प्रेषणीयता के तीन स्तरों का निर्धारण किया है —(१) ऐन्द्रियक (२) आत्मिक एवं (३) बौद्धिक या चेतनात्मक। उच्चकोटि का 'सौन्दर्यात्मक भाव' वह है जिसमें ये तीनों स्तर परस्पर घुलमिल कर निमज्जित हो जाएँ।[११] दूसरे शब्दों में, लात्ज महोदय के अनुसार कलागत भाव में—जिसे सौन्दर्यात्मक भाव भी कहा जा सकता है—ऐन्द्रियानुकूलता, बौद्धिक उच्चता एवं आत्मिक अभ्युत्थान के गुण भी अपेक्षित हैं, जिससे कि वह मानव-चेतना को उपर्युक्त तीनों पक्षों को प्रभावित करता हुआ, सच्ची सौन्दर्यानुभूति प्रदान करने में समर्थ हो सके।[१२] यद्यपि लात्ज महोदय का मानव-चेतना के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित उपर्युक्त वर्गीकरण समीचीन प्रतीत नहीं होता, फिर भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि कलागत भाव में ऐसी विशेषता होनी चाहिए कि वह मानव-चेतना के ऐन्द्रियक, भावात्मक, बौद्धिक आदि विभिन्न पक्षों को प्रभावित, उद्वेलित एवं समन्वित कर सके।

टालस्टाय ने कला का एक मात्र लक्षण भाव-प्रेषण को मानते हुए उन गुणों का विश्लेषण किया जिनके कारण कलागत भाव प्रेषणीय होकर रसानुभूति प्रदान करता है। उनके विचारानुसार वे गुण तीन हैं—(१) वैयक्तिकता (२) स्पष्टता एवं (३) सत्यता। उन्होंने इनकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि जब कलाकार द्वारा व्यक्त भाव वैयक्तिक अनुभूति पर आधारित, स्पष्ट एवं सत्य (स्वाभाविक, सहज एवं यथार्थ रूप में चित्रित होगा तभी वह सामाजिक को प्रेषित हो सकेगा—अतः कलागत भाव में ये गुण आवश्यक है।[१३] साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि कला में व्यापक एवं उदात्त भावों को ही प्राथमिकता दी जानी

१०-१२ 'ए हिस्ट्री आफ् ईस्थैटिक्स' : गिल्बर्ट-कुहन ; पृ० सं० ५०८-९

चाहिए क्योंकि उनके कारण ही कलानुभूति में व्यापकता, उच्चता एवं सार्वजनीनता आती है ।[१४]

बीसवीं शती के प्रमुख भाववादी सौन्दर्य चिन्तकों में जार्ज सैंतायना, ई० एफ कैरिट्ट, आर० जी० कालिंगवुड प्रभृति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इनके कला सम्बन्धी विचारों का सामान्य परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है—यहाँ सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के कलागत आधार के संदर्भ में ही इनकी धारणाओं पर विशेष रूप से विचार किया जाता है । सैंतायना ने अपनी कृति 'दी सेन्स आफ ब्यूटी' में सौन्दर्यानुभूति का मूल आधार कलाजन्य भावोद्दीप्ति को मानते हुए उन तत्त्वों का भी विश्लेषण किया है जो कला में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं या कलात्मक भावों को उद्दीप्त करते हैं । इन तत्त्वों को उन्होंने अनेक वर्गों में विभक्त किया है ; यथा—ऐन्द्रियक तत्त्व, भावात्मक तत्त्व, सामाजिक तत्त्व, बौद्धिक तत्त्व, एवं रूपात्मक तत्त्व ।[१५] सर्वप्रथम कला में ऐन्द्रियक तत्त्व आपेक्षित हैं जो हमारी स्पर्श, घ्राण, नेत्र आदि इन्द्रियों को उद्दीप्त करते हुए सुखद प्रभाव उत्पन्न करते हैं । किसी विषय वस्तु के मूल उपकरणों का हमारी इन्द्रियों पर जितना गहरा प्रभाव पड़ेगा, उनसे प्राप्त सौन्दर्यानुभूति भी उतनी ही महान् एवं विशद कही जा सकती है ; किन्तु ऐन्द्रियक तत्त्वों की भी एक सीमा है । कला का समस्त सौन्दर्य ऐन्द्रियक प्रभाव पर ही आधारित नहीं रहता ।

ऐन्द्रियक तत्त्वों के अनन्तर दूसरा वर्ग भावात्मक तत्त्वों का है ; कहना न होगा कि इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली भाव रति या प्रेम है, जिसे भारतीय आचार्यों ने भी 'रसराज' कहा है । सैंतायना ने इसकी प्रशंसा में कहा है—"यदि किसी भी विषय-वस्तु को निश्चित रूप से सौन्दर्य प्रदान करना है तो उसके लिए काम या प्रेम से बढ़कर कोई और साधन संभव नहीं ।....संसार को गंभीरतम विचार और सर्वोत्तम सौन्दर्य से परिपूर्ण करने के लिए इससे बढ़कर साधन कोई और क्या हो सकता है ! इसका प्रभाव अत्यन्त शक्तिशाली एवं गंभीर होता है । वह आत्मा की गहराई तक पहुँच जाता है । उसके गुप्त रहस्य बाहर फूट पड़ते हैं । हृदय और कल्पना के सारे स्रोत एकाएक खुलकर प्रवाहित होने लगते हैं !'[१६]

किन्तु उनके विचार से काम या प्रेम को केवल यौन सम्बन्धों के चित्रण तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए । यद्यपि यौन भावना से इसे सर्वथा असंपृक्त नहीं किया जासकता किन्तु व्यापक परिप्रेक्ष्य देकर इसे जीवन के अन्य गंभीर भावों की ओर भी अभिमुख किया जा सकता है। धार्मिक भक्ति भावना, विश्वबंधुत्व की भावना, करुणा, वात्सल्य, स्नेह, प्रकृति-प्रेम आदि प्रणय भाव के ही विभिन्न उदात्त रूपों के सूचक हैं ।[१७]

१३-१४ 'व्हाट इज ए आर्ट' : टालस्टाय

१५-१७ 'दी सेन्स आफ ब्यूटी' : जार्ज सैंतायना ; पृ० सं० ४२-७०

सैंतायना ने प्रणय भाव के अतिरिक्त करुण और हास्य को भी कलागत सामग्री में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। करुण का सम्बन्ध मुख्यतः त्रासदी से है जिसमें विभिन्न भाव समन्वित रहते हैं जिनके कारण हमारी कल्पना और सहानुभूति जाग्रत होती है। इसी प्रकार कामदी में प्रसन्नतादायक भावों का चित्रण होता है। इसमें कुछ बौद्धिक तत्त्व भी मिश्रित रहते हैं, जिनमें वाग्वैदग्ध्य एवं व्यंग्य उल्लेखनीय हैं।[१८]

कलागत सामाजिक विषयों में मैत्री, समाज-हित, देश-प्रेम, अधिकार भावना आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इनका मूलाधार भाव न होकर बुद्धि है, अतः ये विषय महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से उपेक्षणीय ही हैं। सैंतायना के अनुसार एक तो इनके आलम्बन मूर्त्त न होने के कारण इनका बिम्ब-ग्रहण भली-भाँति नहीं हो पाता या यों कहिए कि इनकी कल्पना सम्यक् रूप में नहीं की जा सकती। दूसरे वे बिखरे हुए से प्रत्यय रूप में ही हैं, अतः इन्हें सरलता एवं गम्भीरता से सौन्दर्यात्मक रूप नहीं दिया जा सकता।[१९] फिर भी यदि कोई कलाकार इन्हें सौन्दर्य के रूप में परिवर्तित करने में सफल हो जाय तो उनका महत्त्व स्वीकार्य होगा।

बौद्धिक तत्वों का सम्बन्ध मानव-मन की जिज्ञासा प्रवृति एवं ज्ञान की प्यास से है; इसलिए सत्य शुष्क एवं कटु होते हुए भी हमारी जिज्ञासा एवं बौद्धिक संतुष्टि का लक्ष्य बनकर सौन्दर्यात्मक वस्तु में परिणत हो जाता है। बौद्धिक तत्त्वों के भावात्मक रूपों में निर्वेद एवं मुक्ति का भाव प्रमुख है, जिसे समन्वित रूप में 'औदात्य' भी कहा जाता है।[२०]

रूपात्मक तत्त्वों में कला के रूप एवं शैली सम्बन्धी गुण आते हैं—जैसे—अनुपात, अन्विति, एक-रूपता; अलंकरण आदि।[२१] सैंतायना के विचार से इन तत्त्वों का महत्व उसी सीमा तक है जहाँ तक वे अभिव्यंजना (या विभिन्न भावों की व्यंजना ?) में सहायक सिद्ध होते हैं—अतः निश्चय ही इन्हें कलावस्तु में गौण स्थान प्राप्त है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सैंतायना के विचार से सौन्दर्यानुभूति प्रदान करने की दृष्टि से कला में निम्नांकित तत्त्व अपेक्षित हैं :

(१) ऐन्द्रियक तत्त्व
(२) भावात्मक तत्त्व—मुख्यतः प्रेम, करुणा, हास्य।
(३) सामाजिक तत्त्व : गौण रूप में।
(४) बौद्धिक तत्त्व—जिज्ञासा से सम्बन्धित निर्वेद एवं मुक्ति के भाव के रूप में; औदात्य भाव।

१८-२० 'दी सेन्स आफ ब्यूटी' : जार्ज सैंतायना पृ० सं० ६४-१७२

(५) रूपात्मक तत्त्व—भावाभिव्यंजना के साधन के रूप में।

इनमें से उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व भावात्मक तत्त्वों को प्रदान किया है और शेष को उन्हीं के अंग या साधन रूप में स्वीकार किया है—अर्थात् उनकी सत्ता स्वतन्त्र रूप में न होकर भावाभिव्यंजना में योग देने की दृष्टि से है।

ई० एफ० कैरिट्ट ने 'एन इन्ट्रोडक्शन टू ईस्थैटिक्स' में सर्वप्रथम कलागत सौन्दर्य को भावाभिव्यंजना का पर्याय सिद्ध करते हुए प्रतिपादित किया है—"The beauty we ascribe to sensible objects is really their expressiveness of some feeling—of fear, of confidence, of joy in life, of longing for death, a sense for the delightful commerce of the world......[12]
अर्थात् पूर्ण वस्तुओं में हम जिसे सौन्दर्य कहते हैं, वह वस्तुतः किसी न किसी भावानुभूति भय, विश्वास, जीवन का उल्लास, मृत्यु की कामना, संसार के आनन्दमय क्रियाकलापों का बोध—आदि की व्यंजना का ही पर्याय है।

आगे चलकर उन्होंने एक ओर तो उन आक्षेपों का निराकरण किया जो भावाभिव्यक्ति सिद्धान्त के विरुद्ध प्रस्तुत किये जाते हैं ; तो दूसरी ओर उन भ्रान्तियों का भी निराकरण किया जिनके कारण सामान्यतः 'भाव की अभिव्यंजना' एवं भाव के वर्णन या उद्दीपन में अन्तर नहीं किया जाता। कैरिट्ट के मतानुसार चिह्नों संकेतों या प्रतीकों के माध्यम से भाव को प्रस्तुत करना भावाभिव्यक्ति से भिन्न हैं क्योंकि शुद्ध चिह्नों, संकेतों एवं प्रतीकों का रूपान्तरण संभव है जबकि शुद्ध अभिव्यंजना रूपान्तरित या अनुदित नहीं हो सकती।

शुद्ध भावाभिव्यक्ति के लिए एक ऐसे प्रतिभाशाली कलाकार का स्पर्श अपेक्षित है, जिसकी कलम करुणा, प्रेम घृणा आदि की सच्ची अनुभूति से प्रेरित होकर संचालित होती है।[२२] प्रतिभाशाली कलाकार की भावाभिव्यक्ति में दो गुण परिलक्षित होंगे—एक कल्पना या प्रेरणा और दूसरा, शिल्प या शैली। एक व्यक्ति महान् कल्पनाशील होते हुए भी शिल्प या शैली (भाषाधिकार ?) के अभाव में भावाभिव्यक्ति करने में असफल सिद्ध हो सकता है तो दूसरी ओर कोरा शिल्पी ऐसी अनुकृतियाँ प्रस्तुत कर सकता है, जो कल्पना और भावना से शून्य हो। अतः सफल भावाभिव्यक्ति के लिए कल्पना और शिल्प का समन्वय अपेक्षित है।

अस्तु, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कैरिट्ट महोदय के विचार से कला का प्रमुख तत्त्व तो भावाभिव्यक्ति ही है, किन्तु उसके साधक तत्त्वों में कल्पना एवं शैली को भी स्वीकार किया जाना चाहिए।

आर० जी० कालिंगवुड ने अपने ग्रन्थ 'दी प्रिन्सिपल्स आफ आर्ट' में मिथ्या

---

२१. 'एन इन्ट्रोडक्शन टू ईस्थैटिक्स'; पृ० सं० ५०

२२. वही; पृ० सं० ६०-६२

कला एवं सच्ची कला के भेदक लक्षणों की विस्तार से मीमांसा करने के अनन्तर 'भावाभिव्यंजनो' को ही सच्ची कला का आधारभूत गुण सिद्ध किया। भावों के उद्दीपन, चित्रण, प्रस्तुतीकरण आदि को उन्होंने भावाभिव्यंजना से पृथक मानते हुए उन्हें शुद्ध कला के लक्षणों के रूप में मान्यता नहीं दी। शुद्ध कला (Art Proper) या भावाभिव्यंजक कला में उनके विचार से दो तत्त्व अपेक्षित होते हैं—एक तो व्यंजकता (expressive) और दूसरा—कल्पनात्मकता (imaginative)।[२३] सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति में व्यक्ति एक तो अपने भावों व संवेगों को व्यक्त करता है, यही तथ्य 'व्यंजकता' का सूचक है तो दूसरी ओर यह भावाभिव्यक्ति यथार्थरूप में न होकर कल्पना के स्तर पर या कल्पनात्मक प्रक्रिया द्वारा होती है—इसी को कल्पनात्मकता माना गया है। इसका अर्थ यह है कि कला-सर्जन के समय कलाकार वास्तविक जीवन के यथार्थ भावों की अभिव्यक्ति नहीं करता अपितु उनकी अनुभूति को, भले ही वह कभी यथार्थ रही हो, कल्पना के द्वारा प्रस्तुत करता है। जीवन के वास्तविक शोक, भय, प्रेम, विस्मय हास्य आदि के समय तो हम अनुभूति से इतने संकुलित हो जाते हैं कि उनकी अभिव्यंजना संभव ही नहीं, अतः उस समय तो कलात्मक सर्जन की संभावना ही स्वीकार नहीं की जा सकती। यहाँ कालिंगवुड का आदर्श वर्ड्सवर्थ की वह पंक्ति है, जिसके कारण अतीत की अनुभूतियों का शान्त क्षणों में पुनराख्यान ही कविता है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अतीत की अनुभूतियों का पुनाख्यान करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि इसके लिए सर्जनात्मक कल्पना की अपेक्षा होती है। सामान्य व्यक्ति अतीत की अनुभूतियों का स्मृत रूप ही प्रस्तुत कर पाता है, उनका कल्पना द्वारा पुर्नार्निमित रूप प्रस्तुत नहीं कर पाता जबकि कला के लिए या पूर्ण भावाभिव्यंजकता के लिए यह आवश्यक है। अतः व्यंजकता एवं कल्पना भावाभिव्यंजना के दो अनिवार्य तत्व हैं।

क्या कला में अभिव्यक्त भाव सामान्य लौकिक भाव ही होता है या कोई विशेष प्रकार का असामान्य, अलौकिक या व्यावहारिक जगत के भावों से भिन्न प्रकार का भाव होता है— यह प्रश्न भी सौन्दर्य-शास्त्रियों में विवाद का विषय रहा है। अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों ने कलागत भाव को **'सौन्दर्यात्मक भाव'** (Aesthetic emotion) की संज्ञा देते हुए उसे सामान्य जीवन के भावों से भिन्न कोटि का माना है। कालिंगवुड ने इस पर भी विचार करते हुए स्पष्ट किया है कि सौन्दर्यात्मक भाव की परम्परागत धारणा, जिसके अनुसार वह अलौकिक प्रकार का भाव है, अस्वीकार्य है किन्तु एक अन्य रूप में उसकी सत्ता मान्य है। एक अव्यक्त भाव में एक विशेष प्रकार की यंत्रणा रहती है किन्तु जब वही भाव व्यक्त हो जाता है तो वह यंत्रणा से मुक्त होकर सौन्दर्यात्मक भाव में परिणत हो जाता है, अर्थात्

---

२३. 'दी प्रिन्सिपल्स आफ आर्ट'; आर० जी० कालिंगवुड; पृ० सं० २७३

उसमें यंत्रणा के दंश के स्थान पर संतुष्टि व विश्रान्ति से युक्त आह्लादपूर्ण अनुभूति मिश्रित हो जाती है—अतः हम चाहें तो इसे विशिष्ट प्रकार का भाव मान सकते हैं, पर यह ध्यान में रहना चाहिए कि इसका वैशिष्ट्य अभिव्यंजना के बाद की ही स्थिति का सूचक है, उससे पूर्व तो—अव्यक्त रूप में तो—वह सामान्य लौकिक भाव ही होता है।[२४] 'सौन्दर्यात्मक भाव' का यह विवेचन भारतीय 'रस-तत्व' के अनुरूप हैं; स्थायी भाव की व्यंजना ही 'रस' है; व्यंजना से पूर्व स्थायी भाव एक सामान्य लौकिक भाव ही होता है—यही बात यहाँ 'सौन्दर्यात्मक भाव' के सम्बन्ध में कही गयी है।

कालिंगवुड ने इस पर भी विचार किया है कि पूर्वोक्त सौन्दर्यात्मक भाव में लौकिक भावों से पार्थक्य सूचक जिस विशिष्टता का प्रादुर्भाव होता है, उसका मूल कारण क्या है? इसके उत्तर में उनका मत है कि कल्पनात्मक अनुभूति के कारण ही सामान्य भाव उस परिष्कृत या संस्कारित भाव में परिणत हो जाता है, जिसे 'सौन्दर्यात्मक भाव' कहा गया है।[२५]

कला में बौद्धिक तत्वों को स्थान मिलना चाहिए या नहीं—इसके सम्बन्ध में उनका विचार है कि प्रत्येक कलाकृति में भावाभिव्यंजना के साथ-साथ बौद्धिक तत्व भी मिश्रित या समन्वित रूप में विद्यमान रहते हैं, जिन्हें 'बौद्धिक भावों' का भी नाम दिया जा सकता है।[२६] कवि अन्ततः मानवीय संवेदनाओं की ही अभिव्यक्ति करता है तथा उस अभिव्यक्ति में से वह बौद्धिक तत्त्वों को अलग नहीं कर देता—अतः जिस सीमा तक उसकी संवेदना में बौद्धिक तत्त्वों की अनुभूति होगी, उस सीमा तक उसकी अभिव्यंजना में भी बौद्धिक तत्त्वों का स्थान रहेगा।[२७] इतना अवश्य है कि सभी कवियों या कलाकारों में बौद्धिकता समान मात्रा में नहीं रहती—दार्शनिक या दर्शन में रुचि रखने वाले कवियों में वह अपेक्षाकृत अधिक होती है।

इसी प्रकार शिल्प और शैली का भी भावाभिव्यंजना में योग रहता है। यह ठीक है कि कोरा शिल्प या शैली का चमत्कार सदा मिथ्या कला की ही सृष्टि करता है, किन्तु सच्ची कला में भी भावाभिव्यंजना के साधन के रूप में उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भावाभिव्यक्ति के लिए सामान्यतः प्रतिमा या कल्पना-शक्ति को ही पर्याप्त माना जाता है, किन्तु यदि उसके साथ कलाकार का शिल्प-विधि पर भी अधिकार हो तो वह उसके लक्ष्य की पूर्ति में सहायक ही सिद्ध होगा। अनुभूति और कल्पना-शक्ति, यदि विषय प्रदान करती है तो शिल्प उसे अभिव्यक्ति का माध्यम या साधन प्रदान करता है; अतः दोनों का सहयोग एवं संयोग ही कलाकृति को पूर्णता तक पहुँचा सकेगा। अन्यथा उनके शब्दों

२४. 'दी प्रिन्सिपल्स आफ आर्ट' ; आर० जी० कालिंगवुड ; पृ० सं० ११७
२५. वही ; पृ० सं० २७४
२६-२८ 'दी प्रिन्सिपल्स आफ आर्ट' : कालिंगवुड ; पृ० सं० २९४-२९७

में—'शैली के अभाव में विषय अपरिष्कृत एवं भौंडा रहता है तो विषय के अभाव में शैली खोखली एवं निरर्थक रहती है; अतः दोनों का संयोग ही कला है।'[२९] संक्षेप में कहें तो कालिंगवुड महोदय ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए कला में भावाभिव्यंजना के अतिरिक्त कल्पनात्मक व्यंजना, सौन्दर्यात्मक भाव बौद्धिकता एवं शैली का भी महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्हें रसानुभूति के लिए अनिवार्य माना है।

● **पाश्चात्य मतों का निष्कर्ष—**

रसानुभूति के कलागत आधार के सम्बन्ध में पश्चिम के प्रमुख भाववादी सौन्दर्य-शास्त्रियों के विभिन्न मतों के अनुशीलन से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है—

● चार प्रमुख भाववादी वर्गों के अनुसार कला के आधारभूत तत्त्व या गुण क्रमशः भावोद्दीपन की क्षमता, भाव-चित्रण, भावाभिव्यक्ति और भाव-प्रेषण है।

● ल-बस्सु के अनुसार कला का आधारभूत तत्त्व तो भाव ही है, किन्तु उसमें ये विशेषताएँ और अपेक्षित हैं—(क) भाव का चित्रण कला-कृति की प्रकृति एवं उसके लक्ष्य के अनुरूप होना चाहिए। (ख) नायक की प्रकृति के अनुसार ही भाव-विशेष को प्रमुखता दी जानी चाहिए। (ग) चित्रित भाव में सहजता एवं स्पष्टता होनी चाहिए जिससे वह सामाजिक को ग्राह्य एवं अनुभूत हो सके।

● बर्क के अनुसार कला में ऐसे माध्यम (शब्द, भाषा आदि) का प्रयोग होना चाहिए कि जिससे वह भाव-बोध में सहायक हो सके।

● हरमन लात्ज के अनुसार कलागत भाव में ऐसी विशेषता होनी चाहिए कि वह मानव-चेतना के ऐन्द्रियक, भावात्मक, बोद्धिक आदि विभिन्न पक्षों को प्रभावित, उद्वेलित एवं समन्वित कर सके।

● टालस्टाय ने कलागत भाव में वैयक्तिकता, स्पष्टता एवं सत्यता—ये तीन गुण आवश्यक माने हैं।

● सैंतायना के विचारानुसार कला में भावोद्दीप्ति के लिये ये तत्त्व आवश्यक हैं—(१) ऐन्द्रियक तत्त्व (२) भावात्मक तत्त्व मुख्यतः प्रेम, करुणा हास्य। (३) सामाजिक तत्त्व—गौण रूप में। (४) बौद्धिक तत्त्व (५) रूपात्मक तत्त्व—भावाभिव्यंजना के साधन रूप में।

● कैरिट्ट ने भावाभिव्यंजना को ही कला का अनिवार्य लक्षण मानते हुए उसके साधन रूप में कल्पना और शैली को भी आवश्यक माना है।

---

29 "...Subject without style is barbarism, style without subject is dilettantism. Art is the two to-gether,"
—The Principles of Art : R. G. Collingwood ; Page 297

● कालिगवुड ने केवल भावाभिव्यंजना को ही कला का एक मात्र लक्षण मानते हुए उसके सहायक तत्त्वों में कल्पनात्मक व्यंजना सौन्दर्यात्मक भाव; बौद्धिकता एवं शैली को भी स्थान दिया है।

● भारतीय रसवादी आचार्यों के मत

प्रायः सभी भारतीय आचार्यों ने भरत के रस-सूत्र को केन्द्र बनाकर उसकी व्याख्या के रूप में ही अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं, अतः इस दृष्टि से उनमें परस्पर-मतभेद का अवकाश बहुत कम रह गया, किन्तु फिर भी अनेक आचार्यों ने भरत-सूत्र की व्याख्या करते हुए भी अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय अवश्य दिया है—जिनमें भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र प्रभृत्ति का नाम उल्लेखनीय है। इनकी रस सम्बन्धी स्थापनाओं का सामान्य परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है, अतः यहाँ केवल विवेच्य विषय से सम्बन्धित मतों पर ही विशेष रूप में विचार किया जायगा।

आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के षष्ठ अध्याय में रस का स्वरूप-विवेचन करते हुए लिखा है—"रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। **विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों के संयोग** से रस निष्पन्न होता है।........नाना भावों के इकट्ठे होने पर रस निष्पन्न हो जाता है।........जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से छः रस बनते हैं, इसी प्रकार **स्थायी भाव नाना भावों से युक्त होकर** रस बनते हैं।........नाना भावों के **अभिनय(नाट्य) से व्यंजित** तथा वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त करते हैं, इसलिए ये नाट्य रस हैं।........पंडितगण भावों के अभिनय (नाट्य) से मिले हुए स्थायी भावों का मन से आस्वाद लेते हैं, इसलिए ये नाट्य रस कहलाते हैं।"[२९]

यदि रसानुभूति के कलागत आधार की दृष्टि से उपर्युक्त अंश पर विचार किया जाय तो इससे भरत की निम्नांकित स्थापनाएँ प्रकाश में आती हैं—

- रस की निष्पत्ति का आधारभूत तत्त्व तो **स्थायी भाव** ही है, किन्तु अन्य भावों (नाना भावों) के योग से ही वह रसास्वाद प्रदान करने में समर्थ हो पाता है।
- स्थायी भाव के साधन रूप में विभाव, (आलम्बन और उद्दीपन) अनुभाव एवं संचारीभाव का संयोग या उनकी योजना अपेक्षित है।
- विभिन्न भावों की **व्यंजना अभिनय के माध्यम** से होनी चाहिए तथा अभिनय के अन्तर्गत वाणी (वाचिक), (आंगिक), सत्त्व (सात्त्विक) ये तीनों प्रकारके अभिनय आते हैं।

---

२९. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा ; पृ० ४। नाट्यशास्त्र ६।३३

उपर्युक्त स्थापनाओं का निषेधात्मक पक्ष यह है कि केवल विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से ही नहीं अपितु उनकी **अभिनय के माध्यम से व्यंजना** होने पर ही रसास्वाद की उपलब्धि होगी। प्रश्न है, नाटक में तो सभी कुछ अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है; अतः इसका विशेष उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी, या नाटक के अतिरिक्त काव्यादि में '**अभिनय**' के स्थान पर क्या होगा ? हमारे विचार से **अभिनय के माध्यम से व्यंजना** पर विशेष बल दिये जाने का कारण यह है कि उनके विचारानुसार लौकिक क्षेत्र में या व्यावहारिक जीवन में विभावादि की उपस्थिति से भी रसास्वाद उपलब्ध नहीं होगा; दूसरे, नाटक में भी भावों का कथन या उल्लेख नहीं अपितु उनकी '**व्यंजना**' ही अपेक्षित है। यदि नाटक के स्थान पर हम काव्य एवं अन्य कलाओं पर उपर्युक्त निर्देश को लागू करें तो कह सकते हैं—'**काव्यात्मक या कलात्मक व्यंजना**' से ही रसास्वाद प्राप्त होगा।

प्रायः आलोचकों ने भरत के विभाव, अनुभाव व्यभिचारी के उल्लेख से सम्बन्धित सूत्र को तो ध्यान में रखा किन्तु उनकी 'अभिनय के माध्यम से व्यंजना' वाली बात को उपेक्षित कर दिया, जबकि विभावादि नाटक एवं काव्य वस्तुपक्ष के ही सूचक हैं; शैली पक्ष के नहीं। शैली का सूचक तो उपर्युक्त अंश ही है जिसे हम काव्य और कला पर लागू करते हुए कह सकते हैं।—विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से संयुक्त स्थायी भाव की काव्यात्मक एवं कलात्मक अभिव्यंजना से ही काव्य एवं कला में रस की निष्पत्ति होती है। अस्तु, भरत के अनुसार रसानुभूति के आधारभूत तत्त्वों में क्रमशः (१) स्थायी भाव (२) विभाव, अनुभाव, संचारी का संयोग और (३) कलात्मक अभिव्यंजना (शैली) की गणना की जा सकती है।

भरत-सूत्र के व्याख्याता **भट्टलोल्लट** के अनुसार विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है'—अतः उन्होंने रसानुभूति का आधारभूत तत्त्व तो **स्थायी भाव** को ही माना; किन्तु उसकी 'पुष्टि' या 'परिपुष्टि' पर विशेष बल दिया। लौकिक स्थायी भाव एवं काव्यजन्य रस में सबसे बड़ा अन्तर उनके विचारानुसार इस 'परिपुष्टि' का ही है—अतः यह विचारणीय है कि परिपुष्टि से उनका क्या तात्पर्य है ? आचार्य अभिनवगुप्त ने इस संदर्भ में दंडी के मत को भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार 'परिपुष्टि' का अर्थ 'बाहुल्य' 'अभिवृद्धि' या विस्तार सिद्ध होता है। दंडी ने 'रौद्ररस' को क्रोध का परिवर्द्धित रूप ही माना हैं। किन्तु हमारे विचार से केवल अभिवृद्धि पुष्टि या से स्थायी भाव की मात्रा या उसके परिणाम में ही विस्तार होगा, उसके गुणों में इससे अन्तर आने की कोई सम्भावना नहीं है; करुणा का अति विस्तार अन्ततः आस्वाद की दृष्टि से भी करुण ही रहेगा—आनन्द में उसकी परिणति सम्भव नहीं। अतः निश्चय ही भट्टलोल्लट की उपर्युक्त धारणा स्थूल वस्तुवादी ही है, जिसमें विभाव आदि तत्त्वों का तो निर्देश है किन्तु शैली पक्ष का सूचक कोई तत्त्व परिलक्षित नहीं होता।

शंकुक ने विभावादि तत्त्वों को स्वीकार करते हुए भी दो बातों पर विशेष बल दिया—एक तो स्थायीभाव नाटकादि में प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित या प्रस्तुत नहीं होता अपितु विभावादि के माध्यम से अप्रत्यक्षरूप में प्रस्तुत होता है; दूसरे रस स्थायीभाव का परिवर्द्धित रूप न होकर 'अनुक्रियमाण' या अनुकृत रूप है। स्थायी भाव की अप्रत्यक्ष रूप में उपस्थिति उसकी अप्रत्यक्ष व्यंजना की तथा उसका 'अनुकृत रूप' उसके कलात्मक माध्यम की सूचना देता है—व्यावहारिक जीवन में स्थायी भाव की अनुकृति (या उसका प्रतिबिम्ब) न होकर वह यथार्थ रूप में होता है; इसीसे वे गुणात्मक या आस्वाद की दृष्टि से भिन्न प्रकार के रहते हैं। इस प्रकार शंकुक ने स्थायोभाव की अप्रस्तुत रूप में व्यंजना और अनुकृति को कला-वस्तु में स्थान देकर रस-निष्पत्ति सम्बन्धी परम्परागत धारणा को विकसित किया है।

भट्टनायक ने न केवल नाटक अपितु काव्य की दृष्टि से भी रस-निष्पत्ति के आधारों की व्याख्या करते हुए अनेक नये तत्त्वों का निर्देश किया है। अभिनवगुप्त की शब्दावली में उनका मत इस प्रकार है—"....काव्य में **दोषाभाव** तथा **गुण अलंकारमयत्व** रूप लक्षण के कारण और नाटक में चार प्रकार के अभिनय के द्वारा ....विभावादि के **साधारणीकरण** रूप....भावकत्व व्यापार द्वारा **भाव्यमान**.... **सत्त्वगुण के प्राधान्य** से (रस की निष्पत्ति होती है)।"[३०] इस उद्धरण से काव्यगत विशेषताओं के रूप में क्रमशः (१) दोषों का अभाव (२) गुण-युक्त (३) अलंकार-युक्त (४) विभावादि का साधारणीकृत रूप में होना (५) उनका भाव्यमान होना (६) सत्त्वगुण की प्रधानता—इन छह का संकेत मिलता है। इनमें से प्रथम तीन तो स्पष्ट ही शैली सम्बन्धी तीन तत्त्वों से सम्बन्धित है; चतुर्थ एवं पंचम का आशय यह है कि काव्य या कला में आलम्बन, परिस्थितियों (उद्दीपन), चेष्टाओं (अनुभाव) आदि का चित्रण इस प्रकार हो कि वे पाठक को ग्राह्य हो सके—उनका प्रभाव व्यक्ति-विशेष तक ही सीमित न रहकर सर्वसाधारण तक व्याप्त हो, जिससे उनका 'साधारणीकरण' हो सके—तथा साथ ही उनका केवल बौद्धिक ज्ञान ही नहीं 'भावन' भी अपेक्षित है; इसी को 'भाव्यमान' होना कहा गया है। काव्य की जिस शक्ति के कारण उसकी विषय-वस्तु का 'भावन' होता है, उसे चाहें तो भावात्मकता' या 'प्रेषणीयता' भी कह सकते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने 'भावन' का अर्थ आधुनिक शब्दावली में 'कल्पनात्मक प्रतीति' मानते हुए उसे 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया से अभिन्न माना है। भट्टनायक के सत्त्वगुण की प्रधानता का आशय भी अन्यत्र विस्तार से स्पष्ट करते हुए बताया जा चुका है कि यह दार्शनिक शब्दावली है जिसका व्यावहारिक दृष्टि से 'बुद्धि की प्रधानता' या 'बौद्धिकता' अर्थ किया जा सकता है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार रस-निष्पत्ति के लिए काव्य या कला में निम्नांकित तत्त्व अपेक्षित हैं—

---

३०. हिन्दी अभिनव-भारती; पृष्ठ ४६४-५

१. **शैली सम्बन्धी तत्त्व** : दोषाभाव, गुण, अलंकार आदि ।
२. **वस्तुगत तत्त्व** : विभाव, अनुभाव, संचारी भाव ।
३. **अन्य अपेक्षाएँ** :
(क) व्यक्ति-विशेष के लिए ही रुचिकर न होकर सर्वसाधारण के लिए रुचिकर हो=साधारणीकरण की क्षमता ।
(ख) भावात्मकता या प्रेषणीयता ।
(ग) बुद्धि की प्रधानता (तर्क संगत, औचित्य या काव्य-सत्य से युक्त)

अभिनव गुप्त ने 'अभिनय भारती' एवं 'ध्वन्यालोक-लोचन' में रस-निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए कलागत वस्तु तत्व के सम्बन्ध में निम्नांकित संकेत दिये हैं[३१]—

(क) 'काव्यार्थों को भावित करते हैं, अतएव **काव्यार्थ** ही रस है ।'

(ख) 'यद्यपि उस काव्यार्थ के विभावादि अनेक स्वरूप होते हैं, तथापि **समस्त जड़ पदार्थों का** संवेदना में पर्यवसान हो जाता है ।

(ग) 'इस प्रकार (काव्यार्थ का) स्वभाव होता है—नायक नामक विशिष्ट भोक्ता की **स्थायी चित्तवृत्ति** ।

(घ) 'जब उसका ऐसे काव्य के द्वारा प्रयोग (अभिनय या अभिख्यान) किया जाता है जो····स्वीकृत लक्षण वाले **गुण, अलंकार** गीत वाद्यादि से भली-भाँति सुन्दरता को प्राप्त हो जाता है तो वह (नायक की स्थायी चित्तवृत्ति) अपने-पराये के भाव से रहित हो जाती है, जिसे 'साधारणीकरण' कहते हैं ।

(ङ) '····इसीलिए वह लौकिक चित्तवृत्तियों से विलक्षण प्रतीत होने लगती है ।'

(च) 'इस प्रकार स्वसंवेदना **विघ्नरहित** विश्रान्ति हो जाना ही इस रसानुभूति का लक्षण है ।'

(छ) 'अतएव **व्यंजकत्व** नामक व्यापार से····भावक काव्यरसों को भावित करता है ।[३२]

उपर्युक्त उद्धरणों में सर्वप्रथम 'काव्यार्थ' का निर्देश है, जिसका आशय यह है कि अभिनवय गुप्त के विचार से काव्य के समस्त अर्थ—जिसे अंग्रेजी में 'मीनिंग' (Meaning) कहा जाता है—का भावन होता है । परम्परागत रस-सूत्र से यह धारणा प्रचलित हो गयी थी कि काव्य में केवल भावों का या उनसे सम्बन्धित विभाव, अनुभाव आदि का ही भावन या बोध होता है—अभिनवगुप्त इस धारणा

---

३१. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा ; पृष्ठ सं० १२२-३
३२. रस-सिद्धान्त ; पृष्ठ १७२ ; (ध्वन्योलोक लोचन से उद्धृत)

का खंडन करते हुए आगे (ख में) बताते हैं कि केवल विभावादि का ही नहीं, 'समस्त जड़ पदार्थों का काव्य में संवेदन या भावना संभव हैं। यहाँ जड़ पदार्थों' का आशय यह भी नहीं है कि चेतन पदार्थों का भावन नहीं होता —उनका तो होता ही है क्योंकि विभावादि में उनकी गणना पहले से ही होती रही है, किन्तु अभिनव गुप्त चेतन-अर्द्धचेतन के अतिरिक्त जड़ पदार्थों की भी काव्य के माध्यम से संवेदना की बात विशेष रूप से कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'काव्यार्थ का क्षेत्र केवल भावों तक ही सीमित नहीं रह जाता अपितु बौद्धिक तत्त्व भी उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। वस्तुतः अभिनवगुप्त से पूर्व एवं उनके बाद भी, रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने काव्य-वस्तु या उसके विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रायः संकीर्ण एवं सीमित दृष्टिकोण का ही परिचय दिया है, वे भाव-विभावादि के रूप में कुछ गिनी-गिनाई हुई वस्तुओं को ही रस से सम्बन्धित बताते रहे हैं, जबकि आचार्य अभिनवगुप्त ने यहाँ अत्यन्त व्यापक दृष्टि का परिचय देते हुए सृष्टि के समस्त पदार्थों को जो कि शब्दार्थ के माध्यम से काव्य में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, काव्य संवेदना एवं रसानुभूति के उपयुक्त माना है। अतः रस-सिद्धान्त के विषय-क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से यह उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—यह दूसरी बात है कि परवर्ती आचार्य इस व्यापकता को ग्रहण करने में समर्थ न हो सके।

उपर्युक्त काव्यार्थ की सामान्य प्रकृति नायक की चित्तवृत्ति के अनुरूप ही रहेगी अर्थात् नायक की स्थायी चित्तवृत्ति के अनुरूप ही काव्य में विभिन्न विषयों का समावेश एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापन हो सकेगा, अतः काव्य-विषय में प्रमुखता नायक की **स्थायी चित्तवृत्ति** की रहेगी—इसी का संकेत उद्धरण **ग** में मिलता है।

उद्धरण **घ** एवं **ङ** में गुण, अलंकार, गीत, वाद्य आदि से स्थायी चित्तवृत्ति को सुन्दरीभूत (सौन्दर्य-युक्त) हो जाने एवं उससे अपने-पराये के भाव से मुक्त हो जाने अथवा साधारणीकृत हो जाने का उल्लेख है। यहाँ गुण और अलंकार काव्य-पक्ष के द्योतक हैं जबकि गीत, वाद्य आदि नाटक से सम्बन्धित है—अतः काव्य की दृष्टि से तो **गुण-अलंकार** को ही ग्रहण करना उचित होगा। अभिनवगुप्त के विचार से काव्यार्थ या उनमें निहित स्थायी चित्तवृत्ति गुण अलंकारों से ही सौन्दर्ययुक्त हो जाती है ; एक ऐसे रूप को प्राप्त कर लेती है कि जिससे वह सर्व साधारण को ग्राह्य प्रतीत होती है—इसी को अपने-पराये के भाव से मुक्ति, साधारणीकरण या विलक्षणता कहा जाता है ; किन्तु ये एक ही क्रिया के विभिन्न पक्ष हैं। अस्तु, **गुण अलंकार से उत्पन्न सौन्दर्य** को भी काव्य के प्रमुख तत्त्वों में स्थान दिया जा सकता है।

उद्धरण **च** में विघ्नरहित विश्रान्ति का उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने कई प्रकार के विघ्न गिनाये हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है—इनमें से कुछ विघ्न काव्य की वस्तु एवं शैली से सम्बन्धित हैं ; जैसे गौणवस्तु को प्रधानता दे देना अभिव्यक्ति की अस्पष्टता आदि—इन्हें सामान्य रूप में 'काव्य-दोष' की संज्ञा देते

हुए, यदि हम यह कहें कि काव्य में वस्तु एवं शैली का दोष-मुक्त होना भी आवश्यक है तो यह अभिनवगुप्त के मतानुकूल ही होगा। इसी को कतिपय अन्य आचार्यों ने **दोषाभाव** कहा है, जो अधिक संगत है।

अन्तिम उद्धरण 'ध्वन्यालोक-लोचन' का है जिसमें व्यंजना शक्ति को ही काव्य की भावन-शक्ति या संवेदना का आधार माना गया है। अतः काव्य-वस्तु में व्यंजना या **व्यंजकता** का गुण भी आवश्यक है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य-वस्तु में ये तत्त्व या गुण अपेक्षित हैं—(१) सृष्टि की किसी भी वस्तु या विषय का शब्दार्थ के रूप में प्रस्तुतीकरण जिसे संक्षेप में 'काव्यार्थ' कहा जा सकता है। (२) स्थायी चित्तवृत्ति (३) गुण-अलंकारादि का सौन्दर्य (४) दोषाभाव (५) व्यंजना शक्ति या व्यंजकता।

अभिनवगुप्त परवर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में किसी नूतन दृष्टि का परिचय नहीं दिया यह दूसरी बात है कि किसी ने शृंगार रस को ही एक मात्र रस माना तो किसी ने अद्‌भूत, शान्त, भक्ति आदि में से किसी को। आधुनिक युग के हिन्दी विद्वानों में से कुछ ने अवश्य कला-वस्तु की व्याख्या का नया प्रयास किया है, जिनमें **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** एवं **डॉ० नगेन्द्र** का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य शुक्ल ने अपने विभिन्न लेखों में काव्यगत तत्त्वों के विषय में अनेक नये विचार प्रस्तुत किये हैं, जो मुख्यतः इस प्रकार हैं—[३३]

(क) 'हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य....भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही के हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं।'

(ख) 'भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान प्रत्यक्ष रूप ही हैं। इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होती है वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं।'

(ग) "प्रत्यक्ष से हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान से नहीं है। रूप शब्द के भीतर शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए।"

(घ) 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं होती।'

(ङ) '....प्रधानपात्र में कोई मूल प्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना-चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिये जगह निकलती चलती है।'

(च) 'बीजभाव द्वारा स्फुटित भावों में कोमल और मधुर—कठोर और

---

३३. रस-मीमांसा; पृष्ठ सं० २५९-२६६

तीक्ष्ण—दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीज भाव की प्रकृति मंगल-विधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं।'

(छ) 'काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान इसी (कल्पना) की क्रिया से होता है।....पर काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है।'

(ज) 'सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है, अतः अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है वह भी कल्पना ही द्वारा।

(झ) 'भाषा-शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है। कल्पना की सहायता यहाँ पर भाषा की लक्षणा और व्यंजना नाम की शक्तियाँ करती हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों की विवेचना करने पर हमें क्रमशः ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(क) हमारे भावों का सम्बन्ध बाह्य रूपात्मक सृष्टि से है। अतः बाह्य जगत् को, जहाँ तक कि वह हमारे भावों से सम्बन्धित है—काव्य या कला में स्थान दिया जा सकता है। (ख) प्रत्यक्षरूपों में मार्मिकता अपेक्षित है। (ग) प्रत्यक्ष के अन्तर्गत केवल चाक्षुष-बोध ही नहीं, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय भी सम्मिलित हैं। (घ) कवि या कलाकार के विषय के प्रति सर्वसाधारण का भी वही भाव जाग्रत होना चाहिए जो कवि के मन में था या; दूसरे शब्दों में कलागत विषय रूप में सबको ग्राह्य होना चाहिए जिस रूप (भाव) में वह प्रस्तुत हुआ है। (ङ) उसी काव्य या कला का केन्द्रीय तत्त्व या प्रेरक भाव 'बीज भाव' होता है जिससे शेष सारी वस्तु सम्बन्धित रहती है। (च) यद्यपि बीजभाव से स्फुरित भाव व्यावहारिक दृष्टि से कोमल एवं कठोर या मधुर और तीक्ष्ण कहे जा सकते हैं किन्तु यदि बीज भाव नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से मंगलकारक या हितकारक हो तो उसकी व्यापकता एवं सार्वजनीनता के गुणों के अनुसार कटु एवं तीक्ष्ण भाव भी सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति प्रदान करने में सक्षम हो सकते हैं। (छ) काव्य की शैली पक्ष का आधार कल्पना शक्ति है, किन्तु कल्पना हृदय से प्रेरित या प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। (ज) रस-सैद्धान्तिक अनुभावों आदि का भी विधान कल्पना द्वारा होता है—अर्थात् काव्य के वस्तु तत्त्व को विस्तार या निर्माण में भी कल्पना सहायक सिद्ध होती है। (झ) शैली पक्ष में व्यंजकता, मार्मिकता, चामत्कारिकता के गुण अपेक्षित हैं जो कल्पना द्वारा निर्मित होते हैं तथा लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियाँ भी कल्पना से ही सम्बन्धित हैं।

उपर्युक्त निष्कर्षों को देखते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने काव्य वस्तु का विश्लेषण अत्यन्त व्यापक दृष्टि से करते हुए उसके प्रायः सभी पक्षों

को अपने विवेचन में स्थान दिया है। उनके विचारों को विषय एवं शैली पक्ष में विभक्त करते हुए संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) विषय से सम्बन्धित तत्व :

(क) समस्त **बाह्य जगत्** जिसका 'प्रत्यक्ष' (बोध) संभव है।

(ख) 'प्रत्यक्ष' में चाक्षुष, श्रवण , घ्राण, स्वाद, स्पर्श—**पाँचों इन्द्रियों के विषय** एवं अनुभव सम्मिलित हैं ।

(ग) ऐन्द्रियक प्रभाव **बीजभाव** या मूलभाव के संपर्क से विभिन्न भावों को उद्दीप्त करते हैं।

(घ) विभिन्न भावों तथा बीज भाव के विषयों का **सार्वजनीन** होना चाहिए।

(ङ) बीजभाव में तीन गुण अपेक्षित हैं—**लोकमंगल कारक; व्यापकता सार्वजनीनता** ।

(२) शैली से सम्बन्धित तत्व :

(क) शैली का आधारभूत तत्व **कल्पना शक्ति** है।

(ख) कल्पना-शक्ति हृदय-प्रेरित या **भाव प्रेरित** हो ।

(ग) शैली पक्ष में **व्यंजकता, मार्मिकता एवं चमत्कार** के गुण रहते हैं जो कल्पना की देन हैं।

अस्तु, एक वाक्य में कहें तो शुक्ल जी के अनुसार रसानुभूति के लिए अपेक्षित काव्यगत (कलागत) तत्त्वों में क्रमशः बाह्य जगत का विभिन्न इन्द्रियों से प्राप्त बोध, सार्वजनीन, व्यापक एवं लोकहितकारी बीजभाव एवं उससे प्रेरित भाव, भाव प्रेरित कल्पना तथा शैली की व्यंजकता, मार्मिकता एवं चामत्कारिकता को स्थान दिया जा सकता है।

डॉ० नगेन्द्र ने भी कला के वस्तुपक्ष की समस्त विशेषताओं का आकलन 'राग तत्व' में तथा शैली पक्ष के विभिन्न गुणों का समाहार 'कला तत्त्व' में करते हुए अपना निष्कर्ष इन शब्दों प्रस्तुत किया है—"रस में राग तत्त्व की प्रधानता है, वही उसका सार है, किन्तु **कला-तत्त्व** (शब्द-अर्थ के कल्पनात्मक प्रयोग) का महत्त्व भी कम नहीं है।····भट्टनायक का 'भावकत्व' व्यापार वस्तुतः कला तत्त्व ही है जिसे अभिनव ने भी शब्द-भेद से साधारणीकरण की प्रक्रिया के पूर्वार्ध में यथावत् स्वीकार कर लिया है।····अतः लक्षण के अनुसार रस की परिधि में **भाव-तत्त्व** के साथ **कल्पना-तत्त्व** और इन दोनों का प्रयोग करने वाली कवि-प्रज्ञा की प्रकल्पना में **बुद्धि-तत्त्व** का भी उचित समावेश है।········'रसाभास' का रस की परिधि में अन्तर्भाव

इस बात का सूचक है कि **नैतिक-मूल्यों** द्वारा पुष्ट होने पर भी, रस-सिद्धान्त उनसे परिबद्ध नहीं।[३४]

उपर्युक्त निष्कर्ष से स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र कला या काव्य के घटक तत्वों में वे राग तत्त्व (भाव) एवं कलातत्त्व या कल्पना तत्त्व (शैली) को तो प्रत्यक्ष रूप में तथा बुद्धितत्व एवं नैतिक मूल्यों को अप्रत्यक्ष एवं गौण रूप में स्थान देते हैं ।

● तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन

रसानुभूति के कलागत आधार के सम्बन्ध में विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय मतों के अनुशीलन से उपलब्ध निष्कर्षों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उन्हें हम निम्नांकित छह वर्गों में प्रस्तुत कर सकते हैं —

(१) **बाह्य जगत से सम्बन्धित तत्त्व**—आचार्य अभिनव गुप्त ने सामान्य रूप में सृष्टि के सभी पदार्थों को काव्य-विषय के रूप में स्वीकार किया है, जिन्हें आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्धित रूपों तक सीमित कर दिया है। पाश्चात्य विद्वानों का इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट मत उपलब्ध नहीं है ।

(२) **ऐन्द्रियक तत्त्व**—पाश्चात्य विद्वानों में मुख्यतः हरमन लात्ज, एवं सैंतायना ने व भारतीयों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पक्ष पर विशेष बल देते हुए विभिन्न इन्द्रियों से प्राप्त बोध एवं आस्वाद को काव्यगत या कलागत उपादानों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ।

(३) **भावात्मक तत्त्व**—प्राय: सभी पाश्चात्य भाववादी एवं भारतीय रसवादी आचार्यों ने भाव को प्रमुख तत्त्व माना है, किन्तु उसका वर्गीकरण, गुण-भेदों का निरूपण एवं उसकी स्थिति का विवेचन विभिन्न प्रकार से किया है। संक्षेप में—
(क) भाव का वर्गीकरण : पाश्चात्य विद्वानों में से कुछ ने कलागत भाव को सामान्य भाव से पृथक मानते हुए उसे 'सौन्दर्यात्मक भाव' (उदात्त भाव) आदि की संज्ञा दी है तो भारतीय आचार्यों ने उसके मुख्यत: दो ही प्रकार माने हैं—स्थायीभाव या मूल भाव एवं संचारी भाव ।

(ख) भाव के गुणों में दोनों ही वर्ग के विद्वानों ने प्राय: सार्वजनीनता, निर्वैयक्तिकता, सत्यता (स्वाभाविकता), व्यापकता आदि का निर्देश किया है ।

(ग) भाव की स्थिति के सम्बन्ध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने व लगभग सभी भारतीय आचार्यों ने उसका नायक की प्रकृति या चित्तवृत्ति के अनुरूप होना आवश्यक माना है ।

(४) **बौद्धिक तत्त्व**—हरमनलात्ज, सैंतायना, और कालिंगवुड ने विशेषरूप

---

३४. रस-सिद्धान्त ; पृ० सं० ३१९-३२०

से तथा डाँ० नगेन्द्र ने गौण रूप में कला में बौद्धिक तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया है। अनेक विद्वानों के मतानुसार बौद्धिकतत्त्वों का भी भावात्मक या भाव के अंग-रूप में होना आवश्यक है।

(५) **सामाजिक या नैतिक तत्त्व**—सैंतायना एवं डॉ० नगेन्द्र ने इन्हें बहुत उपयोगी नहीं माना जबकि आचार्य शुक्ल इन्हें भाव की प्रकृति के अंग रूप में (स्वतन्त्र या पृथक रूप में नहीं) महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं।

(६) **अभिव्यंजना या शैली सम्बन्धी तत्त्व**—इसमें सैंतायना, कालिंगवुड, आ० रामचन्द्र शुक्ल व डॉ० नगेन्द्र कल्पना-शक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं, किन्तु अन्य विद्वान भी कल्पनाजन्य व्यंजकता, प्रेषणीयता, चामत्कारिकता को प्रायः स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों ने शैली के गुणों, (स्पष्टता, सहजता आदि) दोषों के अभाव एवं अलंकारों को भी आवश्यक माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाववादी एवं रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने रसानुभूति के लिए कलाकृति में भावात्मक तत्त्वों के अतिरिक्त भौतिक, ऐन्द्रियक, बौद्धिक नैतिक एवं कलात्मक (शैली सम्बन्धित) तत्त्वों की भी आवश्यकता प्रमुख या गौण रूप में स्वीकार की है, जिससे इस सिद्धान्त की व्यापकता एवं सूक्ष्मता का अनुमान लगाया जा सकता है। इतना अवश्यक है कि इनके सम्बन्ध में विभिन्न मतों में एकरूपता व सामंजस्य का अभाव है तथा अनेक तत्वों के बारे में स्थिति संदिग्ध भी है इसके लिए इन सबकी समन्वयात्मक व्याख्या अपेक्षित है। प्रस्तुत प्रबन्ध के अंतिम खण्ड में हम इस अपेक्षा की पूर्ति का प्रयास यथाशक्ति करेंगे। यहाँ परम्परागत मतों के अनुशीलन के रूप में इतना ही पर्याप्त होगा।

●

५

सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति : प्रकृति एवं स्वरूप

पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से 'रस' कलास्वादन से प्राप्त अनुभूति है जिसे पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रीय शब्दावली में 'सौन्दर्यानुभूति' (Aesthetic Experience) कहा जा सकता है । भारतीय आचार्यों की ही भाँति पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों ने भी रसानुभूति के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है, अतः हम यहाँ क्रमशः पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टि से रसानुभूति की प्रकृति एवं स्वरूप के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे ।

• पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण—

काव्य तथा अन्य कलाओं के आस्वादन से प्राप्त अनुभूति रोचक, प्रसन्नता-दायक, आह्लादायक या आनन्दमयी होती है—यह तथ्य प्रायः सभी सौन्दर्य-शास्त्रियों द्वारा मान्य है । प्राचीन युग के विचारकों में से प्लेटो अरस्तू, लोंजाइनस, होरेस प्रभृति ने काव्य का विवेचन करते हुए काव्यानन्द के स्वरूप पर भी संकेतात्मक ढंग से विचार किया है । **प्लेटो** के विचार से कविता से प्राप्त होने वाला आनन्द भावोद्वेलन-जन्य है—अतः वे इसे भावात्मकता के स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं जबकि **अरस्तू** ने प्रत्येक कला से प्राप्त आनन्दानुभूति का सम्बन्ध अनुकरण की प्रवृत्ति से स्थापित करते हुए स्पष्ट किया है—"………सभी व्यक्ति सामान्यतः अनुकरण से प्रसन्नता प्राप्त करते हैं ।………और इसका कारण यह है कि ज्ञानार्जन से सभी व्यक्तियों को—केवल दार्शनिकों को ही नहीं—नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है………इसी प्रकार जब उन्हें किसी चित्र को देखकर प्रसन्नता होती है तो उसका कारण यह है कि उसके निरीक्षण से वे कुछ सीखते हैं, सोचते हैं तथा इसका पता लगाते हैं कि उसमें चित्रित

वस्तु क्या ?"[1] इस उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है कि अरस्तू ने कलास्वादन के आनन्द को ज्ञानार्जन जन्य आनन्द मानते हुए उसे अप्रत्यक्ष में बौद्धिक स्तर का आनन्द स्वीकार किया है। किन्तु परवर्ती युग में **लौंजाइनस** एवं **होरेस** ने काव्यानन्द को आत्मिक स्तर की अनुभूति के रूप में ग्रहण किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन युग के चिन्तकों ने काव्यानुभूति या रसानुभूति को भावात्मक, बौद्धिक या आत्मिक स्तर से सम्बन्धित माना है—वे इस सम्बन्ध में किसी एक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये। वस्तुतः उन्होंने काव्यानुभूति के स्वरूप पर अत्यन्त स्थूल रूप में विचार किया है, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास उनमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

आगे चलकर सोलहवीं-सत्रहवीं शती के विद्वानों ने रसानुभूति के स्वरूप पर अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्मता से विचार किया। सुप्रसिद्ध विद्वान् **डेकार्ट** (१५९६-१६५० ई०) ने सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया कि यह (रसानुभूति) एक ऐसी अनुभूति है जिसमें बौद्धिक आनन्द, कला और साहित्य के आस्वादन से उद्दीप्त भाव से समन्वित होता है।[2] आनन्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि यह एक प्रकार का मनोनुकूल भाव है अर्थात् जब हमारी आत्मा अनुकूल वस्तु का आस्वादन करती है तो आनन्द का उद्रेक होता है। उन्होंने आनन्द को भी व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए उसके तीन भेद निश्चित किये—(१) ऐन्द्रियक आनन्द, (२) काल्पनिक आनन्द और (३) बौद्धिक आनन्द। काल्पनिक आनन्द के भी दो भेद किए गए—(१) पाशविक वृत्तियों (वासनाओं) से प्रेरित आनन्द, (२) साहित्यिक आधार से प्रेरित आनन्द। इनमें से बौद्धिक आनन्द को विशुद्ध आत्मचैतन्य से प्रेरित माना गया है किन्तु जब कलाओं के माध्यम से बौद्धिक आनन्द की अनुभूति होती है तो उसे सौन्दर्यात्मक आनन्द या रसानुभूति कह सकते हैं। डेकार्टे ने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि कलाजन्य अनुभूति में बौद्धिक आनन्द के साथ-साथ भावानुभूति भी समन्वित रहती है।

---

1. "All men, likewise, naturlly receive pleasure from imitation........ And the reason of this is,that to learn is a natural pleasure, not confined to philosophers, but common to all men,........Hence the pleasure they receive from a picture; in viewing it they learn, they infer, they discover what every object is;........"
—'Aristotle's poetics and rhetoric' by T. A. Moxon; Page 9

2. "Aesthetic experience, according to him, is intellectual joy accompanied by a passion or emotion that may be aroused by reading a strange advcture........"
—'Western Aesthetics' By Dr. K. C. Pandey; Page 177

हमारे विचार में डेकार्टे ने आनन्द के अनेक स्वरूप-भेदों में काल्पनिक आनन्द को स्वीकृति देते हुए भी कलाजन्य आनन्द को बौद्धिक आनन्द बताकर ठीक नहीं किया। कला की प्रकृति को देखते हुए बौद्धिक आनन्द की अपेक्षा काल्पनिक आनन्द उसके अधिक निकट पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनके मत में यह भी असंगति है कि एक ओर तो वे बौद्धिक आनन्द को आध्यात्मिक कोटि का आनन्द मानते हैं तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध येन-केन-प्रकारेण कला के साथ भी स्थापित करते हैं। बौद्धिक आनन्द के साथ उद्दीप्त भावानुभूति का भी स्पष्टीकरण वे भली-भाँति नहीं कर पाये। अस्तु, सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के विश्लेषण में उनका योग इतना ही है कि एक तो उन्होंने स्पष्ट रूप में उसे आनन्दानुभूति का पर्याय माना दूसरे, उन्होंने आनन्द के भी अनेक सूक्ष्म भेद किये जिससे परवर्ती विवेचकों ने लाभ उठाया।

एडिसन (१६७२–१७१९ ई०) ने डेकार्टे की असंगतियों का निराकरण करते हुए काव्यानन्द या रसानुभूति को कल्पनाजन्य आनन्द के रूप में मान्यता दी। उन्होंने प्रतिपादित किया कि जब हमारी कल्पना, कलागत सौन्दर्य, औदात्य एवं अन्य तत्त्वों के बोध में निमग्न हो जाती है तो हम एक सुखद आत्म-विस्मृति की अवस्था में पहुँच जाते हैं—थोड़ी देर के लिए हमारी आत्मा कल्पना के नूतन लोक में विचरण करती हुई आनन्दानुभूति में लीन हो जाती है। इस प्रकार एडिसन ने रसानुभूति को विशुद्ध कल्पनाजन्य अनुभूति के रूप में स्वीकार किया।[3]

ह्यूम महोदय (१७११–१७७६ ई०) ने रसानुभूति को तर्क बुद्धि की देन न मानकर उसे शुद्ध भावानुभूति के रूप में स्वीकार किया।[4] किन्तु एक अन्य विद्वान् **बर्क** (१७२९–१७९७ ई०) ने यह प्रतिपादित किया कि काव्य-वस्तु का बोध इन्द्रियों, कल्पना और बुद्धि—तीनों के माध्यम से होता है, इसलिए काव्यानुभूति या रसानुभूति में इन तीनों का ही समन्वित योग स्वीकार किया जाना चाहिये। आगे चलकर **हरमन लात्ज** (१८१७–१८८१ ई०) ने भी रसानुभूति का सम्बन्ध ऐन्द्रियक बोध, बौद्धिक उत्कर्ष एवं सौन्दर्यानुभूति से स्थापित करते हुए उसे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्तर की प्रसन्नतादायक अनुभूति के रूप में स्वीकार किया।[5] उन्होंने सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के लिये एक नये भाव की भी कल्पना की जिसे 'सौन्दर्यात्मक भाव' (Aesthetic Emotion) कहा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी विद्वानों ने सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति का स्वरूप तो आनन्दात्मक ही माना है किन्तु उनमें मतभेद इस बात को लेकर

---

3. 'Western Aesthetics' : K. C. Pandey; Page 244
४. वही; पृष्ठ २५८
5. 'A History of Esthetics' : K. E. Gilbert and Kuhn; Page 508-509

है कि इस आनन्द की प्रकृति क्या है ? सामान्यतः सभी ने आनन्द के तीन रूप स्वीकार किये हैं—(१) ऐन्द्रियक आनन्द, (२) कल्पनात्मक आनन्द और (३) बौद्धिक आनन्द । किसी-किसी ने एक चौथे प्रकार के आनन्द की भी कल्पना की है जिसे भावात्मक आनन्द कहा जा सकता है । आनन्द के इन विभिन्न रूप-भेदों में से कलानुभूति का सम्बन्ध किससे है—यही विवाद का विषय है जिस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है । वैसे देखा जाय तो यह प्रश्न सौन्दर्य शास्त्र की अपेक्षा मनोविज्ञान से अधिक सम्बन्धित है क्योंकि ऐन्द्रियकता, काल्पनिकता, बौद्धिकता, भावात्मकता आदि के स्वरूप एवं उनकी प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण मनोविज्ञान का ही विषय है । प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा लक्ष्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी रसानुभूति पर विचार करने का है, अतः इस सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार से विचार किया जायगा । किन्तु यहाँ हम इतना संकेत अवश्य कर देना चाहते हैं कि हमारे विचार में कलानुभूति में सामान्य जीवन की अनुभूतियों से सूक्ष्म अन्तर अवश्य है, जिसके कारण लौकिक जीवन की कटु अनुभूतियाँ भी कलानुभूति में मधुर बन जाती हैं । लौकिक अनुभूतियों के मूल में सामान्यतः, ऐन्द्रियक, भावात्मक एवं बौद्धिक अनुभूतियाँ ही रहतो हैं, जबकि कला में इनकी अपेक्षा कल्पनाजन्य अनुभूति की प्रमुखता रहती है । अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि कलानुभूति या रसानुभूति में प्रमुखता तो कल्पनाजन्य आनन्द की स्वीकार करनी होगी, यह दूसरी बात है कि उस कल्पनाजन्य आनन्द तक पहुँचने के लिए ऐन्द्रियक, भावात्मक एवं बौद्धिक अनुभूतियों का सहयोग भी न्यूनाधिक मात्रा में अपेक्षित हो । फिर भी इस सम्बन्ध में यह हमारा अन्तिम निर्णय नहीं है क्योंकि जैसाकि हम निवेदन कर चुके हैं कि इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आगे विचार किया जायगा तथा मनोविज्ञान के आधार पर ही हम अपना अन्तिम निर्णय देंगे ।

प्रत्यक्षानुभूति एवं रसानुभूति में अन्तरः—सौन्दर्य शास्त्र के अनेक विद्वानों ने सामान्य जीवन की प्रत्यक्षानुभूति एवं कलाजन्य रसानुभूति के पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है । इनमें **आर० जी० कालिंगवुड** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उन्होंने दोनों में मुख्यतः तीन बातों का अन्तर बताया है । एक तो जहाँ प्रत्यक्षानुभूति वास्तविकता पर आधारित होती है, वहाँ कलानुभूति या रसानुभूति कल्पना पर आश्रित होती है । प्रत्यक्षानुभूति का स्तर ऐन्द्रियक होने के कारण अपरिष्कृत होती है, वहाँ रसानुभूति में संवेदनाओं का परिष्कार या संस्कार हो जाता है । इसके अतिरिक्त लौकिक भाव काव्य के माध्यम से अनुभूत होने पर उदात्त एवं सौन्दर्यात्मक बन जाते हैं । दूसरे, जहाँ प्रत्यक्षानुभूति में हमारी आत्मगत चेतना (अपने अस्तित्व के पार्थक्य की चेतना ?) का संवेदनाओं पर नियन्त्रण रहता है वहाँ रसानुभूति में ऐसा नहीं होता अर्थात् संवेदनाएँ आत्मगत चेतना के नियन्त्रण से मुक्त रहती हैं । तीसरे, प्रत्यक्षानुभूति में प्रायः भावों एवं भावनाओं का उद्दीपन तो होता

है किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का पूरा अवसर प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत कला द्वारा प्राप्त रसानुभूति में न केवल हमारे भावों का उद्वेलन या उद्दीपन होता है अपितु उनकी सम्यक् अभिव्यक्ति भी होती है। इसीलिए भावानुभूति एवं भावाभिव्यक्ति का जो आनन्द उच्चकोटि की कला से प्राप्त होता है वह दैनिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से सम्भव नहीं। इस प्रकार कालिंगवुड ने रसानुभूति के वैशिष्ट्य को सम्यक् रूप में स्पष्ट किया है जो निश्चित ही प्रशंसनीय है।[6]

● **भारतीय दृष्टिकोण से विवेचन—**

अब तक हमने सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के स्वरूप पर पाश्चात्य विद्वानों के मतों के आधार पर विचार किया है; अब यदि इसी सन्दर्भ में भारतीय रसवादी आचार्यों की दृष्टि से भी तुलनात्मक अध्ययन कर लिया जाय तो अनुचित न होगा। आचार्य **भरतमुनि** ने रस को एक स्वादिष्ट या प्रसन्नतादायक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसकी तुलना स्वादिष्ट व्यंजनों से की थी। यद्यपि आगे चलकर रस को कलागत तत्त्व के स्थान पर कलाजन्य अनुभूति के रूप में मान्यता दी गई; जिससे भरत का मत गौण हो गया है; फिर भी उनकी धारणा का यह अंश तो सभी को मान्य है कि रसानुभूति का स्वरूप नाना प्रकार के व्यंजनों के विभिन्न प्रकार के स्वादों की भाँति विभिन्न प्रकार का होता हुआ भी अन्ततः प्रसन्नतादायक है अर्थात् उनके विचार से भी रसानुभूति आनन्दानुभूति ही है।

भरत परवर्ती व्याख्याताओं ने भी रसानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास विभिन्न दृष्टियों से किया है। भट्टलोल्लट ने रसानुभूति की विभावों से उत्पत्ति, अनुभावों से प्रतीति एवं संचारी भावों से पुष्टि मानते हुए उसे स्थायी भाव का ही एक परिवर्द्धित रूप माना है। वे स्थायी भाव की लौकिक अनुभूति एवं रसानुभूति के अन्तर को सम्यक् रूप में स्पष्ट नहीं कर पाये। उनके अनन्तर शंकुक ने भी रसानुभूति को प्रत्यक्ष अनुभूति से भिन्न एक विलक्षण अनुभूति के रूप में तो स्वीकार किया किन्तु उसके स्वरूप का विश्लेषण वे भी सम्यक् रूप में नहीं कर पाये। आगे चलकर भट्टनायक ने अवश्य ही साधारणीकरण की प्रक्रिया के आधार पर लौकिक अनुभूति एवं रसानुभूति के अन्तर को स्पष्ट करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उन्होंने काव्यानन्द या सौन्दर्यानुभूति को एक ऐसे आनन्द के रूप में स्वीकार किया जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। जैसाकि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, यह सत्त्वगुण आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में बौद्धिकता का पर्याय स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि भट्टनायक ने भी डेकार्टे की भाँति रसानुभूति को एक बौद्धिक आनन्द के रूप में मान्यता दी है। साथ ही इसमें उन्होंने रज और तम का भी मिश्रण स्वीकार किया है; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'रज'

6. 'The Principles of Art'; By R. G. Collingwood; Page 274

जहाँ रागात्मकता या भावात्मकता का द्योतक है वहाँ 'तम' अज्ञान, भ्रांति अथवा मिथ्या प्रतीति का द्योतक है। इस 'तम' को हम यहाँ माया या कल्पना का भी पर्याय मान सकते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः भट्टनायक के अनुसार रसानुभूति एक ऐसे आनन्द की अनुभूति है जिसमें बौद्धिक आनन्द की प्रमुखता होते हुए भी भावात्मक एवं कल्पनात्मक आनन्द का मिश्रण रहता है।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने रसानुभूति को आनन्दानुभूति के रूप में मान्यता देते हुए इसकी तीन प्रमुख विशेषताओं का निरूपण किया—(१) 'साक्षात्कारात्मिकता प्रतीति' (२) 'निर्विघ्न प्रतीति' और (३) 'विश्रान्ति रूप या चमत्कार पूर्ण प्रतीति'। **'साक्षात्कारात्मिका प्रतीति'** का अर्थ यह है कि रसानुभूति के समय हमारे मानसिक चक्षुओं के सम्मुख कला-वस्तु विद्यमान रहती है। मानसिक चक्षुओं को आधुनिक दृष्टि से कल्पना-चक्षुओं के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। **'निर्विघ्न प्रतीति'** से अभिनवगुप्त का आशय है कि जहाँ लौकिक अनुभूति में हम देश काल के बन्धनों एवं वैयक्तिक सीमाओं के कारण किसी भी वस्तु की अनुभूति पूर्ण निश्चिन्तता एवं निर्विघ्नता से नहीं कर पाते वहाँ कलानुभूति में हम सभी बाह्य एवं आन्तरिक बन्धनों, विघ्नों एवं बाधाओं, से मुक्त रहते हैं। तीसरे, **'विश्रान्तिरूप चमत्कारपूर्ण प्रतीति'** से उनका तात्पर्य यह है कि हम रसानुभूति में एक विलक्षण प्रकार की ऐसी अनुभूति प्राप्त करते हैं जिसमें एक ओर तो चमत्कृत होने जैसा आनन्द एवं दूसरी ओर विश्रान्ति (सभी मानसिक तनावों चिन्ताओं आदि के बोझ से मुक्ति) का सुख (जिसे संतुष्टि या शान्ति भी कह सकते हैं) मिश्रित रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों विशेषताओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रसानुभूति एक ऐसी आनन्दानुभूति है, जिसमें कल्पना-शक्ति के प्रभाव, देशकाल के बन्धनों से मुक्ति का आस्वाद एवं चमत्कार पूर्ण विश्रान्ति का आनन्द मिश्रित रहता है।

परवर्ती आचार्यों ने भी रसानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इनमें **रामचन्द्र गुणचन्द्र** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने रसानुभूति को सर्वत्र ही आनन्दानुभूति मानने के स्थान पर चामत्कारिक अनुभूति माना है। उनके विचार में करुण रस में आनन्द की अनुभूति नहीं होती अपितु दुःख की अनुभूति होती है। पर फिर भी उसमें कलाजन्य चमत्कार होने के कारण हमें आनन्दानुभूति का आभासमात्र होता है। आचार्य **विश्वनाथ** ने भी चमत्कार एवं चित्तविद्रुति को ही रस का सार मानते हुये रसानुभूति को चमत्कार जन्य आह्लाद के रूप में स्वीकार किया।[1]

---

१. "लोकोत्तर चमत्कार प्राण·······चमत्कारिश्चित्त विस्तार रूपो विस्मयापर-पर्य्यायः·······रसेसारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।" —साहित्य-दर्पण ३/३.४

आधुनिक युग के अनेक आचार्यों ने रसानुभूति के स्वरूप पर पुनर्विचार किया है, जिनमें आचार्य, रामचन्द्र शुक्ल व डॉ० नगेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने रसानुभूति को सर्वथा लौकिक अनुभूति मानते हुए यहाँ तक कहा है कि काव्य और कला के आस्वादन से ही नहीं, व्यावहरिक जगत की विभिन्न प्रत्यक्षानुभूतियों से भी विशेष अवस्था में रसानुभूति की उपलब्धि सम्भव है। वह विशेष अवस्था है—निर्वैयक्तिता। यदि किसी प्राकृतिक दृश्य या किसी घटना विशेष का आस्वादन हम निर्वैयक्तिक या तटस्थ होकर कर सकें तो वहाँ भी रसानुभूति सम्भव है। अतः उनके शब्दों में किसी भी माध्यम से प्राप्त '**हृदय की मुक्तावस्था**' (=वैयक्तिक बन्धनों से मुक्त अवस्था) है रसानुभूति के विभिन्न आधारों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने प्रत्यक्ष, स्मृत एवं कल्पित रूप-विधानों की चर्चा की है—जिससे यह प्रमाणित होता है कि उनके विचार से ये तीनों ही रसानुभूति प्रदान कर सकते हैं। फिर भी कला एवं काव्य में वे अधिक सम्भावना कल्पित रूप-विधानों या कल्पना शक्ति की प्रक्रिया में ही मानते हैं। कल्पना द्वारा ही भाव उद्वेलित होते हैं—अस्तु, कल्पना का साधन रूप में एवं भाव का साध्य रूप में महत्त्व है।

आचार्य शुक्ल ने रसानुभूति की दो कोटियाँ भी निर्धारित की हैं; उच्चकोटि एवं मध्यम कोटि। उच्चकोटि की रसानुभूति के समय तो पाठक का काव्यगत आश्रय से तादात्म्य हो जाता है जिससे वह हृदय की मुक्त दशा का आनन्द प्राप्त करता है किन्तु मध्यम कोटि की रसानुभूति में काव्यगत आलम्बन के वैचित्र्य के कारण ऐसा नहीं हो पाता—वहाँ उसे आश्चर्यपूर्ण प्रसादन या आश्चर्यपूर्ण अवसादन अथवा कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है, जो शुद्ध रसानुभूति न होकर उसकी आभास मात्र होती है।

अस्तु, आचार्य शुक्ल के विचारानुसार रसानुभूति का स्वरूप सर्वथा लौकिक है; उसका साधन प्रत्यक्ष-बोध, स्मृति एवं कल्पना है, उसका स्तर भावात्मक होता है लौकिक भावानुभूति से उसका अन्तर केवल निर्वैयक्तिकता (वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति) का ही रहता है, किन्तु मध्यम कोटि की रसानुभूति में तो यह भी नहीं रहता। उससे आश्चर्य या कौतूहल की उद्दीप्ति होती है।

डा० नगेन्द्र ने रसानुभूति के स्वरूप पर विस्तार से विचार करते हुए इन चार मतों की परीक्षा की है—(१) रसानुभूति ऐन्द्रिय-मानसिक आनन्द है। (२) वह आत्मिक आनन्द है। (३) काव्यानन्द (रसानुभूति) कल्पना का आनन्द है। (४) वह सभी प्रकार के लौकिक व आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न एक विलक्षण प्रकार का निरपेक्ष आनन्द है। उन्होंने इनमें आंशिक सत्य ही स्वीकार किया है, अर्थात् रसानुभूति इन्द्रियों के माध्यम से उपलब्ध होती है किन्तु वह शुद्ध लौकिक

ऐन्द्रिय संवेदनाओं से भिन्न भी है; इसी प्रकार उसे शुद्ध आत्मिक आनन्द या कल्पना का आनन्द भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें 'भाव की भूमिका भी अनिवार्यतः रहती है', कल्पना उसका माध्यम मात्र है। इसी प्रकार काव्यानुभूति की विलक्षणता एवं निरपेक्षता के सम्बन्ध में दिये गये विभिन्न तर्कों का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं—'.....यह सिद्ध नहीं होता कि वह सामान्य जीवनगत अनुभव नहीं है—इस लोक का अनुभव नहीं है। उसमें ऐन्द्रिय तत्त्व है, बौद्धिक तत्त्व का भी एकान्त अभाव नहीं है और आत्मा के विश्वासियों के अनुसार आत्मानुभव का भी अस्पर्श नहीं है। इस अनुभव के स्वरूप का संघटन अन्य अनुभूतियों से भिन्न अवश्य है परन्तु उसके आधार-तत्त्व सर्वथा विलक्षण नहीं हैं।'[२] इसके सम्बन्ध में उनका अपना निष्कर्ष यह है कि रसानुभूति प्रत्यानुभूति एवं स्मृतियों पर आधारित संवेदना के भावन के अनुरूप है। वे इसे न तो शुद्ध रूप में ऐन्द्रिय अनुभूति मानते हैं और न ही बौद्धिक। उनके शब्दों में "इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है।"[३]

डा० कृष्णदेवझारी ने भी निजी दृष्टिकोण से रसानुभूति का विवेचन करते हुए उदात्त भावानुभूतियों को ही रसानुभूति के रूप में स्वीकार किया है। उनके शब्दों में—'हमने आह्लाद के मुख्य दो भेद किये हैं—एक इन्द्रियज आनन्द, जैसे रस-पान आदि, दूसरा मानसिक रागात्मक आनन्द। यह रागात्मक आनन्द ही काव्य का विषय है। इस रागात्मक आनन्द के भी दो भेद स्पष्ट रूप में प्रतीत हुए हैं एक केवल अनुरंजनकारी रागात्मक आनन्द जिसमें उदात्त भावानुभूतियों का विधान प्रायः नहीं होता.....रागात्मक आनन्द का दूसरा रूप उदात्त भावानुभूतियों का आनन्द।.....यही रस की सर्वश्रेष्ठ दशा होती है।"

(रसशास्त्र और साहित्य समीक्षाः भूमिका)

● **निष्कर्ष**

इस प्रकार हम पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्रियों एवं भारतीय रसवादी आचार्यों के विचारों के आधार पर रसानुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) प्रायः सभी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने रसानुभूति का स्वरूप आनन्दात्मक ही स्वीकार किया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र जैसे विचारकों ने इसके विपरीत रसानुभूति को दुःखात्मक भी माना है। किन्तु उनके मत को अपवाद रूप

---

२. रस-सिद्धान्त; पृ० सं० ११६
३. 'रस-सिद्धान्त' : डॉ० नगेन्द्र; पृ० सं० १२०

में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वयं रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी यह स्वीकार किया है कि करुण रस के आस्वादन में हमारी अनुभूति दुःखात्मक होती है, फिर भी उसमें चमत्कार के कारण आनन्द का आभास अवश्य होता है। इसका अर्थ है कि आनन्द के आभास को तो उन्होंने भी स्वीकार किया है।

(ख) आनन्द के विभिन्न भेदों में से कुछ विद्वानों ने रसानुभूति में बौद्धिक आनन्द की प्रमुखता मानी है तो कुछ ने कल्पनाजन्य आनन्द की भी बात कही है। हमारे विचार में कलानुभूति में बुद्धि भावना एवं कल्पना—तीनों का ही योग रहता हैं। इतना अवश्य है कि कला विशेष की प्रकृति के अनुसार किसी रचना में भावना की प्रमुखता रहती है किसी में बुद्धि की और किसी में कल्पना की तथा इसी के अनुसार उनमें क्रमशः भावात्मक, बौद्धिक एवं कल्पनाजन्य आनन्द की प्रमुखता रहती है।

(ग) कुछ विद्वानों ने रसानुभूति की अनेक कोटियाँ निर्धारित की हैं तो कुछ ने रसानुभूति में आनन्दानुभूति के स्थान पर आश्चर्य, कौतूहल, चमत्कार, औदात्य आदि की प्रधानता मानी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कलाकृति में भावना की प्रमुखता होती है वहाँ तो आनन्द की अनुभूति होती है किन्तु जहाँ कल्पना की प्रमुखता होती है वहाँ आश्चर्य, कौतूहल या चमत्कार की ही अनुभूति सम्भव है। इसी प्रकार बौद्धिक, नैतिक एवं उदात्त तत्त्वों की प्रमुखता होने पर उसमें औदात्य की भी अनुभूति मिश्रित रह सकती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सभी प्रकार की कलाकृतियों से एक ही स्तर की या एक ही प्रकार की अनुभूति सम्भव नहीं। अतः कलाकृतियों की प्रकृति के अनुरूप ही उनकी अनुभूति का भी स्तर-भेद किया जा सकता है। अतः हमारे विचार में उपर्युक्त मत-भेद कलाकृतियों की प्रकृति एवं उनकी अनुभूति के स्तरभेद के ही द्योतक हैं।

(घ) यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न प्रकार की होती है। उसमें प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा अधिक काल्पनिकता एवं अधिक स्वतन्त्रता रहती है। रसानुभूति में लौकिक भावनाएँ एक परिष्कृत, उदात्त एवं सौन्दर्यात्मक रूप प्राप्त कर लेती हैं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं भारतीय आचार्यों के मतों में गहरी समानता परिलक्षित होती है—जहाँ उनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर भी है, वहाँ वे प्रायः एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं। फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों को अन्तिम रूप में स्वीकार करने से पूर्व उन पर आधुनिक दृष्टि से भी पुनर्विचार अपेक्षित है। अतः उपर्युक्त निष्कर्षों का उपयोग हम अन्यत्र स्वतन्त्र दृष्टि से रस के स्वरूप पर पुनर्विचार करते समय, इस प्रबन्ध के पाँचवें खण्ड में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से इतनी व्यापकता एवं गम्भीरता से विचार किया जाना ही इस विषय की महत्ता का सबल प्रमाण है।

●

६

सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया

सौन्दर्य-शास्त्र एवं काव्य शास्त्र में जहाँ कलागत सौन्दर्य एवं तज्जन्य आनन्द के स्वरूप की मीमांसा सूक्ष्म रूप में हुई है, वहाँ सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण भी गंभीरता पूर्वक किया गया है। विभिन्न सौन्दर्य-शास्त्रियों ने कलास्वादन या सौन्दर्यानुभुति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त स्थापित किये हैं तो भारतीय रस सैद्धान्तिक आचार्यों ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि जिस क्रिया को पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र की शब्दावली में 'कलानुभूति', कलास्वादन या 'सौन्दर्यानुभूति कहा गया है, उसे ही रस-सिद्धान्त की शब्दावली में 'रसानुभूति', 'रस की अस्वादन प्रक्रिया' या काव्यानन्द की अनुभूति का नाम दिया गया है— यह विस्तार से अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है ; अतः हम यहाँ सौन्दर्यानुभूति एवं रसानुभूति को पर्याय रूप में ग्रहण करते हुए क्रमशः तत्सम्बन्धी सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं रस-शास्त्रीय दृष्टिकोणों व सिद्धान्तों का अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे और अन्त में उन पर तुलनात्मक व समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

● पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्त

सौन्दर्य-शास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की है, जिनमें निर्वैक्तिकता का सिद्धान्त, रसानुभूति का सिद्धान्त, मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त, भाव प्रेषण-सिद्धान्त, समन्वयात्मक सिद्धान्त आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनका परिचय यहाँ क्रमशः संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है—

(क) **निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त**—विभिन्न विचारकों के अनुसार रसानुभूति

एवं सामान्य लौकिक अनुभूति में सबसे बड़ा अन्तर इस बात का है कि कलानुभूति के क्षणों में हम निर्वैयक्तिक या स्वार्थ-शून्य रूप में कला का आस्वादन करते हैं। काण्ट ने (१७२४-१८०४) प्रतिपादित किया है कि जहाँ व्यावहारिक क्षेत्र में हम लाभ-हानि, शुभ-अशुभ सार्थकता-निरर्थकता के विचार से बंधे रहते हैं, वहाँ कलानुभूति के समय इन सबसे मुक्त रहते हैं। वैयक्तिक रुचि या स्वार्थ से मुक्त रहने के कारण ही हम एक ऐसा अनुभव प्राप्त करते हैं जिसे सार्वजनीन (universal) कहा जा सकता है।

शापनहावर (१७८८-१८६०) ने भी उपर्युक्त सिद्धान्त का अनुमोदन भिन्न प्रकार की शब्दावली में किया। उनके विचारानुसार हमारे समस्त दुःखों के मूल में अभाव जन्य इच्छा है; कलास्वादन के समय हम इस वैयक्तिक इच्छा से मुक्त रहते हैं जिसके कारण हमें आनन्द की अनुभूति होती है। अतः कहना चाहिए कि जिसे काण्ट ने '**वैयक्तिक रुचि**' कहा था उसी को शापनहावर ने '**वैयक्तिक इच्छा**' कहा है। वस्तुतः दोनों ने ही निर्वैयक्तिकता का अनुमोदन विभिन्न शब्दों में किया है।

टी० एस० इलियट ने निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को भिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हुए इसे '**व्यक्तित्व से पलायन**' का नाम दिया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि काव्य के आस्वाद का लक्ष्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिन्तन है जो वैयक्तिक संवेगों की हलचलों से मुक्त रहता है। इस प्रकार वस्तु जैसी सचमुच है उसी रूप में हम उसे देखने का यत्न करते है।[१] साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि वैयक्तिकता के इस निषेध से कलाकार का व्यक्तित्व हीन या तुच्छ नहीं हो जाता अपितु वह एक व्यापक रूप प्राप्त कर लेता है। उनके शब्दों में—'महान् कला इस अर्थ में निर्वैयक्तिक होती है कि वैयक्तिक संवेग और वैयक्तिक अनुभव विस्तृत होकर आत्मेतर में पूर्णता को प्राप्त होते हैं। वह वैयक्तिक अनुभव और संवेग के परित्याग के अर्थ में निर्वैयक्तिक नहीं।[२]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कला-स्वादन में निर्वैयक्तिकता का मूल कारण चाहे स्वयं कलाकार की कला-सर्जन के समय की निर्वैयक्तिक मनः स्थिति हो, या कला-वस्तु का ही निर्वैयक्तिक रूप में प्रस्तुतीकरण हो अथवा स्वयं प्रमाता या सामाजिक का एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाना हो जिसे हम **वैयक्तिकता-शून्य** या **स्वार्थ शून्य** कह सकें—किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त विचारकों ने कलास्वादन की प्रारंभिक अवस्था एवं विशिष्ट स्थिति के रूप में निर्वैयक्तिकता या स्वार्थशून्यता (distinterestedness) को अत्यधिक महत्त्व दिया है।

---

१. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र'; डॉ० निर्मला जैन; पृष्ठ १८२

२. वही : पृ० १८३

(ख) **रसानुभूति सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के उन्नायकों में **थ्योडोर लिप्स, वर्ननली विल्हेम वोरिंगर** के नाम उल्लेखनीय हैं। लिप्स ने अपने ग्रन्थ 'Haumesthetic' (१८९७) में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए लिखा कि समानुभूति (Empathy) में काव्य-वस्तु के साथ सामाजिक के व्यक्तित्व का तादात्म्य स्थापित हो जाता है—विषय और विषयी के मध्य पार्थक्य की सूचक द्वैत-चेतना का लोप हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यानुभूति एवं कलानुभूति का प्रमुख तत्त्व है—अनुकृति जन्य आनन्द। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु-विशेष पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो इसमें हम अपनी ही अनुभूतियों और भावों का बिम्ब पढ़ते हैं। उस स्थिति में वस्तु साधारणीकृत हो जाती है—व्यक्ति और वस्तु का अन्तर लुप्त हो जाता है और इससे हम आनन्दित होते हैं। कला के माध्यम से इसी स्थिति को प्राप्त करना या कलास्वादन के समय कला-वस्तु एवं सामाजिक में इस प्रकार के तादात्म्य-स्थापन को ही **'समानुभूति'** (Empathy) कहा गया है।

समानुभूति को सहानुभूति (Sympathy) से भिन्न माना गया है। दोनों में सबसे बड़ा अन्तर इस बात का है कि जहाँ समानुभूति में दोनों पक्षों—विषय एवं विषयी—में तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वहाँ सहानुभूति में दोनों में थोड़ी-बहुत पार्थक्य की अनुभूति सदा बनी रहती है।

समानुभूति की प्रक्रिया को भी तीन सोपानों में विभक्त किया गया है—(१) अनुकृति (२) अनुभूति और (३) प्रक्षेपण (Projection)। डॉ० निर्मला जैन ने अपने शोध-प्रबंध में इन तीनों का विवेचन करते हुए लिखा है—"सर्वप्रथम किसी कला-कृति को देखकर हमारे शरीर में उसके अनुरूप अनुकरणात्मक चेष्टाएँ स्वभावतः होती हैं जैसे किसी प्रतिमा को देखकर तदनरूप भंगिमाओं का अनुकरण करने की आकांक्षा होती है। तदुपरान्त शारारिक चेष्टाएँ किसी न किसी अनुभूति की ओर प्रवृत्त करती हैं और अंत में हम उन अनुभूतियों का दृश्य कला-कृति में प्रक्षेपण करते हैं।[३]

हमारे विचार में यहाँ तीसरे सोपान को 'प्रक्षेपण, के स्थान पर 'तादात्म्य' कहा जाय तो अधिक उचित होगा क्योंकि प्रक्षेपण चेष्टापूर्वक स्वयं को आरोपित करने की प्रवृत्ति को सूचित करता है जब कि 'तादात्म्य' में स्वतः ही कला-वस्तु एवं सामाजिक में मेल हो जाता है। वस्तुतः यह सिद्धान्त भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त के अनुरूप है, जिसकी विस्तृत चर्चा अन्यत्र की जायगी।

(ग) **मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त—एडवर्ड बुलो** ने कलानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए एक नया सिद्धान्त स्थापित किया है, जो मानसिक अन्तराल

---

३. 'रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र' पृष्ठ १९०

का सिद्धान्त (Principle psychical distance) कहलाता है ।[4] इसके अनुसार कलास्वाद का मूल कारण निस्संगता, अनासक्ति एवं समानुभूति न होकर कला-वस्तु से प्रमाता की मानसिक दूरी (अन्तराल) है । यहाँ 'दूरी' या 'अन्तराल' से तात्पर्य केवल स्थानीय दूरी से ही नहीं है अपितु सामयिक दूरी से भी है । कलास्वादन के समय हम कला-वस्तु से इस प्रकार सम्बन्धित हो जाते हैं कि जिससे हम उससे कल्पनात्मक दूरी अनुभव करते हैं । यह दूरी दो प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती है ; एक तो हम अपनी व्यावहारिक चेतना को निष्क्रिय करके कलाकृति को ग्रहण करते हैं तथा दूसरे हम अपने व्यक्तिगत प्रयोजनों के संदर्भ से मुक्त रहते हैं ।

मानसिक अन्तराल की प्रक्रिया के भी दो पक्ष माने गये हैं – निषेधात्मक और विधेयात्मक । निषेधात्मक पक्ष के अनुसार कला-वस्तु के व्यवहारिक पक्षों तथा तत्सम्बन्धी व्यावहारिक प्रवृत्तियों का निषेध किया जाता है जबकि विधेयात्मक पक्ष के अनुसार हम कला-वस्तु को वस्तुनिष्ठ (objective) रूप में हम देखते हुए वैयक्तिक अनुभूतियों को एक ऐसा रूप देते हैं कि जिससे निजी सत्ता की अपेक्षा सामान्य विशेषताएँ परिलक्षित होने लगती हैं ।

बुलो ने यह भी स्पष्ट किया है कि निर्वैयक्तिकता या अनासक्ति के सिद्धान्त से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि कला वस्तु के साथ सामाजिक का सम्बन्ध सर्वथा बौद्धिक या भाव-शून्य रहता है, जबकि मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त इस भ्रान्ति का निराकरण करता है अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार कला की विषय-वस्तु के साथ प्रमाता का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है—इतना अवश्य है कि यह सम्बन्ध एक विलक्षण प्रकार का होता है ।

मानसिक अन्तराल की स्थिति में कला के साथ प्रमाता का सम्बन्ध लौकिक या व्यावहारिक स्तर पर न होकर काल्पनिक स्तर पर स्थापित होता है ।

सभी कृतियों एवं पाठकों के बीच इस मानसिक अन्तराल की मात्रा सर्वत्र समान नहीं रहती । यह कला-कृति के वैशिष्ट्य एवं प्रमाता की क्षमता पर निर्भर है कि दोनों के बीच मानसिक अन्तराल की मात्रा कितनी रहती है । कलास्वादन के लिए प्रमाता का वैयक्तिक पूर्वाग्रहों से मुक्त रहना भी मानसिक अन्तराल के लिये अपेक्षित है ।

मानसिक अन्तराल-सिद्धान्त के प्रतिपादक ने यह भी स्वीकार किया है कि अन्तराल की मात्रा का अत्यधिक होना भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति प्रमाता के मन में कला-वस्तु के प्रति अविश्वसनीयता, असंभाव्यता, कृत्रिमता, एवं निरर्थ-

---

4. Edward Bullough : Psychical Distance As a Factor in Art and As an Aesthetic Principle : British Journal of Psychology ; Volume V, 1912

कता के भाव उत्पन्न कर सकती है। वस्तुतः बुलो के अनुसार आदर्श स्थिति यह है कि कला-वस्तु एवं प्रमाता के बीच मानसिक दूरी कम से कम रहे फिर भी वह सर्वथा लुप्त न हो पाये।

अस्तु, संक्षेप में कहा जा सकता है कि बुलो के मतानुसार जहाँ व्यावहारिक क्षेत्र में हम विषय वस्तु के अति नैकट्य के कारण उसके वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन नहीं कर पाते वहाँ कलानुभूति के क्षेत्र में हम इस अति निकटता की स्थिति से ऊपर उठ जाते हैं जिससे कला-वस्तु के वास्तविक रूप का अनुभव कर पाते हैं।

(घ) **भाव-प्रेषण का सिद्धान्त—टालस्टाय** ने कला का सर्व प्रमुख कार्य भाव-प्रेषण मानते हुए उसकी दो प्रक्रियाओं पर बल दिया है[५]—(१) कलाकार एवं सामाजिक का पारस्परिक भावात्मक तादात्म्य एवं (२) सामाजिक की अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्ति। उन्होंने स्पष्ट किया कि सच्ची कला के आस्वादन के समय पाठक या सामाजिक कलाकार की आत्मा से इस प्रकार संयुक्त हो जाता है कि दोनों में भावात्मक तादात्म्य स्थापित हो जाता है। दूसरे, इस स्थिति में सामाजिक अपने व्यक्तित्व की पृथकता की भावना से भी मुक्त हो जाता है। वस्तुतः तादात्म्य एवं अपने व्यक्तित्व से मुक्ति—ये दोनों प्रक्रियाएँ अन्योन्याश्रित हैं। इसके लिए सामाजिक को विशेष चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(ङ) **समन्वयात्मक सिद्धान्त**—कुछ विद्वानों ने रसानुभूति के प्रसंग में किसी एक व्यापार या क्रिया पर ही बल न देकर उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं का विश्लेषण करते हुए उनके पारस्परिक समन्वय को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है। इस वर्ग के विद्वानों में **हरमन लात्ज** (१८१७-१८८१ ई०) एवं **आई० ए० रिचर्ड्स** (जन्म १८९३ ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[६] लात्ज ने रसानुभूति की क्रिया को तीन प्रक्रियाओं में विभक्त किया—(१) इन्द्रिय-बोधानुकूलता (१) प्रसन्नता-दायक बौद्धिक उत्कर्ष और (३) सौन्दर्यानुभूति। सर्वप्रथम हम कला का बोध इन्द्रियों के माध्यम से करते हैं, जिससे हमारा मन कला-वस्तु की ओर आकर्षित होता है। यदि हमारी इन्द्रियाँ ही कला के प्रति आकर्षित नहीं हुईं तो उस स्थिति में हमारे मन में भी उसके प्रति विकर्षण उत्पन्न हो जायगा, जिसके परिणाम-स्वरूप कलानुभूति की क्रिया अपने लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व ही अवरुद्ध हो जायगी। इन्द्रिय-बोधानुकूलता के अनन्तर द्वितीय अवस्था में हमारी बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदनाओं को हमारे संस्कारों, स्मृतियों एवं अनुभूतियों से समन्वित करती हुई प्रसन्नतादायक प्रभाव उत्पन्न करती है। इसके अनन्तर तीसरी अवस्था में हमारी

5-3. What is Art ?' : Leo Tolstoy

६. इनके मतों का विस्तृत परिचय एवं संदर्भ पीछे प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खंड में दिया जा चुका है।

आत्मा कला के स्वस्थ सौन्दर्य का समन्वयात्मक रूप में आस्वादन करती हुई आनन्दानुभूति प्राप्त करती है। इस प्रकार कला-स्वादन या रसानुभूति का कार्य इन्हीं तीनों प्रक्रियाओं के माध्यम से सम्पन्न होता है।

रिचर्ड्स महोदय ने रसानुभूति के कार्य को मुख्यतः छह प्रक्रियाओं में विभक्त किया है—(१) कला के स्वरूप का नेत्रों (इन्द्रियों) के माध्यम से ग्रहण। (२) नेत्रों (इन्द्रियों) द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से सम्बन्धित बिम्बों का ग्रहण। (३) स्वतन्त्र बिम्बों का उदय (४) बिम्बों से सम्बन्धित विषयों का बोध (५) भावानुभूति और (६) सामाजिक की मनोवृत्ति या भावात्मक दृष्टि (attitude) का प्रभावित होना। रिचर्ड्स ने यहाँ स्पष्टतः आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए बिम्बात्मकता पर विशेष बल दिया है। साथ ही उन्होंने रसानुभूति की चरम स्थिति में प्रमाता की मनोवृत्तियों या भावात्मक दृष्टिकोणों के सामंजस्य को भी संतुष्टि या आह्लाद का आधार घोषित किया है। वैसे, रिचर्ड्स महोदय भी कलाओं के माध्यम से भाव-संप्रेषण की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं, उनके तत्सम्बन्धी विचारों का परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। अस्तु, उन्होंने भावात्मक संप्रेषण के द्वारा मनोवृत्तियों के संतुलन को ही रसानुभूति का चरम लक्ष्य मानते हुए उसकी पूर्त्ति उपर्युक्त प्रक्रियाओं के माध्यम से मानी है। अतः उन्होंने जहाँ परम्परागत निर्वैयक्तिकता एवं समानुभूति सम्बन्धी धारणाओं को नया रूप दिया है, वहाँ दूसरी ओर उन्हें मनोवैज्ञानिक आधार भी प्रदान किया है।

● **पाश्चात्य मतों का संश्लेषण** —

उपर्युक्त सिद्धान्तों को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि कला से सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति की उपलब्धि का कार्य निम्नांकित प्रक्रियाओं के माध्यम से सम्पादित होता है—

(क) निर्वैयक्तिकता (निजी स्वार्थ से मुक्ति) की प्रक्रिया के द्वारा (काण्ट)
(ख) निजी इच्छाओं से मुक्ति की प्रक्रिया के द्वारा। (शापनहावर)
(ग) निजी व्यक्तित्व से पलायन के द्वारा। (इलियट)
(घ) समानुभूति अर्थात् काव्य-वस्तु एवं प्रमाता के तादात्म्य के द्वारा (लिप्स)
(ङ) मानसिक अन्तराल की स्थापना के द्वारा (बुलो)
(च) भावात्मक तादात्म्य एवं निर्वैयक्तिता की प्रक्रिया के द्वारा (टाल्सटाय)
(छ) इन्द्रिय-बोध, बौद्धिक उत्कर्ष, एवं सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रियाओं के द्वारा (लात्ज)
(ज) इन्द्रिय-बोध, बिम्ब-ग्रहण, स्वतन्त्र बिम्बों के उदय, विषय-बोध भावानुभूति एवं मनोवृत्तियों के संतुलन की प्रक्रियाओं के द्वारा (रिचर्ड्स)

यदि उपर्युक्त मतों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा

कि इनमें से अनेक मत तो एक ही प्रक्रिया-विशेष के विभिन्न पक्षों के द्योतक हैं; उनमें अन्तर शब्दावली का ही है यथा, निर्वैयक्तिकता, वैयक्तिक इच्छाओं से मुक्ति, वैयक्तिक स्वार्थों से पलायन, आदि सिद्धान्त इसी स्थिति के सूचक हैं कि रसानुभूति के समय प्रमाता निजी या वैयक्तिक संकीर्णताओं से ऊपर उठ जाता है। अतः इन सबका समन्वय **निर्वैयक्तिकता** के अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रकार बुलो का मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त भी अन्ततः प्रमाता को स्थानगत नैकट्य या कालगत नैकट्य की स्थिति से कल्पनात्मक रूप में ऊपर उठ जाने की बात स्वीकार करता है। प्रश्न यह है कि देश और काल की दूरी का लक्ष्य क्या है? क्या यह ठीक नहीं है कि जहाँ देश-काल की सीमा वैयक्तिक संकीर्णता का द्योतक है वहाँ उनसे दूर चला जाना निर्वैयक्तिकता सार्वजनीनता, तटस्थता आदि का द्योतक है। वस्तुतः व्यक्ति की सीमा उससे सम्बन्धित देश-काल की सीमा ही है—अतः अन्ततः मानसिक अन्तराल इस सीमा से मुक्ति का ही द्योतक है। अस्तु, हमारे विचार में भले ही शाब्दिक दृष्टि से बुलो ने निर्वैयक्तिकता एवं अनासक्ति (Detachment) के विरुद्ध एक नये सिद्धान्त की स्थापना का भ्रम उत्पन्न किया हो किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो उनका अपना सिद्धान्त भी निर्वैयक्तिकता के ही स्थूल रूप एवं बाह्य पक्ष का द्योतक है। व्यक्ति का सूक्ष्म आन्तरिक पक्ष जहाँ उसकी निजी इच्छाओं एवं वृत्तियों का सूचक है, वहाँ उसका स्थूल बाह्य पक्ष उसकी देश-कालगत संकीर्णता से सम्बधित है। अतः कहना चाहिए कि जहाँ काट, शापनहावर, इलियट आदि ने आन्तरिक दृष्टि से निर्वैयक्तिकता का अनुमोदन किया था, वहाँ बुलो ने उसके बाह्य पक्ष पर अधिक बल दिया है। अतः मानसिक अन्तराल के सिद्धान्त को भी **निर्वैयक्तिकता** की ही एक स्थिति-भेद का द्योतक मानते हुए, उसे भी इसी में—निर्वैयक्तिकता या तटस्थता में—ही समन्वित कर लिया जाय तो अनुचित न होगा।

इसी प्रकार भावात्मक तादात्म्य, भाव-संप्रेषण आदि से सम्बन्धित अवधारणाएँ भी समानुभूति के सिद्धान्त में समन्वित हो जाती हैं; क्योंकि ये सब अन्ततः कवि और पाठक, कलाकार एवं सामाजिक के पारस्परिक भावात्मक तादात्म्य पर ही बल देती हैं। अन्ततः कवि की अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व काव्य-वस्तु के माध्यम से ही होता है, अतः हम चाहे काव्य-वस्तु या काव्यगत पात्रों अथवा नायक के साथ तादात्म्य की बात कहें या स्वयं कवि एवं कलाकार के साथ तादात्म्य की कहें—व्यावहारिक दृष्टि से दोनों एक ही प्रक्रिया की सूचक हैं। अतः हमारे विचार से इन धारणाओं में परस्पर सूक्ष्म अन्तर के होते हुए भी स्थूल रूप में इन सबको 'भावात्मक तादात्म्य' के सिद्धान्त के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जा सकता है।

लात्ज एवं रिचड्‌स के द्वारा उल्लिखित प्रक्रियाओं में भी परस्पर गहरा साम्य है; किन्तु लात्ज ने जहाँ बिम्ब-ग्रहण की प्रक्रिया को उपेक्षित किया वहाँ रिचड्‌स ने बौद्धिक उत्कर्ष की प्रक्रिया को सर्वथा भुला दिया। जिसे लात्ज सौन्दर्या-

नुभूति या आनन्दानुभूति कहते हैं, उसे रिचर्ड्स ने भावानुभूति एवं संतुलन-प्रक्रिया का नाम दिया है। अस्तु, हम दोनों मतों को एक-दूसरे का पूरक मानते हुए क्रमशः सौन्दर्यानुभूति की क्रिया के अन्तर्गत क्रमशः ऐन्द्रिय-बोध, अर्थ-बोध, बिम्ब-ग्रहण, भावानुभूति एवं संवेग-संतुलन की प्रक्रियाओं को स्थान दे सकते हैं।

अन्त में हम उपर्युक्त सभी मतों का स्थूल रूप से संश्लेषण करते हुए कह सकते हैं कि पाश्चात्य विचारकों के अनुसार सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति की क्रिया निम्नांकित प्रक्रियाओं के माध्यम से क्रमशः सम्पादित होती है—(क) इन्द्रियबोध (ख) अर्थ-बोध (ग) बिम्ब-ग्रहण (घ) बोध का निर्वैयक्तिक करण एवं तादात्म्य की प्रक्रिया (ङ) स्वतन्त्र बिम्बों का उदय। (च) रसानुभूति की चरम स्थिति जिसमें विभिन्न विरोधी एवं अविरोधी मनोवृत्तियाँ परस्पर लीन, सन्तुलित एवं समन्वित होकर एक विलक्षण आह्लाद की स्थिति (मनः स्थिति) उत्पन्न कर देती हैं, जिसे रिचर्ड्स के शब्दों में 'समन्वय या सामंजस्य की प्रक्रिया' कह सकते हैं।

● भारतीय आचार्यों के मत

भारतीय रसवादी आचार्यों में से अनेक ने रसानुभूति की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जिसमें भट्टनायक, अभिनवगुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके मतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

सर्व प्रथम **भट्टनायक** ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उसकी मुख्यतः तीन शक्तियों या प्रक्रियाओं की स्थापना की—(१) अभिधा शक्ति की प्रक्रिया (२) भावकत्व शक्ति की प्रक्रिया और (३) भोजकत्व शक्ति की प्रक्रिया।[७] इन तीनों प्रक्रियाओं से काव्य-वस्तु या कला-वस्तु का क्रमशः अर्थ-बोध भावन एवं आस्वादन होता है। भावकत्व की प्रक्रिया के कारण ही काव्य वस्तु का साधारणीकरण हो जाता है, जिसका अर्थ यह है कि काव्यगत भावनाएँ किसी व्यक्ति-विशेष की अनुभूतियाँ न रहकर सर्व-साधारण की अथवा प्रत्येक सहृदय पाठक की अनुभूतियाँ बन जाती हैं। इसी को पाश्चात्य विद्वानों ने इम्पैथी (empathy) या समानुभूति का सिद्धान्त कहा है। दूसरी ओर भावकत्व की प्रक्रिया के कारण पाठक या सामाजिक अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त हो जाता है। भावकत्व की प्रक्रिया के अन्तर पाठक या सामाजिक कलानुभूति के मधुर आस्वाद में निमग्न हो जाता है, इसी प्रक्रिया को भोजकत्व व्यापार का नाम दिया गया है।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने रसानुभूति की मुख्यतः चार प्रक्रियाएँ स्वीकार की हैं—(१) अर्थ का प्रकाशन, (२) कलागत सौन्दर्य का बोध, (३) साधारणीकरण या

---

७. इनका विस्तृत परिचय एवं संदर्भ पीछे द्वितीय खण्ड में दिया जा चुका है।

तादात्म्य और (४) अभिव्यक्ति। अर्थ के प्रकाशन से तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम सामाजिक कलावस्तु का अर्थबोध प्राप्त करता हैं। तदन्तर सामाजिक की कला-वस्तु में रुचि उत्पन्न होती है जिसके कारण कला के वस्तुगत सौन्दर्य के प्रति उसके मन में आकर्षण उत्पन्न होता है, इसी को सौन्दर्य-बोध की प्रक्रिया कह सकते हैं। तीसरी प्रक्रिया साधारणीकरण या तादात्म्य की है जिसके द्वारा सामाजिक का कलाकार या काव्य के नायक के साथ भावात्मक तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसके अनन्तर अन्तिम प्रक्रिया अभिव्यक्ति की है। अभिनवगुप्त के विचारानुसार काव्य-वस्तु के आस्वादन के कारण प्रथम तीन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त एक अन्य प्रक्रिया व्यंजना की होती है जिससे पाठक या सामाजिक की वासनाएँ या सहज प्रवृत्तियाँ उद्‌बुद्ध होकर अभिव्यक्त होने लगती हैं। यह अभिव्यक्ति ही कला का सर्वोच्च लक्ष्य है तथा इसी की प्रक्रिया के कारण सामात्तिक कला के माध्यम से एक विलक्षण प्रकार का आनन्द प्राप्त करता है।

अभिनवगुप्त-परवर्ती मध्ययुगीन आचार्यों ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में किसी नूतन दृष्टि का परिचय नहीं दिया—रामचन्द्र गुणचन्द्र, विश्वनाथ प्रभृति ने उसके स्वरूप के सम्बन्ध में अवश्य कुछ नूतन संकेत दिये हैं, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है, किन्तु जहाँ तक प्रक्रिया की बात है, उन्होंने प्रायः अभिनवगुप्त का ही अनुसरण किया है।

आधुनिक युग के कतिपय आचार्यों ने अवश्य इसके सम्बन्ध में नूतन दृष्टि-कोण से विचार किया है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने विभिन्न लेखों में रसात्मक बोध का विवेचन करते हुए, सामान्यतः उसकी निम्नांकित प्रक्रियाओं का स्पष्टीकरण किया है[८]—

(क) कविता से सर्वप्रथम शब्द-विन्यास के कारण श्रोता का ध्यान आकर्षित होना।

(ख) भावों के स्वरूप का प्रत्यक्ष होना।

(ग) नाना पदार्थों के साथ उनके प्रकृत सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होना।

(घ) अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार होना।

(ङ) काव्यगत भाव के आलम्बन से पाठक का साधारणीकरण।

(च) हृदय की मुक्तावस्था का बोध या आनन्दानुभुति।

उपर्युक्त संकेतों के अनुसार काव्यानुभूति के अन्तर्गत क्रमशः ऐन्द्रिय-बोध, भावात्मक बोध, प्रकृत सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण, वैयक्तिकता का परिहार, साधारणी-करण, मुक्तावस्था का बोध—आदि प्रक्रियाएँ स्वीकार की जा सकती हैं, किन्तु इनमें से अनेक प्रक्रियाएँ एक ही स्थिति की द्योतक हैं, उनमें परस्पर नाम का ही अन्तर है;

---

८. रस-मीमांसा; पृ० सं० ८८, २६०।

यथा—आलम्बन के प्रकृत सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण, निर्वैयक्तिकता एवं साधारणीकरण—ये तीनों प्रक्रियाएँ वस्तुतः एक ही स्थिति की द्योतक हैं; अतः इन सब का समाहार साधारणीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जा सकता है। किन्तु जहाँ साधारणीकण नहीं होता, उस काव्यानुभूति को भी वे मध्यम कोटि की रसानुभूति मानते हुए वहाँ केवल आश्चर्य या कौतूहल की ही अनुभूति मानते हैं। अतः कहा जा सकता है कि आश्चर्य शुक्ल के मतानुसार उच्चकोटि की रसानुभूति में क्रमशः ऐन्द्रियबोध, भावात्मक बोध, साधारणीकरण एवं हृदय की मुक्त दशा के आस्वादन की प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती है, वहाँ मध्यम कोटि की रसानुभूति केवल प्रथम दो प्रक्रियाओं के अनन्तर आश्चर्यपूर्ण प्रसादन या अवसादन—जिसे 'मनोरंजन' भी कहा गया है—की प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

डॉ० नगेन्द्र ने रसानुभूति एवं रस-निष्पत्ति के अन्तर्गत मुख्यतः साधारणीकरण व्यापार का विवेचन-विश्लेषण विस्तार से करते हुए विभिन्न प्रक्रियाओं का संकेत अप्रत्यक्ष रूप में किया है; यथा[१]—

- 'साधारणीकरण का आधार है **भाषा का भावमय प्रयोग**।'........'भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं—एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिससे भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालों के हृदयों में **समान भाव उद्‌बुद्ध करने की शक्ति** आ जाती है'।

- 'जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सके कि वह सभी के हृदय में **समान अनुभूति जगा** सके तो........उसमें साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है।'

- '........मेघनाथवध' में........हिन्दू पाठक भी अपने **व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर** कवि के साथ कुछ समय के लिए **तादात्म्य** कर लेता है।'

उपर्युक्त उद्धरणों में साधाणीकरण की व्याख्या कवि को केन्द्र बनाकर की गई है। किन्तु उनमें रेखांकित अंश पाठक की प्रक्रियाओं की सूचना देते हैं, जिन्हें व्यवस्थित करते हुए कहा सकता है कि डॉ० नगेन्द्र के अनुसार रसानुभूति का मूल आधार है—साधारणीकरण तथा साधारणीकरण में क्रमशः ये प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं—(१) काव्य-भाषा के द्वारा भावों का उद्‌बोधन (२) व्यक्तिगत एवं जातिगत संस्कारों से मुक्त हो जाना (३) काव्य-वस्तु के प्रति समानुभूति जगना और (४) कवि के साथ तादात्म्य। अस्तु, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि

---

१. रस-सिद्धान्त; पृष्ठ २११-२१३

डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार काव्यानुभूति या रसानुभूति में क्रमशः भावोद्‌बोधन, निर्वैयक्तिकता, समानुभूति एवं तादात्म्य की प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

अन्त में हम विभिन्न भारतीय मतों में समन्वय स्थापित करने के लिए उन्हें यहाँ तालिका रूप में प्रस्तुत करते हैं—

तालिका : भारतीय दृष्टि से रसानुभूति की प्रक्रियाएँ

	भट्टनायक	अभिनवगुप्त	आँ० शुक्ल	डॉ० नगेन्द्र
१	×	×	=ऐन्द्रिय बोध या प्रत्यक्षीकरण	×
२	अभिघा की प्रक्रिया (अर्थ-बोध)	=काव्यार्थ का प्रकाशन	×	×
३	भावकत्व की प्रक्रिया (अर्थ का भावन)	=कलागत सौंदर्य का बोध	=भावात्मक बोध	=भाषा के भावमय प्रयोग से भावोद्वेलन
४	साधारणीकरण	={साधारणीकरण व तादात्म्य	=साधारणीकरण	={निर्वैयक्तिता समानुभूति तादात्म्य
५	भोजकत्व की प्रक्रिया या आस्वादन	×	={हृदय की मुक्त अवस्था का बोध	×
६	×	=अभिव्यक्ति	×	×

उपर्युक्त तालिका के अनुसार हम भारतीय आचार्यों द्वारा उल्लिखित मतों का समन्वय निम्नांकित छह प्रक्रियाओं के अन्तर्गत कर सकते हैं—

(१) **ऐन्द्रिय-बोध**—काव्य या कला का ऐन्द्रियक माध्यम से ग्रहण

(२) **अर्थबोध**—ऐन्द्रियक संवेदनाओं का सामान्य अर्थ-ग्रहण

(३) **भावन**—भाषा के भावमय प्रयोग तथा गुण-अलंकारादि सौन्दर्य के कारण कला-वस्तु का भावात्मक रूप में ग्रहण।

(४) **साधारणीकरण**—विषय वस्तु का निर्वैयक्तिक रूप में ग्रहण, जिसे 'साधारणीकरण' 'तादात्म्य', 'समानुभूति' आदि का नाम दिया गया है।

(५) **आस्वादन**—अहं से मुक्ति एवं तादात्म्य आदि के कारण कटु भावों से भी माधुर्य की अनुभूति।

(६) **अभिव्यत्ति**—भोक्ता की अंतश्चेतना या वासना का द्रवीभूत होकर सत्त्व रूप में व्यक्त होने लगना। रसानुभूति की चरम स्थिति की द्योतक अन्तिम प्रक्रिया।

हमारे विचार में उपर्युक्त छह प्रक्रियाओं के अन्तर्गत न केवल प्रमुख भारतीय मतों का समन्वय हो जाता है, अपितु रसानुभूति की क्रिया का भी एक परिपूर्ण रूप प्रस्तुत हो जाता है।

● भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का तुलनात्मक अध्ययन

यदि हम उपर्युक्त भारतीय मतों के समन्वित रूप से पूर्वोक्त पाश्चात्य मतों (निष्कर्षों) की तुलना करें तो दोनों में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होगी; यथा—

भारतीय मत		पाश्चात्य मत
(१) ऐन्द्रिय-बोध	=	ऐन्द्रिय-बोध
(२) अर्थ-बोध	=	अर्थबोध
(३) भावना	=	बिम्ब-ग्रहण
(४) साधरणीकरण	=	निर्वैयक्तिता या तादात्म्य।
(५) आस्वादन	=	स्वतन्त्र विम्बों का उदय।
(६) अभिव्यक्ति	=	सामंजस्य (विभिन्न अन्त-वृत्तियों में पारस्परिक समन्वय)

उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य मतों में से अन्तिम दो को छोड़कर शेष में तो कहीं-कहीं शब्दावली का ही अन्तर है, अन्यथा वे अभिन्न हैं। अन्तिम में 'आस्वादन' एवं 'स्वतन्त्र बिम्बों का उदय' तथा 'अभिव्यक्ति व समन्वय' में परस्पर अवश्य अन्तर है। 'स्वतन्त्र बिम्बों का उदय' का आशय स्वतन्त्र, व्यक्ति-निरपेक्ष, कटुता से शून्य बिम्बों से लिया जाय तो वे आस्वादन या रसास्वादन की ही प्रक्रिया के द्योतक होंगे। अन्तश्चेतना के जागरण एवं अभिव्यंजन-व्यापार में मन

की सभी वृत्तियाँ समाधि अवस्था को प्राप्त हो जायगीं, इसीलिए इसे अभिनवगुप्त ने 'निर्विघ्न विश्रान्ति' की स्थिति से सम्बन्धित माना है—ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि सभी विरोधी एवं अविरोधी प्रवृत्तियाँ परस्पर समन्वित हो जायँ। वस्तुतः रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित वृत्तियों के सामंजस्य का सिद्धान्त अभिनवगुप्त की 'निर्विघ्न विश्रान्ति' से बहुत भिन्न नहीं है, किन्तु अभिनवगुप्त के विचार से यह यह स्थिति अभिव्यंजना की प्रक्रिया के समय प्राप्त होती है—अतः हम अन्तिम मतों में भी समन्वय स्थापित करते हुए कह सकते हैं कि **अभिव्यंजना** एक प्रक्रिया है, जबकि **सामंजस्य** एक स्थिति है, किन्तु दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं।

हमने अन्यत्र साहित्य की व्याख्या आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के आधार पर करते हुए काव्यास्वादन की सभी प्रक्रियाओं को आकर्षण-शक्ति की ही प्रक्रियाओं में स्थान दिया है।[१०] आकर्षण-शक्ति सामान्यतः इन चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य संपादित करती है—(१) संयोजन (२) संप्रेषण (३) द्रवण और (४) अभिव्यक्ति। काव्य एवं कलाओं के आस्वादन में भी सामाजिक की प्रवृत्ति मूलतः कृति की आकर्षण-शक्ति के कारण होती है तथा उसी शक्ति के बल पर वह उपर्युक्त चारों प्रक्रियाओं के माध्यम से रसानुभूति प्राप्त करता है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा परिगणित प्रक्रियाओं का भी समन्वय उपर्युक्त चार प्रक्रियाओं में हो जाता है; देखिये—

(१) **संयोजन की प्रक्रिया**—ऐन्द्रियक एवं बौद्धिक आकर्षण (रुचि, जिज्ञासा कुतुहल आदि) के कारण सामाजिक का कला-वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है, इसी में हम पूर्वोक्त ऐन्द्रिय-बोध एवं अर्थ-बोध की प्रक्रियाओं को समाविष्ट कर सकते हैं।

(२) **संप्रेषण की प्रक्रिया**—इस प्रक्रिया से कला-वस्तु एवं सामाजिक में क्रमशः गहरा तादात्म्य स्थापित हो जाता है। भावन, बिम्ब-ग्रहण, साधारणीकरण आदि को इसी में स्थान दिया जा सकता है।

(३) **द्रवण की प्रक्रिया**—इस प्रक्रिया से सामाजिक का हृदय भावानुभूतियों से आप्लावित होकर कलाकृति में विभोर हो जाता है। आस्वादन की प्रक्रिया भी इसी की पर्याय है।

(४) **अभिव्यक्ति की प्रक्रिया**—यह आकर्षण-शक्ति की अन्तिम प्रक्रिया है, सामाजिक भावोद्रेक के अनन्तर विभिन्न सात्त्विक अनुभावों के रूप में या किसी भी अन्य रूप में अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है; इसी प्रक्रिया को अभिनवगुप्त ने अभीव्यक्ति के नाम से स्वीकार किया है।

---

१०. साहित्य-विज्ञान : प्रथमखण्ड (साहित्य की आकर्षण शक्ति); अध्याय ८-९।

अस्तु, यहाँ हमने भारतीय एवंपाश्चात्य मतों में समन्वय स्थापित करने के लक्ष्य से आकर्षण-शक्ति की प्रक्रियाओं का संकेत मात्र किया है—इनका विस्तृत विवेचन अन्यत्र, स्वतन्त्र दृष्टि से रस-सिद्धान्त पर विचार करते समय, किया जायगा। अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रसानुभूति की प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों एवं भारतीय रस-सैद्धान्तिक आचार्यों में गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है जो इस सिद्धान्त की व्यापकता एवं प्रौढ़ता का परिचायक है।

७ करुण, त्रासादि से रसानुभूति का रहस्य

कला-विवेचन के क्षेत्र में प्रायः यह विवाद का विषय रहा है कि करुण (शोक) त्रास, भय, घृणा आदि भावों के कलात्मक आस्वादन से सौन्र्यानुभूति या रसानुभूति क्यों प्राप्त होती है, जबकि व्यावहारिक जीवन में ये भाव कटु, तीक्ष्ण एवं शोकप्रद माने जाते हैं। इस विषय पर विभिन्न पाश्चात्य कला-चिंतकों एवं भारतीय आचार्यों ने गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। हम यहाँ उनका क्रमशः अध्ययन करते हुये इस विषय पर तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

● **पाश्चात्य कला-चिन्तकों के मत—**

पाश्चात्य कला-चिन्तकों में यहाँ सर्वप्रथम **अरस्तू** का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने त्रासदी के प्रसंग में उपर्युक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उन्होंने इस विषय में **विरेचन-सिद्धान्त** की स्थापना करते हुए प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार रेचक औषधि शरीर से अशुद्ध एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थों का रेचन या निष्कासन करके हमारे शरीर को शुद्ध एवं स्वस्थ बनाती है उसी प्रकार त्रासदी हमारे मन में अवस्थित दूषित मनोविकारों को निष्कासित करके उसे स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता प्रदान करती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कला के माध्यम से हमारे मन के कटु, तिक्त एवं शोकप्रद भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है और इसलिये हमें कला से आनन्दानुभूति प्राप्त होती है। हमारे विचार में अरस्तू का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण एवं भ्रामक है। यदि त्रासदी में हमारे कटु भावों की अभिव्यक्ति हो जाने के कारण हमें आनन्द प्राप्त होता है तो कामदी में प्रसन्नतादायक भावों की अभिव्यक्ति के कारण हमें दुःख होना चाहिये और जहाँ तक अभिव्यक्ति

की बात है लौकिक जीवन में भी जीवन के कष्टदायक प्रसंगों में हमारे कटुभावों की अभिव्यक्ति होती है किन्तु फिर भी हमें वहाँ आनन्द प्राप्त नहीं होता। अतः विरेचन सिद्धान्त से पूर्वोक्त समस्या का समाधान नहीं होता।

सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी के अनेक सौन्दर्य शास्त्रियों ने उपर्युक्त प्रश्न पर पुनर्विचार करते हुए अनेक नई स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। **डेकार्टे** (१५९६–१६५० ई०) ने इस सम्बन्ध में मुख्यतः तीन विचार प्रस्तुत किये—(१) कला में दुष्ट एवं क्रूर पात्रों को दुःखी रूप में देखकर हमें करुणा की अपेक्षा हर्ष की अनुभूति अधिक होती है। (२) करुणा में प्रेम और सद्भावना का मिश्रण रहता है। जब हम कलागत पात्रों के प्रति करुणा की भावना अनुभूत करते हैं तो उस समय अप्रत्यक्ष में हम उनके प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं उदारता प्रदर्शित करते हैं। मानव मन की यह प्रकृति है कि वह प्रेम, सहानुभूति और उदारता के प्रदर्शन से सन्तोष एवं आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। (३) रंगमंच या कला के माध्यम से प्रस्तुत शोकपूर्ण दृश्य वास्तविक दृश्य नहीं होते—उनकी अवास्तविकता और अयथार्थता का ज्ञान हमारे अन्तर्मन में बराबर बना रहता है जिससे उनकी कटुता एवं तिक्तता का प्रभाव कम हो जाता है। डेकार्टे के उपर्युक्त विचारों की समीक्षा हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहाँ पहले दो विचार केवल कला पर ही नहीं, वास्तविक जीवन की अनुभूतियों पर भी लागू होते हैं; अतः वे लौकिक अनुभूतियों और कलाजन्य अनुभूतियों के अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पाते, वहाँ तीसरा विचार स्वयं कलानुभूति के ही स्वरूप को भ्रामक रूप में प्रस्तुत करता है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि कला की अयथार्थता के कारण उसका प्रभाव लौकिक अनुभूतियों की तुलना में न्यून या अल्प मात्रा में ही होता है। इससे यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि कला से कोई गम्भीर प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। वस्तुतः डेकार्टे ने अधिक से अधिक इसी बात का उत्तर दिया है कि कला में कटुभावों का प्रभाव किस प्रकार न्यून हो जाता है। जबकि मूल समस्या यह है कि उनका स्वाद किस प्रकार बदल जाता है?

आगे चलकर **एडिसन** (१६७२–१७१९ ई०) ने प्रतिपादित किया कि हम कलागत पात्रों से मन ही मन अपनी स्थिति की तुलना करते रहते हैं और जब हम यह देखते हैं कि कलागत पात्र तो त्रस्त एवं दुःखी हैं तो हम यह सोचकर कि हमारी स्थिति उनसे उच्चतर है, प्रसन्न एवं आह्लादित होते हैं। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि हमारा कलागत पात्रों से तादात्म्य नहीं होता अपितु हम अपनी तुलना उनसे करते रहते हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर हमें कामदी से ईर्ष्या, द्वेष शोक की अनुभूति होनी चाहिये क्योंकि जिस प्रकार त्रासदी में हमारी स्थिति कलागत पात्रों या नायक से उच्चतर होती है, उसी प्रकार कामदी में निम्नतर होती है। वस्तुतः एडिसन का यह मत कलानुभूति के मूल स्वरूप के ही प्रतिकूल है क्योंकि इसमें कलानुभूति को भी एक सामान्य लौकिक अनुभूति के तुल्य मानते हुए

तादात्म्य की स्थिति की अवहेलना कर दी गयी है; अतः इसे स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता ।

बर्क के अनुसार कलाजन्य आनन्द अनुकृति का आनन्द है । जब हमें इस तथ्य का बोध होता है कि कला में प्रस्तुत विषय न वास्तविक है, न मिथ्या अपितु अनुकृति मात्र है तो इससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है । किन्तु हमारे विचार में तो ऐसी स्थिति में हमें किसी भी भाव की अनुभूति नहीं होनी चाहिये जबकि कला से हमें भावानुभूति प्राप्त होती है ।

हीगल ने इस सम्बन्ध में दो विचार प्रस्तुत किये—(१) शोकपूर्ण रचनाओं का आधार काल्पनिक होता है, इसलिए हम उनसे दुःखी नहीं होते । (२) कला में भय-त्रास, शोक आदि का चित्रण ईश्वरीय न्याय का बोध करवाने के लिए किया जाता है इसलिए हमें उससे शान्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता है । इसी प्रकार **शापेनहावर** ने भी प्रतिपादित किया कि कलागत शोक से हमारे मन में सुख के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है तथा हम इच्छाओं के वेग से ऊपर उठ जाते हैं, इसलिये हमें उससे मुक्ति के आनन्द की अनुभूति या रसानुभूति प्राप्त होती है।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री **जार्ज सैंतायना** के विचार से मनुष्य की बुद्धि सदा सत्य की उपलब्धि के लिये सचेष्ट एवं लालायित रहती है । सत्य भले कितना कटु क्यों न हो, उसे जानने या पहचानने की इच्छा हमारे मन में सदैव बनी रहती है । सत्य की प्यास या जिज्ञासा के कारण ही हम दुःखद घटनाओं को तल्लीनतापूर्वक देखते हैं । ज्ञान या सत्य की उपलब्धि से हमें अमित सन्तोष प्राप्त होता है । कला में करुण से आनन्द-प्राप्ति का आधार भी यही है । सैंतायना महोदय का उपर्युक्त मत आंशिक रूप में ही सत्य है । उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया कि वास्तविक या व्यावहारिक जीवन में ऐसा क्यों नहीं होता ? जिज्ञासा की भावना व्यावहारिक जीवन में भी रहती है फिर भी वहाँ हम दुःखद घटनाओं से आनन्दानुभूति प्राप्त नहीं करते ।

इस प्रकार विभिन्न पाश्चात्य विचारकों ने विभिन्न मत प्रतिपादित किये हैं, जिन्हें सूत्र-रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि कलागत त्रास, करुण आदि कटुभावों की माधुर्य में परिणति का कारण है—

—दुःखद भावों का विरेचन हो जाना । (अरस्तू)
—प्रेम, सहानुभूति एवं उदारता के प्रदर्शनजन्य संतोष । (डेकार्टे)
—कलागत पात्रों से अपनी उच्चतर स्थिति का बोध । (एडिसन)
—कलाकृति की अवास्तविकता या अनुकरणात्मकता का ज्ञान । (बर्क)
—कलाकृति के आधार का काल्पनिक होना । (हीगल)
—इच्छाओं से मुक्ति या विरक्ति की भावना का उदय । (शापनहावर)

—जिज्ञासा एवं सत्य की प्यास के कारण। (सैंतायना)
—ईश्वरीय न्याय का बोध। (हीगल)

उपर्युक्त सूत्रों पर अंतिम रूप से विचार करने से पूर्व भारतीय मतों का भी अध्ययन कर लेना उचित होगा।

● **भारतीय मत—**

भारतीय रसवादी आचार्यों ने भी करुण से रसानुभूति या आनन्दानुभूति के कारणों पर अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे विचार किया है। **भट्ट नायक** ने लौकिक अनुभूतियों एवं काव्यानुभूति का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हुए दो बातों पर विशेष बल दिया है—(१) साधारणीकरण और (२) सत्त्व की प्रधानता। जैसा कि हम अन्यत्र विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं साधारणीकरण के कारण सामाजिक वैयक्तिकता की भावना से या निजी मोह के बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा सत्त्व या सत् की प्रधानता के कारण वह सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने लगता है। इस प्रकार वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति एवं परम सत्य की अनुभूति ही काव्यनुभूति या रसानुभूति का मूल कारण है।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने रसानुभूति के मूल आधारों की व्याख्या करते हुए कलात्मकता, सौन्दर्यात्मकता; साधारणीकरण या निर्वैयक्तिकता के योग को तो स्वीकार किया ही, साथ ही उन्होंने वासनाओं (या सहज प्रवृत्ति) की अभिव्यक्ति की बात भी कही। सामान्य जीवन में वासनाओं की अभिव्यक्ति उस निर्वैयक्तिक एवं निर्विघ्न रूप में नहीं हो पाती, जिस रूप में कला के माध्यम से होती है। कलाजन्य अनुभूति में चमत्कारपूर्ण निर्विघ्न विश्रान्ति का आनन्द रहता है—इसीलिये वहाँ सांसारिक जीवन के दुःखात्मक भाव भी रसानुभूति या आनन्दानुभूति में परिणत हो जाते हैं। अतः संक्षेप में अभिनवगुप्त के विचारानुसार कलागत सौन्दर्य, निर्वैयक्तिकता, एवं वासनाओं की निर्विघ्न अभिव्यक्ति ही कलानुभूति की रसात्मकता के आधारभूत कारण हैं।

मध्ययुगीन आचार्यों ने प्रायः अभिनवगुप्त के मत का ही अनुसरण किया है किन्तु कुछ इसके अपवाद भी हैं। **रामचन्द्र गुणचन्द्र** ने 'नाट्य दर्पण' में प्रतिपादित किया कि मूलतः तो काव्य में भी करुण-त्रास आदि इसी रूप में रहते हैं किन्तु कवि अपनी शक्ति से वर्णन में चमत्कार उत्पन्न कर देता है तथा नट अपने अभिनय-कौशल के सहारे उस वर्णन को और भी चमत्कारपूर्ण बना देता है।[1] दूसरे शब्दों में कहें तो शैलीजन्य चमत्कार पूर्ण एवं अभिनय-कौशल के कारण कला के दुःखात्मक भाव भी आकर्षक एवं ग्राह्य प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वे कला के शैली पक्ष को ही इसका मूल कारण सिद्ध करते हैं।

---

१. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; पृ० सं० २०८

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध रसवादी आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** ने निर्वैयक्तिकता एवं साधारणीकरण की प्रक्रिया के कारण न केवल कलागत कटु भाव अपितु प्रत्यक्ष जगत् के कटु भावों की भी परिणति रसात्मकता में मानी है। साथ ही उन्होंने इस सन्दर्भ में कटु भावों के लोक मंगलकारी रूप का भी प्रतिपादन करते हुये लिखा है—'बीज भाव (मूल भाव) द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर—कठोर और तीक्ष्ण—दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति **मंगल-विधायनी** होती है तो उसकी **व्यापकता** और **निर्विशेषता** के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं।[२]

डॉ० नगेन्द्र ने विभिन्न प्रचलित मतों का विवेचन-विश्लेषण करने के अनन्तर प्रायः सभी मतों में आंशिक सत्य स्वीकार किया तथा अपना समन्वयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुऐ उन्होंने करुण की आनन्द में परिणति के ये कारण बताये हैं[३]—(१) काव्यानुभूति का प्रत्यक्ष अनुभव से भिन्न कल्पनात्मक अनुभव का विषय होना। (२) काव्यगत शोक का साधारणीकृत हो जाना। (३) उसका औदात्य से मंडित हो जाना। (४) कलात्मक अन्विति के कारण आधारभूत संवेदनों के समन्वित हो जाने के कारण भी जीवन के कटु अनुभव भी आनन्दप्रद बन जाते हैं। अस्तु, संक्षेप में उनके मतानुसार कल्पनात्मक अनुभूति, साधारणीकरण, औदात्य एवं कलात्मक अन्चिति में ही करुण से रसात्मक अनुभूति का रहस्य निहित है।

डॉ० कृष्णदेव झारी ने वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसों की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादित किया है—"निस्संदेह करुण में प्रकट होने वाले आँसुओं को सुख के आँसू मानना भ्रान्तिपूर्ण ही है। वस्तुतः वे आँसू तो शोक के ही होते हैं। पर उदात्त भावना से सम्बन्ध होने के कारण यह शोक और इसके आँसू भी स्पृहणीय होते हैं।.........इसी प्रकार क्रोध, भय, और घृणा या वीभत्स की अनुभूति में भी घृणा आदि भाव दुःखात्मक ही होते हैं, पर वह दुःख लौकिक दुःख से भिन्न उदात्त दुःख होता है और हमें अच्छा ही लगता है, हम चाहकर उसे अपनाते हैं।"[४] आगे चलकर उन्होंने प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में और विचार करते हुए लिखा है—'वास्तव में हम दुःख से निवृत्ति चाहते हैं, इसीलिए करुणा में आनन्द प्राप्त करते हैं। जब हम कुरूपता के प्रति अनिच्छा या घृणा प्रकट करते हैं, तभी हमें सौन्दर्यानुभूति होती है।.........(करुण में) हमें रसानुभूति या संवेदनाजन्य आनन्द मिलता है।.........हमारी सहानुभूति का विस्तार भी दुःख की निवृत्ति का हेतु होता है, और इस प्रकार हम दुःखपूर्ण दृश्यों से भी आनन्द प्राप्त करते हैं।'

---

२. रस-मीमांसा ; पृ० सं० ६५
३. रस-सिद्धान्त : पृ० सं० १३२-३
४. रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा, पृ० सं० १८७

डॉ० झारी ने यहाँ मुख्यतः चार विचार प्रतिपादित किये हैं—

(१) करुणा में प्रकट होने वाले आँसू मूलतः दुःख के ही होते हैं।

(२) फिर भी उनमें प्रवृत्ति का कारण है—उदात्त भावना का सम्बन्ध।

(३) दुःख से निवृत्ति चाहना भी एक अन्य कारण है।

(४) सहानुभूति या संवेदनाजन्य अनुभूति भी दुःखपूर्ण दृश्यों को आनन्द में परिणत कर देती है। इनमें से प्रथम विचार का खण्डन तो वे स्वयं ही चतुर्थ विचार के समय कर देते हैं—अंततः वे करुण दृश्यों से भी आनन्द-प्राप्ति की बात स्वीकार कर लेते हैं; शेष तीन धारणाएँ अवश्य समीचीन प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त मतों के अनुशीलन से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय रसवादी विद्वानों की दृष्टि में कलागत कटु भावों से रसात्मक या आनन्दात्मक अनुभूति प्राप्त होने के निम्नलिखित कारण हैं—

- **भट्टनायक**—साधारणीकरण, सत्त्व की प्रधानता (बौद्धिकता)
- **अभिनवगुप्त**—कलागत सौन्दर्य निर्वैयक्तिकता, वासनाओं की अभिव्यक्ति, निर्विघ्न अनुभूति।
- **रामचन्द्र गुण चन्द्र**—शैली जन्य चमत्कार।
- **रामचन्द्र शुक्ल**—मूल भाव की व्यापकता, निर्विशेषता, और मंगल विधायकता।
- **डॉ० नगेन्द्र**—कल्पनात्मक अनुभूति, साधारणीकरण, औदात्य एवं कलात्मक अन्विति।
- **डॉ० कृष्णदेव झारी**—उदात्त भावना, दुःख से निवृत्ति की चाह, और सहानुभूति का विस्तार।

- **तुलनात्मक अध्ययन एवं समन्वय**—

पूर्वोक्त भारतीय एवं पाश्चात्य मतों पर तुलनात्मक-दृष्टि से विचार करने पर इनमें इसप्रकार साम्य दृष्टि गोचर होता है :

पाश्चात्य मत		**भारतीय मत**
(१) विरेचन (अरस्तू)	=	अभिव्यक्ति (अभिनवगुप्त)
(२) काल्पनिकता (हीगल)	=	कल्पनात्मकता (डॉ० नगेन्द्र)
(३) प्रेम-सहानुभूति-प्रदर्शन (डेकार्टे)	=	सहानुभूति-प्रदर्शन (डॉ० झारी)
(४) विरक्ति (शापनहावर)	=	निवृत्ति की चाह (डॉ० झारी)
(५) ईश्वरीय न्याय या सत्य का बोध (हीगल)	=	सत्त्व की प्रधानता (भट्टनायक)

उपर्युक्त पाँच मतों में परस्पर किंचित् अन्तर के होते हुए भी वे सामान्य रूप में समान माने जा सकते हैं। उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त पाश्चात्य वर्ग में से दो मत—(१) अनुकरणात्मकता (बर्क) एवं (२) जिज्ञासा (सैंतायना) सम्बन्धी—तथा भारतीयवर्ग में से साधारणीकरण, कलागत सौन्दर्य, निर्वैयक्तिकता, निर्विघ्न अनुभूति, शैलीजन्य चमत्कार, मूल भाव की व्यापकता, निर्विशेषता एवं मंगल-विधायकता औदात्य, कलात्मक अन्विति आदि से सम्बन्धित मत और हैं। इनमें से निर्वैयक्तिकता, निर्विशेषता का अन्तर्भाव साधारणीकरण में, कलागत सौन्दर्य, शैलीजन्य चमत्कार, कलात्मक अन्विति का अन्तर्भाव कला-पक्ष में, तथा मूल भाव की व्यापकता, और औदात्य का कला के वस्तु-पक्ष में तथा शेष दो—अनुकरणता एवं जिज्ञासा की प्रवृत्ति को क्रमशः कलानुभूति के वैशिष्ट्य एवं प्रमाता की वृत्ति-विशेष के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है।

उपर्युक्त सभी भारतीय एवं पाश्चात्य मतों को समन्वित रूप देने के लिए उन्हें निम्नाँकित पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(१) कला की विषय-वस्तु से सम्बन्धित मत—

(क) कलागत मूलभाव की व्यापकता एवं निर्विशेषता।

(ख) कलागत मूलभाव की मंगल-विधायकता।

(ग) कलागत औदात्य। (घ) कलागत सौन्दर्य।

(२) कला के शैली-पक्ष से सम्बन्धित मत—

(क) शैलीजन्य चमत्कार। (ख) कलात्मक अन्विति।

(३) भोक्ता या प्रमाता से सम्बन्धित मत—

(क) जिज्ञासा (ख) निवृत्ति की चाह (ग) उच्चस्थिति का बोध

(घ) सहानुभूति का प्रदर्शन।

(४) रसानुभूति की प्रक्रिया के वैशिष्ट्य से सम्बन्धित मत—

(क) अनुकरणात्मक प्रतीति। (ख) कल्पनात्मक अनुभव

(ग) साधारणीकरण (घ) निर्विघ्न अनुभूति।

(५) भोक्ता की उपलब्धियों के सूचक मत—

(क) ईश्वरीय न्याय या सत्य का बोध।

(ख) इच्छाओं से मुक्ति या विरक्ति।

(ग) वासनाओं का रेचन या अभिव्यक्ति।

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि करुण त्रासादि की रसात्मक परिणति में उपर्युक्त सभी वर्गों का न्यूनाधिक योग-दान रहता है: अतः हम इन्हें समन्वित करते हुए कह सकते हैं कि कला की विषय-वस्तु (मूल भाव,

सौन्दर्य एवं औदात्य), उसके शैलीपक्ष (चमत्कार एवं अन्विति) के वैशिष्ट्य, भोक्ता की विशेष प्रवृत्तियों—जिज्ञासा, निवृत्ति, सहानुभूति आदि, रसानुभूति की विभिन्न प्रक्रियाओं—अनुकरणात्मक, कल्पनात्मक बोध, साधारणीकरण आदि—और भोक्ता की विभिन्न उपलब्धियों—सत्य का बोध, इच्छाओं से मुक्ति, वासनाओं के रेचन आदि—के समन्वित प्रभाव के कारण ही कलागत कुरूप पदार्थ एवं कटु भाव सौन्दर्य एवं सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति में परिणत हो जाते हैं। वैसे निश्चय ही उपर्युक्त मतों में से कुछ प्रमुख एवं शेष गौण है, किन्तु इसका निर्धारण करने के लिए इन सभी मतों का विस्तृत मनोवैज्ञानिक अध्ययन एवं प्रयोगात्मक परीक्षण अपेक्षित है जो एक स्वतन्त्र एवं पृथक शोध-प्रबन्ध में ही संभव है। वैसे हम सामान्य रूप में दो बातें कह सकते हैं; एक तो इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मत रसानुभूति की प्रक्रिया से सम्बन्धित मत हैं क्योंकि अन्ततः इस प्रक्रिया के कारण ही रसानुभूति उपलब्ध होती है, शेष मतों में सूचित मत तो इस प्रक्रिया के साधक या उसकी उपलब्धियाँ मात्र हैं। दूसरे जिन मतों के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में परस्पर साम्य मिलता है, वे भी अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। हमने अन्यत्र आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत इस पर विचार करते हुए इसे आकर्षण-शक्ति की अंतिम प्रक्रिया अभिव्यक्ति के आनन्द को ही इसका मूल आधार एवं शेष सबको आकर्षण-शक्ति के घटक एवं उद्दीपक साधनों के रूप में स्वीकार किया है।[५] अस्तु यहाँ हम और विस्तार में न पड़कर पूर्वोक्त समन्वयात्मक निष्कर्ष को ही प्रस्तुत समस्या के समाधान के लिए पर्याप्त समझते हैं।

●

५. साहित्य-विज्ञान : प्रथम खंड, अध्याय ९।

८ रसानुभूति के लिए अपेक्षित सामाजिक की क्षमताएँ

अनेक पाश्चात्य कला-मीमांसकों एवं भारतीय आचार्यों ने कला-कृति, काव्य नाटक आदि के सम्यक् बोध एवं आस्वादन के लिए कृति के गुणों के साथ-साथ प्रमाता या सामाजिक में भी कतिपय क्षमताओं का होना आवश्यक माना है। वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया एवं स्वरूप के सम्यक् विश्लेषण के लिए उसका इस दृष्टि से भी विचार आवश्यक है ; अतः हम यहाँ क्रमशः पाश्चात्य एवं भारतीय मतों का अनुशीलन करते हुए किसी सामान्य निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास करेंगे।

● **पाश्चात्य कला-चिन्तकों के मत—**

पाश्चात्य कला-चिन्तकों में मुख्यतः एडिसन, हचेसन, बर्क, हरमन लात्ज, कालेमन प्रभृति ने सामाजिक की क्षमताओं का अनुसंधान करते हुए विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं।[1] **एडिसन** (१६७२-१७१९ ई०) के विचार से कलास्वादन के लिए सामाजिक में चार क्षमताएँ अपेक्षित हैं—(१) अच्छी बिम्बग्राहक कल्पना-शक्ति, (२) भाषा-शक्ति का पूरा ज्ञान (३) भावाभिव्यक्ति के साधनों या माध्यम को समझने की क्षमता, और (४) आत्म-विस्मृति का गुण। इनमें द्वितीय तो केवल काव्य एवं साहित्य पर ही लागू होता है, शेष को सभी कलाओं के संदर्भ में ग्रहण किया जा सकता है।

हचेसन (१६९७-१७४७ ई०) ने प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में विचार करते हुए सामाजिक में दो गुणों का होना आवश्यक माना है—(१) स्वार्थशून्यता और

---

१. इनमें से कालेमन को छोड़कर शेष सभी का सामान्य परिचय एवं संदर्भ इसी प्रबन्ध में अन्यत्र (द्वितीय खंड में) दिया जा चुका है।

(२) रुचि (Taste)। स्वार्थशून्यता से उनका तात्पर्य यह है कि सामाजिक को कलाओं के आस्वादन के समय किसी भी प्रकार के व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचार से मुक्त रहना चाहिये। यही स्वार्थशून्यता ही काव्यानन्द का मूल कारण है। इसी प्रकार उन्होंने रुचि (Taste) का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए बताया कि यह एक ऐसी शक्ति है जो कवि, काव्य और पाठक तीनों में विद्यमान रहती है। पाठक काव्य-रुचि या कलारुचि के कारण ही इनका आस्वादन कर पाता है।

हचेसन की ही भाँति **ह्यू म** (१७११-१७७६ ई०) ने भी कलास्वादन के लिए सामाजिक में स्वार्थभाव से मुक्ति तथा कलागत पात्रों के प्रति सहानुभूति को आवश्यक माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मानवीय प्रकृति, संस्कारों एवं मानसिक परिवर्तनों को भी कलानुभूति के प्रमुख आधारों में स्थान देते हुए इनका भी सामाजिक से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया है।

बर्क (१७२९-१७९७ ई०) ने कलानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए तीन ऐसे माध्यमों की चर्चा की है जिनके द्वारा पाठक काव्य-वस्तु का बोध प्राप्त करता है—(१) इन्द्रियाँ (२) कल्पना शक्ति (३) तर्क या बुद्धि उनके विचारानुसार रसानुभूति में उनमें से किसी एक माध्यम का ही नहीं, अपितु तीनों का ही समन्वित योग रहता है। इन तीनों को ही समन्वित रूप में '**रुचि**' (Taste) या '**आस्वादन क्षमता**' का नाम दिया गया है। अस्तु, बर्क के विचारानुसार इन्द्रियों, कल्पना और बुद्धि के समन्वित योग से निर्मित रुचि ही सामाजिक की वह क्षमता है जिसके द्वारा वह कलास्वाद प्राप्त करता है।

हरमन लात्ज (१८१७-१८८१ ई०) ने प्रतिपादित किया कि कलानुभूति या रसानुभूति में कला की भावोत्पादिनी शक्ति के साथ-साथ सामाजिक की नैतिक आस्थाओं, उसके पूर्व संस्कारों, उसकी स्मृतियों और वैयक्तिक अनुभूतियों का पर्याप्त योग रहता है। इसलिये कलास्वादन के लिये कलाकृति के वैशिष्ट्य के अनुसार सामाजिक में तदनुकूल नैतिक आस्थाओं, संस्कारों, स्मृतियों और अनुभूतियों का भी होना अपेक्षित है।

इसी शती के सौन्दर्यशास्त्री फ्रांसिस जे-कालेमन ने अपने द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'Contemporary Studies in Aesthetics' (१९६८ ई०) में विवेच्य विषय पर विस्तार से विचार करने के अनन्तर सौन्दर्य-बोध या कला-संवेदन के लिए प्रमाता में निम्नांकित गुणों को आवश्यक सिद्ध किया है।[२]

(क) उसकी इन्द्रियाँ स्वस्थ एवं निर्दोष हों अन्यथा वह चित्र के रंगों, संगीत के स्वरों आदि का सम्यक् बोध प्राप्त नहीं कर सकेगा।

---

2. Contemporary Studies in Aesthetics : Page 20-21

(ख) उसे कलाकार के माध्यम की शक्तियों व सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए।

(ग) उसे विभिन्न कला-संप्रदायों एवं प्रवृत्तियों के इतिहास एवं पूर्व परम्पराओं का भी ज्ञान होना चाहिए जिससे वह विशिष्ट कलाकृति की मौलिकता, नूतनता या रीति-रूढ़ि को हृदयंगम कर सके।

(घ) उसे उस सांस्कृतिक वातावरण का भी बोध होना चाहिए जिसमें कलाकृति की सर्जना हुई हो।

(ङ) उसकी विभिन्न प्रकार की कला-कृतियों के सम्बन्ध में पहले से ही कोई बँधी-बँधाई हुई रुचि या अरुचि नहीं होनी चाहिए।

(च) वह किसी ऐसे सिद्धान्त या सम्प्रदाय से बँधा हुआ (प्रतिबद्ध) न हो कि जिसके प्रभाव से उसकी कलानुभूति के स्वरूप या आस्वाद में अन्तर पड़ जाय।

(छ) उसकी कोई विशेष आयु-सीमा न हो, कलाकृति की अपेक्षा के अनुसार वह बचपन, युवावस्था एवं वृद्धावस्था-सभी की अनुभूतियों को हृदयंगम कर सकने योग्य हो।

(ज) वह शान्त किन्तु संवेदनशील स्वभाव का हो ; बहुत चंचल या उत्तेजित हो जानेवाला या कभी भी उत्तेजित न होने वाला न हो।

उपर्युक्त विशेषताओं को संक्षेप में इन आठ गुणों के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है— (१) स्वस्थ एवं निर्दोष ऐन्द्रियक क्षमता। (२) कलामाध्यम का ज्ञान। (३) कला के इतिहास का ज्ञान (४) कलाकृति के सांस्कृतिक वातावरण का बोध (५) पूर्व विकसित रुचि-अरुचि। (६) प्रतिबद्ध न होना। (७) आयु-सीमा से मुक्त और (८) शान्त एवं संवेदनशील।

अस्तु, विभिन्न पाश्चात्य मतों को यहाँ निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है—(१) बिम्बग्राहक कल्पना-शक्ति (२) कला-माध्यम को समझने की शक्ति। (३) आत्म-विस्मृति (४) स्वार्थशून्यता (५) रुचि की अनुकूलता। (६) नैतिक आस्थाओं की अनुकूलता। (७) पूर्ववर्ती संस्कार (८) वैयक्तिक स्मृतियाँ (९) वैयक्तिक पूर्ववर्ती अनुभूतियाँ (१०) कला के इतिहास का ज्ञान। (११) सम्बन्धित सांस्कृतिक वातावरण का बोध (१२) अप्रतिबद्धता। (१३) आयु-सीमा से मुक्त (१४) शान्त एवं (१५) संवेदनशील स्वभाव। यहाँ कुछ मतों को, जो एक ही आशय के सूचक थे, समन्वित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

● **भारतीय आचार्यों के मत—**

जैसा कि हमने प्रारम्भ में संकेत किया था कि अनेक भारतीय रसवादी आचार्यों ने भी रसानुभूति के प्रसंग में सामाजिक की योग्यताओं पर विचार किया

है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने सामाजिक के लिये इन गुणों को आवश्यक माना है —(१) कला और साहित्य का सामान्य ज्ञान (२) सौन्दर्यवर्द्धक साधनों का ज्ञान (३) मानस तथा शारीरिक अवस्थाओं का परिचय, (४) विभिन्न भाषाओं और बोलियों का ज्ञान, (५) एकाग्रता की क्षमता, (६) तीव्र ग्राहिका शक्ति, (७) निरपेक्ष बुद्धि, (८) चरित्र तथा संस्कार, (९) अभिनीत वस्तु के प्रति रुचि, (१०) तन्मयता की शक्ति।[३] आचार्य भरत ने मुख्यतः नाट्यकला की दृष्टि से ही इन गुणों की चर्चा की है। अतः इनमें कुछ ऐसे गुणों का भी समावेश हो गया है जिनकी अपेक्षा अन्य कलाओं के आस्वादन में नहीं है। इस दृष्टि से उपर्युक्त सूची में से तीसरे और चौथे गुण को छोड़ा जा सकता है। शेष गुण सामान्य रूप में सभी कलाओं के लिये आवश्यक माने जा सकते हैं।

आचार्य **आनन्दवर्द्धन** ने मुख्यतः सहृदयता एवं प्रतिभा को ही सामाजिक के लिये आवश्यक माना है। **भोजराज** ने प्रतिभा एवं संस्कारों के अतिरिक्त सामाजिक के सात्विक अहंकार पर विशेष बल दिया। उनके विचारानुसार आत्मस्थित अहंकार ही व्यक्ति की ऐसी शक्ति है जिसके बल पर वह रसास्वादन प्राप्त करता है। इस अहंकार का आधार पूर्वजन्म की वासनाओं और संस्कारों को माना गया है।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने भी इस सम्बन्ध में विचार करते हुए मुख्यतः पाठक या सामाजिक की वासना को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि सभी सामाजिकों के मन में सामान्यतः एक जैसी वासना होती है जो अनादिकाल से प्राप्त संस्कारों से चित्रित या प्रभावित होती है। इसी के कारण हम काव्यगत भावों का आस्वाद करते हैं। यदि हम वासनाशून्य होते तो काव्यास्वाद सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त कलास्वाद के विभिन्न विघ्नों का निरूपण करते समय भी उन्होंने एक विघ्न प्रमाता का 'निजसुख-दुःखादि विवंशीभाव' अर्थात् उसका अपने सुख-दुःख से अत्यधिक अभिभूत होना भी माना है; अतः कहा जा सकता है कि कलानुभूति की प्राप्ति के लिए प्रमाता का निजी भावों से अभिभूत न होना या शान्त होना भी अपेक्षित है।

आधुनिक युग के अनेक आचार्यों ने इस प्रश्न पर गौण रूप में ही विचार किया है। सामान्यतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सामाजिक की बिम्ब-ग्राहिका कल्पना-शक्ति को ही विशेष महत्त्व दिया है जो पाश्चात्य प्रभाव का सूचक है क्योंकि पूर्ववर्ती भारतीय आचार्यों ने तो प्रायः कल्पना के स्थान पर प्रतिभा एवं सहृदयता का ही उल्लेख किया है। डॉ० नगेन्द्र ने मानव-चेतना में व्याप्त एकता को सामाजिक की रसानुभूति का मूल आधार मानते हुए लिखा है—'मानव-मानव के हृदय में चेतना का एक ऐसा तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्शपाकर समग्रतः झंकृत हो

---

३. नाट्यशास्त्र ; अध्याय २७ ; रस सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण ; पृ० १७६

जाता है।' इसी मानव-हृदय की चेतना को दूसरे शब्दों में 'संवेदनशीलता' भी कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

अन्त में भारतीय मतों को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —(१) प्रतिभा (२) सहृदयता (३) कला और साहित्य का ज्ञान (४) सौंदर्य वर्द्धक साधनों का ज्ञान (५) एकाग्रता की क्षमता (६) ग्राहिका शक्ति (७) निरपेक्ष बुद्धि (८) चरित्र तथा संस्कार (९) रुचि (१०) तन्मयता (११) सात्त्विक अहंकार (१२) वासना (१३) शान्तमन (१४) कल्पना शक्ति (१५) संवेदनशीलता।

● **तुलनात्मक अध्ययन एवं समन्वय**

यदि पूर्वोक्त पाश्चात्य एवं भारतीय निष्कर्षों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें गहरा साम्य परिलक्षित होगा। इसे स्पष्ट करने के लिए दोनों पक्षों के निष्कर्षों को यहाँ तालिका रूप में प्रस्तुत किया जाता है :

पाश्चात्य मत	भारतीय मत
(१) बिम्बग्राहक कल्पना-शक्ति	=प्रतिभा, ग्राहिकाशक्ति, कल्पना-शक्ति।
(२) कला-माध्यम को समझने की क्षमता	=सौन्दर्यवर्द्धक साधनों का ज्ञान।
(३) आत्म-विस्मृति का गुण	=एकाग्रता की क्षमता, तन्मयता का गुण
(४) स्वार्थ-शून्यता	=निरपेक्ष बुद्धि।
(५) नैतिक आस्थाएँ (६) पूर्ववर्ती संस्कार	=चरित्र तथा संस्कार।
(७) रुचि की अनुकूलता	=रुचि
(८) वैयक्तिक स्मृतियाँ व (९) पूर्ववर्ती अनुभूतियाँ	=वासना ?
(१०) कला के इतिहास का ज्ञान	=कला और साहित्य का ज्ञान।
(११) अप्रतिबद्धता	=निरपेक्ष बुद्धि
(१२) सांस्कृतिक वातावरण का बोध	= ×
(१३) आयु-सीमा के प्रभाव से मुक्ति	= ×
(१४) शान्त स्वभाव	=शान्तमन
(१५) संवेदनशील स्वभाव	=सहृदयता, संवेदनशीलता।
(१६) ×	=सात्त्विक अहंकार।

उपर्युक्त मतों में क्रमशः ८, ९, १२, १३ एवं १६ को छोड़कर शेष तो दोनों पक्षों में समान ही है। आठवें और नवें में वैयक्तिक स्मृतियों व पूर्ववर्ती अनुभूतियों का उल्लेख है, जिनके समानान्तर वासना को स्थान दिया जा सकता है या नहीं— यह विचारणीय है। हमारे विचार में वासना अन्तश्चेतन या अचेतन मन की प्रवृत्ति है

तो पूर्ववर्ती स्मृतियाँ व अनुभूतियाँ भी उपचेतन एवं अचेतन मन में वासना की ही अंग बन कर स्थित रहती हैं। इसी वासना को मनोविज्ञान में 'सहज प्रवृत्ति' (Instinct) व मनोविश्लेषण में 'अचेतन मन की शक्ति' के रूप में स्वीकार करते हुए उसका अतीत की स्मृतियों, अनुभवों, अनुभूतियों, कुण्ठाओं ग्रन्थियों आदि से गहरा सम्बन्ध माना गया है ; अतः 'वासना' अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप की सूचक है, जिसमें आठवें-नवें मन का समाहार सहज ही हो जाता है। शेष मत—सांस्कृतिक वातावरण का बोध, आयु-सीमा के प्रभाव से मुक्ति एवं सात्त्विक अहंकार भी गौण रूप में स्वीकार्य कहे जा सकते हैं।

अस्तु, हमारे विचार में उपर्युक्त सभी क्षमताओं एवं गुणों को कलाकृति के वैशिष्ट्य के अनुसार सामाजिक में आवश्यक माना जा सकता है, यह दूसरी बात है कि संदर्भ-विशेष में किसी का महत्त्व अधिक और किसी का न्यून भी सिद्ध हो सकता है। पाश्चात्य एवं भारतीय आचार्यों का इस प्रसंग में मतैक्य अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है जो अप्रत्यक्ष में रस-सिद्धान्त की महत्ता एवं सार्वदेशिकता का परिचायक है।

●

चतुर्थ खंड

रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विवेचन

१ मनोविज्ञान : सामान्य परिचय

रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम हमें मनोविज्ञान का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। हिन्दी में 'मनोविज्ञान' शब्द का[1] प्रयोग सामान्यतः अँग्रेजी के 'साइकालॉजी (psychology) के पयार्यवाची के रूप में किया जाता है तथा यह प्रायः उन्हीं अर्थों को सूचित करता है जो 'साइकालॉजी' में निहित है। 'psychology' शब्द 'psyche' (साइक अर्थात् आत्मा) एवं 'logas' (लोगस अर्थात् विज्ञान या विचार-विमर्श) के योग से बना है, अतः इस दृष्टि से वह 'आत्मा का विज्ञान' या आत्मा सम्बन्धी विज्ञान का द्योतक सिद्ध होता है किन्तु आधुनिक युग में इसका यह अर्थ प्रचलित नहीं है। प्राचीन युग में यूनानी आचार्यों ने अवश्य ही इसे 'आत्मा का विज्ञान' माना था, किन्तु अब तो आत्मा का अस्तित्व ही लुप्त हो गया है—विशेषतः विज्ञान के क्षेत्र में 'आत्मा' शब्द निरर्थक है; ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि 'psychology' शब्द का भी अर्थ परिवर्तित हो गया है। अब इसे सामान्यतः मन, चेतना और व्यवहार से ही सम्बन्धित विज्ञान माना जाता है।

---

१. यहाँ उद्धृत परिभाषा निम्नांकित ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत की गयी हैं—
(1) An out-line of psychology : William Mcdougall
(2) Psychology : R. S. woodworth & D. G. marquis.
(3) An Introduction to Social Psychology : Mcdougall
(4) Emotions in man and animal : P. T. young.
(5) General Psychology : H. E. Garrett.
(6) मनोविज्ञान—डॉ० जदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद)
(7) सामान्य मनोविज्ञान—डॉ० एस० एस० माथुर।
(8) सामान्य मनोविज्ञान—रामबाबू गुप्त

● मनोविज्ञान : स्वरूप-विवेचन

'मनोविज्ञान' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की हैं, जिनमें से कतिपय यहाँ विचारणीय हैं[1]—

(क) प्लेटो—'मनोविज्ञान आत्मा का विज्ञान है।'

(ख) जेम्स—'मनोविज्ञान की सर्वोत्तम परिभाषा यह दी जा सकती है कि·······वह चेतना की स्थिति या अवस्था की व्याख्या एवं विवेचना प्रस्तुत करने वाला' विज्ञान है।

(ग) मैक्डूगल—'मनोविज्ञान मानव-मन (मस्तिष्क) का विज्ञान है—इस परिभाषा को यथातथ्य बनाने के लिए इसके साथ दो शब्द —'विधेयात्मक' एवं 'बौद्धिक'—और जोड़े जा सकते हैं।

(घ) वाटसन—'मनोविज्ञान·······व्यवहार का विज्ञान है।

(ङ) पिल्सबरी—'मनोविज्ञान की सर्वाधिक संतोषजनक परिभाषा यह की जा सकती है। कि वह मानव-व्यवहार का विज्ञान है।'

(च) मुन्न—'मनोविज्ञान अनुभव एवं व्यवहार का एक ऐसा विधायक विज्ञान है जिसकी व्याख्या अनुभव के आधार पर की जा सकती है।

(छ) वुडवर्थ—'मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो व्यक्ति के क्रिया-कलापों का अध्ययन वातावरण के संदर्भ में करता है।'

(ज) वैलेन्टाइन—'मनोविज्ञान मन का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विज्ञान है जिसमें केवल बौद्धिक तत्त्वों का ही नहीं भावात्मक अनुभवों, प्रेरक शक्तियों, क्रिया-कलापों एवं व्यवहार का भी अध्ययन सम्मिलित है।'

(झ) जेम्स ड्रेवर—'मनोविज्ञान वह विधायक विज्ञान है जो कि मनुष्य और पशु के (आन्तरिक विचारों और भावों या) मानसिक जीवन की अभिव्यक्ति के सूचक व्यवहार का अध्ययन करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में यह तो प्रायः स्वीकार किया गया है कि मनोविज्ञान एक विज्ञान या विधायक (positive) विज्ञान है, किन्तु इनमें परस्पर अन्तर इस बात का है कि उसका अध्ययन-क्षेत्र या विषय क्या है? वैसे क्रमशः आत्मा, चेतना, मानव-मन, व्यवहार अनुभव, वातावरण के संदर्भ में क्रिया-कलाप, प्रेरक शक्तियों, मानव और पशु के मानसिक जीवन—आदि का उल्लेख है; जो वस्तुतः मनोविज्ञान के उत्तरोत्तर विकसित रूप एवं परिवर्द्धित क्षेत्र का परिचायक है। प्रारम्भ में मनोविज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र आत्मा तक सीमित था, फिर उसका स्थान चेतना ने ले लिया है, और तदनन्तर चेतना के साथ मन, व्यवहार, अनुभूतियाँ

प्रेरणा-शक्तियों आदि का भी अध्ययन होने लगा और अब मानव ही नहीं —पशुओं पर भी मनोवैज्ञानिक प्रयोग होने लगे हैं; अतः कहना चाहिए कि ज्यों-ज्यों इसके अध्ययन-क्षेत्र में विस्तार होता गया त्यों-त्यों इसकी परिभाषा में भी नये तत्त्व सम्मिलित होते गये हैं। सम्भव है, भविष्य में और भी नये क्षेत्रों के सम्मिलित होने पर इसकी परिभाषा में नये तत्त्वों को और स्थान दिया जाय। ऐसी स्थिति में हमारे विचार से क्षेत्र-विशेष की दृष्टि से नहीं अपितु सामान्य दृष्टि से इसकी परिभाषा की जानी चाहिए। अतः हम कह सकते हैं—'मनोविज्ञान वह विषय है जिसमें मानसिक पक्ष से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों व तत्त्वों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत किया जाता है।' यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'मानसिक पक्ष' के अन्तर्गत पशु-पक्षी के मस्तिष्क से लेकर मनुष्य तक के मन की सभी वृत्तियों, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों, चेष्टाओं, क्रियाओं आदि का समावेश हो जाता है।

● मनोविज्ञान का विकास

'मनोविज्ञान' की एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापना आधुनिक युग की देन है; अन्यथा यह पहले दर्शनशास्त्र का ही एक अंग था। प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने लगभग सातवीं शती ईसा-पूर्व में मनोवैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा का प्रवर्त्तन किया। प्रारम्भ में कुछ दार्शनिकों ने जो कि अद्वैतवादी (monists) कहलाते थे, एक ऐसे तत्त्व की खोज का प्रयास किया जिसके आधार पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्याख्या की जा सके। आगे चलकर द्वैतवादी या बहुवादी (plurists) एवं सोफिस्टवादी विचारों के दार्शनिक हुए जिन्होंने मानस तत्त्व के अध्ययन की परम्परा को आगे बढ़ाया। प्लेटो ने मन को विचार या प्रत्यय (idea) से अभिन्न मानते हुए उसे इस जगत से परे की वस्तु के रूप में स्वीकार किया, जबकि उनके शिष्य अरस्तू (ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी लगभग) ने शरीर और मन को अभिन्न मानते हुए मनोविज्ञान को मानवात्मा के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में स्वीकार किया। फिर भी इस युग में मनोविज्ञान दर्शन एवं आत्मा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका तथा परवर्ती मध्ययुग में भी यही स्थिति रही।

मनोविज्ञान के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण का उन्मेष सर्वप्रथम १६ वीं-१७ वीं शताब्दी के महान् चिन्तकों—डेकार्टे (descartes) स्पाइनोजा (spinoza), लॉक (loocke) प्रभृति में दृष्टिगोचर होता है। डेकार्टे (१५९६–१६५०) ने मन की व्याख्या करते हुए अनेक नूतन स्थापनाएँ प्रस्तुत की। एक तो उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य और पशु के व्यवहार में अन्तर का कारण 'विवेक' है, अर्थात् मनुष्य का व्यवहार विवेक से परिचालित होता है; जबकि पशु या पशुवत् मनुष्य के व्यवहार में ऐसा नहीं होता। दूसरे, उन्होंने यह स्पष्ट

किया कि आत्मा शरीर से तथा चेतना (consciousness) स्नायु-मण्डल (nervous system) से भिन्न है तथा ये अपने-अपने ढंग से कार्य करते हुए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं या यों कहिए कि इनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध रहता है। चेतना का अस्तित्व उन्होंने शरीर में स्वीकार किया किन्तु उसका शरीर के किसी स्थान-विशेष या अंग-विशेष में निवास है—इसे स्वीकार नहीं किया। इसीलिए उन्हें द्वैतवादी विचारक माना जाता है। इसके विपरीत स्पाइनोजा ने अद्वैतवादी विचारों को प्रतिपादित करते हुए बताया कि चेतना, मन, शरीर आदि एक ही वस्तु के विभिन्न पक्ष हैं, अतः इनमें तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं।

जान लॉक (१६३२-१७०४) की मनोविज्ञान के क्षेत्र में सबसे बड़ी देन उनका 'साहचर्य सिद्धान्त' (principle of association) है जिसके अनुसार हमारे मन की समस्त सामग्री साहचर्य या सम्पर्क द्वारा अर्जित या सीखी हुई है। बालक जन्म के समय मानसिक तत्त्वों—विचारों से शून्य होता है किन्तु ज्यों-ज्यों वह समाज के सम्पर्क में आता है त्यों-त्यों साहचर्य या अनुभव के द्वारा वह नये-नये तत्त्व ग्रहण करता जाता है जिससे उसके मस्तिष्क का विकास होता है।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में भी अनेक विद्वानों द्वारा मन और शरीर के सम्बन्ध को लेकर अनेक सिद्धान्तों की स्थापना की गयी जिनमें प्रमुखता द्वैतवादी दृष्टिकोण की थी। कुछ विद्वानों ने मानव-मस्तिष्क की व्याख्या यंत्र (मशीन) के समानान्तर-रूप में करते हुए प्रतिपादित किया कि मानव-मन का संचालन नाड़ी-तंत्र (sensory nerves), मेरुदण्ड (spinal cord), गतिवादी नाड़ियों (motor nerves) की क्रियाओं द्वारा होता है तथा इनके कारण जो क्रिया मस्तिष्क में घटित होती है, उसी के समानान्तर क्रिया चेतना में घटित होती है—इसीलिए इस विचारधारा को 'समानान्तर वाद' (parallelism) की संज्ञा दी गयी है। आगे चलकर कुछ और संप्रदायों का भी विकास हुआ जिनमें अन्तर्निरीक्षणवाद (introspectionism) एवं व्यवहारवाद (behaviourism) उल्लेखनीय हैं।

मनोविज्ञान को प्रयोगात्मक एवं वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय वुण्ट (wundt) महोदय को है, जिन्होंने भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं शरीर-रचना विज्ञान की पद्धतियों से प्रभावित होकर १८७९ ई० में लिपजिग में एक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की तथा इसमें मानव-व्यवहार का अध्ययन विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method) से करके यह सिद्ध किया कि मनोविज्ञान की अध्ययन पद्धति को भी वैज्ञानिक रूप दिया जा सकता है। वुण्ट की सफलता ने यूरोप और अमरीका के अनेक प्रमुख मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित कर लिया तथा उन्होंने भी इस पद्धति को अपनाने का प्रयास किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में और भी कई ऐसे प्रयोग हुए जिनकी सफलता ने मनोविज्ञान के वैज्ञानिक स्वरूप के विकास में योग दिया। डारविन के

चचेरे भाई फ्रांसिस गॉल्टन (francis galton) ने ब्रिटेन के प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अध्ययन करके यह प्रतिपादित किया कि प्रतिभा जन्मजात होती है। उनके निष्कर्ष से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी अध्ययन पद्धति थी जिसने अन्य अध्येताओं का मार्ग प्रदर्शन किया। इसी शताब्दी में विलियम जेम्स ने अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों द्वारा मनोविज्ञान को आगे बढ़ाने में योग दिया।

बींसवीं शती में मनोविज्ञान के क्षेत्र में पावलोव, वॉटसन, मैक्डूगल, थार्नडाइक, वर्दीमर, कोह्लर, फ्रायड, युंग, एडलर जैसी प्रतिभाओं का अवतरण हुआ जिन्होंने मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं की स्थापना करते हुए उसे एक सुविकसित एवं प्रौढ़ वैज्ञानिक विषय के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

अस्तु, आज 'मनोविज्ञान' अत्यन्त विकसित विषय है, जिसकी व्यापकता एवं गम्भीरता का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि इसकी बीस से भी अधिक अलग-अलग शाखाएँ हैं जिसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से न केवल मानव-मन अपितु पशुओं तक के मानसिक क्रिया-कलापों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति द्वारा किया जा रहा है। इन शाखाओं का परिचय आगे अलग शीर्षक में प्रस्तुत किया जाता है।

● **मनोविज्ञान की शाखाएँ**—जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, आधुनिक मनोविज्ञान के विस्तार एवं उसकी व्यापकता का अनुमान लगाने के लिए उसकी प्रमुख शाखाओं पर दृष्टिपात कर लेना पर्याप्त होगा।

सर्वप्रथम मनोविज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान और (२) व्यावहारिक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान में विभिन्न प्रयोगों एवं परीक्षणों के आधार पर मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है, जबकि व्यावहारिक मनोविज्ञान में स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। अब ज्यों-ज्यों मनोविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार होता जा रहा है, त्यों-त्यों सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक मनोविज्ञान की भी अनेक शाखा-प्रशाखाओं का प्रस्फुटन एवं विकास होता जा रहा है। वर्तमान में सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की प्रमुख शाखायें ये हैं—(१) सामान्य मनोविज्ञान। (२) प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (३) पशु-मनोविज्ञान (४) शारीरिक मनोविज्ञान (physiological psychology) (५) बाल-मनोविज्ञान (६) किशोर-मनोविज्ञान (७) वैयक्तिक मनोविज्ञान (८) समाज मनोविज्ञान (९) असामान्य मनोविज्ञान (१०) विकासात्मक मनोविज्ञान (११) लोक-मनोविज्ञान (१२) विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (१३) मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण (psycho-analysis) (१४) परा-मनोविज्ञान (para-psychology) (१५) मनोभौतिक विज्ञान (psycho-physics)।

इसी प्रकार व्यावहारिक मनोविज्ञान की शाखाओं में मुख्यतः शिक्षा-मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यापार-मनोविज्ञान, सैन्य-मनोविज्ञान, चिकित्सा मनोविज्ञान आदि की गणना की जाती है।

यद्यपि यहाँ इन शाखाओं का विस्तृत परिचय देना सम्भव नहीं, किन्तु इनकी सूची मात्र के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान में जीवन के अलग-अलग पक्षों एवं विषयों को लेकर उनका स्वतन्त्र रूप से मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, मनोविज्ञान के क्षेत्र में अभी तक उसका विशिष्ट अध्ययन नहीं हो पाया है; यह दूसरी बात है कि कुछ मनोविश्लेषकों ने अपने सिद्धान्तों को साहित्य पर भी लागू करके दिखाया है किन्तु इससे साहित्य की एकांगी ही व्याख्या हो पायी है। वस्तुतः साहित्य के विभिन्न पक्षों एवं उसकी क्रिया-प्रक्रियाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए 'साहित्य-मनोविज्ञान' जैसे किसी स्वतन्त्र विषय या मनोविज्ञान की एक पृथक शाखा की स्थापना की आवश्यकता है। फिर भी वर्तमान स्थिति में साहित्य के विभिन्न तत्त्वों—अनुभूति, भाव, विचार, कल्पना, बिम्ब, प्रतीक आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए सामान्य मनोविज्ञान में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, जिसका उपयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

● मनोविज्ञान और रस-सिद्धान्त

साहित्य की प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया बाह्य जगत् में घटित न होकर साहित्यकार एवं पाठक के अन्तर्जगत् या उसके मानसिक क्षेत्र में ही घटित होती है, अतः साहित्य सर्जन से लेकर साहित्य के आस्वादन तक की विभिन्न क्रिया-प्रक्रियाओं को शुद्ध मानसिक प्रक्रियाओं के रूप में स्वीकार किया जाय तो अनुचित न होगा। वस्तुतः पुस्तक, चित्र, मूर्ति, अभिनय आदि तो उस मानसिक प्रक्रिया के बाह्य कारण या साधन मात्र हैं, अन्यथा साहित्य एवं कलाओं से प्राप्त होने वाली अनुभूति तो पूर्णतः मानसिक जगत् की वस्तु है तथा साहित्य एवं कला के आस्वाद से प्राप्त अनुभूति को ही 'रस' की संज्ञा दी जाती है; अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि एक मानसिक तत्त्व होने के कारण रस की यदि शुद्ध वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है तो वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही सम्भव है। काव्य-शास्त्र एवं साहित्यालोचन के विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा हम केवल काव्य-वस्तु की ही व्याख्या करते हैं जो कि रसानुभूति का साधन मात्र है; अतः स्वयं साध्य की विवेचना तो मनोविज्ञान द्वारा ही सम्भव है; यह दूसरी बात है कि आधुनिक मनोविज्ञान बावजूद अपनी सारी प्रगति के, अभी इतना समृद्ध एवं विकसित नहीं हो पाया कि उसे हम साहित्य की व्याख्या की दृष्टि से पूर्णतः सक्षम कह सकें। फिर भी उससे जितनी सहायता सम्भव है, उतनी हमें अवश्य ग्रहण करनी चाहिए तथा आशा करनी चाहिये कि भविष्य में साहित्यिक दृष्टि से भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन और आगे बढ़ेगा।

●

२

भाव व स्थायी भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन

मूल प्रकृति की दृष्टि से साहित्य और मनोविज्ञान दो भिन्न श्रेणियों के विषय हैं—एक कला की श्रेणी में आता है तो दूसरा विज्ञान की एक शाखा के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसलिए दोनों के मूल लक्ष्य, प्रयोजन एवं पद्धति में भी गहरा अन्तर रहता है; फिर भी एक दृष्टि से दोनों में गूढ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वह दृष्टि विषय-वस्तु की है अर्थात् साहित्य और मनोविज्ञान, दोनों की ही आधारभूत वस्तु प्रायः एक ही क्षेत्र से सम्बन्धित है। दोनों में ही मानव-मन की क्रिया-प्रक्रियाओं अनुभूतियों एवं तत्सम्बन्धी विचारों, भावों एवं क्रिया-कलापों को ही आधारभूत वस्तु के रूप में अपनाया जाता है। यही कारण है कि साहित्य के विवेचन विश्लेषण में एक सीमा तक मनोविज्ञान से भी सहायता ली जा सकती है तथा अनेक साहित्य-सिद्धान्त मूलतः मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर आश्रित हैं। इस प्रकार के प्राचीन सिद्धान्तों में रस-सिद्धान्त एवं आधुनिक में फ्रायड्, एडलर, जुंग आदि के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। रससिद्धान्त में काव्यानुभूति का विश्लेषण एवं वर्गीकरण भावानुभूति की प्रक्रिया के आधार पर ही किया गया है तथा मनोविज्ञान में भी अन्य मानसिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ भावानुभूति का भी अध्ययन, विश्लेषण, वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से उपलब्ध है। इसीलिए रस-सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण का औचित्य देखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा जाय। वस्तुतः हिन्दी, मराठी आदि के अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के कई प्रयास किये भी हैं किन्तु वे किसी एक सर्वमान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये—इतना ही नहीं, अनेक विद्वानों के निष्कर्ष परस्पर विरोधी भी हैं। ऐसी स्थिति में, पूर्ववर्ती प्रयासों एवं उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस-सिद्धान्त के पुनर्विवेचन की गहरी आवश्य-

कता है। हम प्रस्तुत खंड में इसी की आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास करते हुए भाव, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव अनुभाव आदि का विवेचन क्रमशः प्रस्तुत करेंगे। अस्तु, इस अध्याय में भाव एवं स्थायी भाव का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

(क) भाव के सामान्य रूप का विवेचन

भाव रस-शास्त्रीय दृष्टि से—आचार्य भरत ने 'भाव' शब्द की व्याख्या करते हुए इसके तीन अर्थ बताये हैं—(१) जो होते हैं वे भाव हैं।[1] जो भावित करते हैं वे भाव हैं।[2] और (३) कवि के आन्तरिक भाव या मनोभाव का भावन करवाने वाले।[3] पहले दो अर्थ 'भाव' की व्युत्पत्ति से सम्बन्धित हैं जबकि तीसरा अर्थ रस-शास्त्रीय अर्थ का द्योतक है। इसलिए डॉ० नगेन्द्र ने भी लिखा है—'भरत के भाव विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने व्यापक रूप से तीसरा अर्थ ग्रहण किया है: जो रस का भावन करें वे भाव हैं—अर्थात् भाव से उनका अभिप्राय रस-व्यंजक सामग्री का ही है जिसके अन्तर्गत स्थायी, संचारी के साथ विभाव और अनुभाव भी आ जाते हैं। किन्तु आगे चलकर उन्होंने विभाव और अनुभाव को पृथक कर दिया है और भावों की संख्या उनचास मानी है.... ।'[4] अस्तु, संक्षेप में, रस-सिद्धान्त के सन्दर्भ में भरत मुनि के अनुसार भाव एक ओर तो कवि के मनोभाव से सम्बन्धित हैं तो दूसरी ओर वे रस के आधार हैं।

भरत-परवर्ती संस्कृत के आचार्यों ने भाव के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए उसे क्रमशः सुख-दुःख की अनुभूति[5], चित्तवृत्ति-विशेष,[6] मनोभाव[7] आदि के अर्थ में ग्रहण किया है।

आधुनिक युग के अनेक हिन्दी आचार्यों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव का स्वरुप-विवेचन किया है, जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ० नगेन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। आ० शुक्ल के विचारानुसार 'प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है'[8] तो डा० नगेन्द्र के मतानुसार 'बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर 'भाव' की संज्ञा प्राप्त करते हैं।[9]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त के आचार्यों द्वारा निरूपित 'भाव का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है जिसके अन्तर्गत कवि के

---

१. 'किं भवन्तीति भावा :' (नाट्य-शास्त्र १०४)
२. 'किं वा भावयन्तीति भावा :' (वही
३. 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते' (नाट्य शास्त्र ७२)
४. 'रस-सिद्धान्त' पृष्ठ २१८
५. दशरूपक ४.४.
६. साहित्य-दर्पण ३/२६०-२६१
७. काव्यप्रकाश/४-३५
८. रस-मीमांसा पृ० १६८
९. रससिद्धान्त पृ० २१९

मनोभाव, सुख-दुःख की अनुभूति, चित्तवृत्ति-विशेष, प्रत्ययबोध एवं वेगयुक्त प्रवृत्ति से युक्त अनुभूति, संवेदन-जन्य मनोविकार आदि का समावेश हो जाता है ।

भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन—आधुनिक मनोविज्ञान में भाव के लिए 'भाव' या तथा 'संवेग' प्रचलित है । इसका अंग्रेजी पर्याय 'इमोशन' (Emotion) है, जिसकी व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए एक अंग्रेज विद्वान ने लिखा है—"The word 'emotion' is derived from the Latin 'e' (out) and 'movere' (to move) Originally the word meant a moving out from oue place into other, in the sense of a migration. The word came to mean a moving, stirring, agitation, perturbation, and was so used in a strictly physical sense........Finally the word came to be used to designate any agitated vehement, or excited mental state of the individual"[10] अर्थात् 'इमोशन' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के 'इ' (=बाहर)+मूवरी (=चलना) से हुई । मूलतः इस शब्द का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना था, जिसे स्थानान्तरण या निष्क्रमण कह सकते हैं । धीरे-धीरे इसका प्रचलन चलना, उत्तेजना, व्यग्रता आदि के अर्थ में भौतिक स्तर पर हुआ ।''''अन्त में इसका प्रयोग व्यक्ति की उत्तेजित उग्र अथवा क्षुब्ध मानसिक दशा को सूचित करने के लिए होने लग गया ।'

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अंग्रेजी के 'इमोशन' का प्रचलित अर्थ व्यक्ति की उद्दीप्त मानसिक अवस्था का सूचक है । आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी 'इमोशन' या भाव की लगभग ऐसी ही परिभाषा की है—यहाँ क्रमशः वुडवर्थ एवं युंग महोदय द्वारा की गयी दो परिभाषाएँ प्रस्तुत हैं—

(१) 'भाव अनुभूति की संक्रमित या उत्तेजित अवस्था है ।'[11]

—वुडवर्थ

(२) भाव व्यक्ति की तीव्र अव्यवस्थित (या उद्दीप्त) मानसिक अवस्था है ।[12]

—युंग

अस्तु, मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भाव सामान्यतः व्यक्ति की उद्दीप्त मानसिक स्थिति का ही द्योतक है, किन्तु, जैसा कि मैक्डूगल महोदय ने स्पष्ट किया है कि भाव का प्रयोग सामान्यतः दो प्रकार से किया जाता है—एक व्यापक अर्थ में और दूसरा संकीर्ण अर्थ में । व्यापक अर्थ में भाव के अन्तर्गत सभी प्रकार की भावात्मक

---

10. Murray. J. A. H.—A New English Dictionary on Historical Principles.
11. 'Emotion is a moved or stirred up state......of feeling.'—Psycho logy : Woodworth, Page 308.
12. 'An emotion is an acute disturbance of the individual, psychological in origin......"

—Emotions in Man and Animal : P. T. young Page 51

प्रवृत्तियों एवं अनुभूतियों को स्थान दिया जाता है तो संकीर्ण अर्थ में उसे अनुभूति के एक विशिष्ट प्रकार तथा भावना (Sentiment) से किंचित् भिन्न रूप में ग्रहण किया जाता है।[13] यदि रस-सैद्धान्तिक भाव पर इस दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में ही किया गया है इसीलिए इसमें आधुनिक मनोविज्ञान की अनुभूति (Feeling), मनःस्थिति (Mood), चित्तवृत्ति या भावना (Sentiment) आदि सभी प्रकार की भावात्मक प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। दूसरे शब्दों में, रस-सिद्धान्त का 'भाव' सामान्यरूप में मनोविज्ञान की भावात्मक प्रवृत्तियों (Emotional tendencies) का पर्याय है।

(ख) स्थायी भाव का विवेचन

आचार्य भरत ने रस-सम्बन्धी भावों को मुख्यतः तीनों वर्गों में विभक्त किया है—(१) स्थायी भाव (२) संचारी भाव और (३) सात्त्विक भाव। इनमें से अंतिम वर्ग (सात्त्विक भाव) को तो परवर्ती आचार्यों ने अनुभावों की श्रेणी में रखा है, अतः हम भी इनका विवेचन अनुभाव के अन्तर्गत ही करेंगे। अस्तु, अब विचारणीय वर्ग केवल दो—स्थायी एवं संचारी—ही रह जाते हैं। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए भरत ने तीन बातें कही हैं—(१) स्थायी भाव ही नाटक (काव्य) में रसत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् इन्हीं में रस-रूप में परिणत होने की क्षमता है; जबकि संचारियों में यह क्षमता नहीं है। (२) संचारी भाव स्थायी भाव पर आश्रित रहते हैं। (३) स्थायी भाव स्वामी या नृपति की भाँति प्रमुख होते हैं तो संचारी भाव सामान्य व्यक्ति की भाँति गौण होते हैं। अपने मत को पुष्ट करने के लिए भरत ने कोई उपयुक्त तर्क या प्रमाण नहीं दिया है, केवल परम्परागत मत का उल्लेख कर दिया है।

भरत परवर्ती आचार्यों ने स्थायी भाव के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए इसकी अनेक विशेषताओं का उद्घाटन किया है, जो इस प्रकार हैं—

१. स्थायी भाव जन्मजात होते हैं और वासना-संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं।[१] (अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र)

२. ये प्राणिमात्र में जन्म से ही विद्यमान रहते हैं।[२] (अभिनवगुप्त)

३. स्थायी भाव स्थिर रूप में रहते हुए विरोधी या अविरोधी भावों (=संचारी भावों) से उच्छिन्न या तिरोहित नहीं होते।[३] (धनंजय एवं विश्वनाथ)

---

13. An outline of Psychology : William Mcdougall ; Page 316-17
१. 'अभिनव भारती' पृ० २८४-५ एवं काव्यानुशासन पृ० ४·५७
२. वही।
३. दशरूपक ४-३४। साहित्य-दर्पण-३-१७४।

४. स्थायी भाव दूसरे भावों (संचारी भावों) को आत्मसात् कर लेते हैं तथा संचारी भाव इन्हीं के आश्रित रहते हैं ।[४] (धनंजय एवं जगन्नाथ)

५. स्थायी भाव समस्त प्रबन्ध में व्याप्त एवं स्थिर रहते हैं ।[५] (जगन्नाथ)

६. स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं, रस-चर्वणा, आस्वाद या आनन्दरूपता इन्हीं से प्राप्त होती है ।[६] (भोज एवं विश्वनाथ)

स्थायोभाव की उपर्युक्त विशेषताएँ आधुनिक युग तक प्रायः सभी विद्वानों द्वारा मान्य होती रही हैं किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन पर पुनर्विचार करते हुए अपना निर्णय इस प्रकार दिया है—"भावों के स्वरूप के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और संचारी का विभाग होता है । वह वस्तु है आलंबन । आलंबन या तो सामान्य होता है या विशेष । जो सामान्य आलंबन हो उसके प्रति मनुष्य मात्र का—कम से कम सहृदय मात्र का—वही भाव होगा जो आश्रय का है । जो विशेष आलम्बन होगा उसके प्रति श्रोता या दर्शक स्वभावतः उसी भाव का अनुभव न करेगा जिसे व्यंजित करता हुआ आश्रय दिखाया गया है—दूसरे 'भाव' का अनुभव वह कर सकता है । इस विभेद को ध्यान में रखकर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि **प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गये हैं जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते हैं**, शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले गये हैं क्योंकि उनमें से किसी-किसी के स्वतंत्र विषय होंगे भी तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं रहेगा ।"[७]

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त निष्कर्ष को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है । एक तो उन्होंने स्थायीभावों की काव्यगत स्थिति-विशेष को ही ध्यान में रख कर व्याख्या की है जिससे लौकिक (व्यवहारिक) एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थायी-भाव की किसी विशेषता का उद्घाटन नहीं होता । दूसरे, यदि आचार्य शुक्ल के निर्णय को स्वीकार कर भी लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि आठ या नौ स्थायी भावों (रति, घृणा, शोक, भय, उत्साह आदि) में ही ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण उनके आलम्बन सामान्य हो सकते हैं, शेष के नहीं ? आचार्य शुक्ल का तर्क है कि किसी को दुःखी देखकर मनुष्य मात्र क्षुब्ध हो सकता है जबकि आनन्द में यह बात नहीं है । इसी से आनन्द या हर्ष को स्थायी भाव नहीं माना गया तथा ईर्ष्या पर भी यही बात लागू होती है । हमारे विचार से आचार्य शुक्ल के ये तर्क भ्रामक हैं । काव्य में हम नायक के दुःख से जितने प्रभावित होते हैं उतने ही उसके हर्ष एवं आह्लाद से ही । यदि हमारा कवि या काव्यगत पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है तो उस स्थिति में उसकी प्रत्येक भावानुभूति—चाहे वह स्थायी

---

४. रस-गंगाधर ५. वही ६. सरस्वती कंठाभरण व साहित्य-दर्पण ।

७. रस-मीमांसा; पृष्ठ २०५

हो या संचारी—साधारणीकृत हो जाती है; अतः यह कहना उचित नहीं है कि केवल स्थायी ही साधारणीकृत होते हैं, अन्य नहीं वस्तुतः स्थायी भाव तो व्यक्त ही संचारियों के माध्यम से होते हैं; अतः यदि व्यक्त रूप ही साधारणीकृत न हुआ तो अव्यक्त रूप (=स्थायी) का साधारणीकरण कैसे सम्भव है ? अस्तु, हमारे विचार में आचार्य शुक्ल ने यहाँ स्थायी भाव की किसी मनोवैज्ञानिक विशेषता का उद्घाटन न करके उसे केवल नैतिक गुणों से मंडित करने का प्रयास किया है जो संगत प्रतीत नहीं होता।

● मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थायी भाव क्या हैं ?

आधुनिक युग के अनेक विद्वानों ने स्थायी भावों के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करते हुए विभिन्न निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।[८] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारानुसार कुछ स्थायी भाव—क्रोध, भय, शोक, आश्चर्य आदि—मनोविज्ञान के मूल भाव (Primary emotions) हैं तो कुछ, जैसे-प्रीति (रति) और बैर (घृणा) भाव-कोश हैं। भाव-कोश से उनका अभिप्राय मनोविज्ञान के 'सेंटीमेंट (Sentiment) से प्रतीत होता है। डॉ० गुलाबराय ने स्थायी भावों को सहज प्रवृत्तियों (Instincts) से सम्बन्धित माना है तो डॉ० राकेशगुप्त ने स्थायी भाव एवं संचारी भाव—दोनों को ही मानसिक प्रभाव (Mental affections) के रूप में स्वीकार किया है। डॉ० नगेन्द्र ने मौलिक मनोविकार (Primary emotions) व्युत्पन्न मनोविकार (Derived emotions) एवं मनोवृति (Sentiment) से स्थायी भावों की तुलना करते हुए प्रतिपादित किया है कि इन्हें तीनों में से किसी भी वर्ग में पूर्णतः स्थान नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार मराठी के भी अनेक विद्वानों—रा० श्री० जोग, डॉ० के० ना० वाटवे, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे प्रभृति—ने भी स्थायी भावों की तुलना सहज प्रवृत्तियों एवं भावनाओं से करते हुए परस्पर-विरोधी निर्णय दिये हैं। वस्तुतः अब तक इस बात का कोई स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाया कि रस-सैद्धान्तिक वर्गीकरण आधुनिक मनोविज्ञान के अनुरूप है या नहीं, और यदि है तो स्थायीभाव को क्या माना जाय ? जो विद्वान् रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान-संगत मानते हैं, उनमें भी परस्पर मतैक्य का अभाव है, क्योंकि कुछ स्थायी भाव को मूल भाव मानते हैं, तो कुछ सहज प्रवृत्ति एवं कुछ भावना मानते हैं।

हमारे विचार में उपर्युक्त स्थिति के मूल में दो कारण हैं—एक तो प्रारम्भ में, आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व, स्वयं मनोविज्ञान के क्षेत्र में ही भावात्मक प्रवृ-

---

८. हमने यहाँ डॉ० राकेशगुप्त के ग्रन्थ 'A Psychological Study of Ras' में प्रतिपादित निष्कर्षों का उल्लेख नहीं किया है, उन पर विस्तार से 'हिन्दी काव्य में श्रृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी' में विचार करते हुए उन्हें अग्राह्य सिद्ध किया जा चुका है।

त्तियों का विवेचन-विश्लेषण एवं स्वरूप-निर्धारण स्पष्ट रूप में नहीं हो पाया था; जिस तत्त्व को एक मनोवैज्ञानिक 'मूल भाव' के नाम से पुकारता था, उसी को दूसरा 'भावना' 'भावात्मक दृष्टिकोण' आदि की संज्ञा देता था—अतः ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि रस-सिद्धान्त का भी मनोवैज्ञानिक विवेचन शुद्ध एवं स्पष्ट रूप में न हो पाये। दूसरे, अनेक विद्वानों ने आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित भावात्मक प्रवृत्तियों के रूप-भेदों को भी भली-भाँति समझने का प्रयास नहीं किया। अस्तु, प्रस्तुत प्रयास को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि हम सर्व प्रथम भावात्मक प्रवृत्तियों के रूप भेदों को मनोवैज्ञनिक दृष्टि से भली-भाँति हृदयंगम कर लें।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारी विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों के मूल में हमारी सहज प्रवृत्तियों (Instincts) की प्रेरणा कार्य करती है। मैक्डूगल महोदय के अनुसार हमारी ये सहज प्रवृत्तियाँ या जन्मजात प्रवृत्तियाँ ही बाह्य वातावरण एवं परिस्थितियों के प्रभाव से पोषित, विकसित एवं उद्दीप्त होती हुई विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। हमारी सहज प्रवृत्तियों का विकास एवं प्रकाशन क्रमशः भावनाओं (Sentiments), चारित्रिक प्रवृत्तियों व स्वभावगत गुणों (Temperaments), भावात्मक दृष्टिकोणों (Attitudes), मनोदशाओं (Moods), मूल भावों (Primary Emotions), व्युत्पन्न भावों (Derived Emotions), अनुभूतियों (Feelings) आदि के रूप में होता है। अस्तु, आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ये सभी रूप भावात्मक प्रवृत्तियों के विभिन्न रूप-भेदों को सूचित करते हैं। अतः यह विचारणीय है कि रस-सिद्धान्त के स्थायी भावों को इनमें से किस भेद के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है?

सहज प्रवृत्तियाँ और स्थायीभाव—भावात्मक प्रवृत्तियों के उपर्युक्त रूप-भेदों में से सर्व प्रथम सहज प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है जो कि मानसिक विकास की दृष्टि से भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० गुलाबराय ने रस-सिद्धान्त के स्थायी भावों का सम्बन्ध इन सहज प्रवृत्तियों से ही स्थापित करते हुए लिखा था—'हमारे यहाँ के नौ-दस रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध भी इन सहज प्रवृत्तियों से दिखाया जा सकता है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन स्थायी भावों की संख्या किसी विशेष सूची के अनुकूल है फिर भी सभी स्थायी भाव किसी न किसी सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित हैं।'[१] यहाँ डॉ० राय ने यह स्पष्ट नहीं किया कि स्थायी भाव स्वयं सहज प्रवृत्तियों के ही प्रतिनिधि हैं या केवल उनसे सम्बन्धित। यदि वे केवल सम्बन्धित ही हैं तो वह सम्बन्ध क्या है—इसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। किन्तु परवर्ती युग के अनेक विद्वानों—पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी प्रभृति—ने कदाचित् डॉ० गुलाबराय से ही प्रेरणा ग्रहण करते हुए स्थायी

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन; पृ० सं० १७७

भावों को न केवल सहज प्रवृत्तियों से सम्बन्धित अपितु स्वयं सहज प्रवृत्तियों के ही अनुरूप सिद्ध किया है। वस्तुतः रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने स्थायीभाव के जो लक्षण बताये हैं, उनमें से अनेक सहज प्रवृत्तियों में भी उपलब्ध हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए यहाँ दोनों की तुलना तालिका रूप में प्रस्तुत की जाती है। यहाँ सहज प्रवृत्तियों के लक्षण मैक्डूगल महोदय के शब्दों में उद्धृत किये गये हैं।

तालिका : स्थायी भाव एवं सहज प्रवृत्तियों की तुलना

(क) स्थायी भाव के लक्षण	(ख) सहज प्रवृत्तियों के लक्षण
(१) स्थायी भाव जन्मजात होते हैं और वासना-संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं।	(1) We may define an instinct as an inherited or innate psycho-physical disposition which determines its possessor to perceive and to pay attention to objects of a certain class, to experience an emotional excitement of a particular quality........
(२) स्थायी भाव प्राणि-मात्र में जन्म से ही विद्यमान रहते हैं।	(2) ····We find not only that these tendencies, in stronger or weaker degree, are present in men of all races,....but that we may find all of them or at least the germs of them, in most of the higher animals.
(३) स्थायी भाव दूसरे भावों से अवि-च्छिन्न (अपरिवर्तित) रहते हैं।	(3) These all important and relatively unchanging tendencies which form the basis of human character and will.....
(४) संचारी भाव स्थायी भावों पर आश्रित रहते हैं।	(4) Each of the principal instincts conditions, them, some one kind of emotional excitement whose quality is specific or peculiar to it....

तालिका से स्पष्ट है कि स्थायी भाव के चार प्रमुख लक्षण तो सहज प्रवृत्तियों में स्पष्ट रूप में उपलब्ध हैं, किन्तु शेष दो लक्षणों—सम्पूर्ण प्रबन्ध में स्थायी भाव की व्यापकता एवं रस-रूप में परिणति—की पूर्ति भी अप्रत्यक्ष रूप से हो जाती है। मैक्डूगल महोदय के अनुसार सहज प्रवृत्तियाँ हमारे समस्त चिन्तन एवं क्रिया-कलाप की प्रेरणा-स्रोत हैं तथा वे व्यक्ति की विभिन्न चित्तवृत्तियों एवं चारित्रिक प्रवृत्तियों की भी मूलाधार हैं[10]—ऐसी स्थिति में संपूर्ण प्रबन्ध (काव्य) में इनकी व्यापकता एवं प्रमुखता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति एवं संतुष्टि से व्यावहारिक जीवन में भी अमित आह्लाद की अनुभूति प्राप्त होती है, अतः काव्य-क्षेत्र में भी इनकी रस-रूप में परिणति असंभव नहीं। वस्तुतः आचार्य अभिनवगुप्त ने तो रसानुभूति का मूल कारण कला-माध्यम से वासनाओं की अभिव्यक्ति को ही माना है तथा वासनाएँ सहज प्रवृत्तियों की ही पर्याय हैं। अस्तु, स्थायीभाव के प्रायः सभी प्रमुख लक्षणों की उपलब्धि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में सहज प्रवृत्तियों में हो जाती है। फिर भी स्थायीभावों को सहज प्रवृत्तियों के पर्याय के रूप में घोषित करने में एक बाधा है—वह यह कि लक्षणों की दृष्टि से दोनों में गहरा साम्य होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से दोनों की नामावली एवं संख्या में गहरा अन्तर है। मैक्डूगल महोदय ने जिन बारह सहज प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी है, उनमें से काम प्रवृत्ति एवं हास्य को छोड़कर शेष स्थायी भावों से भिन्न हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित जिन मूल भावों (Primary Emotions) की चर्चा की गयी हैं, वे अवश्य रस-सैद्धातिक स्थायी भावों से मिलते-जुलते हैं; इसे स्पष्ट करने के लिये यहाँ इनकी सूचियाँ तालिका रूप में प्रस्तुत की जाती हैं—

तालिका—सहजप्रवृत्तियों, मूल भावों एवं स्थायी भावों की तुलना

सहज प्रवृत्ति	सम्बन्धित मूल भाव	स्थायी भाव
१. पलायन की प्रवृत्ति	भय	भय
२. युयुत्सा की प्रवृत्ति	क्रोध	क्रोध
३. विकर्षण की प्रवृत्ति	जुगुप्सा	जुगुप्सा

10. "The human mind has certain innate or inherited tendencies which are the essential springs or motive powers of all thought and action, whether individual or collective, and are the bases from which the character and will of individuals and of nations are gradually developed under the guidance of the intellectual faculties."

—An Introduction to Social Psychology; by William Mc Dougall; Page 17

४. जिज्ञासा की प्रवृत्ति	आश्चर्य	विस्मय
५. काम प्रवृत्ति	काम	रति
६. संतति-पालन की प्रवृत्ति	वात्सल्य	वात्सल्य
७. आत्महीनता की प्रवृत्ति	दैन्यता	भक्ति
८. आत्म-गौरव की प्रवृत्ति	स्वाभिमान	उत्साह
९. सामाजिकता की प्रवृत्ति	एकाकीपन	×
१०. संग्रह की प्रवृत्ति	अधिकार भावना	×
११. सर्जन की प्रवृत्ति	रचनात्मक भाव	×
१२. हास्य की प्रवृत्ति	विनोद	हास्य

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि स्थायी भावों की नामावली सहज प्रवृत्ति की अपेक्षा मूल भावों की सूची के अधिक अनुरूप है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि स्थायी भावों को सहज प्रवृत्ति की अपेक्षा मूल भाव (Primary Emotions) की श्रेणी में क्यों न स्थान दिया जाय? इसके सम्बन्ध में हम आगे स्वतन्त्र रूप में विचार करेंगे किन्तु यहाँ इतना स्पष्ट है कि स्थायी भावों और सहज प्रवृत्तियों में लक्षणों की दृष्टि से गहरा साम्य होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में गहरा अन्तर है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूल भावों के ही अनुरूप स्थायी भाव भी सहजप्रवृत्तियों से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं, किन्तु फिर भी दोनों एक नहीं हैं।

मूल भाव एवं स्थायी भाव—मैक्डूगल महोदय ने भावों या संवेगों (Emotions) को तीन वर्गों में विभक्त किया है—(१) मूलभाव (Primary emotions) (२) मिश्रितभाव (Compound emotion) और (३) व्युत्पन्न भाव (Derived emotions)। इनमें मूल भाव वे भाव या संवेग हैं जिनका मूल प्रवृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रहता है तथा जो किसी अन्य भाव पर निर्भर या आश्रित नहीं रहते। इस वर्ग में भय, क्रोध, हर्ष, विषाद, प्रेम आदि की गणना की गयी है। मिश्रित भावों में अनेक मूल भाव मिश्रित होते हैं जबकि व्युत्पन्न भाव अन्य भावों पर आश्रित रहते हैं तथा उनका सहज प्रवृतियों से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता इस दृष्टि से विचार किया जाय तो मूल भावों एवं व्युत्पन्न भावों में वैसा ही अन्तर दृष्टिगोचर होगा, जैसा कि स्थायी भाव और संचारी भाव में बताया जाता है; अर्थात् जिस प्रकार व्युत्पन्न भाव मूल भावों पर निर्भर रहते हैं, उसी प्रकार संचारी भाव स्थायी भावों पर निर्भर रहते हैं। स्थायी भावों की नामावली भी मूल की सूची के अनुरूप ही है—किन्तु फिर भी दोनों में अनेक दृष्टियों से अन्तर है। मूल भाव या संवेग व्यक्ति की एक उद्दीप्त मनः स्थिति के ही सूचक हैं। वे दीर्घ काल तक व्यक्ति के मन में स्थिर या स्थायी नहीं रहते। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए एक मनोविज्ञान-शास्त्री ने लिखा है—"संवेग तीव्र उपद्रव होता है—यह एकाएक उत्पन्न होता है और तीव्रता

लिये होता है और कुछ क्षण बाद लुप्त हो जाता है।[११] यदि किसी विशेष कारण से एक ही व्यक्ति के मन में एक ही मूल भाव या संवेग स्थिर रूप में विकसित हो जाता है तो उस स्थिति में वह संवेग भावना (Sentiment) में परिवर्तित हो जाता है। इसी लिए एकाएक उत्पन्न होने वाले भय तथा स्थिर रूप में विकसित भय की भावना या भीरूता में सूक्ष्म अन्तर है। अस्तु, मूल भाव या संवेग के क्षेत्र में भाव विशेष का स्थायी रूप नहीं आता, जबकि स्थायी भाव के लिये स्थिरता एवं अविच्छिन्ना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में स्थायी भावों को मूल भावों या संवेगों की श्रेणी में भी स्थान नहीं दिया जा सकता।

भावना और स्थायी भाव—जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, मनोवैज्ञनिकों के अनुसार, जब भाव या संवेग किसी व्यक्ति-विशेष के मन में परिस्थिति वश स्थिर या स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हो जाता है तो उसे 'भावना' (Sentiment) का नाम दिया जाता है। रस-सैद्धान्तिक स्थायी भाव मूल भावों की अपेक्षा भावना (सेंटीमेंट) के अधिक निकट है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि हिन्दी में लिखित मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक पुस्तकों में तो 'सेंटीमेंट' का हिन्दी पर्याय भी 'स्थायी भाव' ही दिया गया है, यद्यपि हमारे विचार से 'सेंटीमेंट' के लिये 'भावना' शब्द अधिक उपयुक्त है। सेंटीमेंट या भावना के स्वरूप का विवेचन करते हुये शैन्ड महोदय ने लिखा है—'भावना किसी वस्तु पर केन्द्रित भावात्मक प्रवृत्तियों की एक सुव्यवस्थित समष्टि है।' मैक्डूगल के विचारानुसार 'किसी वस्तु के अनुभव से उत्पन्न, उस वस्तु के प्रति एक स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति है।'

भाव एवं भावना के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० यदुनाथ सिन्हा ने लिखा है—'भावना के निर्माण में भावात्मक प्रवृत्तियों का संगठन होता है।.........यह एक स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति है। यह किसी भाव का अनुभव करने की स्थायी प्रवृत्ति है। भाव एक अल्पस्थायी उद्रेक होता है जबकि भावना स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति होती है।[१२]

यदि रस-सैद्धान्तिक स्थायीभाव के पूर्वोक्त लक्षणों को ध्यान में रखकर भावना (Sentiment) के लक्षणों पर विचार किया जाय तो दोनों में गहरा साम्य दृष्टि-गोचर होगा। एक तो स्थायीभाव की ही भाँति भावना को भी क्रमशः विकसित स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति माना गया है। दोनों ही व्यक्ति के आलम्बन-विशेष के प्रति उन्मुख दीर्घकालीन भावात्मक प्रवृत्ति के सूचक हैं। दूसरे, भावना का स्वरूप-विवेचन करते हुए यह भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया है कि वह व्यक्ति के मन में अव्यक्त रूप में भी विद्यमान रह सकती है, पर साथ ही विभिन्न परिस्थितियों

---

११. सामान्य मनोविज्ञान—ले० डॉ० एस० एस० माथुर; पृष्ठ १६३

१२. मनोविज्ञान, पृ० सं० २५१

में उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न भावों के रूप में भी होती रहती है। इस तथ्य का विवेचन करते हुए मैक्डूगल ने लिखा है कि किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति प्रणय भावना का विकास हो जाने पर उस व्यक्ति की उपस्थिति में माधुर्यभाव, उसके विपत्ति-ग्रस्त हो जाने पर भय, चिन्ता आदि तथा उसके दूर चले जाने पर दुःख आदि अनेक भावों की उद्दीप्ति संभव है।[१३] तीसरे, मनोवैज्ञानिकों ने यह भी स्वीकार किया है कि विरोधी भावों की उद्दीप्ति से भी भावना विच्छिन्न नहीं होती। शैण्ड महोदय के अनुसार तो जो भाव प्रेम में उद्दीप्त होते हैं, वे सभी परिस्थितियों के भेद से घृणा-भावना में भी संभव हैं।[१४] चौथे, जिस प्रकार संचारी भावों की आवृत्ति स्थायीभाव की पुष्टि में योग देती है, उसी प्रकार भावों की आवृत्ति से भावना का भी पोषण एवं विकास स्वीकार किया गया है। पाँचवें, रस-सिद्धान्त के आचार्यों के अनुसार किसी प्रबन्ध या नाटक में एक ही स्थायीभाव को प्रमुखता दी जानी चाहिए—इस विधान का अनुमोदन मैक्डूगल के इस कथन से हो जाता है कि व्यक्ति (=नायक) के मन में सामान्यतः एक भावना ही प्रमुख होती है जो अन्य भावनाओं को गौण कर देती है।[१५]

अस्तु, उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि स्थायी भाव एवं भावना के स्वरूप में इतनी समानता है कि यदि हम दोनों को एक-दूसरे का पर्याय भी कह दें तो अनुचित न होगा किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पुनः एक बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होती है—वह यह कि रस-सैद्धान्तिक स्थायी भावों की नामावली एवं मनोवैज्ञानिक द्वारा विवेचित भावनाओं की सूची में नाम और संख्या की दृष्टि से भारी अन्तर है। जहाँ तक प्रेम, घृणा, वात्सल्य की बात है, इन्हें दोनों पक्ष ही स्वीकार करते हैं किन्तु शेष स्थायी भावों (भय, क्रोध, विस्मय, उत्साह, हास्य आदि) को मनोवैज्ञानिक भावना के रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। दूसरी ओर मनोविज्ञान के अनुसार भावनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि इन्हें किसी एक सूची में स्थान नहीं दिया जा सकता। वैसे प्रमुख भावनाओं में हम प्रेम और घृणा के अतिरिक्त मैत्री, देश-भक्ति की भावना प्रतिशोध की भावना, सहानुभूति की भावना, समाज-सुधार की भावना, आदि की चर्चा कर सकते हैं। वस्तुतः भावनाओं का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनमें न केवल व्यक्तियों एवं वस्तुओं से सम्बन्धित स्थायी रागात्मक प्रवृत्तियाँ अपितु विभिन्न विचारों सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों से सम्बन्धित ऐसी बौद्धिक वृत्तियों को भी स्थान दिया जा सकता है जिनका विकास भावना के स्तर पर हो गया हो ; यथा—साम्प्रदायिकता की भावना, रहस्य-भावना, भक्ति-भावना, छुआछूत की भावना, वर्ग-वैषम्य की

---

13. An Introduction to Social Psyhology : Page 106
14. Same ; Page 140
15. Same ; Page 140

भावना आदि भावनाओं के विकास में विचारों का भी योगदान संभव है, इसीलिए कुछ मनोवैज्ञानिक 'भावनाओं' के लिए 'सेंटीमेंट' के स्थान पर 'एटिच्यूड' (Attitude) शब्द का भी प्रयोग करते हैं। किन्तु भावनाओं के भी अनेक प्रकार हैं, कुछ में अतिशय भावुकता एवं भावात्मकता रहती है तो कुछ में बौद्धिकता एवं भावात्मकता का मेल रहता है, अतः यह आवश्यक नहीं है कि हम सभी भावनाओं में बौद्धिकता या विचार-तत्त्व की सत्ता अपेक्षित मानें।

अस्तु, यहाँ विचारणीय प्रश्न यही है कि क्या स्थायी भावों को भावनाओं की श्रेणों में स्थान दिया जाय या नहीं ? फिर एक प्रश्न और भी है—वह यह कि लक्षणों की दृष्टि से तो स्थायीभाव सहज-प्रवृतियों के भी बहुत कुछ अनुरूप सिद्ध हो चुके थे ; अतः इन दोनों में से स्थायीभाव किसके अधिक निकट हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए सर्व प्रथम हमें सहज प्रवृत्तियों और भावनाओं के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए। सामान्यतः व्यक्ति की सभी प्रमुख भावनाओं के मूल में सहज प्रवृत्तियों की न्यूनाधिक प्रेरणा सदा विद्यमान रहती है—अतः इस दृष्टि से दोनों में गहरा सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, प्रणय भावना के मूल में काम प्रवृत्ति आधार रूप में कार्य करती है। फिर भी दोनों में अन्तर इस बात का है कि जहाँ सहज प्रवृत्ति व्यक्ति की जन्मजात अविकसित प्रवृत्ति है, वहाँ भावना उसी सहज प्रवृत्ति के परिस्थितियों एवं सामाजिक वातावरण के प्रभाव से विकसित एवं परिष्कृत रूप की सूचक है। इसीलिए एक का अस्तित्व पशुओं तक में स्वीकार किया गया है जबकि दूसरी के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त सहज प्रवृत्तियाँ वर्ग या जाति के प्रति होती हैं, वे व्यक्ति-विशेष या वस्तु विशेष की ओर ही सदा उन्मुख नहीं होती। जैसे, काम-प्रवृत्ति की संतुष्टि के लिए भिन्न-लैङ्गिक व्यक्ति ही पर्याप्त होता है जबकि प्रणय-भावना का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से होता है। सहज प्रवृत्तियाँ विचार एवं भाव की अपेक्षा 'प्रवृत्ति' या क्रिया की ओर अधिक उन्मुख रहती हैं जबकि भावना की स्थिति इसके विपरीत है ; अर्थात् वह क्रियात्मक कम और भावात्मक अधिक होती है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि सहज प्रवृत्ति का उद्दीपन सामान्यतः विशिष्ट मूलभाव के रूप में ही होता है जबकि भावना में अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल-भावावेगों एवं अनुभूतियों का संचरण संभव है। अतः निश्चिय ही सहज प्रवृत्तियों की अपेक्षा भावनाएँ अधिक विकसित, परिष्कृत एवं गंभीर भावात्मक प्रवृत्तियाँ हैं।

अब यदि साहित्य की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि भावनाओं का महत्त्व सहज प्रवृत्तियों से अधिक है। अवश्य ही निम्नस्तरीय सस्ते साहित्य में प्रणय भावना के स्थान पर काम-प्रवृत्ति या काम-क्रीड़ाओं का चित्रण अधिक संभव है, तथा अति यर्थाथवादी साहित्य पर भी यह बात लागू होती है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि सच्ची सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति की उपलब्धि सहज प्रवृत्तियों के

चित्रण से नहीं, भावनाओं के ही चित्रण से संभव है। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्थायी भावों को सहज प्रवृत्तियों पर आधारित या उनसे सम्बन्धित तो माना जा सकता है किन्तु उन्हें उनसे सर्वथा अभिन्न नहीं कहा जा सकता है।

अस्तु, यह तो स्पष्ट है कि स्थायी भाव सहज प्रवृत्तियों की अपेक्षा भावनाओं के अधिक निकट हैं, तथा अनेक स्थायीभाव—प्रणय, घृणा, वात्सल्य और भक्ति—तो प्रत्यक्ष ही भावनाओं के पर्याय है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी स्थायी भाव भावनाओं से अभिन्न हैं या सभी भावनाओं का समावेश स्थायीभावों में हो जाता है।

अब तक हमने क्रमशः सहज प्रवृत्तियों, मूल भावों, एवं भावनाओं से स्थायी भावों की तुलना की है, किन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में इनके अतिरिक्त भी कुछ भावात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, जिन पर भी यहां विचार कर लिया जाना चाहिए। वे हैं—भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude), स्वभाव (Temperament), मनोदशा (mood) आदि। भावात्मक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में तो पीछे संकेत-रूप में कहा जा चुका है कि जिन भावनाओं में बौद्धिक तत्त्व की प्रमुखता होती है, या जिनमें विचार एवं भाव संयुक्त रूप में रहते हैं, उन्हें मनोवैज्ञानिकों ने भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude) की संज्ञा दी है। उदाहरण के लिए आस्तिकता, आस्था, निर्वेद आदि को भावात्मक या रागात्मक दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार वे भावनाएं जो व्यक्ति के चरित्र की अंग बन जाती हैं, स्वभावगत प्रवृत्तियों में (Temperament) के रूप में स्वीकार की जाती हैं। मनोदशा (Mood) मूल भावों या संवेगों की अपेक्षा अधिक सघन, विस्तृत एवं दीर्घकालीन अनुभूति की द्योतक है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोदशा (Mood) भाव का स्थिर रहने वाला पश्चात् प्रभाव है। मनोदशा भाव की अपेक्षा कम तीव्र होती है किन्तु उसका स्थितिकाल अधिक दीर्घ होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भाव या संवेग की तुलना में क्रमशः मनोदशा (Mood), भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude), भावना (Sentiment), स्वभावगत प्रवृत्ति (Temperament) एवं सहज प्रवृत्ति (Instinct)—ये सभी अधिक व्यापक, दीर्घ, स्थिर एवं स्थायी होते हैं।

यदि हम स्थायी भावों की नामावली पर पुनर्विचार करें तो ज्ञात होगा कि हमारे अनेक स्थायीभाव जो कि भावना के अन्तर्गत नहीं आते वे मनोदशा[१६] (Mood), भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude), चारित्रिक या स्वभावगत प्रवृत्ति (Temperament) एवं सहज प्रवृत्ति (Instinct) के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं यथा, क्रोध एवं शोक जब अपेक्षाकृत दीर्घकालीन हो जाते हैं तो वे मनोदशा (mood) के रूप

---

१६. मनोदशा भाव की अपेक्षा तो स्थिर है किन्तु इसका स्थिति-काल कुछ घन्टों तक ही रहता है, अतः उसे हमने आगे संचारी भाव के समकक्ष ही माना है।

में विकसित हो जाते हैं। इसी प्रकार शान्त रस के स्थायीभाव निर्वेद को भी भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude) के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार वीर रस का स्थायी भाव उत्साह जो कि व्यावहारिक दृष्टि से वीरता एवं कार्य-तत्परता का पर्याय है, चारित्रिक प्रवृत्ति (temperament) का ही एक रूप है। हास्य और भय—सामान्यत; मूल भाव हैं, जो परिस्थिति-विशेष में कुछ समय तक ही स्थिर रहते हैं, किन्तु जब इनका विकास व्यक्ति में स्थायी रूप से हो जाता है तो ये भी क्रमशः विनोद की प्रवृत्ति एवं भय की भावना या भीरुता की प्रवृत्ति में परिणत हो जाते हैं ; अतः इन्हें भी परिस्थितियों के अनुसार चारित्रिक प्रवृत्तियों या भावना-विशेष के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि स्थायीभाव के रूप में रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने जिन भावों का उल्लेख किया है वे मनोविज्ञान के अनुसार किसी एक ही श्रेणी में नहीं रखे जा सकते अर्थात् उनमें से कुछ भावनाओं (Sentiments) की श्रेणी के हैं, कुछ मनोदशाओं एवं भावात्मक दृष्टिकोणों की श्रेणी के और कुछ चारित्रिक प्रवृत्तियों की श्रेणी के। ऐसी स्थिति में रस-सैद्धान्तिक वर्गीकरण को संगत कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि भावात्मक प्रवृत्तियों के ये सभी रूप मूल भावों (Primary emotions), व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feelings) की तुलना में पर्याप्त स्थिर, स्थायी या दीर्घकालीन हैं, अतः यदि हम इन्हें समन्वित रूप में स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों के नाम से पुकारें, तथा शेष—मूल भावों, व्युत्पन्न भावों एवं अनुभूतियों—को अस्थिर, अस्थायी या संचरणशील प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार करें तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कोई असंगति नहीं होगी। अस्तु, रस-सैद्धान्तिक वर्गीकरण असंगत न होते हुए भी मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण की तुलना में स्थूल अवश्य है। साथ ही स्थायी भावों का नामकरण भी दोषपूर्ण है। जहाँ इनके लक्षण सहज प्रवृत्तियों एवं भावनाओं के अनुरूप है, वहाँ उनका नामकरण भावोवेगों एवं अनुभूतियों के रूप में है, जिससे अनेक बार स्थायीभाव और संचारी भाव का भेद लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए—'क्रोध' एक संचरणशील अस्थायी भाव है ; कोई व्यक्ति निरन्तर क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता, इसीलिए किसी प्रबन्ध-काव्य या नाटक के नायक को आदि से लेकर अन्त तक क्रोधग्रस्त नहीं दिखाया जा सकता। दूसरी ओर क्रोध की उद्दीप्ति घृणा (वीभत्सरस), प्रेम, उत्साह (वीर रस) में भी संभव है, जहाँ वह स्थायीभाव नहीं माना जाता। ऐसी स्थिति में क्रोध को स्थायीभाव की श्रेणी में स्थान दिया जाना कहाँ तक ठीक है ? वस्तुतः रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध न होकर द्वेष, बैर या प्रतिशोध की भावना है जिसके अन्तर्गत न केवल क्रोध अपितु घृणा,उपहास, गर्व, खेद, आवेग, अमर्ष, हर्ष, आदि अनेक भावावेगों की उद्दीप्ति परिस्थिति-भेद से अस्थायी रूप में संभव है। ऐसी स्थिति में यदि रौद्ररस के स्थायी

भाव का नामकरण 'क्रोध' के रूप में न करके 'द्वेष भावना' के रूप में किया जाता तो उपर्युक्त असंगति न आती। यही बात 'भय', 'हास्य' 'घृणा' 'आश्चर्य' आदि अन्य स्थायी भावों पर भी लागू होती है। ये सभी भाव मनोविज्ञान के 'इमोशन' या क्षणिक भावावेग मात्र हैं जिनकी उद्दीप्ति परस्पर विरोधी भावनाओं में भी संभव हैं—ऐसी स्थिति में संचारी भावों से इनका पार्थक्य स्पष्ट नहीं होता। इतना ही नहीं स्थायीभाव के निर्धारित लक्षण भी इन पर लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए स्थायीभाव का एक प्रमुख लक्षण यह माना गया है कि वह विरोधी भावों की उद्दीप्ति से भी विच्छिन्न नहीं होता अर्थात् वह उन्हें भी आत्मसात् कर लेता है। यथा प्रेम में यदि प्रेमिका प्रिय की उपस्थिति में हर्ष, किन्तु उसकी अनुपस्थिति में शोक ; उसके विलम्ब से आने पर क्रोध से ग्रस्त हो तो यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि इन विरोधी भावों के कारण उसका स्थायीभाव—प्रणय—विच्छिन्न हो गया है। किन्तु क्या यही बात क्रोध, भय, हास्य आदि पर लागू होती है? यदि क्रोध से उद्दीप्त व्यक्ति एकाएक शत्रु के हाथ में पिस्तौल देखकर भय से ग्रस्त हो जाय तो क्या हम यह कहेंगे कि उसका क्रोध विच्छिन्न नहीं हुआ? यदि हम किसी व्यक्ति पर हँस रहे हों और बदले में वह हमारे गाल पर थप्पड़ लगादे, जिसके कारण हम हास्य के स्थान पर क्रोध घृणा या शोक से ग्रस्त हो जांय तो क्या यहाँ यह माना जायगा कि हमारा हास्य भाव अविच्छिन्न है? वस्तुतः उपर्युक्त सभी उदाहरणों में क्रोध, भय, हास्य आदि स्थायीभाव के रूप में ग्राह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में रस-सिद्धान्त के समर्थक कदाचित् यही उत्तर दे सकते हैं कि प्रत्येक क्रोध, प्रत्येक भय स्थायीभाव नहीं होता अपितु जब ये भाव स्थायी रूप में—ऐसी परिस्थिति में कि इनका उद्दीपन बार-बार होता रहे—चित्रण हो, उसी स्थिति में उन्हें स्थायी मानेंगे, अन्यथा इनका उद्दीपन संचारी रूप में भी संभव है। यदि यही बात है तो फिर सभी संचारियों का स्थायी रूप में और सभी स्थायीभावों का संचारी रूप में चित्रण किया जा सकता है तथा उस स्थिति में स्थायी एवं संचारी का वर्गीकरण निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

हमारे विचार में यह बात मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है कि स्थायी एवं संचारी में केवल काव्यगत स्थिति का ही अन्तर है ; व्यबहार में कोई अन्तर नहीं। वस्तुतः भावना, दृष्टिकोण, चारित्रिक प्रवृत्ति आदि स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों को काव्य में सदा स्थायी प्रवृत्ति के ही रूप में तथा पूर्वोक्त भावों—क्रोध, भय, हास्य आदि—को सदा संचारी या क्षणिक भावावेग के रूप में ही चित्रित किया जा सकता है। अतः निश्चय ही स्थायी और संचारी के जिन भेदक लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है, वह सर्वथा संगत एवं सार्थक है किन्तु उसमें त्रुटि यह है कि स्थायी भावों का नामकरण एवं चयन उन लक्षणों के अनुरूप नहीं किया गया—नामकरण में जहाँ स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों (भावना आदि) को स्थान मिलना चाहिए था, वहाँ उनसे घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध मूल भावों को स्थान दे दिया गया। फिर भी परम्परा से

विभिन्न काव्यों में हम जहाँ रति, क्रोध, भय आदि स्थायी भावों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वहाँ वास्तव में प्रणय भावना, द्वेष-भावना का निरूपण होता है। अतः उपर्युक्त त्रुटि का निराकरण सरलता से किया जा सकता है। आचार्यों ने जहाँ मूलभाव का उल्लेख किया है वहाँ यदि हम तत्सम्बन्धी स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति को स्थान दे दें तो स्थायी भाव का स्वरूप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी संगत सिद्ध हो सकेगा। इतना अवश्य है कि एक ही रस-भेद से सम्बन्धित भावनाओं के अनेक रूप उपलब्ध हैं, अतः हमें उनका वर्गीकरण रस-विशेष के ही अनुसार करना होगा। अतः यहाँ स्थायीभावों के संशोधित एवं व्यापक रूपों की नामावली तालिका रूप में प्रस्तुत की जाती है—

तालिका—स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ एवं स्थायीभाव

स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ या भावनाओं के प्रकार	सम्बन्धित मूल भाव या स्थायी भाव
(१) प्रणय भावना।	रति (प्रेम)
(२) द्वेष-भावना। प्रतिशोध की भावना। क्रान्ति या विद्रोह की भावना।	क्रोध
(३) भीरुता की प्रवृत्ति	भय
(४) करुणा या सहानुभूति की प्रवृत्ति	शोक (करुणा)
(५) विनोद, उपहास या व्यंग्य की प्रवृत्ति	हास्य
(६) घृणा की भावना	घृणा
(७) जिज्ञासा एवं कौतूहल की प्रवृत्ति	आश्चर्य
(८) निर्वेद, ग्लानि या पलायन की प्रवृत्ति	निर्वेद
(९) भक्ति या आत्म-दैन्य की भावना	भक्ति
(१०) स्नेह-वात्सल्य की भावना	वात्सल्य
(११) मैत्री भावना	सख्य
(१२) आत्मगौरव की प्रवृत्ति, अधिकार भावना, कर्त्तव्य-भावना	उत्साह

प्रस्तुत तालिका में हमने प्रचलित नौ स्थायी भावों के अतिरिक्त भक्ति, वात्सल्य, सख्य, को भी स्थान दिया है क्योंकि इनका निरूपण मनोविज्ञान एवं साहित्य—दोनों में ही स्थायी भावात्मक रूप में मिलता है। प्रथम दो को तो मध्य-युगीन आचार्यों ने भी मान्यता दी है, किन्तु सख्य भाव उपेक्षित रहा है। हमारे

विचार में नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' एवं शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' में मैत्री भावना या सख्य भाव का निरूपण सफलतापूर्वक हुआ है. अतः इन्हें भी स्वतंत्र रस के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

तालिका के अनेक वर्गों में एक ही मूल-भाव के साथ अनेक भावात्मक प्रवृत्तियों या भावनाओं का उल्लेख किया गया है जो इस बात का द्योतक है कि उल्लिखित सभी भावनाएँ या प्रवृत्तियाँ सम्बन्धित स्थायीभाव या रस की पुष्टि व अभिव्यक्ति में सक्षम हैं किन्तु मूल प्रवृत्ति एवं प्रकृति की दृष्टि से वे एक ही श्रेणी के हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तालिका में हमने प्रमुख भावनाओं का ही उल्लेख किया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भावनाओं की संख्या इतनी ही है। वस्तुतः हमारी सभी सामान्य भावनाएँ एवं स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ साहित्य में सफलतापूर्वक चित्रित की जा सकती हैं यह दूसरी बात है कि फिर भी सम्बन्धित मूल भावों एवं रस-भेदों की संख्या सामान्यतः इतनी ही रहेगी, क्योंकि अन्ततः भावात्मक अनुभूति की दृष्टि से अन्य भावनाओं एवं भावात्मक प्रवृत्तियों को भी मूल भावों एवं रस-भेदों में स्थान दिया जा सकता है।

उपर्युक्त स्थापना के सम्बन्ध में एक शंका की जा सकती है कि विभिन्न प्रकार की सभी भावात्मक प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को कुल बारह वर्गों में ही समन्वित करने का क्या औचित्य है ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा करना कहाँ तक ठीक है ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि मनोविज्ञान के अनुसार भी हमारी सभी भावानात्मक प्रवृत्तियाँ मूलतः सहज प्रवृत्तियों पर आधारित हैं—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है; हमारी सहज प्रवृत्तियाँ ही विभिन्न परिस्थितियों, वातावरण, शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों के प्रभाव से विकसित एवं परिष्कृत होकर अनेक भावनाओं व चारित्रिक प्रवृत्तियों के रूप में विकसित होती हैं—एक ही सहज प्रवृत्ति परिस्थिति भेद से अनेक भावनाओं व प्रवृत्तियों के रूप में भी विकसित हो सकती है—अतः एक सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित विभिन्न भावनाओं को एक ही वर्ग में स्थान दे दिया जाय तो यह अनुचित नहीं होगा। वस्तुतः एक ही वर्ग की मूल प्रेरक सहज प्रवृत्ति तो एक ही होती है किन्तु आलम्बन के भेद से वे विभिन्न भावनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए युयुत्सा की मूल प्रवृत्ति या सहज प्रवृत्ति तो एक ही है किन्तु जब किसी शत्रु के प्रति युयुत्सा की प्रवृत्ति जागृत होती है तो वह द्वेष या वैर में परिणत हो जाती है, पर यदि उसका आलम्बन वस्तुतः हमारा शत्रु न होकर मित्र या भाई हो किन्तु उसने हमें हानि पहुँचाई हो तो वहाँ वह प्रतिशोधात्मक रूप ग्रहण कर लेगी। इसी प्रकार स्वतन्त्रता सामाजिक अधिकारों या आर्थिक समानता की प्राप्ति के लिए किये गये विद्रोह या क्रान्ति के मूल में भी युयुत्सा की प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होगी किन्तु परिस्थिति एवं आलम्बन-भेद के ही कारण उन्हें द्वेष-भावना से भिन्न नाम दिया जाता है। अतः इस दृष्टि से

एक सहज प्रवृत्ति पर आधारित विभिन्न भावनाओं को एक ही वर्ग में स्थान देना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समीचीन है ।

सहज प्रवृत्तियों के अतिरिक्त विभिन्न भावनाओं की वर्गीय समानता का एक और आधार—मूल भाव (primary emotion) है । भावनाएँ असंख्य हैं किन्तु उनकी उद्दीप्ति एवं अभिव्यक्ति प्रायः गिने-चुने मूल भावों के रूप में ही होती है । उदाहरण के लिए, द्वेष-वैर, प्रतिशोध, विद्रोह, क्रान्ति आदि भावनाओं का व्यक्त रूप सामान्यतः क्रोध होगा । मूल भाव का स्वरूप विभिन्न भावनाओं की अपेक्षा उनकी आधारभूत सहज प्रवृत्ति के अनुरूप होता है । अतः पूर्वोक्त तालिका के एक वर्ग में दी गयी विभिन्न भावनाएँ एवं भावात्मक प्रवृत्तियाँ जहाँ एक ओर मूलाधार की दृष्टि से किसी एक ही सहज प्रवृत्ति पर आधारित हैं वहाँ भावोद्दीपन एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी मुख्यतः एक मूलभाव से सम्बन्धित हैं । अतः उपर्युक्त वर्गीकरण उभय पक्षीय दृष्टि से सुसंगत सिद्ध होता है । सहज प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं मूल भावों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए एक तालिका भी प्रस्तुत की गयी है, जिसे प्रस्तुत संदर्भ में देखा जा सकता है ।

अतः यहाँ निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रस-सैद्धान्तिक स्थायी भाव मूलतः सहज प्रवृत्तियों पर आधारित हैं, उनका विकास अनेक भावनाओं में सम्भव है, किन्तु उनका प्रस्फुटन विभिन्न मूल भावों व अन्य भावों में होता है । रस-सैद्धान्तिक वर्गीकरण में सबसे बड़ी त्रुटि यह कि उनका नामकरण उनसे सम्बन्धित मूल भाव के आधार पर किया गया है जबकि स्वयं 'भूलभाव' अस्थिर भावावेग है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थायी भावों के बारह प्रमुख वर्ग करते हुए, उनमें लगभग बीस-बाईस भावनाओं (sentiments) को स्थान दिया जा सकता है ।

तालिका : सहज-प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं मूल भावों का पारस्परिक सम्बन्ध

सहज प्रवृत्ति	भावनाएँ या भावात्मक प्रवृत्तियाँ	मूलभाव एवं स्थायीभाव
१. काम प्रवृत्ति	प्रणय भावना ।	काम (रति) या प्रणय ।
२. युयुत्सा की प्रवृत्ति	द्वेष, प्रतिशोध, क्रान्ति विद्रोह आदि की भावनाएँ ।	क्रोध
३. पलायन की प्रवृत्ति	भीरुता	भय
४. शरणागति-प्रदान कीवृत्ति	सहानुभूति, करुणा,	शोक (करुणा)
५. हास्य की प्रवृत्ति	विनोद, उपहास, व्यंग्य	हास्य
६. विकर्षण की प्रवृत्ति	घृणा	घृणा

७. जिज्ञासा की प्रवृत्ति	जिज्ञासा, कौतूहल	आश्चर्य
८. आत्म दैन्य की प्रवृत्ति	भक्ति भावना	भक्ति
९. संतति-पालन की प्रवृत्ति	वात्सल्य, स्नेह, करुणा,	वात्सल्य
१०. संग्रहवृत्ति/आत्म गौरव की वृत्ति	अधिकार भावना,	उत्साह
११. साहचर्य की प्रवृत्ति	सख्य, मैत्री	सख्य
१२. चिन्तन की प्रवृत्ति (नवान्वेषण की प्रवृत्ति)	निर्वेद	निर्वेद

● **निष्कर्ष**

(क) 'भाव, शब्द का प्रयोग रस-शास्त्र में व्यापक अर्थ में किया गया है, जिसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामान्य भावात्मक प्रवृत्ति (emotional tendency) के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

(ख) रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से स्थायीभाव की विशेषताएँ ये हैं—(१) जन्म जात (२) वासना संस्कार-रूप में विद्यमान (३) विरोधी अविरोधी भावों से अविच्छिन्न (४) अन्य भावों को आत्मसात् कर लेना। (५) समस्त प्रबन्ध में व्याप्त एवं स्थिर। (५) रस-चर्वणा के के आधार (७) संचारीभावो के आधार।

(ग) आचार्य शुक्ल ने स्थायीभाव की प्रमुख विशेषता 'आलम्बन की निर्विशेषता' को माना है, जो भ्रामक सिद्ध होती है।

(घ) स्थायीभाव के परम्परागत लक्षण मनोविज्ञान में निरूपित सहज प्रवृत्तियों (instincts) के अनुरूप है, किन्तु दोनों की नामावली एवं संख्या में गहरा अन्तर है।

(ङ) नामावली की दृष्टि से स्थायीभाव मनोविज्ञान के मूलभावों (primary emotions) के अनुरूप हैं, किन्तु दोनों के लक्षणों में गहरा अन्तर है। वस्तुतः मूल भाव स्थायी या स्थिर नहीं होते—अतः उन्हें 'स्थायीभाव' के समकक्ष स्थान नहीं दिया जा सकता।

(च) लक्षणों की दृष्टि से स्थायी भाव एवं मनोविज्ञान की 'भावनाओं' (sentiments) में गहरा साम्य है, किन्तु भावनाओं की संख्या एवं रूप-भेद स्थायीभाव की संख्या एवं रूप-भेद के अनुकूल नहीं है।

(छ) रस-सैद्धान्तिक स्थायी भावों का परम्परागत नामकरण दोष-पूर्ण है, अन्यथा रति भाव को प्रणय भावना में, जुगुप्सा को घृणा की भावना में, तथा वात्सल्य एवं भक्ति को इसी नाम की भावनाओं में स्थान दिया जा सकता है।

(ज) क्रोध, भय, हास्य आदि संज्ञाएँ मूल भावों की द्योतक हैं, जिन्हें भावना नहीं कहा जा सकता, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रौद्र, भयानक, हास्य आदि में इनके भावनात्मक रूप—क्रमशः द्वेष या प्रतिशोध, भीरुता, विनोद का चित्रण होता है ।

(झ) वस्तुतः रस-सैद्धान्तिक विवेचना में स्थायी भावों में मनोविज्ञान की उन सब स्थिर एवं दीर्घ भावात्मक प्रवृत्तियों का समाहार हो जाता है जो अपेक्षाकृत मनोदशा (Mood) मूलभाव, व्युत्पन्नभाव आदि से स्थिर हैं।

(ञ) परम्परागत रस-सैद्धान्तिक विवेचन में स्थायीभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रमुख असंगति यह कि उनका वर्गीकरण तो सहजप्रवृत्तियों (instincts) पर आधारित है, जबकि उनका व्यावहारिक रूप भावनाओं (sentiments) के अनुरूप है तथा उनका नामकरण उनसे सम्बन्धित मूल भावों (primary emotions) के आधार पर किया गया है, जबकि अनेक मूल भावनिर्देशित रूप में स्वयं संचारी हैं ।

(ट) स्थायीभावों के परम्परागत वर्गीकरण में संशोधन करते हुए हम उन्हें सहजप्रवृत्तियों के अनुरूप बारह प्रमुख वर्गों में एवं लगभग बाईस भावनाओं (sentiments) में विभक्त करना उचित समझते हैं ।

●

३ संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक विवेचन

साहित्य की दृष्टि से भावों का विवेचन करते हुए रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने उन्हें दो प्रमुख वर्गों—स्थायी भाव एवं संचारी भाव—में विभक्त किया है, जिनमें से प्रथम वर्ग या स्थायीभाव का तो विवेचन पीछे किया जा चुका है, अतः अब यहाँ संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु इससे पूर्व उनका स्वयं रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से भी अध्ययन व स्वरूप-निर्धारण अपेक्षित हैं क्योंकि आचार्य भरत से लेकर शुक्ल तक विभिन्न आचार्यों ने उनकी विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनमें कहीं-कहीं एक रूपता एवं मतैक्य का अभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः संचारी भावों का स्थायी भावों की तुलना में गौण स्थान दिये जाने के कारण उनका स्वरूप-विवेचन भी अनेक आचार्यों द्वारा गौण हो गया है, जिसके कारण इनके सम्बन्ध में अनेक अस्पष्ट एवं भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ भी प्रचलित हैं। अस्तु, हम संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से पूर्व रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से इनके स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

● रस सैद्धान्तिक दृष्टि से संचारी भाव का स्वरूप

रस-सैद्धान्तिक विवेचन में संचारी भाव के लिए 'व्यभिचारी भाव' का भी प्रयोग पर्याय रूप में उपलब्ध है। इतना ही नहीं प्रारम्भिक आचार्यों ने तो 'व्यभिचारी' शब्द का ही प्रयोग प्रमुख रूप में किया है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि 'व्यभिचारी' की व्याख्या में 'संचरण' या 'संचार' का उल्लेख होने के कारण ही आगे इनका 'संचारी' नाम प्रचलित हो गया। शाब्दिक दृष्टि से भी व्यभिचारी और 'संचारी' के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। शब्दकोष के अनुसारी 'व्यभिचारी' जहाँ पथभ्रष्ट, कुमार्ग गमन, अनियमित, असत्य, अविश्वसनीय आदि का सूचक है;[१] वहाँ

---

१. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

'संचारी' का अर्थ गतिशील, अस्थिर, चंचल परिवर्तनशील है।[2] यदि दोनों के अर्थों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि जहाँ व्यभिचारी में अनियमितता एवं भ्रष्टता का भाव अधिक है वहाँ संचारी में गत्यात्मकता एवं चंचलता पर अधिक बल है। अतः दोनों में साम्य कम और वैषम्य अधिक है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि सर्वदा गतिशील या चंचल रहने वाला सदा पथ-भ्रष्ट ही हो या पथभ्रष्ट होने वाला प्रत्येक व्यक्ति सदा चंचल ही रहे। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने दोनों को परस्पर पर्यायवाची के रूप में क्यों ग्रहण कर लिया? इसके उत्तर में हमारा अनुमान है कि ये दोनों शब्द इन भावों के स्वरूप-विवेचन की दो अवस्थाओं के सूचक हैं पहला शब्द (व्यभिचारी) उस अवस्था का सूचक है। जबकि इन्हें भ्रष्ट, अनियमित विकृत रूप में देखा जाता था जबकि दूसरे शब्द का प्रचलन उस समय हुआ, जब इन्हें चंचल या अस्थिर मान लिया गया। अस्तु, संचारी शब्द परवर्ती होने के साथ-साथ अधिक विकसित एवं परिष्कृत दृष्टि का परिचायक है, अतः हम इसी को प्राथमिकता देना उचित समझते हैं।

आचार्य भरत ने इनके लिए '**व्यभिचारी**' शब्द का प्रयोग करते हुए इसकी व्युत्पत्ति के आधार पर इनका स्वरूप स्पष्ट करने का यत्न किया था। उनके विवेचन के अनुसार 'व्यभिचारी' शब्द क्रमशः 'वि' 'अभि' एवं 'चर' के योग से निर्मित है, अतः ये तीनों निम्नांकित तीन विशेषताओं के परिचायक हैं[3]—

(१) 'वि' विविधता का सूचक है। इससे प्रतीत होता है कि संचारी भाव एक तो विविध प्रकार के होते हैं तथा दूसरे वे विभिन्न साधनों—वाणी, शारीरिक चेष्टाओं, सत्वोद्रेक आदि के रूपों में प्रस्तुत होते हैं। भरत ने इस प्रसंग में '**वागंग-सत्वोपेतान**' का उल्लेख विशेष रूप से किया है।

(२) 'अभि' को अभिमुख्य या अभिमुखता का सूचक माना गया है। परवर्ती आचार्यों—मुख्यतः धनंजय एवं विश्वनाथ ने भी आभिमुख्य पर विशेष बल दिया है, अतः इसका अर्थ भी यहाँ भली-भाँति स्पष्ट कर लेना चाहिए। शब्दकोष के अनुसार 'अभिमुख' अनेक अर्थ हैं, यथा—सामने, सम्मुख, समीप, अनुकूल, सामने मुख किये हुए, आदि। प्रश्न है, हम यहाँ इनमें से कौनसा अर्थ ग्रहण करें? इस सम्बन्ध में डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रारम्भ में तो अभिमुख को 'अनुकूल' के अर्थ में ग्रहण करते हुए लिखा—'रसानुकूल' संचरण करने वाले'[4]....जिससे प्रतीत होता है कि संचारी भावों का एक लक्षण रसों (या स्थायी भाव) के अनुकूल होना भी है; किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं

2. The Students Sanskrit-English dictionary : V. S. Apte
३. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; पृष्ठ सं० ३५
४. वही; पृष्ठ संख्या-३५

होता । प्रेम में क्रोध, अमर्ष विषाद आदि उसकी मूल प्रकृति के अनुकूल प्रतीत नहीं होते—यह दूसरी बात है कि स्थायीभाव अपनी सबलता के कारण प्रतिकूल एवं विरोधी भावों को भी अनुकूल बना लेता है या उनसे विच्छिन्न नहीं होता । ऐसी स्थिति में यह कहना कि संचारीभाव सदा रस के अनुकूल होते हैं, संगत प्रतीत नहीं होता ।

उपर्युक्त असंगति का थोड़ा आभास कदाचित् स्वयं डा० दीक्षित को भी हो गया था क्योंकि वे आगे 'आभिमुख्येन' की एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"भरत द्वारा कथित **'विविध आभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः'** पंक्ति का एक दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता हैकि 'व्यमिचारी' संज्ञा उन भावों को दी जायगी जो विविध प्रकार के रसों की अनुभूति के समय प्रेक्षक के अभिमुख—सम्मुख—प्रस्तुत हो जाते हैं अर्थात् रसानुभूति के समय प्रेक्षक को इनका प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि ये मानसिक स्थिति-मात्र हैं । किन्तु उसकी सूचना स्थित्यनुकूल किये गए वागंगादि अभिनय के प्रदर्शन से मिलती रहती है, अतएव इनका साक्षात्कार होता रहता है ।"[५]

वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से भी उपर्युक्त व्याख्या ही समीचीन प्रतीत होती है क्योंकि स्थायी भाव (या रस) प्रायः संचारी भावों के रूप में ही प्रकट या व्यक्त होते हैं । अतः इसे यों भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार महाभारत में अर्जुन ने शिखंडी को सामने करके भीष्म से युद्ध किया था, उसी प्रकार स्थायीभाव जब भी उद्दीप्त होकर बाहर व्यक्त होता है को विभिन्न संचारियों को ही सामने रखकर (या उनकी पृष्ठभूमि के रूप में) व्यक्त होता है । अतः हमारे विचार से प्रस्तुत प्रसंग-में 'आभिमुख्येन' का अर्थ 'सम्मुख रूप में प्रस्तुत होने वाले' से ही ग्रहण करना उचित होगा ।

(३) 'चर' धातु का सामान्य अर्थ 'चलना' है किन्तु भरत ने इसका अर्थ **'चरन्ति नयन्तीत्यर्थः'** करते हुए इसे 'आनयन' या 'ले आने' का सूचक माना है । उन्होंने इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि संचारी भाव स्थायी भाव को ले आते हैं किन्तु इससे यह भी न समझना चाहिए कि जिस प्रकार किसी को कन्धे पर रख कर या किसी का बाहु पकड़ कर उसे लाया जाता है, वैसे ही संचारी भाव स्थायी भाव को ले आते हैं; अपितु इसका तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य दिन को ले आता है, उसी प्रकार संचारी भी स्थायी भाव को ले आते हैं ।"[६] दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार

५. वही, पृष्ठ संख्या-३६

६. 'यथा सूर्य इदं नक्षत्रममुं वासरं नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते । किंतु लोकप्रसिद्धमेतत् । यथायं सूर्यो नक्षत्रमिदं वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः । (नाट्यशास्त्र, चौ० पृ० ८४)
—रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; पृष्ठ सं० ३६

दिन को प्रकाशित करने में सूर्य का योग रहता है वैसे ही स्थायी भाव का प्रकाशन संचारियों के द्वारा होता है। या इसे और भी स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है, जैसे सूर्य के उदय होने एवं दिन के होने की धटना वस्तुतः एक ही क्रिया के दो पक्षों को सूचित करती है, वैसे ही स्थायी भावों का आना या प्रकाशित होना व संचारी भावों का प्रकट होना—दोनों एक ही क्रिया के द्योतक हैं। वस्तुतः भरत का लक्ष्य यहाँ अन्ततः यही प्रतीत होता है कि वे संचारियों को स्थायी का प्रकट, व्यक्त या प्रकाशित रूप सिद्ध करना चाहते थे किन्तु हमारे विचार में 'चर' धातु का 'ले आना' अर्थ बहुत दूर का है; अतः उसकी उपर्युक्त व्याख्या बहुत समीचीन प्रतीत नहीं होती। फिर जहाँ तक संचारी के द्वारा स्थायी के प्रकाशन की बात है वह तो 'आभिमुख्येन' से भी सूचित हो गई थी। अतः यहाँ 'चर' का सामान्य अर्थ—संचरण, संचरणशील या गतिशील ही अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अस्तु, भरत ने 'वि' 'अभि' एवं 'चर' के आधार पर व्यभिचारी या संचारी भाव के जो तीन लक्षण निर्धारित किये हैं, उन्हें समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि उनके विचार से व्यभिचारी भाव वे हैं जो वाणी, चेष्टा, सत्त्वोद्रेक आदि विविध प्रकार के माध्यमों से प्रेक्षक के सम्मुख स्थायीभावों को व्यक्त या प्रकाशित करते हैं।

धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में व्यभिचारी भाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—'**विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।**'[७] अर्थात् जो भाव विशेषरूप में आभिमुख्य से स्थायी भाव के अन्तर्गत उन्मग्न एवं निमग्न (उठते एवं डूबते) होते रहते हैं; जैसे समुद्र में तरंगें उठती व विलीन होती रहती हैं, वे व्यभिचारी भाव होते हैं।' इसे और स्पष्ट करते हुए धनिक ने लिखा—'जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भाव में निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आर्विभूति एवं तिरोहित होते रहते हैं।'

यदि हम धनंजय और धनिक की उपर्युक्त व्याख्या पर विचार करें तो सर्वप्रथम एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि धनंजय ने भरत द्वारा निरूपित लक्षणों में सर्वाधिक महत्त्व 'आभिमुख्येन' को दिया है, क्योंकि उन्होंने भरत के केवल इसी लक्षण को ग्रहण किया है। दूसरे, उन्होंने भरत की भाँति 'चर' का अर्थ 'आनय' न करके उसे संचरणशील अर्थ में ही ग्रहण किया है—अतः धनंजय के अनुसार व्यभिचारी भाव की यह (संचरणशीलता) दूसरी विशेषता मानी जा सकती है। तीसरे, उन्होंने समुद्र और तरंग का उदाहरण देकर अप्रत्यक्ष रीति में संचारी की अनेक ऐसी विशेषताओं

---

७. दशरूपक; संपादक—डॉ० भोलाशंकर व्यास; अध्याय ४।७, पृष्ठ-सं० १८३

की ओर संकेत किया है, जिनकी ओर कदाचित पूर्ववर्तियों का ध्यान नहीं गया था। जिस प्रकार तरंगों का समुद्र से पृथक एवं स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वे समुद्र के उद्वेलित रूप को सूचित करती हैं, उसी प्रकार संचारी भाव की भी स्थायी भाव से अभिन्न एवं उसी के उद्दीप्त रूप के सूचक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही इससे यह सूचित होता है कि संचारियों का उत्थान-पतन स्थायी की ही शक्ति पर निर्भर रहता है तथा वे उसी के व्यक्त रूप के प्रकाशक हैं। धनंजय का यह उदाहरण भरत के सूर्य और दिन के उदाहरण से अनेक दृष्टियों से अधिक संगत है। भरत के विवेचन से तो यह भी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती थी कि जिस प्रकार दिन का अस्तित्व सूर्य पर निर्भर है, उसी प्रकार स्थायी का अस्तित्व संचारी पर निर्भर है तथा सूर्य की भाँति संचारी भाव भी स्थायी के पूर्ववर्ती हैं। अस्तु, धनंजय ने संचारियों के स्वरूप को स्पष्ट करने की दृष्टि से निश्चय ही भरत के विवेचन को न केवल आगे बढ़ाया है, अपितु उसे संशोधित भी किया है।

अभिनवगुप्त—संचारी भावों के स्वरूप को स्पष्ट करने में सर्वाधिक सफलता आचार्य अभिनवगुप्त को मिली है। उन्होंने अभिनव भारती में स्थायी भावों से इनकी तुलना करते हुए इनकी निम्नांकित विशेषताओं का उद्घाटन किया है।[८]

(१) जहाँ स्थायी भाव के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये जन्मजात वासनाओं के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहते हैं, वहाँ संचारी भाव इस प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं जो जन्मजात रूप में सदा विद्यमान नहीं रहतीं।

(२) जहाँ स्थायी भाव विभावादि की अनुपस्थिति में भी संस्कार-रूप में विद्यमान रहते हैं, वहाँ संचारी भाव विभावादि से वियुक्त या असंपृक्त हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं।

(३) जिस प्रकार रत्न-हार में एक ही सूत्र में अनेक रत्न पिरोये हुए रहते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव वह :प्रच्छन्न सूत्र है जिसमें विभिन्न प्रकार के संचारी भाव रूपी रत्न बँधे रहते हैं।

(४) अस्तु, संचारी भाव के और भी कई भेदक लक्षण हैं, यथा—

(क) वे उदय-अस्त होते रहते हैं अर्थात् स्थायी भाव की भाँति स्थिर नहीं रहते।

(ख) वे स्थायी की भाँति एक रूप नहीं होते, अनेक विचित्रताओं से युक्त होते हैं।

(ग) उनके सहस्रों भेद भी सम्भव है।

---

८. ये पुनरमी ग्लानिशंका प्रभृतयश्चित्तवृत्ति विशेषास्ते समुचित विभावा—भावाज्जन्म मध्येऽपि न भवन्त्येव।·········उच्यन्ते।
—हिन्दी अभिनव भारती; षष्ठ अध्याय। ३१। पृ० सं० ४८०-४८१

(घ) वे स्थायीभाव रूपी :सूत्र में कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते या स्थायी भाव पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता जबकि वो स्वयं स्थायी भाव पर आश्रित रहते हैं।

(ङ) वे स्वयं को तथा स्थायी भाव को अपने रंग-रूप के माध्यम से प्रकाशित करते हैं; पर-कहीं स्थायी भाव अपने मूल रूप में भी प्रकाशित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिनवगुप्त ने संचारी भावों की अनेक सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए स्थायी भाव से उनके पार्थक्य को भली-भाँति स्पष्ट किया है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इन्हीं विशेषताओं का पिष्टपेषण किया है, किन्तु कुछ ने मौलिक दृष्टि का भी परिचय दिया है। यथा, आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में संचारी की विशेषताओं में **'स्थायीधर्मोपजीवनेन स्वधर्मार्पणेन'** अर्थात् स्थायी भावों के धर्म पर आश्रित होने, अपने धर्म को अर्पित कर देने (स्वधर्म से शून्य) का भी उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य कदाचित् यही है कि उनकी स्थायी से पृथक कोई स्वन्तन्त्र सत्ता नहीं होती। रस प्रदीपकार ने संचारी भावों को स्थायी भाव का उपकारक एवं गतिकारक बताया है तो काव्य प्रकाशकार ने इन्हें स्थावी भाव का सहकारी माना है। इसी प्रकार रसतरंगिणीकार भानुदत्त के विचार से ये एक ही रस पर सदा अवस्थित नहीं रहते वरन् अनेक रसों में संचार करते रहते हैं; इसीलिए इन्हें संचारी या व्यभिचारी कहा जाता है। अस्तु, ये सभी लक्षण क्रमशः संचारी की स्वधर्मशून्यता, परतन्त्रता, सहकारिता, अनेकोन्मुखता को सूचित करते हैं।

आधुनिक युग के अनेक आचार्यों ने इन पर पुनर्विचार करते हुए इनकी नयी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पं० रामदहिन मिश्र के अनुसार 'संचरणशील' अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव[९] कहना चाहिए जब कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विस्तृत विवेचना के अनन्तर यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया है कि जहाँ स्थायी भावों का काव्य में साधारणीकरण हो जाता है वहाँ संचारियों का नहीं होता। उनके शब्दों में 'जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी भी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का-सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं।[१०] इसे वे और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गए हैं जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते हैं। शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले गए हें क्योंकि उनमें से किसी-किसी के स्वतन्त्र विषय होंगे भी तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं रहेगा।'[११]

---

९. काव्य दर्पण, पृ० सं० ६७ १०. रसमीमांसा पृष्ठ सं० २०२,
११. वही, पृष्ठ सं० २०५

आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त धारणा सर्वथा नूतन होती हुई भी तर्क-संगत प्रतीत नहीं होती। जैसाकि पीछे स्थायीभाव के प्रसंग में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है, यह मानना कि काव्य में केवल स्थायी का ही साधारणीकरण होता है, संचारी का नहीं—भ्रान्तिमूलक है। कल्पना कीजिए, एक नायिका अपने प्रिय के विरह में विषाद से ग्रस्त हो रही है या एकाएक प्रिय के आगमन से हर्ष-विभोर हो रही है—क्या ऐसी स्थिति में पाठक या सामाजिक उसके विषाद एवं हर्ष से तादात्म्य स्थापित नहीं करेगा? क्या चित्रपट पर नायक-नायिका के पुनर्मिलन को देखकर दर्शक भी उल्लसित नहीं हो उठते? क्या यहाँ रति भाव का ही साधारणीकरण होगा—हर्ष और विषाद का नहीं? वस्तुत स्थायीभाव की अभि-व्यक्ति की प्रायः संचारियों के रूप में होती है, अतः यदि संचारियों का साधारणी-करण नहीं होता तो स्थायी का भी सम्भव नहीं। अस्तु, आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित उक्त लक्षण को स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता।

● निष्कर्ष

विभिन्न आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि व्यभिचारी या संचारी भावों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) वे विभिन्न प्रकार से प्रेक्षक के सम्मुख स्थायी भावों को व्यक्त या प्रकाशित करते हैं।

(ख) वे समुद्र-तरंग की भाँति (भरत) स्थायीभावों से ही उदबुद्ध होते हैं, और उन्हीं में विलीन हो जाते हैं; स्थायीभावों से पृथक या स्वतन्त्र रूप में उनकी कोई सत्ता नहीं है। (अभिनवगुप्त)

(ग) वे स्थायीभावों की भाँति जन्मजात नहीं होते हैं और न ही विभावादि के अभाव में वे विद्यमान रह पाते हैं। (अभिनव गुप्त)

(घ) वे उद्दीप्त एवं लुप्त होते रहते हैं। (अभिनवगुप्त)

(ङ) वे स्थायीभाव को प्रभावित नहीं करते अपितु स्वयं उस पर आश्रित रहते हैं। (अभिनवगुप्त)

(च) स्थायी भाव का प्रकाशन सामान्यतः संचारी भावों के रूप में होता है। (अभिनवगुप्त)

(छ) संचारी भावों में स्वधर्म शून्यता, परतन्त्रता, सहकारिता एवं अनेकोन्मुखता की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। (हेमचन्द्र, भानुदत्त प्रभृत्ति)

(ज) संचारी भाव संचरणशील एवं अस्थिर मनोविकार या चित्तवृत्तियाँ हैं। (रामदहिन मिश्र)

● मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संचारी का विवेचन

संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्हें भावात्मक प्रवृत्तियों की किस श्रेणी स्थान दिया जाय ? जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भावात्मक प्रवृत्तियों के अनेक श्रेणी-भेद उपलब्ध हैं; यथा—(१) सहज प्रवृत्ति (instinct) (२) भावना (sentiment) (३) मनोवृत्ति (temperament) (४) भावात्मक दृष्टिकोण (attitude) (५) मनोदशा (mood) (६) मूलभाव (primary emotion) (७) मिश्रित भाव (complex emotion) (८) व्युत्पन्न भाव (derived emotion) (९) अनुभूति या भावानुभूति (feeling)। इस सूची में से सहज प्रवृत्ति स्वयं भावावेग-रूपी न होकर विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों की मूलाधार है—इसीलिए इसे यहाँ स्थान दिया गया है। उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, वे जो मानव मन में अत्यन्त दीर्घकाल तक स्थिर रहती हैं तथा द्वितीय वे जो अल्पकालीन या अस्थिर हैं। प्रथम वर्ग में सहज प्रवृत्ति भावना मनोवृत्ति एवं भावात्मक दृष्टिकोण को स्थान दिया जा सकता है क्योंकि इनका व्यक्ति के जीवन, व्यक्तित्व एवं चरित्र से इनका गहरा एवं दीर्घकालीन सम्बन्ध होता है; इसीलिए इनकी विवेचना पीछे स्थायीभाव के अन्तर्गत की जा चुकी है तथा वहाँ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि इन चारों को सामूहिक रूप में रस-सैद्धान्तिक स्थायी भावों में भी स्थान दे दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। अतः यहाँ संचारी भावों के सम्बन्ध में केवल द्वितीय वर्ग की अल्पकालीन अस्थिर वृत्तियों—मनोदशा, मूलभाव, मिश्रित भाव, व्युत्पन्न भाव एवं अनुभूति—पर ही क्रमशः विचार किया जाता है।

(क) **मनोदशा**—मनोदशा या मूड (mood) किसी भावावेग का स्थिर रहने वाला परवर्ती प्रभाव है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति किसी कारण से क्रोधित होता है तो क्रोध प्रकट रूप में शान्त हो जाने पर भी उस व्यक्ति के मन में थोड़ी-बहुत चिड़चिड़ाहट, या क्षोभ की वृत्ति बहुत समय तक बनी रह सकती है, इसी मनःस्थिति को सामान्य भाषा में भी 'मूड' खराब होना कहा जाता है। वस्तुतः यह भावावेग का ही अधिक विस्तृत एवं दीर्घकालीन रूप है। डॉ॰ जदुनाथ सिन्हा के अनुसार —'भाव मनोदशा के रूप में स्थिर रहता है। भाव मनोदशा का कारण है। मनोदशा भाव की अपेक्षा कम तीव्र होती है किन्तु उसका स्थितिकाल अधिक दीर्घ होता है।'

मनोदशा स्वयं भी कई बार भाव की उद्दीप्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। यदि एक व्यक्ति क्रोध या संताप की मनोदशा में है तो वह छोटी-छोटी बात पर उत्तेजित या उद्दीप्त हो सकता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति प्रसन्नतापूर्ण मनोदशा या मनःस्थिति में होता है तो उसके व्यवहार में भी अनुकूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोदशा का परिवर्तन शारीरिक कारणों से भी सम्भव है। अस्वस्थता, रुग्णता, अनिद्रा, मद्यपान आदि कारणों से भी मनोदशाओं में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन सम्भव हैं।

अब यदि हम उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखकर विचार करें तो ज्ञात होगा कि आचार्यों द्वारा परिगणित तेतीस संचारियों में से दैन्य गर्व, निर्वेद, त्रास अमर्ष, शंका, औत्सुक्य—सात को मनोदशाओं में स्थान दिया जा सकता है क्योंकि ये न तो भावावेग (emotion) की भाँति अत्यन्त तीव्र एवं चंचल होते हैं और न ही भावना की भाँति अत्यन्त दीर्घकाल तक स्थिर रहते हैं। वस्तुतः जब व्यक्ति के मन में किसी कारण से दैन्य, गर्व, अमर्ष आदि का संचार होता है तो कुछ समय तक वह मन ही मन इनमें डूबा रहता है। यह स्थिति भावावेग से अपेक्षाकृत दीर्घकालीन तो होती है किन्तु बाह्य उत्तेजना इनमें उतनी तीव्र नहीं रहती। वस्तुतः ये संचारी व्यक्ति की उस मनःस्थिति या मनोदशा के परिचायक हैं, जो कुछ घंटों तक स्थिर रहती है। किन्तु ये जीवन में दीर्घकाल—महीनों या वर्षों तक—स्थिर नहीं रह पाते।[१२]

(ख) मूलभाव—मैक्डूगल महोदय ने भावों को तीन वर्गों में विभक्त किया है—(१) मूलभाव (Primary emotions) (२) मिश्रित भाव (Complex emotion) और (३) व्युत्पन्न भाव (Derived emotion)। इनमें से यहाँ केवल मूल भाव का ही विवेचन किया जाता है। उल्लेखनीय है कि 'प्राइमरी इमोशन्स' के लिये हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हैं; यथा—मौलिक भाव, प्राथमिक भाव, स्वतंत्रभाव, मूल भाव आदि। हमारे विचार में इनके लिये 'मूलभाव' का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त है। मूल भावों का सहज प्रवृत्तियों से सीधा सम्बन्ध माना जाता है, तथा मनोवैज्ञानिकों के विचार से इन्हें अन्य भावात्मक अनुभवों को अपना अवयव बनाने की अपेक्षा नहीं रहती और न ही ये किन्हीं पूर्ववर्ती या अन्य भावानुभूतियों पर आश्रित रहते हैं। सामान्यतः प्रत्येक सहज प्रवृत्ति के साथ एक मूलभाव का भी घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। मूलभावों पर हम पीछे स्थायीभावों के प्रसंग में विचार कर चुके हैं, अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मनोवैज्ञानिकों ने मुख्यतः भय, क्रोध, प्रणय, घृणा, आश्चर्य वात्सल्य, हास्य आदि को मूलभावों के रूप में स्वीकार किया है जब कि रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने इन्हें 'स्थायीभाव' की संज्ञा दी है। किन्तु इसका स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है कि ये भाव स्वयं स्थायी भाव न होकर इनके मूल में निहित सहज प्रवृत्ति (Instinct) भावना (Sentiment)

---

१२. यदि किसी कारण से इनमें कोई मनोदशा जीवन की दीर्घ प्रवृत्ति के रूप में विकसित हो जाय तो वह चारित्रिक प्रवृत्ति का भी रूप धारण कर सकती है; जैसे—दैन्यता के कारण हीनता का भाव विकसित हो सकता है।

मनोवृत्ति (Temperament) या रागात्मक दृष्टिकोण (Attitude) ही दीर्घ एवं स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। किन्तु मूलभावों का इन स्थायी प्रवृत्तियों से सीधा सम्बन्ध होने के कारण तथा प्रवृत्ति-विशेष में इन्हीं की प्रमुखता के कारण ही इन्हें स्थायी विशेषण से विभूषित कर दिया गया है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से संगत नहीं। उदारहण के लिये—व्यवहार में हम व्यक्तियों को 'टोपीवाला' 'धोतीवाला' 'दूध-वाला' या 'सब्जीवाला'—आदि नामों से पुकारने लगते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि टोपीवाले की टोपी को या 'सब्जीवाले' की सब्जी को हम व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। अस्तु, रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने विभिन्न स्थायी भावात्मक दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को उनसे सम्बद्ध मूलभावों के नाम से पुकारा है—किन्तु, इससे यह न समझना चाहिये कि वे मूलभाव स्वयं प्रत्येक स्थिति में स्थायी भाव हैं। यदि सचमुच ही में उन आचार्यों का आशय इसके विपरीत था तो उस स्थिति में भी हमें उनकी इस त्रुटि का निराकरण करते हुए कहेंगे कि मूलभावों से सम्बन्धित स्थायी प्रवृत्तियों को ही स्थायीभाव के रूप में ग्रहण करना चाहिए न कि स्वयं मूल भावों को।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम मूल भावों को संचारी रूप में ग्रहण कर सकते हैं या नहीं ? हमारे विचार में इसका उत्तर स्वीकारात्मक दिया जा सकता है। अनेक रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने भी स्थायीभावों के संचारी रूप में परिवर्तन की संभावना को भी स्वीकार किया है। जो व्यावहारिक दृष्टि से भी उचित है क्योंकि क्रोध की उद्दीप्ति रौद्ररस में ही नहीं, वीर, शृंगार, वीभत्स आदि में भी संभव है—अतः इन रसों में तो स्पष्ट ही क्रोध संचारी भाव माना गया है, किन्तु हमारा निवेदन यह है कि रौद्र रस में भी क्रोध सदा विद्यमान नहीं रहेगा; (उसके मूल में व्याप्त द्वेष भावना या प्रतिशोध की भावना ही स्थायी रहेगी) अतः ऐसी स्थिति में भावावेग रूप में उद्दीप्त होने वाले क्षणिक क्रोध को भी संचारी क्यों न माना जाय ? वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक मूल भाव अपने उद्दीप्त रूप में तो सदा क्षणिक या अल्पकालीन ही होता है; अतः उन्हें संचारी ही माना जाना चाहिए किन्तु हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि रस-सैद्धान्तिक आचार्यों द्वारा परिगणित सभी स्थायी भावों पर यह बात लागू नहीं होती क्योंकि उनमें से अनेक में भावना (Sentiment) एवं स्थिर रागात्मक दृष्टिकोण के रूप में भी विकास की संभावना रहती है; यथा—प्रेम, घृणा वात्सल्य, सख्य का विकास भावना में तथा निर्वेद एवं भक्ति का स्थिर भावात्मक दृष्टिकोण के रूप में विकास संभव है। अतः रस सैद्धान्तिक स्थायी भावों में से भय, क्रोध, शोक, हास्य, आश्चर्य (विस्मय) ही ऐसे हैं जो अपनी आधारभूत सहज प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों के साथ भी संचरण कर सकते हैं; अतः इन पाँच भावों को तो निश्चय ही संचारियों में स्थान दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में स्थायी भावों के प्रसंग में भी हम अपना निष्कर्ष

दे चुके हैं कि भयानक, रौद्र, करुण, हास्य, अद्भुत रस में अनेक स्थायी भाव क्रमशः आत्मरक्षा, की भावना, द्वेष भावना, करुणा, उपहास एवं कौतूहल की प्रवृत्तियाँ ही स्थायी भाव हैं न कि भय, क्रोध आदि अल्पकालीन मूलभाव। वस्तुतः इस दृष्टि से स्थायी भावों के नामकरण एवं निर्धारण में आमूलचूल परिवर्तन व संशोधन की आवश्यकता है।

अब हमें यह देखना है कि आचार्यों द्वारा परिगणित स्थायीभावों के अतिरिक्त संचारियों में से भी किसी को मूलभाव की श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है या नहीं ? हमारे विचार में इसका उत्तर निषेधात्मक ही होगा क्योंकि पूर्वोक्त तेंतीस संचारियों में से कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें मूल भाव के लक्षण मिलते हों। मराठी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० के० ना० वाटवे० ने शंका, अमर्ष, त्रास एवं गर्व को प्राथमिक भावना या मूलभाव (Primary emotion) के रूप में मानने का सुझाव देते हुए लिखा है—"प्रस्तुत व्यभिचारी भाव तो केवल पर्याय भेद से स्थायी भाव ही बन जाते हैं। शंका अथवा त्रास का तात्पर्य ही भय है। अधिक से अधिक अन्तर यही किया जा सकता है कि एक में प्रत्यक्ष विषय से भय उत्पन्न होता है तो दूसरे में उसके चिन्तन से। अमर्ष का तात्पर्य ही है—क्रोध, और यह हम पहले निरूपित कर चुके हैं कि गर्व तो 'एसरशन' नामक सहज प्रवृत्ति की सहचर भावना है।"[१३] हमारे विचार में डॉ० वाटवे का यह निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं है। प्रथम तो मनोवैज्ञानिकों ने भी शंका, त्रास एवं गर्व को प्राथमिक भाव या मूल भाव (Primary emotions) के रूप में स्वीकार नहीं किया है। दूसरे शंका न तो किसी स्थिर भावना के रूप में विकसित हो सकती है और न हीं वह कोई स्वतन्त्र या सहज प्रवृत्तियों से सीधा सम्बन्धित मूल भाव है। तीसरे, शंका के भी दो रूप हैं—एक बौद्धिक तर्क के रूप में और दूसरा भावात्मक आशंका के रूप में। जब कृष्ण के मथुरा चले जाने पर माता यशोदा को शंका होती है कि देवकी उन्हें ठीक प्रकार खिला-पिला रही है या नहीं—या हम अपने प्रिय व्यक्ति के पत्र न आने पर भी उसके कुशल-क्षेम के बारे में तरह-तरह की शंकाएँ करने लगते हैं; इस प्रकार की अकारण शंका के मूल में वात्सल्य, प्रेम या रागात्मकता ही होती है। रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने संचारी भाव के रूप में जिस शंका का निरूपण किया है, वह हमारे विचार में यही रागमूलक शंका है, जो भावोत्तेजना की दृष्टि से बहुत तीव्र एवं उद्दीप्त न होती हुई भी व्यक्ति के मन को व्यथित करती रहती है। किन्तु ज्यों ही प्रिय के कुशल-समाचार मिल जाते हैं, हमारी शंका दूर हो जाती है—अस्तु, इसे किसी भी स्थिति में न तो मूलभाव (Primary emotion) माना जा सकता है और न ही स्थायीभाव।

इसी प्रकार त्रास का भय से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी यह स्थायीभाव

---

१३. भारतीय काव्य सिद्धान्त; सं० काका कालेलकर; पृ० १६२

न होकर स्थिति-विशेष से सम्बन्धित अल्पकालीन भावावेग मात्र है। हम जीवन में दीर्घकाल तक त्रस्त नहीं रह सकते—या तो उससे किसी न किसी प्रकार मुक्ति पा लेंगे अन्यथा त्रास शोक में परिणत हो जायगा। वस्तुतः त्रास भी एक स्थिर एवं स्वतन्त्र भावना न होकर अस्थिर पराश्रित भावावेग है—इसका संचार न केवल भयानक अपितु रौद्र, वीभत्स, वीर आदि रसों में भी सम्भव है। अमर्ष भी शुद्ध क्रोध न होकर निराशा मिश्रित क्रोध है, जिसमें क्रोध अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर एवं स्थिर रूप प्राप्त कर लेता है किन्तु दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाली स्थायी भावना के रूप में इसका भी विकास सम्भव नहीं है। गर्व का एसरशन (assertion) की प्रवृत्ति से भी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है किन्तु उस स्थिति में वह आत्मगौरव, दर्प, अभिमान, एवं अधिकार-भावना में परिणत हो जायगा। हमारे विचार में संचारी रूप में गर्व अभिमान की स्थायी भावना से थोड़ा भिन्न है—यथा; एक माँ अपने पुत्र की भारी सफलता का समाचार सुनकर थोड़ी देर के लिए गर्व से फूल सकती है; या एक प्रेयसी प्रियतम से बहुमूल्य भेंट पाकर भी गर्वित हो सकती है—किन्तु उनका यह गर्व उनके जीवन का स्थायीभाव नहीं बन जायगा, और न ही यह कहा जा सकता है कि इसका अस्तित्व उपर्युक्त प्रसंगों में क्रमशः वात्सल्य एवं प्रणय से पृथक या स्वतन्त्र रूप में है। अस्तु, डॉ० वाटवे जैसे विद्वान का आदर करते हुए भी हम यहाँ उनसे अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। वस्तुतः शंका, अमर्ष, त्रास एवं गर्व—ये चारों ही स्थायीभाव की अपेक्षा संचारी अधिक हैं, तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इन्हें हम मूल भाव (Primary emotion) न मानकर मनोदशा (Mood) के रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं। अस्तु, आचार्यों द्वारा परिगणित संचारियों में से मूलभाव की श्रेणी में कोई भी नहीं आता—यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

(ग) **मिश्रितभाव**—मैक्डूगल द्वारा वर्गीकृत भावों में से एक वर्ग मिश्रित भावों (Complex emotions) का है, जिसमें ऐसे भावों (emotions) को स्थान दिया गया है जो दो या दो से अधिक सक्रिय सहज प्रवृत्तियों से उत्पन्न विभिन्न मूल भावों के संयुक्त रूप होते हैं—दूसरे शब्दों में, जिनमें भिन्न प्रकृति के अनेक मूल भावों का योग होता है, उन्हें 'मिश्रित भाव' कहा गया है। उदाहरण के लिये दया में वात्सल्य (स्नेह) और सहानुभूति मूलक वेदना का मिश्रण है, या उपेक्षा में क्रोध और अरुचि का मिश्रण होता है; अतः दया और उपेक्षा को मिश्रित भावों में स्थान दिया जाता है। मैक्डूगल महोदय ने मिश्रित भावों को भी दो प्रकार से वर्गीकृत किया है; प्रथम वर्ग में वे मिश्रित भाव आते हैं जिनके मूल में किसी भावना की सत्ता आवश्यक नहीं होती, जबकि द्वितीय वर्ग में ऐसे मिश्रित भावों को स्थान दिया गया है जिनसे मूल में किसी न किसी भावना या स्थायी भाव का अस्तित्व अनिवार्य रूप में होता है। प्रथम वर्ग के प्रमुख मिश्रित भावों के अन्तर्गत प्रशंसा, आतंक, श्रद्धा, कृतज्ञता, अरुचि, उपेक्षा, मौग्ध्य (मोह), असूया को तथा द्वितीय वर्ग में तिरस्कार, चिन्ता ईर्ष्या,

प्रतिशोध, अप्रसन्नता, लज्जा, क्रीड़ा, हर्ष, विषाद, दया, प्रसन्नता, विस्मय को स्थान दिया गया है।[१४] यदि रस सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों वर्गों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इनमें प्रथम वर्ग के दो भाव—असूया एवं मोह तथा द्वितीय वर्ग के चार भाव—चिन्ता, व्रीड़ा, हर्ष एवं विषाद ही संचारी भावों की गिनती में आते हैं; शेष मिश्रित भावों की रस-सैद्धान्तिक भाव-निरूपण में कहीं कोई चर्चा नहीं है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि क्या हम इन अवशिष्ट मिश्रित भावों को संचारियों में स्थान देते हुए उनकी संख्या में वृद्धि कर सकते हैं या नहीं ? किसी भी भाव को संचारी मानने के लिए आचार्यों के अनुसार उसमें अनेक विशेषताओं का होना आवश्यक है, एक तो वह स्थायी भाव अर्थात् मनोविज्ञान की दृष्टि स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति पर पूर्णतः आश्रित हो, दूसरे वह स्थायी भाव के बाह्य प्रकट रूप को सूचित करता हो या उसके प्रकटीकरण में सहायक सिद्ध हो, तीसरे वह अपेक्षाकृत अल्पकालीन या अस्थिर हो और चौथे वह जन्म-जात प्रवृत्ति या सहज प्रवृत्ति पर ही आधारित न हो। यदि इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर पूर्वोक्त मिश्रित भावों पर क्रमशः विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इनमें से प्रायः सभी में संचारी की विशेषताएँ, उपलब्ध होती हैं। यथा—भक्ति रस में आराध्य या आलम्बन के प्रति प्रशंसा, श्रद्धा एवं कृतज्ञता, के भावों का उद्दीपन एवं संचरण स्वाभाविक है, पर साथ ही इनका स्थिति काल एक परिस्थिति-विशेष तक ही सीमित रहेगा। न केवल भक्ति-रस में अपितु वीर-रस में भी इनका उद्दीपन एवं संचरण सम्भव है। साथ ही इनका प्रकटीकरण सम्बन्धित स्थायी भावना की अभिव्यक्ति एवं पुष्टि में सहायक भी सिद्ध होगा। इसी प्रकार भयानक, रौद्र, वीभत्स एवं करुण में आतंक, अरुचि, उपेक्षा, तिरस्कार, प्रतिशोध, अनुकम्पा के भावों का उद्दीपन एवं संचार की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता तथा इनके संचरण से स्थायी भावना की पुष्टि में योग मिलेगा—ऐसा भी निस्संकोच कहा जा सकता है। इसी प्रकार प्रिय के द्वारा अनपेक्षित व्यवहार करने पर क्षणिक अप्रसन्नता के भाव का तथा उसके अद्भुत क्रिया-कलापों पर विस्मय के भाव का उद्दीपन भी सम्भव है, अतः ये श्रृंगार-रस के संचारी माने जा सकते हैं तथा अन्य रसों में भी परिस्थिति के अनुसार इनका उद्दीपन असम्भव नहीं है। अस्तु, हमारे विचार से इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त सभी मिश्रित भाव परिस्थिति-भेद के अनुसार विभिन्न स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों के संदर्भ में उनके सहयोगी एवं सहायक के रूप में अल्पकाल के लिए उद्दीप्त हो सकते हैं। अवश्य ही मैक्डगल महोदय के अनुसार प्रथम वर्ग के मिश्रित भावों के लिए भावना (Sentiment) पर आश्रित होना आवश्यक नहीं माना है किन्तु इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि वे कभी भी भावना-विशेष से सम्बन्धित नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए हम किसी के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता, उपेक्षा आदि का प्रदर्शन सामान्य रूप में भी कर

14. An Introduction to Social Psychology : Page 104—136.

सकते हैं किन्तु अनेक बार इनके पीछे हमारी आलम्बन के प्रति विकसित भक्ति-भावना या घृणा भावना का भी अस्तित्व सम्भव है। अतः इनकी संचारी रूप में गणना उसी स्थिति में होगी जब वे हमारी किसी दीर्घकालीन स्थायी भावना के सहचारी रूप में व्यक्त होंगे। अस्तु, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संचारियों की परम्परागत सूची को परिपूर्ण करने के लिए उपर्युक्त सभी मिश्रित भावों—प्रशंसा, आतंक, श्रद्धा, कृतज्ञता, अरुचि, उपेक्षा, निन्दा (तिरस्कार), ईर्ष्या, प्रतिशोध, अप्रसन्नता (नाराजगी), लज्जा, दया (करुणा, अनुकम्पा), विस्मय आदि को भी उसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो यह अनुचित नहीं होगा।

(घ) **व्युत्पन्न भाव**—मनोवैज्ञानिकों ने भावों के तीसरे वर्ग को व्युत्पन्न भाव (Derived emotion) की संज्ञा देते हुए,[15] उनके सम्बन्ध में बताया है कि वे 'किसी विशेष मूल प्रवृत्यात्मक (सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित) क्रिया या क्रियाओं से सम्बन्धित नहीं होते। उनका सम्बन्ध किसी भी चेष्टात्मक प्रवृत्ति के व्यापार से हो सकता है। इच्छा की उत्पत्ति किसी भी चेष्टात्मक प्रवृत्ति के जागृत, होने से होती है।........ व्युत्पन्न भाव इच्छाओं से सम्बन्धित होते हैं। मैक्डूगल महोदय के शब्दों में—'each of them is a state of feeling or emotion which is not the immediate effect and expression of the excitement of any one instinct or disposition, but rather arises when any of the conative tendencies operate under certain conditions.........they arise only when the various active tendencies of our nature operate under special mental conditions. They seem to be connected with no special conative dispositions; but each of them rises to colour our whole consciousness when any one of these dispositions operates under the appropriate conditions"[16] अर्थात् उनमें (व्युत्पन्न भावों में से) प्रत्येक भाव या अनुभूति की एक ऐसी मनोदशा का सूचक है जो किसी विशिष्ट सहज प्रवृत्ति या मानसिक प्रवृत्ति के प्रत्यक्ष उद्बोधन या प्रभाव से सम्बन्धित नहीं होती वरन् वह किसी स्थिति-विशेष के अन्तर्गत परिचालित चेष्टात्मक प्रवृत्तियों के प्रभाव से उद्दीप्त होती है........वे उसी स्थिति में उद्बुद्ध होते हैं जब हमारी विभिन्न प्रकृत चेष्टात्मक या क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ किसी विशिष्ट मानसिक स्थिति के प्रभाव से उद्वेलित (सक्रिय) होती हैं। वे (व्युत्पन्न भाव) किसी विशिष्ट चेष्टात्मक मनःस्थिति से सम्बन्धित नहीं होते अपितु किसी भी मनःस्थिति में अनुकूल (उपयुक्त) परिस्थितियों के प्रभाव से उद्दीप्त होकर हमारी सम्पूर्ण चेतना को अपने रंग में रंग सकते हैं।' इन व्युत्पन्न भावों के अन्तर्गत आह्लाद, विषाद, नैराश्य, आशा, विश्वास, चिन्ता खेद, पश्चाताप या ग्लानि एवं वेदना का उल्लेख किया गया है।

---

15. Same Page 271
16. An Introduction to Social Psychology :Page 365,

अब यदि व्युत्पन्न भावों की तुलना संचारी भावों से की जाय तो ज्ञात होता है कि जहाँ तक सामान्य लक्षणों की बात है, इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है। आचार्यों ने संचारी की विशेषता बताते हुए किसी विशिष्ट सहज प्रवृत्ति या भावना से उनका प्रत्यक्ष या स्थिर सम्बन्ध न होना, अनेक स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों के साथ उनका संचरण करना, कुछ क्षणों में उनका स्थायी भावों को भी अपने रंग में रंग कर व्यक्त करना—आदि का उल्लेख किया है जो व्युत्पन्न भावों के उपर्युक्त लक्षणों में भी उपलब्ध हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों एक ही श्रेणी के हैं, किन्तु दोनों की सूचियों में परस्पर गहरा अन्तर है। ग्लानि, चिन्ता, हर्ष, विषाद, व्याधि (वेदना)—ये पाँच भाव ही ऐसे हैं जो दोनों सूचियों में उपलब्ध हैं, शेष संचारी एवं व्युत्पन्न भाव परस्पर भिन्न हैं। इन पाँच भावों में से भी चिन्ता, हर्ष एवं विषाद की गणना पहले मिश्रित भावों के अन्तर्गत भी की जा चुकी है, अतः यह दुविधा उत्पन्न होती है कि इन्हें मूलतः मिश्रित भाव माना जाय या व्युत्पन्न भाव। इस दुविधा के मूल में स्वयं मैक्डूगल महोदय की त्रुटि है—उन्होंने इनका उल्लेख दोनों वर्गों में किया है। ऐसी स्थिति में उनकी त्रुटि निराकरण करते हुए कहा जा सकता है कि चिन्ता के दो रूप हैं; एक शुद्ध बौद्धिक चिन्तन एवं दूसरा भाव-प्रेरित। बौद्धिक चिन्तना हमें निर्वेद की स्थिति तक पहुँचा सकती है तो भाव-प्रेरित चिन्ता प्रिय के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की आशंकाओं या शत्रु के द्वारा सम्भावित अनिष्ट की शंकाओं को जन्म दे सकती है; अतः इसका सम्बन्ध किसी एक ही सहज प्रवृत्ति से सिद्ध नहीं होता और न ही इसमें मूल भाव की सी उत्तेजना या गम्भीरता दृष्टिगोचर होती है, अतः इसे मिश्रित भाव की अपेक्षा व्युत्पन्न भाव ही मानना अधिक उचित है। यही बात हर्ष एवं विषाद की; जैसा कि हम आगे अनुभूति (Feeling) का विवेचन करते समय स्पष्ट करेंगे ये दोनों न तो मिश्रित भाव हैं और न ही व्युत्पन्न भाव अपितु अनुभूति (Feeling) के दो रूप हैं; अतः इन्हें इन दोनों श्रेणियों से ही पृथक किया जाना चाहिए। इस प्रकार व्युत्पन्न भावों में से ग्लानि, और वेदना (व्याधि) ही संचारी रूप में रह जाते हैं।

यहाँ यह भी विचार कर लिया जाना चाहिए कि विश्वास, आशा, निराशा आदि अवशिष्ट व्युत्पन्न भावों को भी संचारी माना जा सकता है या नहीं? हमारे विचार में विश्वास सामान्यतः हमारे व्यक्ति-विशेष के ज्ञान या धारणा का अधिक योग रहता है किन्तु परिस्थिति-विशेष में स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है। यथा—यदि किसी प्रेमी को प्रणय की प्रारम्भिक अवस्था में यह विश्वास हो जाय कि उसकी प्रेयसी उसके अतिरिक्त किसी भी और के प्रति अनुरक्त नहीं है, वह पूर्णतः उसे ही चाहती है तो निश्चय ही यह विश्वास यहाँ उसके लिए अमित आह्लाद का कारण ही नहीं, अपितु उसकी प्रणय भावना को भी अधिक तीव्रता एवं गम्भीरता प्रदान करने वाला सहयोगी या संचारी भाव सिद्ध होगा; अतः विश्वास को स्थिति-

विशेष में संचारी भाव माना जा सकता है। इसी प्रकार प्रेमी-प्रेमिकाओं, माँ-पुत्र तथा उत्साह एवं अवसाद के बीच भावनाओं की जो दीर्घश्रृंखला विकासोन्मुख रहती है उसके मूल में आशा ही सहकारी रूप में कार्य करती रहती है। रत्नसेन ने पद्मावती के लिए जो भारी संघर्ष किया वह उसकी प्राप्ति की आशा के बल पर ही किया या 'साकेत' की उर्मिला के तिल-तिलकर विरह के बारह वर्षों को बिताने में सफल हुई तो इसी आशा के बल पर कि अन्ततः लक्ष्मण आयेंगे—और यही आशा जब निराशा में परिणत हो जाती है तो विभिन्न भावों की परिणति करुण में हो जाती है। ऐसी स्थिति में स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों के विकास में आशा और निराशा के योग को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? अतः सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से हम विश्वास, आशा, निराशा को संचारी मानने के पक्ष में हैं।

(५) **अनुभूति**—मनोविज्ञान के अनुसार भावात्मक प्रवृत्तियों का सर्वाधिक अस्थिर, परिवर्तनशील, एवं व्यक्त रूप अनुभूति (Feeling) है। अनुभूति के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए डॉ० एस० एस० माथुर ने लिखा है—यह एक प्रारम्भिक (elementary) सरल मानसिक प्रक्रिया है जो प्राणी को सुख-दुःख की अनुभूति करवाती है। एक प्रारम्भिक सरल मानसिक प्रक्रिया होने के कारण इसका विश्लेषण सम्भव नहीं। यह बहुत चंचल एवं क्षणिक होती है। इसका सम्बन्ध किसी अंग-विशेष से नहीं होता।[17] आगे उन्होंने अनुभूति (Feeling) और भाव (Emotion) का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि अनुभूति एक सरल एवं प्राथमिक मानसिक प्रक्रिया है परन्तु भाव एक जटिल भावात्मक मानसिक प्रक्रिया है। अनुभूति और भाव में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। प्रत्येक भाव में अनुभूति का योग अवश्य रहता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक अनुभूति में भाव का उद्दीपन हो। भावोद्दीपन के समय व्यक्ति में अनेक प्रकार के आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक परिवर्तन होते हैं तथा वह विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ भी करता है जबकि शुद्ध अनुभति के समय व्यक्ति अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है। अनुभूतियों के मुख्यतः दो ही रूप माने गये हैं—सुख और दुःख।

संचारी भाव की दृष्टि से अनुभूतियों की सरलता, क्षणिकता एवं परतंत्रता उसके अनुकूल है। एक ही स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति के उद्बोधन एवं विकास-काल में हम अनेक प्रकार की सुख-दुःख पूर्ण अनुभूतियों का अनुभव प्राप्त करते हैं तो दूसरी ओर प्रत्येक स्थायी भाव के उद्दीपन के समय दुःख या सुख की न्यूनाधिक अनुभूति अवश्य प्राप्त करते हैं—अतः इन्हें संचारी भाव के रूप में स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, हमारे संचारियों में से शोक, हर्ष और विषाद क्रमशः सुख एवं दुःख की ही अनुभूतियों के पल्लवित एवं विकसित रूप हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि परिस्थिति-विशेष के कारण हर्ष,

---

17. सामान्य मनोविज्ञान (डॉ० एस० एस० माथुर) पृ० १५५

विषाद अपेक्षाकृत दीर्घकालीन रूप में विकसित होकर मनोदशा (Mood) के रूप में भी परिणत हो सकते हैं।

अवशिष्ट संचारी भाव—अब तक विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत परम्परागत सँचारियों में से पन्द्रह का समावेश किया जा चुका है किन्तु १९ संचारी भाव फिर भी बच जाते हैं, जिन्हें मनोविज्ञान के अनुसार भावों की किसी भी श्रेणी में स्थान देना कठिन है। इन अवशिष्ट संचारी भावों में से कुछ तो शाररिक अवस्था के सूचक हैं, कुछ मानसिक एवं बौद्धिक के तथा कुछ विशिष्ट भाव न होकर भावानुभूति के अनुमापक हैं। अतः इन्हें निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) **शारीरिक अवस्था के सूचक संचारी :**

(१) श्रम (२) आलस्य (३) निद्रा (४) मरण।

(ख) **मानसिक अवस्था—विशेषतः विकृत अवस्था—के सूचक संचारी**

(१) मद (२) उन्माद (३) स्वप्न (४) अपस्मार (५) अवहित्था।

(ग) **बौद्धिक प्रवृत्तियों या क्रियाओं के सूचक तत्व :**

(१) मति (२) स्मृति (३) तर्क (४) धृति (५) जड़ता (६) विबोध।

(घ) **भावानुभूति की तीव्रता की अनुमापक स्थितियाँ।**

(१) आवेग (आतुरता) (२) उग्रता (३) चपलता।

यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपर्युक्त अठारह संचारियों को भाव के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती फिर भी अनेक आचार्यों ने विभिन्न तर्कों के बल पर इन्हें भाव सिद्ध करने का प्रयास किया है ; अतः इसके सम्बन्ध में यहाँ पुनर्विचार की अपेक्षा है। सर्व प्रथम हम शाररिक एवं मानसिक अवस्था के सूचक संचारियों (जो ऊपर वर्ग क एवं ख में दिये गये हैं) को ही लेते हैं। सामान्यतः रस-सिद्धान्त के अनुसार हमारे मनोभावों को सूचित करने वाली शारीरिक अवस्थाओं एवं मानसिक परिवर्तनों को क्रमशः कायिक एवं मानसिक अनुभावों के अन्तर्गत स्थान दिया जाता है ; जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी संगत है—ऐसी स्थिति में हम क्यों न उपर्युक्त दोनों वर्गों के संचारियों को संचारी भाव न मानकर अनुभाव मानें? इसका उत्तर देते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतिपादित किया है कि '........ सात्त्विक अनुभाव में वही वस्तु रखी गई है जो बाहर शरीर पर लक्षित हो। मानसिक अवस्था स्वयं गोचर नहीं होती, उसका कोई चिह्न या संकेत गोचर होता है। 'अनुभाव' किसी भाव का सूचक होता है, अतः मानसिक अवस्था जो सूच्य हुआ करती है, वह सूचकों में नहीं रखी गई, संचारियों में रखी गई।'[१८]

---

१८. रस-मीमांसा ; पृ० २१९

हमारे विचार में आचार्य प्रवर का उपर्युक्त तर्क सैद्धान्तिक रूप में तो ठीक है किन्तु व्यवहार में उपर्युक्त संचारियों की स्थिति इसके विपरीत है। क्या श्रम, निद्रा, मरण, उन्माद, अपस्मार अवहित्था (अपने को छिपाना) ऐसी स्थितियाँ नहीं हैं जिनका प्रकटीकरण बाह्य गोचर रूप में नहीं होता ? क्या किसी व्यक्ति को निद्रावस्था, मृतावस्था या उन्मादग्रस्त अवस्था में देखकर ही उसकी इन अवस्थाओं का ज्ञान या बोध प्राप्त करना संभव नहीं ? तथा दूसरी ओर सात्त्विक अनुभावों में जिस स्तंभ (निष्क्रय अवस्था) एवं प्रलय (अचेतावस्था) का उल्लेख किया गया है, वे उपर्युक्त कसौटी की दृष्टि से निद्रा, उन्माद, मरण से क्या इतनी भिन्न हैं कि उन्हें पृथक श्रेणी में स्थान दिया जाय ? हमारे विचार में जितना ज्ञान हमें स्तंभ एवं अचेतावस्था का बाह्य रूप में हो सकता है, उतना ही निद्रा, अपस्मार, उन्माद मृत्यु का भी संभव है—अतः इसमें कोई औचित्य नहीं है कि हम केवल परम्परा का अनुसरण या समर्थन करने के लिए ही एक वर्ग को अनुभावों में एवं द्वितीय को संचारियों में स्थान दें। वस्तुतः सात्त्विक अनुभावों एवं नायिका के २८ अलंकारों, (जिन्हें प्रणय भाव के अनुभावों के रूप में भी उल्लिखित किया जाता है) में स्तंभ, प्रलय, मद का भी समावेश किया गया है जो व्यावहारिक दृष्टि से क्रमशः जड़ता, अपस्मार, एवं मद संचारियों से भिन्न प्रकृति के नहीं हैं।

इनके पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि उपर्युक्त संचारियों के दो स्तर हैं—एक स्तर शारीरिक एवं दूसरा मानसिक या भावात्मक। आचार्यों ने इनके दूसरे स्तर को अर्थात् मानसिक या भावात्मक रूप को ही संचारियों में स्थान दिया है न कि शारीरिक अवस्था से सम्बन्धित रूप को। इस तर्क का औचित्य देखने के लिए स्वयं आचार्य भरत तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या अवलोकनीय है। आचार्य भरत तथा परवर्ती आचार्यों ने उपर्युक्त संचारियों की व्याख्या इस प्रकार की है—

- **मद** नामक व्यभिचारी भाव मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है।........ कोई मत्त होकर गाता है, कोई रोता है, और कोई हँसता है........ कोई सोता है।
- **श्रम** नामक व्यभिचारी भाव दूर की यात्रा और व्यायाम-सेवन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शरीर दबाने, और मालिश करने.... आदि अनुभावों से अभिनेय हैं।
- **आलस्य** नामक व्यभिचारी भाव खेद, रोग, गर्भ आदि विभावों से उत्पन्न होता है।
- **मरण** नामक व्यभिचारी भाव रोग और चोट से होता है। आंत, यकृत शूल की वेदना, वात-पित-कफ के वैषम्य ;....विसूचिका (हैजा) आदि रोगों से उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त अंशों में जिस प्रकार इन संचारियों की व्याख्या की गयी है, उससे स्पष्ट है कि आचार्यों ने इन्हें क्रमशः मद्य-पान, शारारिक श्रम, शारीरिक दुर्बलता विभिन्न रोगों या चोट से सम्बन्धित मद, श्रम, आलस्य, मरण आदि से भिन्न नहीं माना है, जो भावावेग की अपेक्षा शारीरिक अवस्थाओं के ही सूचक हैं। यदि हम इसी प्रकार की अवस्थाओं को संचारी भावों में स्थान देना चाहें तो फिर सभी शारीरिक रोगों तथा मानसिक दशाओं को इनमें स्थान दिया जा सकता है तथा उस स्थिति में कायिक, मानसिक एवं सात्विक अनुभावों की अलग सत्ता रखने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी—सभी प्रकार के अनुभाव संचारी भावों में ही परिगणित हो जायेंगे !

मराठी के विद्वान् प्रा० रा० श्री० जोग का तर्क है कि 'आधुनिक मानसशास्त्र में चेतनावस्था (conscious) के साथ अवचेतनावस्था (unconscious) को भी महत्त्व प्राप्त है। यदि इस दृष्टि से निद्रा, सुप्त, अपस्मार मोह, प्रबोध आदि पर विचार करें तो उनकी वास्तविकता सहज ध्यान में आ जाती है। इस प्रकार इनके मत में जो संचारी भाव नितांत शारीरिक अवस्था रूप प्रतीत होते हैं, उनके पीछे मनोभावों की स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है।'[१९] श्री जोग का मूल ग्रन्थ हम नहीं देख पाये, यह विवरण डॉ० काले के द्वारा उनके शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत है—अतः हम नहीं कह सकते कि श्री जोग का आशय पूर्णतः यही है या कुछ और किन्तु यदि वस्तुतः यही है तो स्पष्ट ही यह भ्रान्तिमूलक है। जिन शारीरिक या मानसिक चेष्टाओं के '**पीछे मनोभावों की स्थिति**' होती है, अर्थात् जो चेष्टाएँ मनोभावों के अस्तित्व की सूचक होती है, उन्हें रस-शास्त्रीय शब्दावली में भाव या संचारी भाव न कहकर 'अनुभाव' की संज्ञा दी जाती है। अवश्य ही आधुनिक मनोविश्लेषण के अनुसार अपस्मार, स्वप्न आदि को भी विभिन्न मानसिक ग्रन्थियों के व्यक्त लक्षणों के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु ये स्वयं किसी मनोग्रन्थि या मनोभावना के पर्याय नहीं हैं। अतः प्रा० जोग का मत स्वतः ही खंडित हो जाता है।

पं० रामदहिन मिश्र ने उपर्युक्त संचारियों की भावात्मकता का निरूपण एक अन्य प्रकार से किया है ; एक ओर तो उन्होंने उन आचार्यों को दोषी सिद्ध किया है जिन्होंने उपर्युक्त संचारियों की व्याख्या भावपरक न करके स्थूल शारारिक लक्षणों के रूप में की है, अतः उन्होंने उनकी नयी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं तथा दूसरी ओर उन्होंने विभिन्न संचारियों के काव्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उनकी भावात्मकता एवं मार्मिकता को प्रमाणित किया है। अवश्य ही मिश्रजी का यह प्रयत्न अधिक प्रामाणिक एवं संगत प्रतीत होता है—अतः इस पर यहाँ गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है।

---

१९. हिन्दी-मराठी काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन ; डॉ० काले ; पृ० ७२

सर्व प्रथम उन्होंने 'मरण' संचारी को लिया है। इसकी परम्परागत व्याख्या को त्याज्य सिद्ध करते हुए उन्होंने इसका नूतन लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है[२०]—'चित्तवृत्ति की ऐसी दशा जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्युकष्ट नगण्य जान पड़े। जैसे—

'आज पति हीना हुई शोक नहीं इसका,
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो—
अजर अमर हैं सुयश के शरीर में।'

अब यदि 'मरण' संचारी के उपर्युक्त लक्षण एवं उदाहरण का विश्लेषण किया जाय तो इसमें अनेक असंगतियाँ दृष्टिगोचर होंगी—एक तो 'मृत्यु के समान कष्ट होना' और मृत्युकष्ट नगण्य जान पड़ना' दो परस्पर विरोधी स्थितियाँ हैं। दूसरे, उदाहरण में नायिका के द्वारा पति के मरण पर जिस औदात्य की व्यंजना हुई है, वह 'मरण कष्ट' की अनुभूति से सर्वथा शून्य है। फिर संचारी भाव आश्रय की मनः स्थिति का एक अंग होता है न कि आलम्बन की चेष्टा या स्थिति का सूचक। यहाँ जो पतिदेव मरण को प्राप्त हुए हैं, वे तो सर्वथा मौन, जड़ या भावना शून्य ही दिखाये गये हैं तथा पत्नी की उक्तियों के आलम्बन मात्र हैं। अतः मिश्रजी द्वारा निरूपित न तो लक्षण ही और न ही उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण ही 'मरण' संचारी की भावात्मकता को प्रमाणित कर पाया है।

इसी प्रकार उनके द्वारा 'श्रम' संचारी का निरूपण भी द्रष्टव्य है। उनके शब्दों में—"श्रम संचारी का यह लक्षण है—'रति और मार्ग चलने आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है।.........दर्पणकार के उदाहरण का यह तुलसीकृत अनुवाद है जो उससे कहीं सुन्दर है—

पुरे तें निकसी रघुवीर बधू धरि धीर दिये मग में डग द्वै।
× × ×
फिर बूझति है चलनो अब केतिक पर्ण कुटी करि हो कित ह्वै।[२१]

उपर्युक्त उद्धरण की विवेचना के अनन्तर वे लिखते हैं—"पर कितनी दूर अब चलना है और कहाँ कुटिया छवावोगे' में जो हृदय-मंथन है वह तो शरीर-वृत्ति नहीं है। इस कथन में भी तो श्रम-व्यंजना है। इससे श्रम को केवल शारारिक वृत्ति मानने वाले मनोवैज्ञानिकों का मानमर्दन तो अवश्य हो जाता है।[२२]

अब हमें देखना है कि यह मानमर्दन सचमुच होता है या नहीं—एक तो मिश्रजी ने जहाँ आरंभ में आचार्यों की परिभाषा पर स्थूलता का जो आरोप लगाया था, वह यहाँ वापस ले लिया है क्योंकि 'यात्रा से होने वाली थकावट' श्रम के स्थूल

२०-२२ काव्य-दर्पण—पं० रामदहिन मिश्र (संचारी विवेचन)

शारारिक रूप की ही द्योतक है ; इसका कारण कदाचित् यह है कि सौभाग्य से तुलसी-काव्य में एक ऐसा उदाहरण उपलब्ध हो गया है कि जिसमें सीता की यात्रा जन्य थकावट का ही निरूपण है ! फिर यह उदाहरण कम भावात्मक या मार्मिक भी नहीं है ! ऐसी स्थिति में यदि स्वत: ही मनोवैज्ञानिकों का मान-मर्दन हो जाय तो आश्चर्य ही क्या !

किन्तु यदि तनिक गम्भीरता से विचार किया जाय तो इस छन्द का प्रतिपाद्य सीता का 'श्रम' नहीं अपितु उसकी सुकुमारता या नजाकत है ! अभी घर से निकल कर दो डग भी नहीं चली पर इतने में ही वे पूछने लगी हैं कि पर्णकुटी कहाँ करेंगे—इससे सीता की अतिशय सुकुमारता की व्यंजना होती है न कि उसके 'श्रम' की। वस्तुत: नायिका की सुकुमारता को भी उसका एक अलंकार या सौन्दर्यपरक तत्त्व माना जाता है—उसी का सौन्दर्य प्रस्तुत छन्द की मार्मिकता का कारण है। यदि इस छन्द में सचमुच ही यात्राजन्य श्रम का निरूपण हुआ होता तो भी वह किसी स्थायीभाव का पोषक या उस पर आश्रित संचारी भाव का द्योतक न होकर शारीरिक दशा का ही सूचक होता है। अस्तु, यह प्रमाणित नहीं होता कि यहाँ श्रम एक संचारी भाव है।

वैसे स्वयं हमने भी आज से लगभग बारह-तेरह वर्ष पूर्व अपने शोध प्रबन्ध में उपर्युक्त संचारियों को भावात्मक सिद्ध करने का प्रयास करते हुए निम्नांकित तर्क एवं उदाहरण प्रस्तुत किये थे[२३] जिन पर अब पुनर्विचार की अपेक्षा है—

"काव्य के क्षेत्र में मरण मद, जड़ता चपलता....आदि अन्य संचारी भाव भी स्मृति की तरह विशेष परिस्थितियों में भावों के समकक्ष संवेदनशील हो जाते हैं; यहाँ कुछ संचारियों के साहित्यिक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मरण—

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलु। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालु ।।
कहाँ लखन, कहँ रामुसनेही। कहँ प्रिय पुत्र बधू बैदेही ।।
बिलपत राउ विकल बहु भाँती। भई जुग सरस सिराती न राती ।।

× × ×

भयउ विकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा ।।
सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ।।
हा ! रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते ।।
हा ! जानकी लखन हा ! रघुवर। हा ! पितु हित चित चातक जलधर।।

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम !
तनु परिहरि रघुबर बिरंह, राउ गयउ सुरधाम !!

---

२३. हिन्दी काव्य श्रृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी; पृ० सं० ९

मद—

तजी संक सकुचति न चित बोलति बाकु कुबाकु।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिन छबि छाकु ।।

× × ×

यहाँ पर ध्यान रहे कि आचार्यों ने मरण, मद आदि संचारियों में उनके स्थूल रूप को जोकि बाह्य घटनाओं पर आधारित होता है—न लेकर उनके सूक्ष्म संवेदनापूर्ण रूप को लिया है। शारीरिक व्याधियों से सम्बन्धित मरण, जड़ता और अपस्मार को तथा सुरापान जन्य मद को संचारी भावों से उसी प्रकार पृथक समझना चाहिए जिस प्रकार पेट में दर्द आने से होने वाली पीड़ा को हम शोक भाव से भिन्न समझते हैं।"[२४]

हमारी उपर्युक्त स्थापना पर पुनर्विचार करने पर स्पष्ट होगा कि हमने 'मरण' 'मद' आदि के जो काव्यात्मक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे शारीरिक कम भावात्मक अधिक हैं, अर्थात इन उदाहरणों में चोट लगने से होने वाली मृत्यु का नहीं पुत्र-वियोग जन्य वेदना से होने वाली मृत्यु का तथा सुरापान जन्य मद के स्थान पर सौन्दर्यानुभूति जन्य मस्ती का ही निरूपण क्रमशः हुआ है—अतः इनमें निश्चय ही 'मरण' 'मद' आदि का रूप भावात्मक है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर कहा जाय तो यहाँ 'भावात्मक' की अपेक्षा 'भावाश्रित' कहना अधिक उचित होगा। विरह की असह्य वेदना के कारण जिस प्रकार अन्य वाचिक, कायिक एवं सात्त्विक चेष्टाएँ होती हैं, उसी प्रकार उसी की गम्भीरता के अनुसार मरण की स्थिति भी आ जाती है। कामशास्त्र के आचार्यों ने भी काम-दशाओं में गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण का उल्लेख किया है जो कामग्रस्त या विरह-व्यथा से पीड़ित व्यक्ति की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं की सूचक बाह्य दशाएँ एवं चेष्टाएँ हैं जिन्हें शृंगाररस के अनुभावों में ग्रहण करना चाहिए। तुलसी ने इन्हीं दशाओं का निरूपण वात्सल्य भावना के संदर्भ में कुशलतापूर्वक किया है जो निश्चय ही मार्मिक है! किन्तु इस मार्मिकता का मूलाधार स्वयं वात्सल्य स्थायी का गांभीर्य है। यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि स्थायी भावों से संपृक्त होने के कारण केवल संचारी ही नहीं, अनुभाव भी मार्मिक बन जाते हैं। अनुभाव ही क्यों —उपन्यास, नाटक या चित्रपट पर प्रस्तुत भिखारी का चित्रण या अभिनय जलते हुए घर का दृश्य, या नायिका का नृत्य—ये सब मार्मिक प्रतीत होते हैं, पर क्या इसीसे हम इन्हें संचारी भाव मान लें?

अस्तु, हम पूर्व धारणा में संशोधन करते हुए निष्कर्ष रूप में स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं के सूचक विभिन्न तत्त्व जिन्हें

---

२४. वही, पृ० सं० १०-११

आचार्यों ने संचारी में स्थान दिया है, विभिन्न आन्तरिक एवं बाह्य स्थितियों के सूचक अनुभाव ही हैं—यह दूसरी बात है कि मूल भावना के सम्पर्क या कवि की कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण इनमें सौन्दर्य, माधुर्य या मार्मिकता का संचार हो जाय। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये शारीरिक या मानसिक प्रभाव या परिवर्तन मात्र हैं। जिन्हें भाव-विशेष के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्धिक भाव—पीछे अवशिष्ट संचारियों के तीसरे वर्ग में हमने बौद्धिक प्रवृत्तियों या क्रियाओं के सूचक तत्त्वों के अन्तर्गत मति, स्मृति, तर्क, धृति, जड़ता एवं विबोध को स्थान दिया है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से मूलतः बौद्धिक क्षेत्र से सम्बन्धित है। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना को तीन खण्डों—(१) ज्ञान (२) अनुभूति और (३) चेष्टा या क्रिया—में विभक्त करते हुए समस्त बौद्धिक प्रवृत्तियों एवं तत्त्वों को अनुभूति या भाव पक्ष से पृथक ज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया है; अतः इस दृष्टि से उपर्युक्त तत्त्वों को भाव के रूप में ग्रहण करना अनुचित प्रतीत होता है। किन्तु मनोवैज्ञानिकों ने यह भी स्वीकार किया है कि व्यवहार में बौद्धिक एवं भावात्मक प्रवृत्तियाँ एक- दूसरी से सर्वथा पृथक या विच्छिन्न नहीं रह पाती, अपितु, प्रत्येक बौद्धिक प्रवृत्ति में थोड़ी बहुत भावात्मकता या प्रत्येक भावात्मक प्रवृत्ति के मूल में किंचित् बौद्धिकता का सम्मिश्रण प्रायः रहता है, इसलिये जब कोई बौद्धिक तत्त्व किसी भाव-विशेष का सहचारी या अंग बन जाता है तो उसका भी तदनुरूप हो जाना स्वाभाविक है। यथा–स्मृति एक सर्वथा बौद्धिक तत्त्व है; जब बच्चा भूगोल या गणित का पाठ याद करता है तो उस समय प्रायः भावात्मकता से मुक्त रहता—सिवाय इस ख्याल के कि यदि पाठ याद नहीं हुआ तो अध्यापक महोदय के दण्ड का पात्र बनना होगा—किन्तु यही स्मृति जब किसी प्रिय व्यक्ति के साथ सम्बद्ध होकर प्रणय भावना की अंग बन जाती है तो अत्यधिक भावात्मक एवं मार्मिक हो जाती है; प्रमाण-स्वरूप यहाँ कुछ कवियों की उक्तियाँ प्रस्तुत हैं ;

वहै चतुराई सों चिताई, चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनन्द-निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की
सुधि सब भाँतिन सों बेसुध करति है।

—घनानन्द

विरल डालियों के निकुंज सब ले दुःख के निश्वास रहे।
उस स्मृति का समीर चलता है, मिलन कथा फिर कौन कहे॥

—प्रसाद

उपर्युक्त अंशों में स्मृति के उस रूप का चित्रण है जो प्रणय-भावना से अनुस्यूत हो जाने के कारण अत्यन्त मर्मस्पर्शी हो गया है। कदाचित् स्मृति के इसी रूप को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने लिखा था—'स्मृतियाँ हमें केवल सुख-पूर्ण दिनों की

झाँकियाँ ही नहीं समझ पड़ती। वे हमें लीन करती हैं, हमारा मर्म-स्पर्श करती हैं, बस इतना ही हम कह सकते हैं।'[२५] अस्तु, यह स्पष्ट है कि स्मृति के शुद्ध बौद्धिक रूप के अतिरिक्त उसका भावात्मक रूप भी सम्भव है जिसे संचारी रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यही बात मति, तर्क, घृति, जड़ता विबोध आदि पर भी लागू होती हैं। इनके भी अनेक भावात्मक रूप काव्य-क्षेत्र में उपलब्ध हैं; यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) **तर्क :**

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे।
स्वर्ण नहीं हे राम चरण-रज दो मुझे॥
जड़ भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे।
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे॥

—मैथिलीशरणगुप्त

श्याम गौर किमि कहौं बखानी?
गिरा अनयन नयन बिनु बानी!

—तुलसी

(ख) **धृति :**

रे मन साहसी साहस राख सुसाहस से सब जेर फिरेंगे।
ज्यों 'पदमाकर' या सुख में दुख त्यों दुख से सुख सेर फिरेंगे॥
वैसे ही वेणु वजावत श्याम सुनाम हमारहु टेर फिरेंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कबहु फिर वे दिन फेर फिरेंगे॥

—पद्माकर

(ग) **जड़ता :**

रही अचल सी ह्वै मानो लिखी चित्र की आहि।
तजे लाज डर लोक को कहौ विलोकत काहि॥

—बिहारी

(घ) **विबोध :**

वे और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर, इनका क्या विश्वास करूँ।
प्रतिहिंसा, प्रतिशोध दबाकर मनही मन चुपचाप मरूँ।
श्रद्धा के रहते यह सम्भव नहीं कि कुछ कर पाऊँगा।
तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको, जहाँ खोजता जाऊँगा।

—प्रसाद

---

२५. चिन्तामणि; पृ० २६०

यहाँ हमने कतिपय ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें क्रमशः तर्क, धृति, जड़ता, विबोध आदि बौद्धिक वृत्तियों का चित्रण विभिन्न भावों के अंग रूप में हुआ है। इनमें ये बौद्धिक तत्त्व पूर्वोक्त शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं के सूचक तथाकथित संचारियों की भाँति केवल स्थायी भाव के उत्कर्ष या अपकर्ष के सूचक ही नहीं हैं, अपितु उन्हें पुष्ट करने या उन्हें नया मोड़ देने में योग देने वाले सहयोगी तत्त्व हैं तथा कुछ क्षणों के लिए भावना के स्वरूप को अपने रंग में रंग देने की क्षमता से भी युक्त हैं। अतः यदि इन बौद्धिक तत्त्वों को संचारी या सहयोगी तत्त्वों के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित न होगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक मनोवैज्ञानिकों ने भावों के ऐसे वर्ग का भी निरूपण किया है, जिसे 'बौद्धिक भाव' (intellectual emotions) की संज्ञा दी जा सकती है। डॉ० जदुनाथ सिन्हा इन बौद्धिक भावों का पृथक रूप में विवेचन करते हुए लिखते हैं—ये उन भावों के समूह हैं जो शुद्ध बौद्धिक प्रक्रियाओं के साथ होते हैं। वे हैं—आश्चर्य, कौतूहल, सत्य-ज्ञान का प्रेम।[२६] यहाँ आश्चर्य, कौतूहल का भी उल्लेख है जिन्हें मूल भावों के रूप में स्वीकार किया जाता है। किन्तु उपर्युक्त संचारियों को भी बौद्धिक भावों के रूप में मान्यता दी जा सकती है। अस्तु, मति, स्मृति, तर्क धृति, जड़ता, विबोध आदि को हम मूलतः बौद्धिक प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार करते हुए भी विशेष परिस्थिति में—जबकि किसी भावना-विशेष के अंग रूप में या उसके सहचारी रूप में प्रकट होते हैं तो वहाँ—उन्हें संचारी तत्त्वों के रूप में मान्यता दे दी जाय तो अनुचित न होगा। हाँ, उनके साथ 'भाव' विशेषण लगाना आवश्यक नहीं है क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार भावनाओं की पुष्टि में केवल भाव ही नहीं बौद्धिक तत्त्व भी योग देते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्त के बाह्य रूप-रंग एवं व्यवहार को देखकर हम उससे प्रभावित होते हैं; उसके प्रति हमारी सद्भावना जगती है; आगे चलकर जब हमें ज्ञात होता है कि उस व्यक्ति ने अनेक महान् कार्य किये हैं तो वह प्रारम्भिक सद्भावना क्रमशः श्रद्धा एवं भक्ति के रूप में विकसित हो सकती है। अस्तु, उपर्युक्त संचारियों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बौद्धिक तत्त्वों के रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ रस-सैद्धान्तिक आचार्यों की इस परम्परागत मान्यता में भी संशोधन करने की आवश्यकता है कि स्थायी भाव (स्थायी भावना) की पुष्टि में योग देने वाले सभी तत्त्व भावात्मक होते हैं—बौद्धिक नहीं। वैसे स्पष्ट रूप में किसी आचार्य ने ऐसा नहीं लिखा किन्तु रूढ़ि के रूप में ही यह धारणा प्रचलित है कि सभी संचारी भाव 'भाव' हैं। संचारी के साथ 'भाव' के सहभाव ने भी उक्त धारणा को प्रचलित करने में योग दिया है। यदि हम 'संचारी भाव' के स्थान पर 'संचारी तत्त्व' का प्रयोग करें तो उपर्युक्त त्रुटि का निराकरण सम्भव है।

२६. मनोविज्ञान : डॉ० जदुनाथ सिन्हा; पृ० २७४

भावानुभूति के अनुमापक संचारी भाव—अवशिष्ट संचारियों के पूर्वोक्त चार वर्गों में से अब केवल अन्तिम वर्ग और विचारणीय है। इस वर्ग को हमने 'भावनुभूति की तीव्रता की अनुमापक स्थितियाँ' का शीर्षक देते हुए, इसमें आवेग, उग्रता एवं चपलता को स्थान दिया है। हमारे विचार से आवेग किसी विशिष्ट प्रकार के भाव का सूचक नहीं है, अपितु कोई भी भाव जब अधिक उद्दीप्त होकर 'भावावेग' में परिणत हो जाता है तो वहाँ 'आवेग' की स्थिति मानी जा सकती है। इसी प्रकार विभिन्न भाव जब अपेक्षाकृत अधिक उग्र या प्रचंड, या चंचल हो जाते हैं तो उन स्थितियों को 'उग्रता' या 'चंचलता' का नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिए यहाँ इनके काव्यात्मक रूप प्रस्तुत हैं :

(क) आवेग :

'हा ! लक्ष्मण हा ! सीते 'दारुण आर्तनाद गूँजा ऊपर;
और एक तारक सा तत्क्षण टूटा गिरा सम्मुख भू पर।
चौंक उठे सब हरे ! हरे ! कह हा मैंने किसको मारा;
आहत जन के शोणित पर ही गिरी भरत-रोदन-धारा।

—मै० श० गुप्त

(ख) उग्रत :

आज बंदनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है।
ओ यायावर अब तेरा निस्तार कहाँ है !

—प्रसाद

(ग) चपलता:

अहह कितना कंटकित पथ यह तुम्हारा अहित, हितकर,
क्या यही उपयोग है पीयूष जीवन का गिराना—
गर्त दुख में व्यर्थ जिसके हेतु जिसने सुधि न ली हो,
और तुमको छोड़कर यों गया जैसे जीर्ण कन्था।

—भट्ट

उपर्युक्त सभी उदाहरण पं० रामदाहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत हैं जिनमें क्रमशः शोक के **आवेग**, क्रोध की **उग्रता** एवं करुणाजन्य चपलता का निरूपण किया गया; यहाँ आवेग, उग्रता एवं चपलता मूल भावों से पृथक भाव न होकर उन्हीं की गति के उतार-चढ़ाव के द्योतक हैं। मनोवैज्ञानिकों ने भी अनुभूति की तीव्रता एवं गम्भीरता के अनुमापन के लिए उसके कुछ प्रकार स्थिर करने का प्रयास किया है। वुंड्ट के अनुसार अनुभूति के तीन अनुमापक हैं—(१) सुखात्मक—दुःखात्मक (२) उद्दीप्ति-शान्ति (३) तनाव-शैथिल्य। किन्तु इन्हें परवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया। सामान्यतः सभी भावनाएँ एवं भाव परिस्थिति के अनुसार चंचल, गम्भीर,

उग्र, प्रचंड एवं शान्त रूप प्राप्त कर लेते हैं—उनकी चंचलता या गम्भीरता सदा एक-रूप नहीं रहती; ऐसी स्थिति में चंचलता, उग्रता, प्रचंडता आदि को यदि अलग भावों के रूप में मान्यता दी जाय तो इनके सम्बन्ध में यह भ्रान्ति उत्पन्न होगी कि इनका स्वतन्त्र या पृथक महत्त्व है। अतः हमारे विचार में चंचलता, गम्भीरता, उग्रता आदि सभी भावों के उतार-चढ़ाव को सूचित करने वाली स्थितियाँ हैं, जिन्हें पृथक रूप में मान्यता देना उचित न होगा।

● **निष्कर्ष—**

(क) रस-सैद्धान्तिक आचार्यों के अनुसार संचारीभाव के निम्नांकित लक्षण हैं—(क) स्थायी भावों के प्रकाशक (ख) समुद्र-तरंग की भाँति स्थायी भावों से सम्बन्धित (ग) स्वधर्म शून्य (घ) परतन्त्र (ङ) अनेकोन्मुख (च) संचरणशील (छ) अस्थिर।

(ख) मनोविज्ञान में भावात्मक प्रवृत्तियों के अनेक भेद हैं—यथा, (१) सहज प्रवृत्ति (२) भावना (३) मनोवृत्ति (४) भावात्मक दृष्टिकोण (५) मनोदशा (६) मूल भाव (७) मिश्रित भाव (८) व्युत्पन्न भाव एवं (९) अनुभूति। इनमें प्रथम चार शेष भेदों की तुलना में स्थायी या स्थिर एवं दीर्घकालीन हैं जब कि शेष 'अपेक्षाकृत अस्थिर एवं अल्पकालीन हैं। रस-सिद्धान्त के 'स्थायी भाव' में प्रथम चार को तथा संचारी भाव में शेष पाँच भेदों को स्थान दिया जा सकता है।

(ग) परिगणित संचारियों में से दैन्य, गर्व, निर्वेद, त्रास, अमर्ष, शंका औत्सुक्य—ये सात मनोविज्ञान की 'मनोदशा' (mood) के अनुरूप हैं।

(घ) असूया, मोह, चिन्ता व्रीड़ा, हर्ष एवं विषाद—ये संचारी भाव मनोविज्ञान के मिश्रित भाव (complex emotions) हैं।

(ङ) ग्लानि और व्याधि—ये दो संचारी मनोविज्ञान के व्युत्पन्न भाव (derived emotion) के अन्तर्गत आती हैं।

(च) हर्ष और विषाद—अनुभूति (feeling) की श्रेणी में आते हैं।

(छ) शेष अठारह संचारियों में से कुछ शारीरिक अवस्था से तथा कुछ मानसिक अवस्था के सूचक हैं, जिन्हें 'संचारी भाव न मानकर अनुभाव मानना उचित होगा।

(ज) मति, स्मृति, तर्क, धृति, जड़ता, विबोध—बौद्धिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित क्रियाएँ हैं, जो विशेष परिस्थिति में ही संचारी भाव' के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, अन्यथा वे शुष्क बौद्धिक क्रियाएँ हैं।

(झ) आवेग, उग्रता और चपलता—भाव के उतार-चढ़ाव के द्योतक हैं, अतः इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

●

४ विभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन

भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार कला एवं साहित्य में रस.निष्पत्ति के लिए अपेक्षित तत्त्वों में विभाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि विभाव स्वयं कोई भाव-विशेष न होकर भावोद्दीपन का कारण मात्र है ; किन्तु इसके अभाव में किसी भी भाव की उद्दीप्ति कठिन है—अतः इस दृष्टि से यह रस के अनिवार्य उपकरणों या साधनों में से एक है।

● **रस-सिद्धान्त की दृष्टि से विभाव का विवेचन—**

रस-सिद्धान्त के विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से 'विभाव' का विवेचन करते हुए उसका स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है। **आचार्य भरत** के अनुसार लोक में प्रचलित हेतु कारण अथवा निमित्त का पर्यायवाची रस-शास्त्र में 'विभाव' है।[१] वाणी, सत्व आदि के अभिनय के द्वारा यह (चित्तवृत्तियों के) विभावन में योग देता है ; इसी से इसे 'विभाव' कहते हैं।[२] विभावन का अर्थ है—विशेष रूप से भावन या ज्ञापन।[३] अतः भरत के अनुसार नाटक में जिन कारणों या साधनों के द्वारा भाव का विभावन, ज्ञापन या बोध होता है ; उन्हें 'विभाव' कहा जाता है।

धनंजय ने 'दशरूपक' में 'विभाव' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए स्पष्ट किया कि विभाव वह तत्त्व है जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद

---

१. विभाव : कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः (नाट्यशास्त्र, चौ० ७/४)
२. विभाव्यतेऽनेन वांगंगसत्वाभिनय इति विभाव : (वही)
३. यथा विभावितं विज्ञातमिति अर्थान्तरम्……अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञित : (वही)

करता है। इसके एक अन्य लक्षण के रूप में उन्होंने यह भी लिखा है कि विभाव भाव को पुष्ट करने वाला है।[४] साहित्य-दर्पणकार **विश्वनाथ** के अनुसार '**रत्यायुद्‌बोध का लोकं विभावाः काव्य नाट्ययो** : अर्थात् लोक में जो रत्यादि के उद्‌बोधक हैं वे ही काव्य और नाटकादि में विभाव कहलाते हैं।[५] इसी प्रकार पं० **जगन्नाथ** के अनुसार भी स्थायीभावों के लोक प्रचलित कारणों को 'विभाव' कहते हैं।[६]

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत, धनंजय, विश्वनाथ, जगन्नाथ—इन सभी ने विभाव को भाव के हेतु या कारण के रूप में ही स्वीकार किया है; किन्तु वे किस प्रक्रिया के हेतु या कारण हैं—इस सम्बन्ध में इनमें किंचित् मत-भेद अवश्य परिलक्षित होता है। जहाँ भरत के अनुसार वे विभावन, भावन या भाव-बोध के कारण हैं वहाँ धनंजय, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ प्रभृति के अनुसार वे रति आदि स्थायी भावों के उद्‌बोधक या कारण हैं। वस्तुतः भरत ने सामाजिक या पाठक की दृष्टि से विभाव का लक्षण निरूपित किया है जब कि अन्य तीनों ने सामान्य रूप में लौकिक दृष्टि से विवेचन किया है; अन्यथा मूल बात एक ही है। लौकिक दृष्टि से जिन कारणों से भाव का उद्‌बोधन होगा, काव्य या नाटक में उन्हीं कारणों से पाठक या प्रेक्षक को भाव का बोध होगा—अतः उपर्युक्त दोनों व्याख्यायें एक ही प्रक्रिया के दो पक्षों से सम्बन्धित हैं, तात्त्विक दृष्टि से उनमें परस्पर विशेष अन्तर नहीं है।

आधुनिक युग के अनेक विद्वानों ने विभाव की परिभाषा नूतन शब्दावली में भी प्रस्तुत की है; यथा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभाव का स्वरूप-विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है—'विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।'[७] अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है—'कवि····ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भावों को और जमाने में समर्थ होती है········(यह) विभाव पक्ष है।'[८] आचार्य शुक्ल ने यहाँ एक तो विभाव के काव्यगत रूप को ही विशेष रूप से ग्रहण किया है, तथा दूसरे उन्होंने विभाव की अपेक्षा केवल भाव के उद्‌बोधन के लिए ही नहीं, 'उठे हुए भावों को और जमाने के लिए' अर्थात् उनकी पुष्टि के लिए भी मानी है, जो ठीक ही है। पं० रामदहिन मिश्र ने भी विभाव की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति वह भाव व्यक्त होता है वह

---

४. दशरूपक; अध्याय ४/२
५. साहित्यदर्पण; अध्याय ३/२८
६. रस गंगाधर; प्रथम आनन; पृष्ठ-१३४
७. 'काव्य-दर्पण' (रामदहिन मिश्र) में उद्‌धृत पृ० सं० ४६
८. रस-मीमांसा, पृ० १५५

विभाव कहा जाता है।....जिसे व्यवहार-जगत् में कारण कहा जाता है।'[९] पूर्ववर्ती विद्वानों ने विभाव को भाव के उद्‌बोधन एवं उसकी पुष्टि का ही कारण माना था जबकि यहाँ मिश्रजी ने 'जिस के प्रति व्यक्त होता....' कहकर अप्रत्यक्ष में उसकी अभिव्यक्ति को भी सम्मिलित कर लिया है ; जिसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुतः जिन कारणों से भावों का उद्‌बोधन, पोषण होगा वे ही यदि उनकी अभिव्यंजना के भी कारण माने जायँ तो इसमें अनौचित्य की कोई बात परि-लक्षित नहीं होती। अस्तु, उपर्युक्त सभी व्याख्याओं के आधार पर विभाव का पहला लक्षण यह माना जा सकता है कि लोक में या काव्य में जिन कारणों से भाव का उद्‌बो-धन, पोषण या अभिव्यंजन हो, उन्हें रस-शास्त्रीय शब्दावली में 'विभाव' कहा जाता है।

विभिन्न आचार्यों ने विभाव की परिभाषा करते हुए 'लोक' 'लोक-प्रचलित' या 'लोक प्रसिद्ध' 'लोक-व्यवहार' आदि की भी चर्चा की है ; इस पर यहाँ विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। ये काव्यगत विभावों की एक अन्य विशेषता की ओर संकेत करते हुए प्रतीत होते है—वह विशेषता यह है कि काव्यगत विभाव भी वे ही होने चाहिए जो लोक प्रचलित हैं। दूसरे शब्दों में, इसे लौकिकता या स्वा-भाविकता भी कहा जा सकता है। अर्थात् काव्य में भावोद्दीप्ति या भावाभिव्यक्ति के लिए ऐसे ही विभावों का आयोजन या निरूपण होना चाहिए जो कि लोक-प्रच-लित या स्वाभाविक हों या जो स्वाभाविक प्रतीत हों, अन्यथा वे विभावन, बोध एवं साधारणीकरण में सहायक सिद्ध न होंगे। अतः विभावों का स्वाभाविक होना उनका दूसरा लक्षण माना जा सकता है।

विभाव के भेदोपभेद भी किये गये हैं। विभिन्न आचार्यों ने प्रायः विभाव के दो ही उपभेद माने हैं—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन। आलम्बन के अन्तर्गत सामान्यतः विषयभूतः विषयभूत विभाव को एवं उद्दीपन के अन्तर्गत निमित्त रूप सामग्री को लिया जाता है।[१०] पं० रामदहिन मिश्र ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है —'जिन पर अवलम्बित होकर भाव उत्पन्न होते हैं वे आलम्बन विभाव हैं....और जो स्थायी भावों को उद्दीपित करते हैं वे उद्दीपन विभाव हैं।'[११] विभिन्न रसों के आलम्बन-भेदों में प्रायः विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की तथा उद्दीपन-भेदों में देश-काल सम्बन्धी विशेषताओं की चर्चा की गयी है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्यों के अनुसार जिस व्यक्ति के कारण भावोद्‌बोधन होता है, वह आलम्बन है तथा देश-काल की जिन विशेषताओं के कारण भाव उद्दीप्त होता है, वे उद्दीपन के अन्तर्गत रखी गयी हैं।

---

९. काव्य-दर्पण, पृ० ४६
१०. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण ; पृ० सं० १८
११. काव्य-दर्पण ; पृ० ४६

आलम्बन और उद्दीपन के भी अनेक उपभेद किये गयें हैं। साहित्य-कौमुदी-कार के अनुसार आलम्बन के दो प्रमुख भेद हैं—(१) विषय और (२) आश्रय।[१२] जहाँ रत्यादि भावों को जागरण का कारण विषय विभाव (आलम्बन), वहाँ जिस व्यक्ति के आश्रय से या जिस व्यक्ति के मन में भाव उद्वेलित होता है, वह आश्रय है। हमारे विचार से यह भेद स्वयं विभाव के स्वरूप को ही तिरोहित कर देता है; आश्रय भाव का कारण न होकर स्वयं वह व्यक्ति है जिसके हृदय में भाव उद्वेलित होता है—ऐसी स्थिति में उसे विभाव या भाव के कारणों में कैसे स्थान दिया जा सकता है? कदाचित् पाठक या प्रेक्षक की दृष्टि से ही 'आश्रय' को भी विभाव पक्ष में स्थान दिया गया है क्योंकि काव्यगत आश्रय पाठक या सामाजिक के रस-बोध का कारण सिद्ध होता है; किन्तु उस स्थिति में से काव्य या नाटक की समस्त सामग्री को ही 'विभाव' कहा जा सकता है, क्योंकि काव्य की प्रत्येक वस्तु अन्ततः पाठक को भी किसी रूप में प्रभावित या उद्वेलित करती ही है। वस्तुत 'आश्रय' को विभाव पक्ष या आलम्बन के भेदों में स्थान देना असंगत एवं भ्रामक है। हाँ, विभाव पक्ष से पृथक रूप में भावाश्रय की सत्ता को सूचित करने के लिए 'आश्रय' का प्रयोग किया जाय तो इसे मान्यता दी जा सकती है।

शारदातनय ने 'भाव प्रकाश' में विभिन्न रसों के अनुसार भी आलम्बन-भेदों का निरूपण किया है। उनके मतानुसार विभिन्न रसों के आलम्बन निम्नांकित रूपों में होते हैं।[१३]

(क) शृंगार रस : मधुर, सुकुमार, रूप यौवन संपन्न युवक-युवती।
(ख) हास्य : व्यंग्य, विकृताकार, परचेष्टानुकारी व्यक्ति।
(ग) वीर : त्यागी, सत्यवादी, शूरवीर, विक्रमी पुरुष।
(घ) अद्भुत : विचित्र आकृति एवं वेश भूषा वाले तथा विचित्र क्रिया-कलाप करने वाले व्यक्ति।
(ङ) रौद्र : बहुबाहु, बहुमुख, भीम दंष्ट्र तथा क्रूर, उद्धत व्यक्ति।
(च) करुण : कृशकाय, दुःखी, दीन, मलिन, रोगी, दरिद्र व्यक्ति।
(छ) बीभत्स : निन्दित आकृति, वेशभूषा एवं आचरण वाले व्यक्ति।
(ज) भयानक : महारण्य में प्रविष्ट, महान् संग्राम में गये हुए अथवा गुरु एवं राजा के अपराधी लोग।

उपर्युक्त वर्गीकरण में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के उन रूप-गुण-भेदों एवं चारित्रिक प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है जो विभिन्न रसों से सम्बन्धित स्थायी

---

१२. 'यमुद्दिश्य रत्यादि : प्रवर्त्तते सोऽस्य विषयः आश्रयस्तु तदाधारः'; सा० कौ० पृ० २९ (डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित द्वारा उद्धृत रस० स्व० पृ० १९)
१३. 'भावप्रकाश' ५/६; (रस सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; पृष्ठ २०)

भावों के उद्वेलत में योग दे सकते हैं। आलम्बन के रूप-भेदों को समझाने की दृष्टि से यह प्रयास समीचन है किन्तु इससे कहीं-कहीं भ्रान्ति की भी संभावना है। उदाहरण के लिए, वीर रस के संदर्भ में यहाँ जिन गुणों की चर्चा की गयी हैं वे, वीर रस के स्थायीभाव के आश्रय के लिए अपेक्षित हैं न कि आलम्बन के लिए। उदाहरण के लिए, राम-रावण-युद्ध के प्रसंग में राम उत्साहपूर्वक रावण के विरुद्ध युद्ध में प्रवृत्त हैं—यहाँ राम उत्साह भाव के आश्रय हैं और रावण आलम्बन है, जिसमें उपर्युक्त गुणों—वीरता, सत्यवादिता, शूरवीरता आदि की अपेक्षा नहीं है। यही बात रौद्र एवं भयानक के आलम्बन पर लागू होती है।

पूर्वोक्त वर्गीकरण से एक भ्रान्ति यह भी उत्पन्न होती है कि काव्य में या लोक-व्यवहार में स्थायी भावों की उद्दीप्ति सदा व्यक्तियों के द्वारा ही संभव है, अर्थात् प्रत्येक स्थायीभाव के आलम्बन के रूप में सदा व्यक्ति-विशेष का ही होना अपेक्षित है ; उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु को नहीं रखा जा सकता। हमारे विचार में यह ठीक नहीं है। एक व्यक्ति परीक्षा में स्वर्ण-पदक की प्राप्ति के लिए निरन्तर उत्साहपूर्वक संलग्न है ; या दूसरा व्यक्ति अर्थ दंड या कारावास की संभावना से भयभीत है ; ऐसी स्थितियों में व्यक्ति के उत्साह या भय का मूल कारण क्रमशः स्वर्ण-पदक प्राप्ति का लक्ष्य एवं कारावास की संभावना का विचार मात्र है—अतः यहाँ आलम्बन के रूप में व्यक्ति-विशेष के स्थान पर सम्बन्धित स्थितियों, संभावनाओं या तत्सम्बन्धी विचारों को ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार 'उद्दीपन' के भी भेद किये गये हैं। शारदा तनय ने पूर्वोक्त आठों रसों के अनुकूल आठ प्रकार के उद्दीपकों की चर्चा इस प्रकार की है।[१४] (१) शृंगार रस का ललित (२) हास्य का ललिताभास (३) वीर का स्थिर (४) अद्‌भुत का चित्र (विचित्र) (५) रौद्र का रूक्ष (६) करुण का खर (७) वीभत्स का निन्दित (८) भयानक का विकृत। इनसे विभिन्न रसों एवं उनके स्थायीभावों की प्रकृति से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों के बोध में तो सहायता मिलती है किन्तु इन्हें ही अन्तिम मान लेना अनुचित है। उदाहरण के लिए रूक्ष वातावरण में सदा रौद्र की ही उद्दीप्ति हो या विकृत से भयानक की ही हो—यह कोई सार्वकालिक नियम नहीं है। कुछ अन्य आचार्यों ने अन्य दृष्टिकोण से उद्दीपन विभाव के चार प्रभेद किये हैं ; यथा—(१) आलम्बन के गुण (२) उसकी चेष्टाएँ (३) उसका अलंकरण और (४) तटस्थ।[१५] इनमें से प्रथम तीन तो स्वयं आलम्बन की ही चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं बाह्य साज-सज्जा को सूचित करते हैं जबकि चतुर्थ में बाह्य देश-काल के वातावरण को सम्मिलित किया गया है। यदि इस वर्गीकरण स्वीकार किया जाय तो दुष्यन्त की प्रेयसी

१४. भाव प्रकाश ; ४/५ (रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण ; पृ० २०)

१५. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण ; पृ २१

शकुन्तला को आलम्बन तथा उसकी चेष्टाओं एवं फूल मालाओं को उद्दीपन में या क्रोध स्थायी भाव के विभाव रावण को आलम्बन रूप में तथा उसके शस्त्रादि को उद्दीपन में सम्मिलित किया जायगा। दूसरे शब्दों में इस वर्गीकरण के अनुसार आलम्बन के अन्तर्गत केवल व्यक्ति के शरीर को तथा उद्दीपन में उसकी वेश-भूषा, साज-सज्जा, चारित्रिक प्रवृत्तियों आदि को स्थान देना होगा, जो असंगत एवं अव्यावहारिक प्रतीत होगा। व्यवहारिक एवं काव्यात्मक—दोनों ही दृष्टियों से व्यक्तित्व (जिसमें वेशभूषा, साज-सज्जा, वैयक्तिक गुण, चारित्रिक प्रवृत्तियाँ सम्मिलित है) से पृथक व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है—अतः दोनों को पृथक करके एक को 'आलम्बन' एवं अन्य को 'उद्दीपन' कहना स्थूल दृष्टि का ही परिचायक है। वस्तुतः शृंगार रस के क्षेत्र में नायिका के हाव-भावों एवं अलंकारों को अनावश्यक महत्त्व दिये जाने के कारण ही इस प्रकार के वर्गीकरण प्रचलित हुए हैं जो असंगत एवं भ्रामक हैं। हमारे विचार में उद्दीपन के अन्तर्गत देश-काल से सम्बन्धित उन सभी स्थितियों एवं परिस्थितियों का समावेश किया जा सकता है जो किसी भाव के उद्वेलन, पोषण एवं अभिव्यंजन में सहयोग देते हैं। जहाँ आलम्बन का भाव के उद्वेलन से सीधा सम्बन्ध रहता है वहाँ उद्दीपन का अप्रत्यक्ष योग रहता है—इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमने आलम्ब का कार्य 'योग देना' एवं उद्दीपन का 'सहयोग देना' कहा है। आलम्बन और उद्दीपन में एक मौलिक अन्तर यह भी माना जा सकता है कि जहाँ आलम्बन भाव के आश्रय की निजी या वैयक्तिक स्थितियों से सम्बन्धित होता है, वहाँ उद्दीपन बाह्य एवं आनुसंगिक परिस्थितियों का द्योतक होता है। अस्तु, अब तक के विवेचन-विश्लेषण से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है;

- जिन कारणों से भाव का उद्‌बोधन, पोषण एवं अभिव्यंजन होता है, उन्हें रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से **विभाव** की संज्ञा दी जाती है।
- विभाव लोक-प्रचलन के अनुसार या स्वाभाविक होने चाहिए।
- विभाव के दो मुख्य भेद हैं—**आलम्बन** और **उद्दीपन**। विभाव के भेदों में **आश्रय** की गणना करना अनुचित है।
- आलम्बन के अन्तर्गत सामान्यतः उस व्यक्ति को लिया है जो सम्बन्धित भाव का विषय, लक्ष्य या कारण होता है। किन्तु हमारे विचार से इसमें व्यक्तियों को ही नहीं वैयक्तिक स्थितियों, प्रेरणाओं एवं लक्ष्यों आदि का भी समावेश किया जाना चाहिए।
- आलम्बन की प्रकृति के अनुसार शारदातनय द्वारा किये गये आठ-भेद स्थूल और कहीं-कहीं भ्रामक भी हैं।
- उद्दीपन के अन्तर्गत उन परिस्थितियों का समावेश किया जाना चाहिए

जो भावोद्वेलन या उसकी पुष्टि व अभिव्यक्ति में अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग देती हैं।

- उद्दीपन के परम्परागत भेदोपभेद सीमित, असंगत एवं भ्रामक हैं।

● विभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन—

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार किसी भी भाव की उद्दीप्ति के लिए किसी न किसी उद्दीपक कारण (Stimulus) का होना आवश्यक है, जिसे रस-सैद्धान्तिक शब्दावली में 'विभाव' कहा जा सकता है। इस उद्दीपक कारण की व्याख्या विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अत्यन्त विस्तार से की है। **मैक्डुगल** के विचार से भावात्मक तत्त्वों का विवरण प्रस्तुत करना प्रायः कठिन होता है। सामान्यतः जब हम किसी भावानुभूति की चर्चा करते हैं तो उस समय किसी विशेष आलम्बन (Object) या परिस्थिति (Situation) के संपर्क से प्राप्त अनुभव का ही आख्यान करते हैं।[१६] अतः इस दृष्टि से भावानुभूति का आलम्बन या परिस्थिति से गहरा सम्बन्ध होता है। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि आलम्बन एवं परिस्थिति का उल्लेख किये बिना भावानुभूति को समझना कठिन है।

भावानुभूति के प्रेरक या उद्दीपक आलम्बन के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि यह आवश्यक नहीं है कि आलम्बन-विशेष से सदा एक ही प्रकार का भाव उत्तेजित हो। एक ही आलम्बन से विभिन्न व्यक्तियों के मन में विभिन्न प्रकार के भाव उद्दीप्त हो सकते हैं; इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति अलग-अलग अवसरों या परिस्थितियों में एक ही आलम्बन से विभिन्न प्रकार की भावानुभूतियाँ प्राप्त कर सकता है।[१७] अतः भाव-विशेष का कोई विशिष्ट आलम्बन निर्धारित नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना अवश्य है कि लोक-व्यवहार में विभिन्न वस्तुओं एवं पदार्थों (आलम्बन) के साथ उन्हीं विशेषणों का प्रयोग होता हैं, जो उनसे उत्पन्न या उद्दीप्त होने वाले विशिष्ट भावों के द्योतक होते हैं। यथा—'भयानक', 'उत्तेजक', 'अद्‌भुत', 'महान्' आदि विशेषण स्वयं वस्तुओं के निरपेक्ष गुणों के सूचक शब्द नहीं है अपितु वे

---

16. "The emotional qualities are more difficult to describe than the sensory qualities. In both cases we can only indicate the quality we experience by pointing to an *object* or *situation* ....' : An Outline of Psychology : Page 315

17. In the presence of the same object, the emotional experiences of different persons may be very different and even those of the same person on successive occasions may vary widely with changes in his general condition." Same : Page 315

उनके संपर्क से होने वाली हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया के हैं।[१८] इस प्रकार मैक्डूगल ने भावोद्दीपन एवं उसके उद्दीपक आलम्बन के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया है।

वुडवर्थ ने तो 'भाव' की परिभाषा में ही उसके उद्दीपक कारण को प्रमुख रूप में स्थान देते हुए लिखा है—'भाव (संवेग) व्यक्ति की उद्दीप्त या उत्तेजित अवस्था के सूचक हैं तथा प्रत्येक भाव का विवरण········उसे उद्दीप्त करने वाली बाह्य परिस्थिति के आधार पर ही दिया जा सकता है। विभिन्न भावों की पहचान भी उन्हें उद्दीप्त करने वाली बाह्य परिस्थितियों के द्वारा ही की जाती है।[१९] वस्तुतः विशिष्ट भाव की उद्दीप्ति परिस्थिति-विशेष की अनुकूलता एवं उसकी प्रतिक्रिया के अनुसार ही होती है।[२०]

वुडवर्थ ने न केवल परिस्थितियों के महत्त्व को स्वीकार किया है अपितु उन्होंने विभिन्न भावों का विश्लेषण करते हुए विस्तार से स्पष्ट किया है कि किस प्रकार की परिस्थिति में किन-किन भावों का उद्दीपन संभव है।[२१] और साथ ही उन्होंने भी मैक्डूगल के इस मत का अनुमोदन किया है कि यह निर्धारित करना

---

18. "Yet in a general way the quality of our emotional reaction to an object does signify the nature of the object. Common speech and literary usage recognise this fact ; as when they describe as 'fear-ful' an object that frightens ; as 'provoking' one that angers us ; as 'strange' or 'marvellous' or 'wondrous' or curious one that evokes our curiosity ; or describe a landscape as sublime or awful......Common speech goes even further and invents substantives to denote those qualities of things in virtue of which they excite in us the various emotional qualities ; such substantives as awfulness, hatefulness, sublimity, frightfulness, mysteriousness."

—An outline of Psychology : Page 315-6

19. "·····The several emotions are distinguished, In practice, by stating the *external situation*, in which each occurs and the type of overt response demanded,"

—Psychology : Page 344

20. "·····Any particular emotion is the stirred up state appropriate to a certain situation········ ?

The same : page 344

21. "....*Fear* is aroused by danger situation....*Anger* is aroused by situations in which an activity....is thwarted by some obstacle ....*Mirth* is evoked by a variety of situations...."

—The same : Page 366

कठिन है कि किस उद्दीपक से सदा किस भाव की उद्दीप्ति होगी क्योंकि अन्ततः यह उद्दीप्त होने वाले व्यक्ति पर निर्भर है कि वह किसी वस्तु या स्थिति को किस रूप में ग्रहण करता है।[२२]

यदि हम मैक्डूगल एवं वुडवर्थ के विचारों पर तुलनात्मक दृष्टि से सोचें तो यह स्पष्ट होगा कि मैक्डूगल ने जहाँ उद्दीपन के रूप में 'आलम्बन' या वस्तु (Object) पर अधिक बल दिया है, वहाँ वुडवर्थ ने वस्तु की अपेक्षा बाह्य परिस्थिति को अधिक महत्त्व दिया है वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आलम्बन की अपेक्षा परिस्थिति का ही अधिक महत्त्व सिद्ध होता है—क्योंकि स्वयं आलम्बन से हम उसी स्थिति में प्रभावित होंगे जबकि परिस्थितियाँ इसके अनुकूल हो। दूसरे, स्वयं आलम्बन भी परिस्थिति के ही विभिन्न घटक तत्त्वों में से एक है; अतः हमारे विचार में वुडवर्थ का दृष्टिकोण अधिक विकसित कहा जा सकता है।

डा० जदुनाथ सिन्हा ने उपर्युक्त तथ्य पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि कोई भी अकेली वस्तु (आलम्बन) भाव को उद्दीप्त नहीं कर सकती, अपितु व्यक्ति से सम्बन्धित परिस्थिति ही ऐसा कर सकती है। उदाहरणार्थ, एक मुक्त शेर का दर्शन जो व्यक्ति के जीवन के लिए खतरा उपस्थित करता है, भय उत्पन्न करता है। किन्तु जब वही शेर लोहे के पिंजरे में बन्द रहता है तो भय उत्पन्न नहीं होता।[२३] इससे स्पष्ट है कि भय का मूल कारण केवल आलम्बन नहीं, अपितु परिस्थिति का संयोग है।

'परिस्थिति' से यहाँ क्या आशय—इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—'परिस्थिति व्यक्ति को प्रभावित करने वाली स्थितियों का जटिल समूह है।[२४] डा० सिन्हा ने यह भी प्रतिपादित किया है कि भावोद्दीप्ति के लिए परिस्थिति का भौतिक रूप में प्रस्तुत होना या उसका प्रत्यक्षीकरण होना आवश्यक नहीं है अपितु उसकी स्मृति, कल्पना या चिन्तना भी भाव को उद्दीप्त कर सकती है। वस्तुतः किसी भी ऐसी स्थिति का बोध जो व्यक्ति की रुचियों या उसके हितों को प्रभावित करती हो—भाव को जागृत कर सकता है।[२५]

परिस्थिति के भावोद्दीपक रूप को कुछ मनोवैज्ञानिकों ने 'मनोवैज्ञानिक परिस्थिति' भी कहा है। **रामबाबू गुप्त** ने इसके सम्बन्ध में लिखा है--'सबसे पहले व्यक्ति में संवेग की उत्पत्ति के लिए मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का उपस्थित होना आवश्यक है। 'मनोवैज्ञानिक परिस्थिति' का तात्पर्य ऐसी उत्तेजना के उपस्थित होने से है जिसके प्रति व्यक्ति प्रक्रिया करने लगता है।[२६] **डा० एस० एस० माथुर** के अनुसार भाव या संवेग की उत्पत्ति सदा मनोवैज्ञानिक कारणों से ही होती है—मादक पदार्थों से संभव

22. the same : Page 366
२३. २४, २५, 'मनोविज्ञान' : डा० जदुनाथ सिन्हा, चतुर्थ संस्करण पृ० सं० २४८
२६. सामान्य मनोविज्ञान' (ले० रामबाबू गुप्त) द्वितीय; संस्करण पृ० सं० ४०२

नहीं ।[२७] इन मनोवैज्ञानिक कारणों को ही कुछ अन्य विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक परिस्थिति' (Psychological situation) का नाम दिया है ।[२८]

मनोवैज्ञानिक परिस्थिति से यह भी सूचित होता है कि उद्दीपक स्थिति आन्तरिक या मानसिक भी हो सकती है; अर्थात् उसका बाह्य रूप में प्रस्तुत होना आवश्यक नहीं है । वुडवर्थ महोदय ने 'परिस्थिति' के साथ प्रायः 'बाह्य' विशेषण का प्रयोग किया जिसे यह भ्रान्ति संभव है कि भावोद्दीपन के लिए बाह्य स्थितियों का होना आवश्यक है जबकि स्मृति, कल्पना एवं विचार के रूप में मन के भीतर उदित होने वाली परिस्थितियाँ भी व्यक्ति के भावों को उद्वेलित कर सकती है । इसी तथ्य पर विशेष बल देते हुए डॉ० माथुर ने स्पष्ट किया है कि संवेग को उत्पन्न करने के लिए बाह्य उदीपक या आन्तरिक उद्दीपक (व्यक्ति की मनोदशा) का होना आवश्यक है ।

परिस्थितियाँ व्यक्ति को किस प्रकार उद्दीप्त करती हैं—इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है । परिस्थितियों के बोध से व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियाँ (वासनाएँ) उद्वेलित होकर सक्रिय हो जाती हैं तथा उसी उद्वेलन का अनुभव (या व्यक्त रूप) भाव या संवेग के रूप में होता है ।[२९] कई बार व्यक्ति अपने मनोबल, अभ्यास या किसी अन्य शक्ति से अपनी वासनाओं एवं प्रवृत्तियों पर इतना नियंत्रण कर लेता है कि वे परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती—ऐसी स्थिति में संभव है कि वह व्यक्ति परिस्थितियों के अनुरूप भावोद्दीपन से मुक्त रहे । अः कोई भी परिस्थिति भाव को उद्वेलित करने में कहाँ तक सफल सिद्ध होती है—यह सम्बन्धित व्यक्ति की निजी क्षमताओं, शक्तिओं एवं मनः स्थितियों पर निर्भर है । उदाहरण के लिए एक चिड़चिड़े स्वभाव का व्यक्ति जिस बात पर वुरी तरह कुपित हो सकता है; उसी को अन्य व्यक्ति केवल हँसकर, मुस्कराकर या उपेक्षा से देखकर टाल सकता है अतः भावोद्दीपक के रूप में आलम्बन एवं परिस्थिति के महत्त्व को निर्धारित करते समय हमें उनकी एक सीमा को भी ध्यान रखना चाहिए; अर्थात् परिष्कृत रुचियों नियंत्रित प्रवृत्तियों एवं संयमित चरित्र वाला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की तुलना में परिस्थितियों से कम प्रभावित होता है; अतः उसके भावोद्दीप्त होने की भी संभावना अपेक्षाकृत कम रहती है ।

अस्तु, विभिन्न मनोविज्ञान-विशारदों द्वारा की गयी विभाव-पक्ष (Stimulus) की विवेचना से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

---

२७. सामान्य मनोविज्ञान (ले० डॉ० एस० एस० माथुर); चतुर्थ संस्करण; पृष्ठ संख्या १६३

28. 'Emotions in man and animal' P. T. young; Page 44

२९. 'मनोविज्ञान'; डॉ० जदुनाथ सिन्हा; पृ० सं० २४८

● मनोवैज्ञानिकों ने भाव या संवेग की उत्पत्ति के लिए किसी न किसी उद्दीपक (Stimulus) का होना आवश्यक माना है जिसे रस-शास्त्रीय शब्दावली में 'विभाव' कहा जा सकता है।

● इस उद्दीपक या विभाव की भी मनोवैज्ञानिकों ने मुख्यतः दो रूपों—आलम्बन (object) एवं परिस्थिति (Situation)—में चर्चा की है। परिस्थिति के भी दो उपभेद किये जा सकते हैं—बाह्य एवं आन्तरिक।

● भावों का विभाव से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनके विवरण के बिना भावों का निरूपण या विभिन्न भावों को एक दूसरे से पृथक करना कठिन है।

● विभिन्न परिस्थितियों के साथ प्रयुक्त विशेषण भी भावात्मक प्रक्रिया के सूचक हैं; यथा—'भयानक' 'विचित्र', हास्यास्पद आदि।

● भावों की उद्दीप्ति सदा विभाव से ही होती है किन्तु सभी व्यक्तियों या भावों के लिये सामान्य विभाव निर्धारित नहीं किये जा सकते।

● भावोद्दीप्ति में वस्तु या आलम्बन की अपेक्षा परिस्थिति का योग अधिक रहता है।

● परिस्थिति से अभिप्राय किसी भी ऐसी भौतिक, या मानसिक स्थिति से है जो प्रत्यक्ष, कल्पना, स्मृति, विचार आदि के रूप में व्यक्ति को प्रभावित या या उद्दीप्त कर सके।

● परिस्थितियाँ व्यक्ति की वासनाओं या सहज प्रवृत्तियों को प्रभावित करके उन्हें उद्वेलित या सक्रिय कर देती हैं, उसीका व्यक्त एवं उद्वेलित रूप भावानुभूति है।

● यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक विभाव सभी व्यक्तियों को समान रूप में प्रभावित करे।

● तुलनात्मक दृष्टि से विभाव का विवेचन

रस-सैद्धान्तिक एवं मनोवैज्ञानिक—दोनों दृष्टियों से किये गये विभाव के अध्ययन से उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर अब तुलनात्मक दृष्टि से विभाव का विवेचन किया जा सकता है। जहाँ तक विभाव को भाव की उद्दीप्ति का कारण मानने की बात है—रस-सिद्धान्त एवं मनोविज्ञान, दोनों ही एक मत हैं किन्तु हमारे विचार में भाव विभावों से उत्पन्न नहीं होते, अपितु उद्वेलित या उद्दीप्त ही होते हैं। भाव का बीज व्यक्ति के मन में किसी न किसी स्थायी वृत्ति के रूप में सदा विद्यमान रहता है; इसी स्थायी वृत्ति को रूप-भेद से वासना, सहज प्रवृत्ति, भावना या स्थायी भाव कहा जाता है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने काव्य के माध्यम से भावों की उत्पत्ति न मान कर उनकी अभिव्यक्ति ही मानी है वस्तुतः यह बात काव्येतर भावों पर भी लागू होती है। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भाव

उत्पन्न नहीं होते, अपितु उत्तेजित या उद्वेलित ही होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने भी परिस्थिति के प्रभाव से सहज प्रवृत्ति के उद्वेलन को या व्यक्ति की उद्वेलित मनोदशा को भाव की संज्ञा दी है, जो इस बात का प्रमाण है कि भाव किसी न किसी रूप में पहले से विद्यमान होते हैं—अन्यथा उनका उद्वेलन कैसे संभव है ? वस्तुतः मनोवैज्ञानिकों ने मानव-मन की एक ही भावात्मक प्रवृत्ति को स्थिति-भेद से अनेक रूप-भेदों में विभक्त कर दिया है; यथा, उसके जन्मजात रूप को 'सहज प्रवृत्ति का ; आलम्बन-विशेष के संपर्क से बिकसित रूप को भावना (Sentiment) का; तथा अपेक्षाकृत अस्थायी रूपों को 'मनोदशा' (Mood) 'संवेग', 'भाव' आदि का नाम दे दिया है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से उचित होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से भ्रामक सिद्ध हो सकता है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, रस सिद्धान्त के आचार्यों ने भावात्मक प्रवृत्ति के विभिन्न स्थायी रूपों को एक ही नाम—स्थायी भाव—दिया है; जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न संचरणशील भावों एवं संवेगों के रूप में होती है। अस्तु, हम रस-सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का अनुमोदन करते हुए कह सकते हैं कि भाव एवं संवेग विभावों से मौलिक रूप में उत्पन्न नहीं होते, अपितु वे विभिन्न स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों के ही जाग्रत, उद्वेलित या पुष्ट रूप को व्यक्त करते हैं अर्थात् विभाव हमारी स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों को प्रभावित, जाग्रत एवं उद्वेलित करते हैं—इस जाग्रत एवं उद्वेलित रूप को ही भावों का उत्पन्न होना कहा जाता है जो कि दोषपूर्ण प्रयोग है। जिस प्रकार समुद्र के उद्वेलित रूप की ही सूचक लहरों को समुद्र से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भावों को भी स्थायी भाव से पृथक करना संभव नहीं। अस्तु, हमारे विचार से विभावों को स्थायी भावों के उद्वेलन का ही कारण मानना चाहिए—यह दूसरी बात है कि प्रयोग-सुविधा के लिए हम उनसे भावों की उत्पत्ति की बात भी कहते रहें।

जिस प्रकार रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने विभाव के दो भेद—आलम्बन और उद्दीपन—किये हैं; लगभग उसी प्रकार मनोवैज्ञानिकों ने भी विभाव पक्ष (stimulus) के अन्तर्गत वस्तु (object) एवं परिस्थिति (situation) का उल्लेख किया है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या हम इन दोनों को क्रमशः 'आलम्बन' और 'उद्दीपन' का पर्याय मान लें ? यहाँ उल्लेखनीय है कि शब्दकोष के अनुसार अंग्रेजी के 'आब्जैक्ट' (object) शब्द का एक अर्थ 'विषय' भी है तो दूसरी ओर रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने आलम्बन की परिभाषा करते हुए उसे भाव का विषय ही माना है, किन्तु मनोविज्ञान के हिन्दी लेखकों ने 'आब्जैक्ट' के लिए वस्तु शब्द का प्रयोग करके उसके अर्थ-क्षेत्र को इतना सीमित कर दिया है कि उससे सहसा व्यक्ति का बोध नहीं होता। दूसरी ओर रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने भाव के 'आलम्बन' के रूप में प्रायः व्यक्ति की ही चर्चा की है, जिससे इसका अर्थ-क्षेत्र व्यक्ति तक ही सीमित रह गया है। शारदा तनय ने 'भाव-प्रकाश' में विभिन्न रसों के आलम्बन-भेदों का

जो निरूपण किया है, उससे भी यही धारणा पुष्ट होती है कि रस का (या स्थायी भाव) आलम्बन या विषय कोई वस्तु या पदार्थ न होकर व्यक्ति ही हो सकता है। हमारे विचार में यह अत्यन्त संकीर्ण एवं रूढिबद्ध धारणा हैं—कदाचित श्रृंगार-रस की ही दृष्टि से इसका पोषण हुआ है क्योंकि उसमें आलम्बन के रूप में व्यक्ति-विशेष का होना आवश्यक है, किन्तु यह बात अन्य स्थायी भावों एवं रसों पर लागू नहीं होती। एक देश-भक्त साहसी एवं आत्म-त्यागी युवक जिसका लक्ष्य भारत माँ को स्वतंत्र करवाने का रहा हो, किसी व्यक्ति-विशेष को आलम्बन के रूप में स्वीकार नहीं करेगा; इसी प्रकार हिमालय की चोटी तक पहुँचने का लक्ष्य रखने वाले वीर तेनजिंग की गाथा में उसकी भावना का विषय किसी व्यक्ति-विशेष को ही बनाया जाय, यह आवश्यक नहीं है। कदाचित यहां यह तर्क दिया जा सकता है कि जब तक साहित्य में आलम्बन के रूप में व्यक्ति-विशेष को सामने न लाया जायगा तब तक काव्य-वस्तु का साधारणीकरण एवं रसास्वादन संभव नहीं; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस प्रकार का तर्क दे भी चुके हैं—किन्तु इसके सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि उपर्युक्त धारणा को स्वीकार कर लेने पर साहित्य का क्षेत्र केवल व्यक्तियों तक ही सीमित हो जायगा, सृष्टि के अन्य प्राणियों एवं वस्तुओं को उसमें विषय के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकेगा जब कि स्वयं आचार्य शुक्ल भी प्रकृति को शुद्ध आलम्बन के रूप में प्रस्तुत करने के पक्षपाती थे; इधर महादेवी वर्मा ने अनेक ऐसे सुन्दर एवं मार्मिक संस्मरण लिखे हैं, जिनमें आलम्बन के रूप में बिल्ली, नेवले आदि पालतू पशुओं को प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः काव्य में साधारणीकरण का आधार आलम्बन का व्यक्ति विशेष होना नहीं है, अपितु स्वयं काव्य-रचयिता या काव्य-गत आश्रय के साथ पाठकों का तादात्म्य स्थापित होना है। इस सम्बन्ध में विस्तार से अन्यत्र विचार किया जायगा—यहाँ इतना ही निवेदन करना है कि साहित्य के आलम्बन के रूप में उन सब विषयों को स्वीकार किया जा सकता है जो साहित्यकार की अनुभूति के विषय बन सकते हों। ऐसी स्थिति में 'आलम्बन' को 'विषय'[३] या (object) (आब्जैक्ट) का पर्याय माना जाय तो अनुचित न होगा।

विभाव के दूसरे भेद को रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने 'उद्दीपन' कहा है, जब कि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह 'परिस्थिति या मनोवैज्ञानिक परिस्थिति है 'उद्दीपन' शब्द किसी विशेष पदार्थ का सूचक नहीं है, अपितु यह एक विशेषणमूलक शब्द है, जिसके अन्तर्गत सृष्टि के उन सभी पदार्थों तत्त्वों, स्थितियों एवं परि-स्थितियों को स्थान दिया जा सकता है जो किसी न किसी भाव को उद्दीप्त करते हों। पर दुर्भाग्य से इस पर भी हमारे आचार्यों की श्रृंगार-रस-प्रियता का ऐसा प्रभाव पड़ा कि इसका क्षेत्र केवल आँगिक चेष्टाओं, मुद्राओं, अलंकारों आदि तक सीमित हो गया जो कि अप्रत्यक्ष में नारी-सौन्दर्य के ही विभिन्न पक्षों के द्योतक हैं।

बड़ी विचित्र बात है, स्वयं नायिका को जहाँ 'आलम्बन' माना गया है, वहाँ उसकी चेष्टाओं को उससे अलग 'उद्दीपन' की संज्ञा दी गयी है, जो व्यावहारिक दृष्टि से भी संगत नहीं है। क्या हम व्यक्ति से पृथक उसके व्यक्तित्व की कल्पना कर सकते हैं—और दोनों को अलग-अलग श्रेणियों में रख सकते हैं!

जिन आचार्यों की दृष्टि नायिका के रूप-व्यूह को पार कर आगे भी बढ़ी है, वह भी वन, उपवन उद्यान, नदी-तट, चन्द्र-ज्योत्स्ना, आदि तक ही पहुँच पायी है अर्थात शृंगार के संयोग और वियोग—दोनों पक्षों में ही प्राकृतिक वातावरण को ही एक मात्र उद्दीपन के रूप में उल्लिखित किया जाता रहा है। अवश्य ही देश-काल का वातावरण ही विभिन्न परिस्थितियों का घटक होता है किन्तु उस वातावरण को केवल प्राकृतिक वातावरण या श्मशानघाट तक ही सीमित कर देना कहाँ तक उचित है? वस्तुतः विभिन्न रसों के 'उद्दीपन' के रूप में हमारे आचार्यों ने जो सूचियाँ प्रस्तुत की हैं, वे अत्यन्त सीमित, संकीर्ण एवं स्थूल दृष्टि की ही परिचायक हैं। हमारे विचार में प्रत्येक ऐसी स्थिति को जो किसी भी प्रकार से—प्रत्यक्ष, कल्पना, विचार आदि के रूप में—भावोत्तेजन या भावोद्दीपन में सहायक हो 'उद्दीपन' या 'मनोवैज्ञानिक परिस्थिति' का नाम दिया जा सकता है। उदाहरण के लिये 'गबन' उपन्यास में उसका नायक जिन परिस्थितियों में घर से पलायन करके कलकत्ता भाग जाता है, या 'गोदान' का होरी जिन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हताश एवं निराश होकर हमारी करुणा का आलम्बन बनता है—वे सब उद्दीपन की ही अंग हैं। अस्तु, सैद्धान्तिक, दृष्टि से उद्दीपन मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का ही पर्याय है, यह दूसरी बात है कि व्यवहार में उसे अत्यन्त संकीर्ण एवं सीमित रूप में ग्रहण किया गया है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न विषयों एवं परिस्थितियों की स्मृति एवं चिन्ता (चिन्तना या विचार) को भी मनोवैज्ञानिकों ने उद्दीपक (stimulus) एवं 'मनोवैज्ञानिक परिस्थिति' के रूप में स्वीकार किया है, जब कि रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने स्मृति और चिन्ता को संचारी भावों में स्थान दिया है। ऐसी स्थिति में यही विचारणीय है कि स्मृति और चिन्ता को विभाव में स्थान दिया जाय या उन्हें संचारी भाव के रूप में ही रहने दिया जाय? हमारे विचार में जिस व्यक्ति विषय या परिस्थिति का स्मरण या विचार उदित होता है, वह व्यक्ति विषय या परिस्थिति स्वयं तो विभाव ही है, किन्तु सम्बन्धित स्मृति और 'चिन्ता' की प्रक्रिया को संचारी भाव मानना उचित होगा। स्मृति के सदा दो पक्ष होते हैं—एक वह वस्तु जिसका स्मरण आता है; दूसरा वह व्यक्ति जिसके मन में स्मरण होता है। अवश्य ही अनुभूति के रूप में व्यक्ति और वस्तु मिश्रित हो जाते हैं, किन्तु फिर भी तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक ही नहीं हैं। अतः वस्तु (या स्मृत व्यक्ति) को

विभाव में तथा स्मरण करने वाले व्यक्ति के भावोद्वेलन को संचारी रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

विभाव पक्ष का सम्बन्ध संचारी भावों से है या स्थायी भावों से—इसके सम्बन्ध में भी रस-सैद्धान्तिक आचार्यों का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। अनेक आचार्यों ने तो विभावों को रस के ही उद्दीपक के रूप में उल्लिखित किया है तो कुछ ने उनका सम्बन्ध स्थायी भाव से स्थापित किया है। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो स्थायी, संचारी एवं रस—तीनों एक ही प्रक्रिया की तीन स्थितियों के सूचक हैं। व्यावहारिक जीवन में जिन कारणों से प्रभावित होकर हमारी भावनाएँ (स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ) उद्वेलित होकर संचरणशील अस्थिर भावों में व्यक्त होती हैं, उन्हीं को काव्य के संदर्भ में रस के कारणों या विभावों के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः अन्तर केवल संदर्भ का है, किन्तु वस्तु एक ही है अर्थात् स्थायी भाव के उद्वेलन, संचारी भाव के संचरण एवं रस की निष्पत्ति—तीनों एक ही कार्य-व्यापार की विभिन्न स्थितियों के सूचक हैं। अतः हमारे विचार में विभाव का सम्बन्ध प्रसंग-भेद से इन तीनों से ही है।

अस्तु, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावोद्वेलन एवं रस-निष्पत्ति के कारण के रूप में विभाव की स्थापना एवं उसके दो भेद—आलम्बन और उद्दीपन, सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वथा समीचीन एवं संगत सिद्ध होते हैं किन्तु व्यवहार में आलम्बन को केवल व्यक्तियों तक तथा उद्दीपन को नारी-चेष्टाओं व प्राकृतिक दृश्यों व वातावरण तक सीमित कर दिया गया है, जो उचित नहीं है। रस-सिद्धान्त को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, विकसित एवं संगत रूप प्रदान करने के लिये, उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर विभाव सम्बन्धी रूढ़ धारणाओं में निम्नांकित संशोधन-परिवर्तन प्रस्तावित किये जा सकते हैं—

- विभाव को भाव का उत्पादक न मान कर केवल उद्दीपक ही मानना चाहिए क्यों कि भाव का मूलाधार जन्मजात वासनाओं, सहज प्रवृत्तियों, भावनाओं (sentiments), मनोवृत्तियों, आदि स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों में निहित है।

- जब विभाव स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है तो उससे भावावेगों (=संचारी भावों) का उद्वेलन होता है; अतः विभाव का सम्बन्ध स्थायी एवँ संचारी दोनों से रहता है। ऐसी स्थिति में विभाव को केवल स्थायी भाव या रस में से किसी एक से ही सम्बन्धित मानना उचित न होगा।

- विभाव के परम्परागत दो भेदों-आलम्बन एवं उद्दीपन को क्रमशः मनोविज्ञान के 'विषय' (object) एवं 'परिस्थिति' के समानान्तर स्थान देते हुए उनके स्वरूप को और व्यापक किये जाने की आवश्यकता है। रस-सैद्धान्तिक

आचार्यों ने 'आलम्बन' के अन्तर्गत केवल व्यक्ति को स्थान दिया है जब कि मनोविज्ञान के अनुसार इसमें व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, लक्ष्य आदि उन सब उद्दीपकों को स्थान दिया जाना चाहिए जो भावोद्दीपन के तात्कालिक कारण या विषय हैं।

● आलम्बन की ही भाँति 'उद्दीपन' का भी क्षेत्रविस्तार करते हुए उसमें न केवल प्राकृतिक वातावरण को अपितु उन सब सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैयक्तिक, भौतिक मानसिक स्थितियों, परिस्थितियों व घटनाओं को स्थान दिया जाना चाहिए जो प्रत्यज्ञ या अप्रत्यक्ष में व्यक्ति के भावोद्वेलन में सहायक होती हैं नारी-चेष्टाओं एवं उसके आंगिक सौन्दर्य को उद्दीपन में स्थान देना उचित नहीं—उन्हें आलम्बन के अन्तर्गत ही लिया जाना चाहिए।

● उद्दीपन में केवल स्थूल भौतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं को नहीं अपितु उनकी सूक्ष्म कल्पना, स्मृति, एवं चिन्तना को ग्रहण किया जाना चाहिए।

हमारा विश्वास है कि उपर्युक्त संशोधन रस-सिद्धान्त की आधारभूत स्थापनाओं के प्रतिकूल न होते हुए भी, उसे एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान कर देते हैं कि जिससे वह साहित्य की विषय-वस्तु के रूप में प्रस्तुत सृष्टि की प्रायः सभी प्रकार की वस्तुओं, स्थितियों, मनः स्थितियों, परिस्थितियों एवं घटनाओं की व्याख्या अत्यन्त संगत व मनोविज्ञान-सम्मत रूप में करने में समर्थ सिद्ध हो सकता है।

●

५ अनुभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन

रस के चार अवयवों में से तीन—स्थायीभाव, संचारी भाव, एवं विभाव—का विवेचन पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है, अतः अब अवशिष्ट एक अवयव—अनुभाव का विवेचन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है; किन्तु इससे पूर्व उसके परम्परागत स्वरूप को समझने के लिए उसका रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन आवश्यक है। अतः यहाँ क्रमशः रस-सैद्धान्तिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन-विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

● अनुभाव का रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन—

आचार्य भरत ने अनुभाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया कि वाणी, अंग तथा सत्त्व द्वारा सम्पादित नानार्थों से निष्पन्न अभिनय को यह अनुभावित करता है, अतः यह 'अनुभाव' है।[1] उन्होंने इसके सम्बन्ध में एक परम्परागत श्लोक को भी उदधृत किया है जिसके अनुसार 'वाणी और अंगों के अभिनय से वाणी और अंग-उपांग से संयुक्त अर्थ जिससे अनुभावित होता है। उसका नाम 'अनुभाव' माना गया है।[2] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि नाटक के संदर्भ में वाणी (ध्वनि, भाषा आदि), शारीरिक चेष्टाओं एवं सत्त्वोद्रेक आदि के माध्यम से जो

---

१. अथानुभावा इति कस्मादुच्यते। यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागंगसत्वैः कृतोभिनय इति। (नाटयशास्त्र।७।५)
—भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा; डॉ० नगेन्द्र; पृष्ठ सं० ९,२२।

२. वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभावयते।
वागंगोपांग संयुक्त स्त्वनुभाव स्ततः स्मृतः॥ (वही)

नाटककार के या विभिन्न पात्रों के गूढ़ अर्थों या मनोभावों का अनुभव प्रेक्षक को प्रदान करते हैं—वे ही 'अनुभाव' कहलाते हैं। अनुभव प्रदान करने के कारण ही, इन्हें 'अनुभाव' कहा गया है किन्तु 'अनुभाव' शब्द की व्युत्पति 'अनुभव' से है—इसे स्वीकार करने में अनेक विद्वानों को आपत्ति है क्योंकि उनके विचारानुसार 'अनुभाव' शब्द 'अनु' और 'भाव' के योग से बना है, तथा 'अनु' का अर्थ 'पीछे' है[३]—अतः व्युत्पति की दृष्टि से कहा जा सकता है कि जो भाव के पीछे उत्पन्न होता है या जो भाव का अनुवर्ती है, वह 'अनुभाव' है।

उपर्युक्त दृष्टि से 'अनुभाव' दो प्रकार के अर्थों का सूचक कहा जा सकता है; एक 'अनुभव करवाने वाला' तथा दूसरा 'भाव का अनुवर्ती'। वस्तुतः अनुभाव पर दोनों ही बातें पूरी तरह लागू होती हैं—प्रेक्षक की दृष्टि से वह नाटककार एवं पात्रों के भावों या मनोभावों का अनुभव या भावन प्रदान करता है तो स्वयं पात्रों एवं अभिनेताओं की दृष्टि से वह भाव के अनन्तर, भाव-विशेष की प्रकृति के अनुसार, भावों के अनुवर्ती के रूप में ही प्रकट होता है—अतः हमारे विचार में उपर्युक्त दोनों अर्थ अनुभाव के दो पक्षों को सूचित करते हैं, अतः उनमें परस्पर कोई असंगति नहीं है।

भरत के उपर्युक्त उद्धरण में अनुभावों के सम्बन्ध में वाणी, अंग और सत्त्व का भी उल्लेख है जो उनकी इस धारणा का द्योतक है कि अनुभावों का प्रकटीकरण वाणी, आंगिक चेष्टाओं एवं सत्त्वोद्रेक के रूप में होता है तथा इसीलिए उन्होंने अनुभावों के तीन प्रकार निश्चित किये हैं—(१) **वाचिक** अर्थात् वाणी एवं शब्दों के माध्यम से होने वाली चेष्टाएँ। (२) **आंगिक** अर्थात् शरीर के माध्यम से होने वाली चेष्टाएँ। और (३) **सात्त्विक** अर्थात् सत्त्वोद्रेक (अश्रु, स्वेद, कम्प आदि) के रूप में प्रकट होने वाले अनुभाव। अस्तु, आचार्य भरत के अनुसार अनुभाव अभिनेताओं की उन वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक चेष्टाओं का नाम है जिनके माध्यम से प्रेक्षक उनके मनोभावों का अनुभव या भावन या बोध प्राप्त करता हैं।

भरत-परवर्ती आचार्यों ने भी अनुभाव की कतिपय अन्य विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयास किया है। **धनंजय** ने लिखा है—भावों के सूचक विकार अनुभाव कहलाते हैं।.........ये रस के कार्य हैं तथा लोक-व्यवहार में इनको प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है।'[४] इसी मत को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए **विश्वनाथ** ने भी लिखा है—'उद्‌बुद्ध (इत्यादि) को बाहर प्रकाशित करने वाला, लोक में जो 'कार्य'

---

३. रस-सिद्धान्त: स्वरूप-विश्लेषण—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० सं० २२

४. दशरूपक; अध्याय ४।३

कहलाता है, वही काव्य और नाटक में अनुभाव है।'[५] लगभग यही मत रसगंगाधर-कार पं० जगन्नाथ का है—'उन (रति आदि स्थायी भावों के) जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं, वे ही 'अनुभाव' हैं।'[६]

अस्तु, विभिन्न मतों के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि अनुभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में विशेष मत-भेद नहीं है। प्रायः सभी ने भरत की मान्यता को स्वीकार करते हुए, उसी के स्पष्टीकरण में बताया है कि वे भावों के सूचक होते हैं, वे आंगिक या शारीरिक विकार हैं, लोक व्यवहार में इन्हें 'कार्य' कहते हैं—अर्थात् विभिन्न भावों के उद्वेलन या उद्बोधन से हमारे में जो विकार या परिवर्तन आते हैं तथा जिनसे भावोद्वेलन की सूचना मिलती है, उन्हें 'अनुभाव' कहा गया है। लोक-व्यवहार में भावोद्वेलन के कारण हम भाँति-भाँति की चेष्टाएँ एवं कार्य करते हैं—जैसे, भय में प्राण-रक्षा के लिये भागना, क्रोध में किसी को मारने-पीटने के लिए आगे बढ़ना, हास्य में हँसना, मुस्कराना, ताली बजाना आदि; काव्य-शास्त्रीय शब्दावली में इन्हीं भावोद्वेलनजन्य विकारों, परिवर्तनों, चेष्टाओं एवं क्रिया-कलापों को सामूहिक रूप में 'अनुभाव' की संज्ञा दी गयी है क्योंकि इन्हीं के माध्यम से अभिनेता भावों का अभिनय एवं कवि व चित्रकार उनका चित्रण करता है तो दूसरी ओर प्रेक्षक, पाठक एवं सामाजिक उनका बोध प्राप्त करता है।

अनुभाव के प्रकार एवं भेदों के सम्बन्ध में रस-सैद्धान्तिक आचार्यों में थोड़ा मत-भेद मिलता है। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, भरत ने तो इनके मुख्यतः तीन ही प्रकार—वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक—निर्धारित किये थे, किन्तु परवर्ती युग के अनेक विद्वानों ने इनका वर्गीकरण नये ढंग से भी करने का प्रयास किया है। **भानुदत्त** ने इनके चार प्रकार निर्धारित करते हुए उन्हें (१) कायिक (२) मानसिक (३) आहार्य एवं (४) सात्त्विक की संज्ञा दी है[७]। इनमें कायिक और सात्त्विक तो क्रमशः भरत के 'आंगिक' एवं 'सात्त्विक' के ही पर्याय हैं, किन्तु अन्य दो नये हैं। **शारदातनय और शिंगभूपाल** ने अन्य प्रकार से वर्गीकरण करते हुए सभी अनुभावों को तीन वर्गों में विभक्त किया है[८]—(१) मन आरम्भानुभाव एवं (३) बुद्ध्यारम्भानुभाव।

---

५. उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्य नाट्ययोः॥
—साहित्य दर्पणः ३।१३२-३

६. यानिच कार्यतया, तान्यनुभाव शब्देन
—रसगंगाधर; प्रथम आनन, पृ० सं० १३५

७. रस-तरंगिणी; पृ० ४९; रस-सिद्धांत : स्वरूप-विश्लेषण; पृ० सं० २३

८. भाव-प्रकाशनम्; पृ० ६; रसार्णव-सुधा (शिंगभूपाल); पृ० ४८
(रस-सिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण; पृ० २३ के आधार पर)

मनआरम्भानुभावों का सम्बन्ध मुख्यतः स्त्रियों से मानते हुए उनके भी दस उपभेद—भाव, हाव, हेला, शोभा कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य तथा औदार्य—किये गये हैं।[९] वागारम्भानुभावों के अन्तर्गत वाक् या वाणी द्वारा प्रकट होने वाले अनुभावों को स्थान देते हुए उनके भी एकादश भेद किये गये हैं[१०]—(१) आलाप (चाटूक्ति) (२) विलाप (दुःख भरे वचन) (६) प्रलाप (व्यर्थ कथन) (४) अनुलाप (बार-बार कहना) (५) अपलाप (पूर्वोक्त का अन्यथा-योजन) (३) संदेश (७) अतिदेश (प्रस्तुत वस्तु का अन्य अभिधेय से सूचन) (८) निर्देश (९) उपदेश (१०) अतिदेश, जैसे-'मैंने कहा' का अतिरिक्त प्रयोग। (११) व्यपदेश अर्थात् व्याजपूर्वक कुछ कहना। इसी प्रकार जिन अनुभावों के पीछे बुद्धि का विशेष प्रयोग परिलक्षित होता है, उन्हें 'बुद्ध्यारम्भानुभाव' की संज्ञा देते हुए उनके भी अनेक भेदों—रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, आदि—का निरूपण किया गया है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के अनुभावों के अतिरिक्त एक और भेद भी शारदातनय एवं शिंग भूपाल ने स्वीकार किया है, वह है—गात्रारम्भ अनुभाव।[११] इसके भी दो उपभेद माने गये हैं—एक नारी सम्बन्धी वर्ग एवं दूसरा पुरुष सम्बन्धी। नारी सम्बन्धी गात्रारंभानुभावों में लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्वोक, ललित, विहृत—इन दस को स्थान दिया गया है जबकि पौरुषगात्रारम्भानुभाव के अन्तर्गत शोभा, विलास माधुर्य, धैर्य, औदार्य, ललित आदि को सम्मिलित किया गया है।[१२]

यदि हम अनुभावों के उपर्युक्त वर्गों पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि ये मूलतः श्रृंगार रस को ही ध्यान में रखकर वर्गीकृत किये गये हैं—अन्यथा मनोभावों एवं अनुभावों के क्षेत्र में पुरुष एवं नारी के आधार पर वर्गीकरण करना अनावश्यक प्रतीत होता है। वस्तुतः इन विद्वानों ने नारी या नायिका के जिन मानसिक एवं शारीरिक अनुभावों का उल्लेख किया है, उन्हें अन्य आचार्यों ने नायिका के हावों तथा अलंकारों में स्थान दिया है। परवर्ती युग के विद्वानों में यह भी विवाद का विषय रहा है कि नायिका के इन अलंकारों एवं हावों को विभाव में स्थान दिया जाय या अनुभाव में ? अस्तु, इसके सम्बन्ध में हम अन्यत्र विचार करेंगे, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त वर्गीकरण का सम्बन्ध मूलतः श्रृंगार रस से ही है, अतः इन्हें अनुभावों के सामान्य भेदों से पृथक रखना ही उचित होगा।

अनुभावों का एक अन्य वर्ग 'सात्त्विक भाव' संज्ञक है, जिसके सम्बन्ध में भी विवादास्पद स्थिति है। स्वयं भरत ने एक स्थान पर तो इन्हें अनुभावों से पृथक

---

९. भाव-प्रकाशनम्; ८/१३

१०. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; पृ० सं० २४-२५

११. भाव प्रकाशनम्, पृ०-२० । रसार्णव-सुधा; ५८/२१५

१२. वही ।

भावों के रूप में निरूपित किया है तो अन्यत्र वे इन्हें अनुभावों का ही एक वर्ग मानते हुए, उसके अन्तर्गत इन आठ सात्त्विक भावों का उल्लेख किया है—(१) स्वेद (पसीना) (२) स्तम्भ (३) वेपथु (कम्प) (४) अश्रु (५) वैवर्ण्य (मुँह का रँग बदल जाना) (६) रोमाँच (७) स्वर-भंग (८) प्रलय (मूर्छा)। आचार्य भरत ने ४९ भावों के अन्तर्गत भी इन आठ सात्त्विक भावों की गणना की है—अतः दुविधा है कि इन्हें 'भाव' की श्रेणी में स्थान दिया जाय या 'अनुभाव' की श्रेणी में ? आधुनिक युग के आचार्यों ने अनुभावों के भेदोपभेद-निरूपण को विशेष महत्त्व नहीं दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सात्त्विक अनुभावों एवं मानसिक संचारियों के भेद को अवश्य स्पष्ट करने का यत्न किया है। उनके विचार से—'सात्त्विक अनुभाव में वही वस्तु रखी गयी है जो बाहर शरीर पर लक्षित हो। मानसिक अवस्था स्वयं गोचर नहीं होती, उसका कोई चिह्न या संकेत गोचर होता है। 'अनुभाव' किसी 'भाव' का सूचक होता है, अतः मानसिक अवस्था जो सूच्य हुआ करती है, वह सूचकों में नहीं रखी गयी, संचारियों में रखी गयी।[13]

इसी प्रकार नायिका की प्रणय सूचक चेष्टाओं को, जिन्हें काव्य-शास्त्र में 'हाव' की संज्ञा दी गयी है, उन्हें विभाव में स्थान दिया जाय या अनुभाव में—इस प्रश्न पर आचार्य शुक्ल ने विस्तार से विचार करते हुए प्रतिपादित किया है—"हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों में 'हाव' प्रायः 'अनुभाव' के अन्तर्गत रखे मिलते हैं, पर यह ठीक नहीं है। 'अनुभाव' के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ ही आ सकती हैं। 'आश्रय' की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर 'हावों' का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिये नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिये, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिये होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह 'आलम्बन' होता है, अतः हाव नामक चेष्टाएँ आलम्बनगत ही मानी जायेंगी और आलम्बनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अन्तर्गत ठहरता है।"[14] किन्तु पं० रामदहिन मिश्र ने शुक्लजी के उपर्युक्त निष्कर्ष का विरोध करते हुए लिखा है—'हाव' अनुभाव के अन्तर्गत ही हैं और यह ठीक है। हिन्दी लक्षण-ग्रन्थों में ही नहीं, संस्कृत के आकर ग्रन्थों में भी यही बात है। अंगज अलंकारों में 'हाव' की गणना है, और ये अलंकार अनुभाव ही हैं। ....रस-उद्दीपक आलम्बन की चेष्टाएं उद्दीपन कहलाती हैं, पर हाव इस प्रकार का नहीं होता, क्योंकि यह कार्यरूप है, कारण-रूप नहीं है। इससे विभाव के अन्तर्गत 'हाव' की गणना नहीं की जा सकती।"[15]

---

१३. रस-मीमांसा; पृ० सं० २१९

१४. 'आगरा-यूनीवर्सिटी सेलेक्शन्स इन हिन्दी प्रोज'; पृ० ६४

१५. काव्य-दर्पण; पृ० ८३

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने उपर्युक्त विवाद पर पुनर्विचार करते हुए स्पष्ट किया है कि दोनों विद्वानों में मत-भेद का कारण यह है कि जहाँ शुक्ल जी ने भानुदत्त का अनुसरण करते हुए 'हाव' को व्यापक अर्थ में—जिसके अन्तर्गत उसके दस भेदों का भी समावेश हो जाता है—ग्रहण किया है जबकि मिश्रजी ने 'हाव' नामक विशिष्ट अलंकार को ही दृष्टिगत रखा है। डॉ० दीक्षित ने शुक्लजी के ही मत का अनुमोदन करते हुए लिखा है– "हम समझते हैं कि इस प्रश्न का एक-मात्र समाधान भानुदत्त का अनुसरण करते हुए यही हो सकता है कि आलम्बन हो चाहे आश्रय, दोनों में ये चेष्टाएँ अनुभाव ही बन कर उपस्थित होती हैं, किन्तु आलम्बन के अनुभाव आश्रय में स्थायी भाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं, अतएव उस समय ये अनुभाव भी विषय जाने से उद्दीपन की श्रेणी में पहुँच जाते हैं।.........हम इन्हें 'उद्दीप्त' तथा 'उद्दीपक अनुभाव' ही कहना उपयुक्त समझते हैं। संभवत: शुक्लजी को भी यही मान्य था।"[१६]

यहाँ डॉ० दीक्षित ने हावादि को 'उद्दीपक अनुभाव' बताकर आचार्य शुक्ल एवं पं० मिस्र—दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है और एक प्रकार से उन्होंने दोनों की ही बात स्वीकार करली है; क्योंकि 'उद्दीपक' शब्द 'विभाव' का पर्याय है तो 'अनुभाव' स्वयं अनुभाव है ही, किन्तु इससे विवाद का कोई निर्णय नहीं हो जाता। विभाव और अनुभाव—दोनों को संयुक्त करके उन्होंने जिस तीसरे तत्त्व की स्थापना की है, वह वस्तुत: अपने-आप में असंगत है। यदि कोई कहे कि यह नमक है या चीनी—इसके उत्तर में हम अपना निर्णय दें कि वह 'नमकीन चीनी' है तो यह कैसा प्रतीत होगा ? अवश्य ही यह हमारी समन्वयात्मक बुद्धि का तो प्रमाण होगा किन्तु व्यवहार में 'नमकीन चीनी' एक निरर्थक प्रयोग सिद्ध होगा।

हमारे विचार में उपर्युक्त विवाद का मूल कारण यह है कि शृंगार रस में नायक और नायिका—दोनों एक-दूसरे के लिए आलम्बन एवं आश्रय हैं ; तथा दोनों के ही प्रणय भाव की अभिव्यक्ति परस्पर प्रभावित करती है। यथा—नायक की उपस्थिति में या उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार से जब नायिका प्रफुल्लित होकर सहज भाव में जो-कुछ भी करती है; उसे देखकर नायक का भावावेग और भी तीव्र हो जाता है। इस प्रकार दोनों की ही भावाभिव्यंजक चेष्टाएँ जहाँ स्वयं के लिए अनुभाव हैं, वहाँ दूसरे के लिए विभाव सिद्ध होंगी; अत: उन्हें एक की दृष्टि से अनुभाव कहा जा सकता है, तो दूसरे की दृष्टि से विभाव। हमारे शृंगार रस के आचार्यों ने तो स्वयं नायिका को तो सदा आलम्बन ही माना तथा उसकी प्रणयपूर्ण चेष्टाओं एवं भावाभिव्यक्तियों को भी पुरुष की रसिक की दृष्टि से ही देखा, किन्तु वे यह भूल गये

---

१६. रस-सिद्धान्त: स्वरूप-विश्लेषण; पृ० २९

कि स्वयं नायिका कोई पत्थर की मूर्ति या प्रदर्शनी में रखी हुई निर्जीव सौन्दर्य-प्रतिमा नहीं होती, अपितु उसके भी एक जीता-जागता हृदय होता है, जो पुरुष के हृदय से भी अधिक संवेदनशील, आर्द्र एवं कोमल होता है— अत: नायक की उपस्थिति में वह सहज भाव से जो भी चेष्टाएँ करती हैं; वे भले ही पुरुष की दृष्टि में उसके अलंकार या सौन्दर्य की ही साधक हों, किन्तु स्वयं उसके लिए तो वे उसकी भावनाओं की ही अभिव्यंजक हैं संस्कृत-हिन्दी के आचार्यत्व पर पुरुष-वर्ग का ही एकाधिकार रहने के कारण कदाचित् यह स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि नायिका का सहज स्वाभाविक व्यवहार भी सौन्दर्य-सामग्री या अलंकरण मात्र बन गया है।

'हाव' के सम्बन्ध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि उसकी परम्परागत परिभाषा भी दोषपूर्ण है। आचार्यों ने संभोगेच्छा-सूचक भ्रू-नेत्रादि विकारों को 'हाव' माना है,[१७] किन्तु जब हम हावों के अवान्तर भेदों पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि सभी हाव केवल 'संभोगेच्छा' के सूचक नहीं हैं। प्रिय के द्वारा प्रेमपूर्वक भेंट की हुई माला को धारण करके गर्व पूर्वक फूले-रहना, या प्रिय की उपस्थिति में भावावेग के कारण कुछ का कुछ कर बैठना, या मानपूर्वक उसकी बहुमूल्य भेंट को भी ठुकराना—जिन्हें क्रमश: 'मोट्टायित', 'विभ्रम' एवं 'विव्वोक' संज्ञक हाव माना गया है क्या संभोगेच्छा का ही सूचक माना जायगा, उसके उद्वेलित प्रणय भाव का नहीं? वस्तुत: हाव के विभिन्न भेद प्रणय भाव की ही विभिन्न भंगिमाओं के द्योतक हैं, अत: हाव के लक्षण में संभोगेच्छा सूचक चेष्टाओं को नहीं अपितु प्रणय भाव की सूचक या उसे व्यक्त करने वाली चेष्टाओं को स्थान दिया जाना चाहिए। वस्तुत: जिस प्रकार प्रणय भाव के लिए स्थायी भावों में 'रति' शब्द का प्रयोग किया गया है, कुछ उसी प्रकार यहाँ 'संभोच्छा का किया गया है, जो उचित नहीं। अस्तु, नायिका या नायक की सभी प्रेमपूर्ण चेष्टाओं को चाह वे हाव में आती हों या नहीं, हम उन्हें अनुभावों में ही स्थान देना उचित समझते हैं। हाँ, जो चेष्टाएँ भाव-सूचक न होकर कृत्रिम एवं यत्नज हों तथा जान बूझकर नायक को आर्काषित करने के लिए की जाती हों—उन्हें चाहें तो अनुभावों से पृथक स्थान दिया जा सकता है।

शृंगार रस के अतिरिक्त रौद्र, वीभत्स, और हास्य में भी कई बार आश्रय की चेष्टाएँ आलम्बन के भावों को और आलम्बन की चेष्टाएँ आश्रय के भावों को उद्दीप्त करती हैं; यथा—परशुराम-लक्ष्मण संवाद के प्रसंग में लक्ष्मण की धृष्टता परशुराम के क्रोध में अभिवृद्धि करती जाती है तो उनके क्रोध की अभिवृद्धि के साथ-साथ लक्ष्मण का उपहास भाव भी अधिक तीव्र होता जाता है। लोक-व्यवहार में भी

---

१७. भ्रू नेत्रादि विकारैस्तु संभोगेच्छा प्रकाशक:।
भाव एवाल्प संलक्ष्य विकारो हाव उच्यते ॥

—साहित्य-दर्पण; ३।९४

हम देखते हैं कि जब दो व्यक्ति लड़ते हैं तो दोनों की कटूक्तियों से एक-दूसरे का क्रोध और तीव्र होता जाता है—अर्थात्, ऐसी स्थिति में दोनों ही व्यक्ति अपने-आप में क्रोध भाव के आश्रय तथा सामने वाले के लिए उसके उद्दीपक होते हैं। अतः यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से किसके उद्गारों को वाचिक अनुभाव माना जाय और किसे विभाव माना जाय, यह निर्णय करना कठिन है ऐसी स्थिति में तटस्थ द्रष्टा के लिए तो दोनों की ही क्रोधपूर्ण उक्तियाँ व चेष्टाएँ अनुभाव प्रतीत होंगी; पर यदि हमारा तादात्म्य उसमें से किसी एक से होता है और दूसरे से नहीं— या काव्य में कवि की दृष्टि एवं अनुभूति के अनुसार हमारा तादात्म्य किसी एक से हो जाता है तो वही आश्रय होगा एवं उसका विरोधी पात्र आलम्बन के रूप में स्वीकार्य होगा। राम-रावण-युद्ध में जब हमारा तादात्म्य राम के साथ होता है तो वहाँ रावण ही आलम्बन रूप में ग्राह्य होता है। अस्तु, यह बात प्रेम, घृणा, क्रोध, मैत्री आदि उन सभी भावों के प्रसंग में लागू होती है जिनमें दो पात्रों का भाव एक-दूसरे के भाव पर आश्रित हो, या जिनकी भावपूर्ण चेष्टाएँ एक-दूसरे को प्रभावित एवं उत्तेजित करती हो।

मध्यकालीन कवियों एवं आचार्यों ने सदा नायिका को आलम्बन-रूप में ही देखा है; उसकी भावनाओं को स्वयं उसी की दृष्टि से समझने-समझाने की चेष्टा बहुत कम की है; कदाचित् इसी स्थिति के कारण यह भ्रान्त धारणा प्रचलित हो गयी है कि नायिका की भावाभिव्यंजक चेष्टाओं को विभाव पक्ष में आलम्बन के अलंकारों में ही स्थान देना उचित है; अनुभावों में नहीं। किन्तु आज के युग में इस भ्रान्ति का निराकरण हो जाना चाहिए।

अस्तु, अनुभावों के रस-सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है—

● व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अनुभाव' शब्द का अर्थ है—जो भाव का अनुवर्ती है या भाव के पीछे या उसके अनुरूप उदित या प्रकट होता है।

● भरत ने प्रेक्षक की दृष्टि से 'अनुभाव' का सम्बन्ध 'अनुभव' से स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि पात्रों या अभिनेताओं की जिन चेष्टाओं से दर्शकों को भाव का अनुभव (प्रतीति या बोध) प्राप्त होता है, वे अनुभाव हैं।

● भरत-परवर्ती आचार्यों ने अनुभाव के कुछ अन्य लक्षणों पर प्रकाश डाला—(१) वे भावों के सूचक विकार (या शारीरिक मानसिक परिवर्तन) हैं। (२) वे विभिन्न भावों को बाहर व्यक्त करते हैं। (३) लोक-व्यवहार में इन्हें 'कार्य' कहा जाता है।

●अनुभाव मूलतः तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) वाचिक (२) आंगिक एवं (३) सात्त्विक।

● परवर्ती-युग के आचार्यों ने अनुभावों का नूतन वर्गीकरण करते हुए मन, बुद्धि, वाणी एवं गात्र के आधार पर उनके विभिन्न भेदोपभेद किये, जो अनुभाव के सामान्य रूप से सम्बद्ध न होकर केवल शृंगार रस की दृष्टि से हैं—अतः वे मान्य नहीं हैं।

● नायिका की प्रणय-सूचक चेष्टाओं को 'हाव' के विभिन्न भेदों में स्थान देते हुए, उन्हें विभाव में परिगणित किया जाता है जो ठीक नहीं—वस्तुतः वे अनुभाव ही हैं।

● अनेक भावों में दो व्यक्तियों की भावाभिव्यंजक चेष्टाएँ एक दूसरे के लिए भावोत्तेजक भी सिद्ध होती हैं; ऐसी स्थिति में जिस व्यक्ति के साथ हमारा तादात्म्य हो, उसकी चेष्टाओं को 'अनुभाव' मानना चाहिए।

● सात्त्विक भावों को आचार्य भरत ने एक ओर तो अनुभावों से पृथक भावों में परिगणित किया है तो दूसरी ओर उन्हें अनुभावों के एक विशिष्ट वर्ग के रूप में स्वीकार किया है; ऐसी स्थिति में यह विवादास्पद है कि उन्हें अनुभाव माना जाय या नहीं ?

● अनुभावों के भेदों में कुछ ने मानसिक एवं आहार्य (वेशभूषा से सम्बन्धित) को स्वीकृति दी है तो कुछ ने नहीं—अतः इन पर भी पुर्नविचार की अपेक्षा है।

उपर्युक्त विवादास्पद विषयों का समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व अनुभावों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार कर लिया जाय तो उचित होगा क्योंकि उस स्थिति में हम मनोविज्ञान के निष्कर्षों का भी उपयोग कर सकेंगे।

● अनुभाव : मनोवैज्ञानिक विवेचन—

आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी भावों के विवेचन-विश्लेषण में विभाव या उद्दीपक के साथ-साथ अनुभावों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। मैक्डूगल महोदय के अनुसार प्रत्येक प्रकार की भावानुभूति में किसी न किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन होता है जिसे 'संवेग की अभिव्यंजना' का नाम दिया जाता है।[१८] वस्तुतः 'सांवेगिक अभिव्यंजना' के अन्तर्गत विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने भाव-प्रेरित या भावोद्वेलनजन्य विभिन्न प्रकार की आंगिक चेष्टाओं का ही विवेचन किया है जिन्हें रस-सैद्धान्तिक शब्दावली में 'अनुभाव' कहा जाय तो अनुचित न होगा।

---

18. "That each kind of emotional experience is normally accompanied by bodily changes which are called the expressions of the emotion."

—An Outline of Psychology : Mcdougall ; page 317

सांवेगिक अभिव्यंजना (Emotional Expression) की व्याख्या करते हुए वुडवर्थ ने लिखा है—'जब कोई व्यक्ति अपने द्वारा अनुभूत भावों को व्यक्त करना चाहता है तो वह उन्हें या तो भाषा के माध्यम से अथवा अभिव्यंजनात्मक चेष्टाओं के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास कर सकता है। किन्तु इस प्रकार की यत्नज अभिव्यंजना के अतिरिक्त भी व्यवहार-पद्धति या चेष्टाओं के कुछ ऐसे अनैच्छिक एवं अकृत्रिम रूप होते हैं जिनके माध्यम से भावात्मक अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत स्पष्ट एवं यथार्थ रूप में व्यक्त होती हैं।[१९] इस प्रकार वुडवर्थ महोदय ने स्पष्ट ही संवेगात्मक अभिव्यक्तियों के दो प्रकार मान लिये हैं—(१) ऐच्छिक या यत्नज चेष्टाओं के रूप में अभिव्यक्ति। (२) अनैच्छिक एवं अकृत्रिम चेष्टाओं के रूप में अभिव्यक्ति। इसका अर्थ यह है कि भावोद्दीप्ति के अनन्तर व्यक्ति जान-बूझकर या सोच समझकर जो क्रिया-कलाप करता है, उन्हें भी इनके अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति किसी सुन्दरी पर मुग्ध होकर उसका पीछा करता है, या उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है; यहाँ उसके ये दोनों ही कार्य उसके रति भाव से ही प्रेरित हैं; अतः इन्हें भी 'ऐच्छिक' एवं 'यत्नज' कार्यों के रूप में भावाभिव्यंजक चेष्टाओं या कार्यों में स्थान दिया जाय तो अनुचित न होगा।

इन भावाभिव्यंजक चेष्टाओं का स्रोत एवं लक्ष्य क्या है—इस प्रश्न पर भी अनेक मनोवैज्ञानिकों ने गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए विभिन्न सिद्धान्त स्थापित किये हैं। डारविन महोदय के अनुसार तो इनका अस्तित्व मनुष्यों में ही नहीं पशु-पक्षियों तक में भी है तथा इनका सम्बन्ध पूर्व-मानव युग की उस अवस्था से है जबकि मनुष्य पशु की भाँति भाषा-विहीन था। उस समय वह अपनी विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं से ही दूसरों को डराने-धमकाने या उनसे प्यार करने का काम करता था तथा उस समय व्यावहारिक दृष्टि से भी इनका भारी उपयोग था। किन्तु अब उतना उपयोग न होते हुए भी पूर्व परंपरा के संस्कारों के कारण ही हम विभिन्न प्रकार की भावाभिव्यंजक चेष्टाएँ करते हैं।[२०]

जेम्स-लेंगे के सिद्धान्त के अनुसार तो जिन चेष्टाओं को हम भावाभिव्यंजक कहते हैं, वे वास्तव में भावाभिव्यंजक न होकर भाव की उत्तेजक या पोषक हैं; क्योंकि उनके कारण भाव उद्दीप्त होता है। उनके शब्दों में—"सामान्य लोक बुद्धि

---

19. 'A person who wishes to give expression to his feelings can, of course, attempt to describe them in language or, he may use expressive gestures. Apart from such intentional expression, there are involuntary forms of behaviour which reveal the emotional state more or less clearly and truthfuly.'
—Psychology : R. S. Woodworth & D. G. Marquis, page 348
20. Same; Page 349.

कहती है कि हम दु:ख के कारण रोते हैं, भय के कारण भागते हैं या क्रोधित होने के कारण आक्रमण करते हैं। किन्तु इससे अधिक तर्क-संगत कथन यह है कि हमें शोक इसलिए होता है क्योंकि हम रोते हैं; हमें भय इसलिए लगता है क्योंकि हम काँपते हैं; क्रोध इसलिए आता है क्योंकि हम आक्रमण करते हैं।'[२१]........जेम्स के विचार से किसी वस्तु के विचार से पहले शारीरिक क्रियाएं होती हैं और फिर भाव उत्पन्न होता है; अतः ये भाव की परवर्ती न होकर उसकी पूर्ववर्ती हैं। किन्तु उनका यह विचित्र सिद्धान्त अब भली-भाँति खंडित हो गया है। विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि हमारी विभिन्न भावात्मक चेष्टाएँ भाव की परवर्ती ही हैं, पूर्ववर्ती नहीं। डॉ० जदुनाथ सिन्हा के शब्दों में कहा जा सकता है—"अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाव अभिव्यक्तियों के पूर्ववर्ती होते हैं। भाव आन्तरिक अंगों और पेशियों के परिवर्तनों में प्रकट होते हैं जो आन्तरिक और पैशिक संवेदनाएँ उत्पन्न करते हैं। किन्तु आन्तरिक तथा पैशिक संवेदनाएँ भाव का निर्माण नहीं करतों, अपितु वे उन्हें तीव्र अवश्य करती हैं।........जेम्स की देन केवल यही है कि भाव की पुष्टि में आंगिक संवेदनाओं के योग पर उन्होंने अधिक बल देकर उनके महत्त्व को स्पष्ट किया"[२२] अस्तु, आंगिक संवेदनाएँ व चेष्टाएँ भाव की परवर्ती होती हुई भी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

भावाभिव्यंजक चेष्टाओं के सम्बन्ध में मनोविज्ञान के क्षेत्र में और भी कई सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें से यहाँ कतिपय उल्लेखनीय हैं। कैनन तथा बार्ड नामक दो विद्वानों ने यह स्थापित किया कि हमारे संवेगात्मक व्यवहार (या चेष्टाओं) और संवेगात्मक अनुभूतियों—इन दोनों की उत्पत्ति एक ही साथ स्वतंत्र रूप में होती है; यह उत्पत्ति हाइपोथैलेमस (Hypothalamus) के द्वारा होती है।[२३] जब हमारे सामने कोई भावोद्दीपक परिस्थिति आती है, तो सर्वप्रथम उसका सम्पर्क तत्सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रियाँ के ग्राहक से होता है जिससे उसमें स्नायु प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। यह स्नायु प्रवाह ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा बृहन्मस्तिष्कीय बल्क में पहुँचने के पहले हाइपोथैलेमस में पहुँचता है, जिससे वह क्रियाशील हो जाता है। हाइपोथैलेमस से स्नायु-प्रवाह एक ही साथ दो ओर चलता है, एक बृहन्मस्तिष्कीय बल्क की ओर दूसरा माँसपेशियों तथा ग्रन्थियों या ग्राहकों (Receptors) की ओर। जो स्नायु प्रवाह बृहन्मस्तिष्कीय बल्क में पहुँचते हैं उनसे संवेगात्मक अनुभूति होती है और जो ग्राहकों में पहुँचते हैं उनसे संवेगात्मक व्यवहारों (शारीरिक परिवर्तनों) की उत्पत्ति होती है।[२४] इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक

२१. 'मनोविज्ञान'; डॉ० जदुनाथ सिन्हा; पृ० सं० २५७;
२२. वही; पृ० सं० २६३
२३. 'सामान्य मनोविज्ञान' : रामबाबू गुप्त; पृ० सं० ४२१;
२४. वही

अनुभूति एवं संवेगात्मक चेष्टाएँ दोनों एक ही साथ स्वतंत्ररूप में हाइपोथैलेमस द्वारा उत्पन्न होती हैं। इसीलिए इस सिद्धान्त को हाइपोथैलेमस सिद्धान्त (Hypothalamic Theory) का नाम दिया गया है। यद्यपि यह सिद्धान्त भावानुभूति एवं भावाभिव्यंजक चेष्टाओं की आन्तरिक प्रक्रिया को स्पष्ट करने में योग देता है किन्तु इससे आंशिक सत्य पर ही प्रकाश पड़ता है। अन्य विद्वानों के अनुसार हाइपोथैलेमस के अतिरिक्त भी स्नायु-मंडल (Nervous System) के कुछ ऐसे अंग होते हैं जिनका सम्बन्ध सांवेगिक अभिव्यक्तियों से रहता है, जबकि कैनन-बार्ड ने सारा महत्त्व हाइपोथैलेमस की प्रक्रिया को ही दे दिया है।

इसी प्रकार लीपर (Leeper) द्वारा प्रतिपादित 'प्रेरणात्मक सिद्धान्त' (Motivational Theory) भी यहाँ उल्लेखनीय है।[२५] इसके अनुसार प्रत्येक संवेग का एक विशिष्ट लक्ष्य होता है जो कि प्राणी के संवेगात्मक व्यवहार को संचालित तथा निर्देशित करता है तथा संवेगात्मक अवस्था में प्राणी में जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं, वे उसे स्थिति-विशेष के अनुरूप व्यवस्थित या अनुकूलित (Adjustment) करने में सहायक सिद्ध होते हैं।[२६] इस प्रकार संवेगात्मक परिवर्तनों व चेष्टाओं का लक्ष्य व्यक्ति को परिस्थितियों से अभियोजित करने में सहायता प्रदान करना है। यह सिद्धान्त भी आंशिक रूप में मान्य है।

उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों के समन्वय के आधार पर एक नूतन सिद्धान्त भी स्थापित हुआ है, जिसे 'सक्रियकरण सिद्धान्त' (Activation theory) कहा जाता है। इसके अनुसार संवेगास्था में व्यक्ति का कोई अंग-विशेष ही नहीं अपितु सम्पूर्ण व्यक्तित्व सक्रिय रहता है; अतः उसे किसी एक ही अंग या उसकी प्रक्रिया से सम्बन्धित करना उचित नहीं।[२७] वस्तुतः मस्तिष्क तरंगों पर किये गये वैज्ञानिक अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि तीव्र भावोत्तेजना की अवस्था में व्यक्ति का कोई अंग कम और कोई अधिक—उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में उद्दीप्त या सक्रिय हो उठता है; तथा इसी सक्रियता को हम संवेगात्मक चेष्टाओं के रूप में ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार संवेगात्मक अभिव्यंजना एवं चेष्टाओं के बारे में विभिन्न सिद्धान्त स्थापित एवं खंडित हुए हैं, किन्तु अभी मनोवैज्ञानिक इनके सम्बन्ध में किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये हैं—अतः इस क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और खोज की आवश्यकता है।

भाविाभिव्यंजक चेष्टाओं का वर्गीकरण—भाव या संवेग की प्रेरणा से होने वाले विभिन्न शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों व चेष्टाओं की व्याख्या करते हुए

२५-२६. सामान्य मनोविज्ञान : रामबाबू गुप्त, पृ० सं० ४२४

२७. वही; पृ० सं० ४२४-५

मनोवैज्ञानिकों ने उन्हें अनेक वर्गों में विभक्त किया है। डॉ० एस० एस० माथुर ने सभी प्रकार के परिवर्तनों को मुख्यतः तीन वर्गों में प्रस्तुत किया है[२८]—(१) चेतना में परिवर्तन (२) बाह्य व्यवहार में परिवर्तन और (३) आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन। **चेतना सम्बन्धी परिवर्तनों** में मुख्यतः व्यक्ति की स्मृति का क्षीण पड़ जाना, तर्क-शक्ति का कुंठित हो जाना, संकल्प शक्ति का निर्बल हो जाना, क्रिया-कलापों पर बौद्धिक नियंत्रण का न रह पाना, मनोदशा के अनुसार ही वस्तु का एकांगी बोध प्राप्त करते हुए असंगत कार्य कर बैठना, अनैच्छिक क्रियाओं का प्रधान हो जाना—आदि का उल्लेख किया गया है[२९], जबकि दूसरे वर्ग में उन परिवर्तनों को लिया गया है जो **बाह्य व्यवहार** में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसके भी तीन उपभेद किये गये हैं—(क) मुखमंडलीय प्रकाशन या मुखाकृति में परिवर्तन; जैसे—मुँह बना लेना, भौंहों का चढ़ जाना, होठों का फड़कने लगना, चेहरे का रंग बदल जाना, सिर पर पसीना आने लगना आदि।[३०] (ख) वाणी में परिवर्तन; जैसे—रोना, चिल्लाना, हँसना, जोर से बोलना, कराहना, स्वर में उतार-चढ़ाव या गंभीरता; जल्दी-जल्दी बोलना या बहुत कम बोलना आदि। (ग) शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन; इनमें विभिन्न संवेगात्मक शारीरिक चेष्टाओं एवं मुद्राओं को लिया जाता है; जैसे—'जब हम क्रोधित होते हैं तो तन कर खड़े हो जाते हैं हाथों को इधर-उधर फेंकने लगते हैं। भयभीत होने लगते हैं तो दुबक कर बैठ जाते हैं। प्रसन्न होते हैं तो हमारा सीना तन जाता है और सिर ऊँचा उठ जाता है। दुःखी होने पर हमारा सारा शरीर झुक जाता है।[३१] किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सभी व्यक्ति एक-जैसी ही चेष्टाएँ नहीं करते। एक व्यक्ति भयभीत होकर भागता है तो दूसरा किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ जाता है। यह अन्तर निश्चय ही व्यक्ति की मानसिक एवं चारित्रिक प्रवृत्तियों के अनुसार होता है। इसी प्रकार विभिन्न स्थानों, देशों, जातियों एवं संस्कृतियों में भी संवेगात्मक अभिव्यक्ति के बाह्य रूपों या मुद्राओं में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है; जैसे कहीं लोग भ्रातृत्व भाव के कारण गले मिलते हैं, कहीं हाथ मिलाते हैं तो कहीं चुम्बन लेते हैं। अतः बाह्य मुद्राओं में देश-काल एवं संस्कृति के अनुसार भी अन्तर संभव है।

तीसरे वर्ग में **आन्तरिक क्रियाओं के परिवर्तन** को लिया जाता है। इनका अध्ययन व निरीक्षण बाह्य रूप में संभव नहीं, इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के यंत्रों—न्यूमोग्राफ, फिग्मोमानोमीटर, प्लीथस्मोग्राफ, इलेक्ट्रोकार्डियाग्राफ, साइकोगेलवानो मीटर आदि—की सहायता से इनका ज्ञान प्राप्त किया है। इस वर्ग

---

२८. सामान्य मनोविज्ञान ; डॉ० एस० एस० माथुर ; पृ० स० १६६

२९. वही, पृ० स० १६७

३०. वही ; पृ० स० १६७

३१. वही, पृ० स० १६८

के अन्तर्गत मुख्यत: इन परिवर्तनों को लिया जाता है[३२]–(१) साँस की गति में परिवर्तन (२) हृदय की गति में परिवर्तन (३) नाड़ी की गति में परिवर्तन (४) रक्त-संचार में परिवर्तन (५) रक्तचाप में परिवर्तन (६) रक्त के रासायनिक तत्त्वों में परिवर्तन (७) पाचनक्रिया में परिवर्तन (८) त्वक-प्रतिक्रिया में परिवर्तन। (९) ग्रंथियों की क्रियाओं में परिवर्तन। इन परिवर्तनों के कारण ही व्यक्ति का चंचल या निष्क्रिय हो जाना साँस की गति का तेज या मंद हो जाना, हृदय की गति का धीमा पड़ जाना, भूख का मंद हो जाना या न लगना, रोंगटे खड़े हो जाना, शरीर में रोमांच या सिहरन उत्पन्न होना, पसीना आना, अश्रु-मोचन होना—आदि प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

अस्तु, मनोविज्ञान के अनुसार संवेगात्मक उद्वेलन के कारण न केवल बाह्य रूप में गोचर होने वाले परिवर्तन होते हैं, अपितु आन्तरिक रूप में भी शरीर के प्राय; सभी संस्थानों में इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिन्हें यंत्रों की सहायता के बिना जानना या समझना कठिन है।

लोक-व्यवहार एवं कला के क्षेत्र में संवेगात्मक अभिव्यंजना का कितना महत्त्व है; इस प्रश्न पर विचार करते हुए वुडवर्थ महोदय ने स्पष्ट किया है कि सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ हम अपनी अनेक संवेगात्मक चेष्टाओं को नियंत्रित करना सीखते जाते हैं, क्योंकि अनेक अनुभावों का उन्मुक्त प्रदर्शन सभ्य समाज में ठीक नहीं समझा जाता; इसीलिए एक प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा एक बालक की संवेगात्मक चेष्टाएँ अधिक सरल, स्पष्ट एवं सहज होंगी। किन्तु इसके विपरीत कला और अभिनय के क्षेत्र में संवेगात्मक चेष्टाओं का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है क्योंकि उसमें इनके माध्यम से ही भावों का प्रदर्शन या बोध प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुत: अभिनय कला में तो चेष्टाओं, मुद्राओं, स्वर, वाणी, नाद आदि के माध्यम से ही बहुत-कुछ व्यक्त किया जाता है; अत: वहाँ इन्हें 'भावों की भाषा' भी कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।[३३] वस्तुत: कलाकार की सफलता ही संवेगात्मक अभिव्यक्तियों के प्रस्तुतीकरण की सफलता में निहित है—हमारे विचार में यह बात न केवल अभिनय-कला पर अपितु अन्य कलाओं पर भी लागू होती हैं, यह दूसरी बात है कि

---

३२. सामान्य मनोविज्ञान : डॉ० एस० एस० माथुर ; पृ० स० १७०

33. "There is a language of the emotions, composed of gestures and postures, of exclamations and inflexions. and tones of the voices and of facial expressions. ....Actors appropriate it to a large extent.......the result is that this language of the emotions is much more expressive than the average adults facial and vocal behaviour during emotion."

—Psychology : Woodworth ; page 351

उनमें इनके प्रस्तुतीकरण का माध्यम अभिनय न होकर शब्द, रेखा, ध्वनि आदि कोई और हो। आचार्य भारत ने अपने नाट्य-शास्त्र में कदाचित् इसलिए इनका विवेचन विश्लेषण अत्यन्त विस्तार से किया है।

अन्त में हम यहाँ अनुभावों या भावाभिव्यंजक चेष्टाओं के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से उपलब्ध-निष्कर्षों को सूत्र-रूप में प्रस्तुत करते हैं—

● मनोविज्ञान के अनुसार भावों के अध्ययन में भावाभिव्यंजक चेष्टाओं एवं परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामान्य रूप में इन्हें 'सांवेगिक अभिव्यंजना (Emotional expression) कहा जाता है।

● इन सांवेगिक अभिव्यंजना-प्रकारों के माध्यम से एक ओर तो व्यक्ति भावों को सूचित या व्यक्त करता है तो दूसरी ओर अन्य लोग इनके द्वारा भावों का बोध भी प्राप्त करते हैं।

● कुछ सांवेगिक अभिव्यंजनाएँ अकृत्रिम एवं सहज होती हैं तो कुछ ऐच्छिक या यत्नज।

● भावाभिव्यंजक चेष्टाओं के स्रोत एवं प्रयोजन के बारे में मनोविज्ञान में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं; यथा—

(क) डारविन के मतानुसार पूर्व मानव-युग में प्राणी भाषा के स्थान पर इनसे कार्य चलाता था, उसी के परम्परागत संस्कार के रूप में आज भी मनुष्य इनका प्रयोग करता है।

(ख) जेम्स एवं लेंगे नामक विद्वानों का सिद्धान्त है कि ये चेष्टाएँ भाव-प्रेरित नहीं होती अपितु इन चेष्टाओं के कारण भाव उद्दीप्त या अनुभूत होता है। पर यह सिद्धान्त खंडित हो चुका है।

(ग) कैनन तथा बार्ड के सिद्धान्त के अनुसार भावानुभूति एवं भावाभिव्यंजक चेष्टाएँ दोनों एक-दूसरे से स्वतंत्र या पृथक हैं तथा वे एक साथ ही हाइपोथैलेमस (Hypothalamus) के माध्यम से उद्दीप्त होती हैं। यह सिद्धान्त आंशिक सत्य को प्रस्तुत करता है।

(घ) लीपर के सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अभिव्यक्तियों या चेष्टाओं का लक्ष्य व्यक्ति को परिस्थिति के अनुकूल आचरण के लिए प्रेरित करता है।

(ङ) सक्रियकरण सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अभिव्यक्तियों का सम्बन्ध व्यक्ति के किसी एक अंग से नहीं अपितु उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सक्रियता से है।

● भावाभिव्यंजक चेष्टाओं का वर्गीकरण मुख्यतः तीन वर्गों में किया गया है—(१) चेतना सम्बन्धी परिवर्तन। (२) बाह्य व्यवहार सम्बन्धी चेष्टाएँ एवं (३) आन्तरिक परिवर्तन।

● **अनुभावों का तुलनात्मक अध्ययन—**

अनुभावों के सम्बन्ध में पूर्वोक्त रस-सैद्धान्तिक एवं मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रकार के निष्कर्षों में परस्पर गहरा साम्य है; रस-सैद्धान्तिक आचार्यों एवं मनोवैज्ञानिक शोध-कर्त्ताओं—दोनों ने ही अनुभावों या भावों की आंगिक अभिव्यंजना को भावों के अध्ययन, विवेचन एवं विश्लेषण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। साथ ही दोनों के द्वारा निरूपित लक्षणों में गहरी समानता मिलती है; दोनों ही वर्गों के विद्वानों ने अनुभावों को भाव के परवर्ती, भाव के सूचक एवं भावाभिव्यक्ति के प्रकृत माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। मनोविज्ञान के कुछ विद्वानों को—जिनमें जेम्स एवं लेंगे का नाम उल्लेखनीय है, यह भ्रान्ति अवश्य हुई कि अनुभाव भाव के परवर्ती या अनुवर्ती न होकर उसके पूर्ववर्ती है, किन्तु अब इस भ्रान्ति का निराकरण भली-भाँति हो गया है; अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुभाव भाव के व्यक्त रूप के सूचक हैं। कैनन-बार्ड का हाइपोथैलेमस-सिद्धान्त दोनों को स्वतन्त्र मानता है; किन्तु इस सिद्धान्त में सत्य इतना ही है कि जिस हाइपोथैलेमस की प्रक्रिया से भावानुभूति होती है, तत्क्षण उसी की प्रक्रिया से आंगिक चेष्टाएँ होती हैं; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या बिना आंगिक अभिव्यक्ति के भावोद्दीपन या बिना भावोद्दीपन के आंगिक परिवर्तन संभव है ? हमारे विचार में ये दोनों प्रक्रियाएँ इतनी सूक्ष्म एवं तात्कालिक हैं कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध को भले ही यंत्रों के माध्यम से अभी नहीं देखा जा सका हो, किन्तु लोक-व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध है, अर्थात् प्रेम, क्रोध, घृणा, आश्चर्य, भय आदि की अभिव्यक्ति में की जाने वाली विभिन्न चेष्टाओं में परस्पर इतना अन्तर है कि उन चेष्टाओं को देखकर ही सम्बन्धित भाव का बोध हो जाता है। अतः कैनन-बार्ड के सिद्धान्त को अभी अपूर्ण ही समझा जाता है जो ठीक ही है।

भावाभिव्यंजक चेष्टाओं के स्रोत एवं प्रयोजन के बारे में रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने विचार नहीं किया है, पर सामान्यतः लौकिक दृष्टि से इन्हें कार्य कहा गया है जो इस बात का सूचक है कि हमारी विभिन्न भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति अन्ततः कार्य-रूप परिणत होती है। ध्यान रहे रस-सैद्धान्तिक अनुभावों का सम्बन्ध केवल संचारी भावों या मनोविज्ञान के 'संवेगों' (Emotions) से ही नहीं है, अपितु स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों—जिन्हें मनोविज्ञान में सहजप्रवृत्ति, मनोवृत्ति, भावना आदि रूपों में स्वीकार किया जाता है)—से है; अतः संवेगों या संचारी भावों की अभिव्यक्ति जहाँ क्षणिक चेष्टाओं व शारीरिक-मानसिक परिवर्तनों के रूप होती है, वहाँ स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति दीर्घकालीन क्रिया-कलापों के रूप में होती है; जिन्हें लौकिक क्षेत्र में 'कार्य' तथा मनोविज्ञान में 'ऐच्छिक कर्म' कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जायसी के 'पद्मावत' में रत्नसेन प्रणय स्थायी भाव की प्रेरणा से

घर त्याग कर नदी और पहाड़ों को पार करता हुआ, अनेक कष्ट सहन करता हुआ, विभिन्न प्रयत्नों से पद्मावती को प्राप्त करने का कार्य सम्पादित करता है—इस प्रसंग में रत्नसेन ने जो भी छोटे-बड़े यत्न किये एवं कष्ट उठाये, वे सब उसके प्रणय-भाव से ही प्रेरित एवं उसी की दृढ़ता एवं सबलता के द्योतक हैं जिनसे पाठक या दर्शक को भी उसकी भावना की गंभीरता का परिचय मिलता है; ऐसी स्थिति में क्या इन सब चेष्टाओं, प्रयत्नों एवं क्रिया-कलापों को उसके प्रणय भाव के व्यंजक या सूचक अनुभावों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ? इसी प्रकार राम सीता की प्राप्ति के लिए समुद्र पर पुल बाँधने से लेकर रावण का संहार कर देने तक भाँति-भाँति के जो कार्य संपादित करते हैं, उन सबके मूल में उनकी सीता के प्रति प्रणय भावना या रघुकुल की मर्यादा बचाने की कर्त्तव्य-भावना अथवा आततायी को दंड देने का उत्साह अथवा पत्नी से वंचित करने वाले शत्रु से प्रतिशोध की भावना—इनमें किसी न किसी भावना या स्थायी भाव की सबल प्रेरणा एवं अभिव्यक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ हमने भावनाओं के अनेक भेदों का उल्लेख इसलिये किया है कि कवि अपने दृष्टिकोण से राम-रावण-युद्ध की व्याख्या किसी भी रूप में कर सकता है; कोई राम को कर्त्तव्य भाव से प्रेरित मान सकता है तो कोई उनके प्रेरणा-स्रोत के रूप में प्रणय भाव, उत्साह भाव या द्वेषभाव को चित्रित कर सकता है। अस्तु, कवि उन्हें कोई भी रूप दे किन्तु उनके विभिन्न प्रयत्नों, क्रिया-कलापों या कार्यों के मूल में किसी न किसी स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति की प्रेरणा उसे अवश्य दिखानी होगी—अन्यथा सारा आयोजन यांत्रिक एवं निरर्थक प्रतीत होगा। यह बात न केवल रत्नसेन एवं राम के प्रसंग में लागू होती है, अपितु प्रत्येक काव्य, नाटक, उपन्यास आदि के पात्रों तथा लौकिक क्षेत्र में जन-सामान्य पर भी लागू होती है। यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के मूल में किसी न किसी स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति की न्यूनाधिक प्रेरणा अवश्य परिलक्षित होगी; इसी प्रेरणा-शक्ति को मनोविज्ञान में अलग से प्रेरणा या अनुप्रेरणा (Motivation) को संज्ञा दी गयी है। डॉ० एस०एस० माथुर के अनुसार मनोविज्ञान में अनुप्रेरणा का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि अनुप्रेरणाओं को समझे बिना मानव-व्यवहार की तर्क-संगत व्याख्या करना सम्भव नहीं। एक व्यक्ति किसी भी समय कोई विशेष प्रकार का व्यवहार करता है, उसका यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कारण खोजना चाहें तो हमारे लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हो जायगा कि उसने किस अनुप्रेरणा के वशीभूत होकर वैसा व्यवहार किया।[३४] इसीलिए मनोवैज्ञानिकों ने अनुप्रेरणा की परिभाषा करते हुए लिखा है—'प्राणी के व्यवहार को परिचालित करने वाली जन्मजात एवं अर्जित वृत्तियों

३४. सामान्य मनोविज्ञान: डॉ० एस० एस० माथुर; पृ० १३३

को प्रेरक कहते हैं।[३५] इसके स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए रामबाबू गुप्त ने लिखा है—'प्रेरक (Motive) वह अन्तरवृत्ति है जो कि प्राणी में क्रिया (कार्य ?) को उत्पन्न करती है। यह इस क्रिया को तब तक जारी रखता है जब तक कि उसके उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय।'[३६] इन प्रेरकों या अनुप्रेरणाओं में मनुष्य की प्रायः सभी सहज प्रवृत्तियों, भावनाओं, चारित्रिक प्रवृत्तियों, वैयक्तिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं—आदि उन सभी प्रवृत्तियों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें हम सामूहिक रूप में स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों का नाम दे चुके हैं।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार हमारे संचरणशील (संचारी) क्षणिक संवेगों की अभिव्यक्ति विभिन्न अल्पकालीन शारीरिक परिवर्तनों व चेष्टाओं में होती है, उसी प्रकार हमारी दीर्घकालीन स्थिर मनोवृत्तियों या स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति विभिन्न क्रिया-कलापों, कार्यों एवं व्यवहारों के रूप में होती है। इनमें अनुभावों के सभी लक्षण मिलते हैं तथा आचार्यों ने इन्हें 'कार्य' के रूप में तथा वुडवर्थ आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'ऐच्छिक कर्म' के रूप में अनुभावों के अन्तर्गत स्थान दिया है—अतः हमारे विचार में अनुभावों का मूल प्रयोजन विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति की उद्दीप्त प्रवृत्तियों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति एवं संतुष्टि में योग देना भी मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। साथ ही हमारा यह भी प्रस्ताव है कि कला एवं साहित्य की विषय वस्तु का रस सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्लेषण करते समय आश्रय के विभिन्न प्रयत्नों, क्रिया-कलापों व कार्य-व्यवहारों को भी स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति के 'अनुभाव' के रूप में स्वीकार किया जाय।

उपर्युक्त स्थिति में अनुभावों के दो प्रमुख वर्ग हो जायेंगे—एक में मूल स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित 'ऐच्छिक कर्मों' को स्थान दिया जायगा जब कि दूसरे वर्ग में संचारी भाव या संवेग से सम्बन्धित क्षणिक या अल्पकालीन चेष्टाओं को रखा जा सकता है। वुडवर्थ ने भी प्रथम प्रकार की चेष्टाओं को 'यत्नज' एवं 'ऐच्छिक' विशेषण से तथा द्वितीय प्रकार को 'अयत्नज' या 'सहज' के विशेषण से भूषित किया है, जिससे हमारे वर्गीकरण की भी पुष्टि होती है।

संचारी भावों से सम्बन्धित सहज चेष्टाओं एवं परिवर्तनों को रस-सैद्धान्तिक आचार्यों ने क्रमशः आंगिक, वाचिक, मानसिक, सात्त्विक, आहार्य आदि वर्गों में वर्गीकृत किया गया है जबकि मनोवैज्ञानिकों ने इनके मुख्यतः तीन ही प्रकार माने हैं— (१) चेतना सम्बन्धी परिवर्तन,। (२) बाह्य व्यवहार सम्बन्धी परिवर्तन एवं (३) आन्तरिक परिवर्तन। किन्तु इन्हीं तीनों प्रकार के परिवर्तनों के अन्तर्गत जिन क्रियाओं एवं तत्त्वों की विवेचना की गयी है, उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि

---

३५. सामान्य मनोविज्ञान: रामबाबू गुप्त पृ० १५७
३६. सामान्य मनोविज्ञान : रामबाबू गुप्त, पृ० १५७

इनके अन्तर्गत रस-सैद्धान्तिक भेदों में से 'आहार्य' (वेशभूषा) को छोड़कर शेष सभी समाविष्ट हो जाते हैं; यथा—चेतना सम्बन्धी परिवर्तनों में स्मृति का कुंठित होना, एकांगी बोध, भ्रम आदि मानसिक क्रियाओं को स्थान दिया गया है जो रस-सैद्धान्तिक आचार्यों के मांनसिक अनुभावों के द्योतक हैं। इसी प्रकार द्वितीय वर्ग में मुख मंडलीय प्रकाशन, शारीरिक मुद्राओं में परिवर्तन, वाणी में होने वाले परिवर्तन आदि को लिया गया है जिनमें सभी आंगिक एवं वाचिक अनुभाव आ जाते हैं। तीसरे वर्ग में श्वास, रक्तचाप, स्वेद, अश्रु आदि से सम्बन्धित नौ प्रकार के आन्तरिक परिवर्तनों का समावेश किया गया है। जो सात्त्विक अनुभावों के अनुरूप हैं। सात्त्विक अनुभावों में जहाँ अश्रु, स्वेद, कम्प, स्तम्भ आदि प्रकट लक्षणों को ही ध्यान में रखा गया है, वहाँ मनोवैज्ञानिकों ने लक्षणों के मूल में कार्य करने वाले विभिन्न संस्थानों की व्याख्या शरीर-विज्ञान की शब्दावली में प्रस्तुत की है। अस्तु, सामान्य रूप में आंगिक, वाचिक, मानसिक एवं सात्त्विक अनुभाव उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं गम्भीरता के द्योतक हैं जो क्रमशः मनोविज्ञान के शारीरिक, वाचिक, चेतना सम्बन्धी एवं आन्तरिक परिवर्तनों के अनुरूप हैं। अतः रस-सैद्धान्तिक आचार्यों का अनुभाव-विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी संगत सिद्ध होता है; इतना अवश्य है कि मध्यवर्ती युग के आचार्यों ने केवल शृंगार-रस की दृष्टि से अनुभाव के भेदोपभेदों में जो विस्तार किया है, उसे सामान्य रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती—प्रणय भावना के विशेष संदर्भ में भले ही वे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हों।

लोक-व्यवहार, कला, साहित्य एवं अभिनय में भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अनुभावों का महत्त्व अत्यधिक है—इस तथ्य को भी दोनों पक्षों ने समान रूप में स्वीकार किया है।

● निष्कर्ष—

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रस-सैद्धान्तिक आचार्यों का अनुभाव विवेचन रस के अन्य अवयवों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक संगत एवं वैज्ञानिक है। इतना अवश्य है कि यदि अनुभावों के परम्परागत क्षेत्र से मध्यकालीन आचार्यों द्वारा किये गये अनावश्यक भेदोपभेदों को त्याग कर, उसमें आंगिक, वाचिक सात्त्विक आदि विकारों के अतिरिक्त विभिन्न स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित क्रिया-कलापों, कार्यों एवं व्यवहार-भेदों को भी स्थान दे दिया जाय तो इससे निश्चय ही रस-सिद्धान्त के स्वरूप को अधिक व्यापकता प्राप्त हो सकेगी। वस्तुतः काव्य, नाटक; उपन्यास आदि में पात्रों के द्वारा सम्पादित होने वाले विभिन्न क्रिया-कलापों का स्थायी भाव एवं रस से सम्बन्ध स्थापित किये बिना न तो उनकी ही मीमांसा हो पाती है और न ही इससे रस-सैद्धान्तिक व्याख्या में परिपूर्णता आ पाती है—अतः दोनों ही दृष्टियों से यह आवश्यक है कि साहित्य में चित्रित क्रिया-कलापों एवं कार्यों को भी अनुभाव के रूप में स्थायी भाव एवं रस से सम्बन्धित किया जाय जोकि रस-सैद्धान्तिक आचार्यों के भी मंतव्य के प्रतिकूल नहीं है। ●

पंचम खंड

रस-सिद्धान्त : संशोधन और पुनर्निर्माण

१

रस-सिद्धान्त का पुनर्निर्माण : क्यों और कैसे ?

सृष्टि के विकास का यह नियम है कि परिवर्तित परिस्थितियों में प्रकृत शक्ति या परम्परागत वस्तु अपना स्वरूप परिवर्तित कर लेती है ; यदि वह ऐसा नहीं करती तो नष्ट होकर काल के गाल में समा जाती है । परिस्थिति और वातावरण के थपेड़ों को सहन करने के लिए प्रकृति और शक्ति को अपनी स्थिति एवं गति में ऐसा परिवर्तन करना पड़ता है जिससे कि वह परिस्थितियों की प्रतिकूलता एवं वातावरण के विरोध का सामना करने में सक्षम हो सके ; इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह दो प्रकार के प्रयास करती है—एक तो अपनी आन्तरिक शक्ति को जाग्रत, उद्वेलित एवं व्यक्त करके अपनी क्षमताओं का विस्तार करती है; दूसरे आन्तरिक शक्ति की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अपने बाह्य द्रव्य एवं रूप में भी इस प्रकार के परिवर्तन करती है जिससे कि वह अपनी बढ़ी हुई क्षमताओं को सँभाल सके, उसे सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित कर सके; हो सकता है ऐसा करने के प्रयास में जिस अंग या पक्ष को वह पहले बहुत महत्त्व देती थी, उसी को अब गौण एवं उपेक्षणीय कर दे और यदि यह स्थिति दीर्घकाल तक रही तो यह भी संभव है कि उपेक्षणीय एवं अनुपयोगी अंग सदा के लिए उससे वियुक्त हो जाय । वन-मानुष से आदमी बनने की प्रक्रिया भी इसी प्रकार के प्रयास की कहानी है ; जिसे हम वैज्ञानिक शब्दावली में 'विकास-क्रम का सिद्धान्त' कहते हैं ।

भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान—इन सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक अनुशीलन से प्रमाणित हो चुका है कि सृष्टि में सभी तत्त्व परिवर्तनशील हैं ; पर साथ ही कोई भी तत्त्व या तत्त्वों का समूह—द्रव्य—अपने-आप में सर्वथा नूतन या पूर्ववर्ती तत्त्व से सर्वथा निरपेक्ष भी नहीं है । विज्ञान का यह यूनिवर्सल सिद्धान्त है कि

सृष्टि में कभी भी सर्वथा नूतन द्रव्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता—जिसे हम नूतन कहते हैं, वह वस्तुतः नूतन न होकर किसी न किसी पुरातन तत्त्व का ही संशोधित, परिवर्तित या विकसित रूप होता है। उदाहरण के लिए जिसे हम 'नयी कुर्सी' कहते हैं, वह वस्तुतः किसी पुरानी लकड़ी का ही नया 'रूप मात्र' होता है ; और वह पुरानी लकड़ी भी किसी पुराने पेड़ की शाखा मात्र तथा वह पुराना पेड़ किसी पुराने बीज का स्फुट एवं विकसित रूप मात्र है। अस्तु, शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टि का अर्थ ही है—विभिन्न तत्त्वों का एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन। जिसे हम नूतन सृष्टि कहते हैं, वह विज्ञान की शब्दावली में 'रूप-परिवर्तन' या 'रूपान्तरण' मात्र है ; तथा साथ ही यह भी निश्चित है कि प्रत्येक रूप प्रत्येक स्थिति में अन्ततः अस्थायी, अस्थिर, परिवर्तनशील एवं नाशवान है। कदाचित् इसी सत्य को हृदयंगम करते हुए हमारे दार्शनिकों ने सृष्टि या जगत् को मिथ्या घोषित करते हुए उसे 'रूपात्मक प्रतीति' या 'मायाजाल' मात्र बताया था।

उपर्युक्त निष्कर्ष केवल भौतिक पदार्थों पर ही नहीं, जैविक एवं मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के भी प्रत्येक अवयव या तत्त्व पर लागू होता है। साहित्य और साहित्य-शास्त्र भी उसका अपवाद नहीं है। प्रत्येक काव्य-धारा एवं चिन्तन-परम्परा अपनी अन्तर्निहित शक्ति के अनुसार वातावरण और परिस्थितियों के द्वन्द्व से प्रेरित एवं उद्दीप्त होकर आगे बढ़ती है या विकसित होती है, किन्तु जब वह इस द्वन्द्व का सामना करने में अक्षम होकर उससे विरत हो जाती है तो वह स्थिर, जड़ एवं रूढ़ स्वरूप को प्राप्त करके अतीत की वस्तु बन जाती है।

प्रत्येक शास्त्र एवं प्रत्येक सिद्धान्त का भाग्य भी इसी तथ्य में निहित है कि परिस्थितियों की प्रतिकूलता से निपटने या ट्वायनबी के शब्दों में 'नयी चुनौतियों का सामना करने' में वह कहाँ तक सक्षम सिद्ध होता है? अवश्य ही उसकी यह क्षमता उसकी अन्तर्निहित शक्ति की मात्रा पर निर्भर होती है, क्योंकि वह अपनी इस अप्रयुक्त शक्ति को ही आवश्यकतानुसार क्षमता या सक्रिय शक्ति में परिवर्तित करता है, किन्तु जिसके पास शक्ति का भंडार ही सीमित है, या जिसकी आधारभूत शक्ति ही अल्प है—वह चाहे तो भी अपेक्षित क्रियात्मक क्षमता के रूप के विकास में समर्थ नहीं हो पाता। यही कारण है कि जिस व्यक्ति, समाज, संस्कृति, साहित्य या शास्त्र की सम्पूर्ण शक्ति का परिवर्तन, विकास या अभिव्यंजन क्षमताओं में हो चुकता है तो वह गतिशून्यता, निष्क्रियता एवं जड़ता की स्थिति को प्राप्त करके अपना जीवन-काल समाप्त कर लेता है ; वैज्ञानिक दृष्टि से इसे हम 'विकास की एक आवृत्ति को पूर्ण कर लेना' कह सकते हैं ; क्योंकि जिस प्रकार जगत् में कभी भी किसी नये द्रव्य का सर्जन नहीं होता, उसी प्रकार उसका समूल नाश भी कभी नहीं होता।

अब यदि हम उपर्युक्त दृष्टिकोण से भारतीय साहित्य-शास्त्र पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उसमें विभिन्न सिद्धान्त स्थापित हुए हैं, किन्तु वे अपनी

शक्ति के अनुसार ही टिक पाये। रस-सिद्धान्त सबसे पुराना होता हुआ भी आज जीवित है जबकि अलंकार और ध्वनि अपेक्षाकृत बाद में आकर भी आधुनिक काल के पूर्व तक ही बहु प्रचलित एवं बहुमान्य रहे। दूसरी ओर इनसे भी न्यून शक्ति वाले सिद्धान्त—रीति, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि अपने जन्म के कुछ समय बाद ही काल-कवलित हो गये। यद्यपि इस बात के अनेक अपवाद भी खोजे जा सकते हैं, फिर भी सामान्यतः विभिन्न सिद्धान्तों का यह जीवन-काल (प्रचलन-काल) एक सीमा तक उनकी आन्तरिक शक्ति का द्योतक है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रस सिद्धान्त की जीवन-शक्ति का एक प्रमाण यह भी है कि हर नये युग में यह उसकी आवश्यकतानुसार विकासोन्मुख या परिवर्तनशील रहा। यह ठीक है कि सर्वप्रथम इसका प्रतिपादन नाटक की दृष्टि से हुआ था, किन्तु परवर्ती युग में जब वह काव्य से संयुक्त हुआ तो इसने उन तत्त्वों को ग्रहण कर लिया जो काव्यत्व की दृष्टि से अपेक्षित थे। भट्टनायक द्वारा, अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व शक्तियों का आविष्कार एवं दोषाभाव तथा गुण-अलंकार के संयोजन से काव्य-वस्तु के भावन के सिद्धान्त की स्थापना नव परिवर्तित स्थितियों की माँग के अनुरूप ही थी। नाटक में अभिनय के कारण उसके विभावादि प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं, जबकि काव्य में उनका चित्र या बिम्ब-ग्रहण केवल अभिधा के द्वारा संभव नहीं। दूसरे, भट्टनायक के समय तक भामह, दंडी, वामन, रूद्रट जैसे आचार्यों द्वारा काव्य-क्षेत्र में अलंकार, रीति या गुण-दोष सम्बन्धी सिद्धान्त भली-भाँति प्रतिष्ठित हो चुके थे ; तीसरे, उस समय के साहित्य में भी अलंकरण की प्रवृत्ति का प्राधान्य था—प्रमाण के लिए, बाण-भट्ट की 'कादम्बरी' या 'हर्ष-चरित', दंडी के 'दश कुमार चरित' आदि को देखा जा सकता है—अतः काव्य-क्षेत्र में रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक था कि अभिनय की प्रक्रिया के समकक्ष शब्द-शक्ति की प्रक्रियाओं को तथा भावन के साधन के रूप में दोषाभाव एवं गुणालंकार के योग को स्वीकार किया जाता। भट्टनायक द्वारा इसी लक्ष्य की पूर्ति सफलतापूर्वक हुई।

अभिनवगुप्त ने एक अन्य दृष्टिकोण से रस-सिद्धान्त के स्वरूप का विकास किया—उनसे पूर्व ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हो जाने के कारण तथा काव्य-चिन्तना के प्रौढ़ स्वरूप प्राप्त कर लेने के कारण काव्य में अर्थ-तत्त्व की महत्ता बढ़ती जा रही थी। अमरु, विल्हण, भर्तृहरि जैसे मुक्तककार यह सिद्ध कर चुके थे कि भाव के विभिन्न अंगों—आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि—के प्रस्तुतीकरण के बिना भी काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न किया जा सकता है ; फिर 'नीति-शतक' जैसे ग्रन्थों में तो भाव-विशेष का चित्रण न होकर तत्त्व-विशेष या विशिष्ट विचार का ही प्रतिपादन ऐसे ढंग से किया गया था कि वहाँ आलम्बन-उद्दीपन खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होते। वस्तुतः मुक्तकों एवं नीति-काव्यों में कवि का लक्ष्य भाव का चित्रण करना न होकर अर्थ (तत्त्व या विचार) को ही संवेद्य बनाने

का रहता था, तथा सहृदय पाठकों एवं रसिक समाज ने ऐसे मुक्तकों एवं नीति-ग्रन्थों का आस्वादन करके यह प्रमाणित कर दिया था कि काव्यत्व की दृष्टि से इनमें कोई न्यूनता नहीं हैं—इनसे भी रसानुभूति प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, कुछ लोगों ने तो अमरु के एक-एक मुक्तक पर सौ-सौ प्रबन्ध काव्यों तक को न्यौछावर कर देने की भी बात कही—जो कदाचित् अतिशयोक्ति मात्र थी ; पर इससे मुक्तकों की लोकप्रियता अवश्य ध्वनित होती है।

इसके अतिरिक्त स्वयं अभिनव गुप्त दार्शनिक थे, दर्शन में अर्थ-तत्त्व ही प्रमुख रहता है और यदि दर्शन के तत्त्वों को जन-साधारण तक पहुँचाना है तो उन्हें रसात्मक या काव्यात्मक रूप देना होगा—इस स्थिति से भी वे भली-भाँति परिचित थे। अस्तु, इन सब स्थितियों एवं परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने रस-सिद्धान्त को एक सर्वथा नूतन दिशा दी—एक तो उन्होंने विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति की बात को गौण करते हुए 'काव्यार्थ के भावन' को ही रस घोषित किया जो निश्चय ही 'अर्थ' या 'विचार' तत्त्व की प्रमुखता का सूचक है। दूसरे, उन्होंने **'काव्येऽपि गुणालंकार सौन्दर्यातिशयकृतं'** की बात को स्वीकार करते हुए काव्यगत सौन्दर्य के साधन-रूप में गुण और अलंकार को मान्यता दी ; तीसरे उन्होंने रस की अभिव्यक्ति एवं व्यजना पर विशेष बल देकर ध्वनि सिद्धान्त के साथ सामंजस्य स्थापित किया और चौथे, शान्तरस के महत्त्व को स्थापित करके ऐसी काव्य-रचना का मार्ग प्रशस्त किया जो दार्शनिक तत्त्वों से समन्वित हो या जिसमें दार्शनिक तत्त्वों की अनुभूति को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया हो। आचार्य अभिनवगुप्त का यह चतुर्मुखी प्रयास रस-सिद्धान्त को एक ऐसा रूप प्रदान कर देता है कि जिससे वह काव्यगत बौद्धिकता, चमत्कार, शैली के सौन्दर्य एवं अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य को भी मूल्य के रूप में स्वीकार कर सके।

दुर्भाग्य से अभिनवगुप्त के कुछ समय बाद ही राष्ट्र की परिस्थितियों में ऐसा परिवर्तन हुआ जिससे हमारे चिन्तकों को शान्तिपूर्ण चिन्तन के स्थान पर आक्रमण-कारियों के आघात से उत्पन्न स्थिति का सामना करने की तैयारी में प्रवृत्त होना पड़ा। स्वधर्म रक्षा—हमारा सबसे बड़ा लक्ष्य बन गया। धर्म-रक्षा के लिए जिस मनोबल एवं नैतिकबल की अपेक्षा थी, वह दर्शन की सुदृढ़ता के द्वारा ही सम्भव था—अतः ग्यारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक भारतीय मस्तिष्क की समस्त प्रतिभा विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं उन्हें व्यावहारिक रूप देने वाले धर्म-सम्प्रदायों की स्थापना में लग गयी—विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि सिद्धान्त और उनसे सम्बन्धित धर्म-सम्प्रदाय इसी स्थिति के परिणाम कहे जा सकते हैं। फलतः यह स्वाभाविक था कि हमारा काव्य-शास्त्रीय चिन्तन अवरुद्ध हो गया, नये चिन्तन की बात तो दूर रही, अभिनव गुप्त की स्थापनाओं को भी परवर्ती विद्वान् पूर्णतः हृदयंगम नहीं कर पाये—उनकी काव्यार्थ के भावन की बात एक प्रकार से गौण ही

रही। फिर भी क्षेमेन्द्र जैसे एक-दो आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी नूतन प्रयास किये किन्तु वे शक्तिशाली सिद्ध नहीं हुए। अस्तु, अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त को जो व्यापक रूप प्रदान किया था, वह सीमित रूप में ही परवर्तियों द्वारा ग्राह्य हो पाया। अवश्य ही आचार्यगण अब एक ही ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में रस के अतिरिक्त गुण, अलंकार एवं ध्वनि की भी चर्चा या व्याख्या करने लग गये किन्तु उनमें परस्पर गहरा सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया—गुण अलंकार आदि की स्थिति रस के सहयोगी स्वतन्त्र सिद्धान्तों की सी रही—वे रस के अंग नहीं बन पाये; सिद्धान्त में यह स्वीकार भी कर लिया गया था, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया। ध्वनि अवश्य अपेक्षाकृत अधिक निकट आ पाई, किन्तु फिर भो उसकी सत्ता रस से पृथक ही बनी रही। वस्तुतः मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने इन सिद्धान्तों को समन्वित करने का लक्ष्य सामने रखा, किन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि इस लक्ष्य को सम्यक् रूप में पूर्ण कर पाते, अतः 'समन्वय' के स्थान पर वे उनका 'संग्रह' या अधिक से अधिक उनमें 'पारस्परिक मित्रता का भाव' ही स्थापित कर पाये। अतः व्यवहार में रस का लगभग वही रूप प्रचलित रहा जो अभिनवगुप्त से पूर्व था।

अभिनवगुप्त की उपलब्धियों की उपेक्षा का कदाचित् एक कारण यह भी था कि वे रस-सिद्धान्त को जहाँ अर्थ तत्व की बौद्धिक भूमि की ओर अग्रसर करना चाहते थे—जो कि भारतीय मनीषा के विकास-क्रम की दृष्टि से अपेक्षित भी था—वहाँ राष्ट्र की दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण उसे सर्वथा विरोधी दिशा में प्रयाण करना पड़ा—परवर्ती भक्ति आन्दोलन शुद्ध भावना का आन्दोलन था, वह धर्म, दर्शन एवं जीवन के प्रति भावात्मक या रागात्मक दृष्टिकोण लेकर आया, क्योंकि परिवर्तित परिस्थितियों में भारतीयता को जीवित रखने का यही एक साधन था—अतः वह इसके लिए दोषी भी नहीं है, किन्तु इससे हमारा समाज बौद्धिकता से न केवल विमुख हुआ अपितु उसकी घोर निन्दा में भी प्रवृत्त हुआ। सन्त और भक्त अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होते हुए भी एक बात में सब एक-मत हैं; वह है ज्ञान की निन्दा। आचार्य शुक्ल के भ्रान्त वर्गीकरण के कारण सन्तों को ज्ञानमार्गी समझ लिये जाने की भ्रान्ति आज भी प्रचलित है, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि सबसे बड़े संत कबीर ने प्रेम के अढ़ाई अक्षरों के सम्मुख जीवन भर की ज्ञान-साधना को व्यर्थ घोषित किया है; वेदों और स्मृतियों के शास्त्रीय ज्ञान की तुलना में आँखों देखी अनुभूति को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, और यही बात मध्यकाल के अन्य संतों और भक्तों पर लागू होती है। कुतुबन, जायसी, मंझन आदि तो प्रेममार्ग के पथिक ही थे, भावुक सूरदास भी उद्धव के माध्यम से ज्ञान-मार्ग का उपहास किये बिना नहीं रहते। तुलसीदास ने—जिनकी निन्दा भी स्तुति के शब्दों में होती थी—ज्ञान के मार्ग की प्रत्यक्ष में प्रशंसा करते हुए भी उसे 'कृपाण

की धार बताकर अपने मंतव्य को अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत किया है । इसका व्यावहारिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा—विभिन्न क्षेत्रों में तर्क के स्थान पर भावना की ही प्रतिष्ठा हो गयी । अस्तु, ऐसी परिस्थितियों में रस-सिद्धान्त को बौद्धिकता की ओर अग्रसर करने का लक्ष्य पूरा न हुआ तो यह आश्चर्य की बात नहीं है ।

किन्तु भक्तिकाल में रस का विकास दूसरी दिशा में हुआ । भक्ति-काव्य में रागतत्त्व की प्रमुखता के कारण उसे शान्त रस में स्थान देना संभव नहीं था; शान्त का केन्द्रीय तत्त्व तत्त्व-चिन्तनजन्य अनुभूति—जिसे 'शम' या निर्वेद कहा गया है—है जबकि भक्ति में भाव, विभाव, अनुभाव आदि विद्यमान थे क्योंकि भक्तों का आराध्य निर्गुण ब्रह्म न होकर सगुण प्रभु था; ऐसी स्थिति में यह समस्या उपस्थित हुई कि भक्तों के काव्यात्मक उद्गारों को साहित्य या काव्य में किस प्रकार स्थान दिया जाय ? उनकी काव्यात्मकता या रसात्मकता का शास्त्रीय मूल्यांकन किस आधार पर किया जाय ? इन समस्याओं के समाधान के रूप में ही विभिन्न आचार्यों द्वारा भक्तिरस, उज्ज्वलरस, वात्सल्यरस, सख्यभाव, माधुर्यभाव आदि की स्थापना हुई—अतः कहना चाहिए कि भक्तिकाल की अपेक्षाओं की पूर्ति भी रस-सिद्धान्त के द्वारा सम्यक् रूप में हुई । इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल में लोकवृत्ति के अनुसार शृंगार-रस, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन आदि का भी विस्तार हुआ जो आज की दृष्टि में निरर्थक होता हुआ भी युग-विशेष के संदर्भ में सार्थक था ।

आधुनिक युग में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक युगीन परिस्थितियों के अनुरूप रस-सिद्धान्त के नव विकास के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं; भारतेन्दु ने देश-प्रेम, समाज-सुधार की भावना, आदि को भी रस से सम्बन्धित करने का संकेत किया तथा अयोध्यसिंह उपाध्याय ने इसे आंशिक रूप में क्रियान्वित भी किया । आगे चलकर डॉ० गुलाबराय ने सर्व प्रथम रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान के सन्दर्भ ने भावों के वर्गीकरण, कल्पना-शक्ति से रस के सम्बन्ध-स्थापन एवं सामाजिक दृष्टि से रसानुभूति के विश्लेषण के नूतन प्रयास किये । डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल के कार्य को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक काव्य-संदर्भ एवं पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की दृष्टि से रससिद्धांत का पुनराख्यान किया । डॉ० कृष्णदेव झारी ने न केवल पद्य साहित्य पर अपितु गद्य-साहित्य पर भी—'गोदान' जैसे उपन्यास पर भी—रस-सिद्धान्त को लागू करके उसके स्वरूप को व्यापकता प्रदान करने का प्रयास किया, यह दूसरी बात है कि उनकी स्थापनाएँ अभी विद्वानों का ध्यान आकर्षित नहीं कर पायी हैं । अस्तु, संक्षेप में कहें तो आज की बदली हुई परिस्थितियों की माँग को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रतिभाएँ रस-सिद्धान्त के आधुनिकीकरण के प्रयास में संलग्न हैं, और इसमें कोई

संदेह नहीं कि यदि भारतीय मेधा, में अब भी शक्ति बची है तो अवश्य ही वह अपने इस प्रयास में सफल होगी।

किन्तु दुर्भाग्यपूर्ण से यहाँ एक ऐसी स्थिति एवं मनोवृत्ति का भी उल्लेख करना पड़ रहा है जो कि निष्क्रियता एवं निरर्थकता से युक्त है। कई बार राष्ट्र एवं समाज के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि जब पूरा समाज या उसका एक वर्ग किन्हीं विशिष्ट संदर्भों एवं संस्कारों के कारण अनास्था से ग्रस्त होकर प्रत्येक वस्तु एवं कार्य को निरर्थक समझने लगता है। दुर्भाग्य से यदि यह वर्ग अपनी इस निरर्थकता की अनुभूति को भाषा के माध्यम से व्यक्त भी कर पाये तो उससे ऐसी रचनाओं की सृष्टि होगी जिनमें विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ होंगी, जिन्हें मनोविश्लेषण की शब्दावली में 'अपसाधारण' या 'अब्नार्मल (Abnormal) कहा जा सकता है। यह 'अब्नार्मल' अनुभूति या संवेदना न तो मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों द्वारा विश्लेषित हो पाती है और न ही साहित्य-शास्त्र के किसी परम्परागत मूल्य की परिधि में समा पाती है। पाठक या सामाजिक में से भी इस संवेदना को वे ही ग्रहण कर पाते हैं, जो स्वयं 'अब्नार्मल' है या जिन्हें इस अब्नार्मल स्थिति का बोध प्राप्त हैं। इस स्थिति के कारण काव्य-शास्त्र एवं साहित्य-चिन्तन के लिए समस्या उपस्थित हो गयी है—वह यह है कि इस असामान्य संवेदना या अनूभुति को किस रूप में ग्रहण किया जाय ? क्या इसे युग-विशेष की सीमित या रुग्ण प्रवृत्ति या मनोवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाय या इसे भी एक मूल्य मानकर अभि-शंसित किया जाय ? इसके सम्बन्ध में संप्रति अनेक दृष्टिकोण प्रचलित हैं; एक दृष्टिकोण जो कि स्वयं इसी वर्ग का है, उसके अनुसार यह प्रवृत्ति ही मूल्य है, इस-लिए मूल्यांकन के उन सब मानदण्डों को त्याग दिया जाय जो इस प्रवृत्ति के विरुद्ध पड़ते हैं, दूसरा दृष्टिकोण विरोधी पक्ष का है, उसके अनुसार परम्परागत मानदण्ड शाश्वत तत्त्वों पर आधारित है अतः उन्हीं के आधार पर नयी प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। यहाँ हमें इन दोनों ही दृष्टिकोणों पर तटस्थ दृष्टि से विचार करते हुए कोई समाधान ढूँढ़ना चाहिए। पहले पक्ष की स्थापनाएँ मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

- रस-सम्प्रदाय के माध्यम से छायावाद की अधिकांश कविता का मूल्यांकन संभव है लेकिन छायावाद के बाद के साहित्य को तो रस के अन्तर्गत रखा ही नहीं जा सकता····।[१]

- 'आज की संवेदना में जहाँ अनेक जटिलताएँ हैं, वहीं उसकी मनोवैज्ञानिक चेतना भी है जो बिना किसी विशिष्ट चेतना-प्रवाह के समझना सम्भव नहीं है।'[२]

---

१. 'नये प्रतिमान : पुराने निकष—'लक्ष्मीकांत वर्मा; पृ० सं० ३-३६

२. वही पृष्ठ संख्या १८ (भाषा-दोष मूल अंश में ही है।)

● 'रस आदि में काव्य-दृष्टि भिन्न रही है……यह भिन्नता मनः स्थितियों की है, संस्कारों की है और इन सबसे बढ़कर परिवेश की है।'[३]

● 'नयी कविता का विषय है क्षण की अनुभूति; रस का आधार है वासना और स्थायी भाव।'[४]

● 'नयी कविता आकर्षण को नहीं, विकर्षण को भी टटोलती है, रिझाती कम, सताती अधिक है।'[५]

● 'आज की मूल समस्या जिस अर्थहीनता से शुरू होती है वह उसी में समाप्त हो जाती है। यह……भिन्न स्तर पर सम्पूर्ण परिवेश के सम्बन्ध में सापेक्ष उपजी हुई दृष्टि है इसलिये यह मूल्यवान भी है। ……ऐसी दशा में जब तक अर्थ-हीनता को हम कोई मूल्य नहीं मानते तब तक हम आगे बढ़ ही नहीं सकते।'[६]

● 'दूसरी विशेष प्रवृत्ति है……सिनसिज्म! आज का नया साहित्यकार…… सिनसिज्म को मूल्य के रूप में स्वीकार करता है।……वस्तुतः कोई भी कलाकार बिना सिनसिज्म के भविष्य-द्रष्टा नहीं हो सकता।'[७]

उपर्युक्त विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि एक तो आज की कविता की आधारभूत काव्य-दृष्टि, विषय-वस्तु, मनः-स्थिति, संस्कार, अनुभूति आदि सब कुछ नयी या भिन्न है, अतः परम्परागत मानदंड के आधार पर उसका मूल्यांकन सम्भव नहीं। दूसरे, नयी कविता का मूल्यांकन उसकी विशिष्ट प्रवृत्तियों—जैसे अर्थहीनता का बोध, सिनसिज्म आदि—के आधार पर होना चाहिये क्योंकि नया कवि इन प्रवृत्तियों को ही मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। हमें यहाँ इन दोनों ही विचारों या धारणाओं पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

सर्व प्रथम यह देखना है कि छायावाद युग के बाद अर्थात् पिछले २५-३० वर्षों में हमारे साहित्य में सभी कुछ बदल गया है—विषय, दृष्टि, अनुभूति, संस्कार, भाव-बोध आदि—यह कहाँ तक ठीक है? कविता या साहित्य में सब-कुछ बदलने का अर्थ है, उसके स्रष्टा या मनुष्य में सब-कुछ बदल जाना। क्या आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र एवं नृ-तत्त्व-शास्त्र से इस बात की पुष्टि होती है कि धरती पर मनुष्य के एक ऐसे नये रूप का विकास हो गया है जो मानसिक दृष्टि से पूर्ववर्ती मनुष्य से सर्वथा भिन्न है? यहाँ यह भी देखना चाहिए कि यह भिन्नता केवल बाह्य है या आन्तरिक। बाह्य भिन्नता तो न केवल आज के मनुष्य और कल

---

३. 'नये प्रतिमान : पुराने निकष—'लक्ष्मीकांत वर्मा; पृ० सं० ३-३६

४-५. रस-सिद्धांत : डॉ० नगेन्द्र; पृ० सं० ३५१-४

६-७. नये प्रतिमानः पुराने निकष पृ० सं० २४-२७

के मनुष्य में है, अपितु दो सगे भाइयों में या प्रत्येक व्यक्ति में एक-दूसरे से मिलेगी। उदाहरण के लिये—आदिमानव से लेकर आज तक मनुष्य में काम की प्रवृत्ति बराबर मिलती है; यहाँ तक कि आदि मानव के पूर्वज पशुओं में भी यह थी, किन्तु उसका बाह्य रूप निरन्तर विकासोन्मुख रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसी काम प्रवृत्ति का विकास रति, प्रेम, दाम्पत्य भाव आदि के रूपों में हो गया। अब इस प्रेम या दाम्पत्य भाव का भी रूप सर्वत्र समान नहीं मिलता—कहीं पत्नी सहचरी है, कहीं अनुचरी, कहीं दासी मात्र। कहीं एक पत्नीव्रत का पालन होता है तो कहीं बहुपत्नीत्व का। इस प्रकार इन सब सम्बन्धों के मूल में एक ही सहज प्रवृत्ति के होते हुए भी उसके व्यक्त रूप में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य परिलक्षित होगा। इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक रूप के भी व्यक्ति-भेद से असंख्य भेद किये जा सकते हैं; यथा—मोहन लम्बी लड़की शीला से प्रेम करता है; सोहन साँवले रंग की लड़की श्यामा से प्रेम करता है; सुरेश एक धनी परिवार की कन्या के प्रति प्रेम भाव जताता है किन्तु हृदय से उसे नहीं चाहता ! यहाँ हम एक ही भावना के व्यक्ति-भेद से असंख्य रूप देखते हैं; पर वास्तव में ये असंख्य रूप संकीर्ण दृष्टि से देखने पर परस्पर भिन्न दिखाई पड़ते हुए भी मूलतः एक ही प्रवृत्ति के विभिन्न रूप हैं—अतः जब तक विभिन्न व्यक्तियों में यह आधार भूत प्रवृत्ति या मूल वासना समान रूप से विद्यमान है तब तक यह बाह्य अन्तर उस साहित्य के लिये कोई महत्त्व नहीं रखता जो कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों पर आधारित है। कालिदास का यक्ष अपनी प्रेयसी को संदेश मेघ को दूत बना कर भेजता है; जायसी का रत्नसेन हीरामणि तोते को माध्यम बनाता है; और अयोध्यासिंह उपाध्याय पवनदूत को प्रस्तुत करते हैं, जबकि आज का नया कवि इन सब माध्यमों को बाहियात एवं निरर्थक मानकर कदाचित् सीधे एक्सप्रैस-टेलीग्राम या टेलीफोन की ही शरण लेना उचित समझेगा और ऐसी स्थिति में वह दावा कर सकता है कि वह कवि के रूप में कालिदास, जायसी, उपाध्याय आदि सबसे भिन्न है; उसकी काव्यवस्तु भी भिन्न है क्योंकि इससे पहले किसी ने टेलीफोन का उल्लेख नहीं किया और उसकी संवेदनाएँ भी भिन्न हैं क्योंकि फोन पर संदेशों का आदान-प्रदान जैसी अनुभूति प्रदान करता है, वैसी बादल, तोते या पवन के माध्यम से संभव नहीं !

अतः यदि आधारभूत वासनाओं, सहज प्रवृत्तियों, व मूल भावों के चिरन्तन एवं सामान्य रूप को भुला कर केवल उन साधनों एवं माध्यमों की दृष्टि से विचार किया जाय जो कि वासनादि की अभिव्यक्ति के साधन एवं माध्यम हैं तो निश्चय ही आज का मनुष्य और उसकी संवेदनाएँ बिल्कुल बदल गयी हैं, तथा उस स्थिति में प्राचीन मनुष्यों या कवियों को समझना आज के व्यक्ति के लिए और आज के व्यक्ति की संवेदनाओं का समझना प्राचीन व्यक्ति के लिये असम्भव मान लिया जायगा, किन्तु इसके विपरीत तथ्य यह है कि मेघदूत के माध्यम से व्यक्त कालिदास

की संवेदनाएँ आज लगभग पन्द्रह-बीस शताब्दियों के बाद भी हमारे लिये उतनी ही सं-प्रेष्य है जितनी कि किसी आधुनिक कवि द्वारा फोन पर प्रेयसी से किया गया वार्तालाप हो सकता है—और यह भी विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आने वाली शताब्दियों में भी यह स्थिति बदलने वाली नहीं है। ऐसी स्थिति में विचारणीय यह है कि वह कौनसी बात है जिसके कारण आज के व्यक्ति का भी तादात्म्य दो हजार वर्ष पुराने कवि से हो जाता है; यद्यपि हमारा आज का परिवेश, दृष्टिकोण रुचि, प्रवृत्ति एवं अनुभूति के माध्यम आदि बदल गये हैं। इसका उत्तर मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, समाजशास्त्र एवं नृतत्त्व शास्त्र से प्राप्त किया जा सकता हैं। उनके अनुसार मनुष्य में जो कुछ परिवर्तन हुआ है वह उसकी बाह्य अभिव्यंजना-प्रणालियों एवं उसके साधनों में हुआ है, आन्तरिक दृष्टि से आज भी वह वही है। मनुष्य के समस्त भावजगत् को परिचालित करने वाली आधारभूत वासनाएँ या सहज प्रवृत्तियाँ आज भी उसमें वही हैं, जो लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व उसके पूर्वज में थी; इतना ही नहीं मनुष्य की अनेक सहज-प्रवृत्तियाँ पशुओं में भी विद्यमान हैं, इसलिए इन्हें पाशविक वृत्तियाँ भी कहते हैं। हम दूसरों की संवेदनाओं के आलम्बनों एवं अभिव्यंजना-साधनों के विभिन्न होते हुए भी उन सब को इसलिये हृदयंगम कर पाते हैं कि अभी तक मानव-मानव के बीच सभी संवेदनाओं का मूल आधार एक है। अतः नये कवियों या नये आलोचकों का यह दावा कि आज का परिवेश, बोध, संवेदनाएँ बदल गयी हैं इसलिए उनका ग्रहण या विश्लेषण संभव नहीं, यह विज्ञान-सम्मत नहीं है; कदाचित् उनकी 'सिनसिज्म' की ही प्रवृत्ति का सूचक है।

फिर भी एक बात सोची जा सकती है कि अन्ततः आज के मनुष्य में बाह्य साधनों की दृष्टि से ही सही—कोई अन्तर तो आया ही है; अतः क्यों नहीं हम उनका मूल्यांकन किसी नये मानदड से करें, आखिर पुराने मानदंडों या मूल्यों से ही चिपके रहने में क्या रखा है ! इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि साधन एवं माध्यम की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे से कोई न कोई अन्तर उपलब्ध होगा। हर व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे व्यक्ति से किसी न किसी मात्रा में भिन्न है, यदि हम इस भिन्नतासूचक प्रवृत्तियों के आधार पर मानदंड का निर्धारण करें तो फिर जितने व्यक्ति होंगे उतने ही मानदंड तैयार करने होंगे—और इतना ही नहीं, यदि हम प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक रचना या प्रत्येक वर्ग की रचना के लिए अलग-अलग मूल्यों एवं मानदंडों की स्थापना किसी प्रकार कर भी लें तो ऐसे मूल्य मूल्य नहीं रहेंगे क्योंकि मूल्यों एवं मानदंडों का लक्ष्य विशिष्ट संदर्भों को किसी एक स्तर पर स्थापित करना है, जब भिन्न-भिन्न संदर्भ भिन्न-भिन्न स्तरों, मूल्यों या मानदंडों से सम्बन्धित रहेंगे तो उस स्थिति में उनकी भिन्नताओं या विशिष्टताओं का सामान्यीकरण नहीं हो सकेगा। उदाहरण के लिये, जब अलग-अलग कपड़े की दूकानों पर

कपड़े का मूल्य पूछते हैं तो हमारे मन में दो बातें निश्चित रहती हैं, एक तो मीटर का नाप और दूसरा रुपये का मूल्य सबके यहाँ समान है। पर यदि कोई दुकानदार कहे कि हमारी कम्पनी कपड़े का जो थान तैयार करती है, वह सूत के अभाव में या लागत अधिक होने के कारण दूसरे थानों से छोटा होता है, अतः हमारे यहाँ 'मीटर' भी अलग होता है—वह सौ सेन्टीमीटर का न होकर पचास या साठ सेन्टीमीटर का होता है; या जो रुपया हम लेते हैं, वह भी सौ पैसे का न होकर, सवा सौ पैसों का होता है—तो यह स्थिति हमें किस तरह की लगेगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। हर विक्रेता इसी तर्क के अनुसार अपना-अपना अलग मीटर, किलोमीटर या रुपये-पैसे का हिसाब रखें तो इससे निश्चय ही मूल्य और मूल्यांकन की सारी पद्धति ही निरर्थक एवं लक्ष्य-विहीन हो जायेगी। कपड़ा सस्ता हो या मँहगा, सूती हो या रेशमी, उसका भाव चाहे कुछ भी हो--किन्तु मीटर सबका एक ही होगा; इसी तथ्य पर कपड़े का व्यवसाय निर्भर है। अवश्य ही कविता को नापना कपड़े को नापने जैसा नहीं है; हमने जो उदाहरण दिया वह बहुत स्थूल है, किन्तु तथ्य यह है कि मूल्य और मूल्यांकन सर्वत्र ही व्यक्ति-वैशिष्ट्य पर नहीं अपितु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या वस्तुओं के सामान्य गुणों या स्तरों के सूचक होते हैं; मूल्यों की स्थापना का आधारभूत लक्ष्य भी यही है—अतः विशिष्ट व्यक्तियों के लिए विशिष्ट मानदण्ड की माँग करना स्वतोव्याघात है; वैसा ही स्वतोव्याघात है, जैसा कि कोई नमकीन चीनी, या मीठे नमक की माँग करे।

अब हम उनके दूसरे तर्क पर विचार कर सकते हैं जिसके अनुसार अर्थहीनता का बोध, सिनसिज्म आदि को मूल्यों के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि नयी कविता की ये मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो हमारा यह निवेदन है कि प्रवृत्तियों एवं मूल्यों में अर्थ एवं स्वरूप की दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर है; 'प्रवृत्ति' को ही 'मूल्य' मानना इस बात का सूचक है कि या तो वे 'मूल्य' और 'मूल्यांकन' का अर्थ ही नहीं समझते या फिर जानबूझकर अनजान बने हुए हैं। फिर भी स्थिति जो भी हो, हम यहाँ प्रस्तुत चर्चा को आगे बढ़ाने से पूर्व मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया एवं मूल्यों के स्वरूप को भी स्पष्ट कर लेना चाहते हैं।

'मूल्य' शब्द मूलतः अर्थ-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्रयोग अब जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होने लगा है। मानव-सभ्यता के इतिहास में किसी समय ऐसी भी स्थिति थी जब कि समाज मूल्यों के बिना भी जीवन-यापन करता था; उस समय विभिन्न वस्तुओं का सामान्य मूल्य निर्धारक कोई तत्त्व या माध्यम न होने के कारण वस्तुओं, पदार्थों, कार्यों का विनिमय उन्हीं वस्तुओं पदार्थों या, कार्यों के माध्यम से होता था। अर्थात् रोटी के बदले रोटी, चर्म के बदले चर्म, या गाय के बदले गाय ही दी जाती थी—ऐसा कोई साधन नहीं था कि एक रोटी दे तो बदले में दूसरा उस कुछ और दे सके। वैदिक युग में हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात

होता है कि इस समय तक सामान्य मूल्य निर्धारण के रूप में 'गाय' का उपयोग होता था। अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य मूल्य कितना है, इसका निर्धारण इस बात से होता था कि वह कितनी गायों के बराबर है। आगे चल कर गाय का स्थान सिक्के ने ले लिया। सिक्के के प्रचलन से स्थिति में परिवर्तन यह हुआ कि सभी वस्तुओं, पदार्थों, क्रिया-कलापों, कार्य एवं श्रम का मूल्य एक सामान्य वस्तु सिक्कों के माध्यम से चुकाया जाने लगा; अब गाय के बदले में गाय या श्रम के बदले में श्रम ही देना आवश्यक नहीं रहा। प्रत्येक वस्तु चाहे वह जड़ हो या चेतन, मृत हो या जीवित, प्राचीन हो या नयी—सबका सामान्यीकरण सिक्के के माध्यम से हो जाता है। अस्तु, अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से विभिन्न वस्तुओं के गुणों और महत्त्व की पारस्परिक समानान्तर या सापेक्ष स्थिति का निर्धारक मूल्य है।

जब हम 'मूल्य' शब्द का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में करते हैं तो वहाँ भी वह विभिन्न संदर्भों को एक सामान्य तत्त्व से सम्बन्धित करने का साधन या माध्यम सिद्ध होता है; चाहे तो इसे विभिन्न तत्त्वों के सापेक्ष महत्त्व का द्योतक भी कह सकते हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न मूल्यों का निर्धारण एवं विकास प्रायः होता रहता है। मल्य-निर्धारण या विकास की पद्धति यह है कि सर्वप्रथम क्षेत्र-विशेष के विभिन्न तथ्यों या तत्त्वों का संकलन करके उनका वर्गीकरण किया जाता है। वर्गीकरण के अनन्तर प्रत्येक वर्ग की विशेषता या प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाता है; फिर उन विशेषताओं या प्रवृत्तियों के ग्राह्य तत्त्वों का सामान्यीकरण कर लिया जाता है; और तत्त्वों का ग्राह्य सामान्यीकृत रूप ही 'मूल्य' है जिसे दर्शन की भाषा में 'आदर्श' भी कहा जा सकता है।

अब यदि साहित्य के संदर्भ में मूल्य की विवेचना की जाय तो कहा जा सकता है कि मूल्यों का आधार कोई एक रचना नहीं होगी, अपितु विभिन्न वर्गों की विभिन्न विशेषताओं का सामान्यीकृत रूप ही मूल्य है। जिन विशेषताओं के आधार पर मूल्यों का निर्धारण होता है, वे अपने आप में व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए; क्योंकि उनके आधार पर निर्धारित मूल्य की व्यापकता एवं महत्ता का आधार भी उन विशेषताओं में निहित है। व्यापकता का सम्बन्ध देश-काल से है। एक ही देश और एक ही काल के एक वर्ग की रचनाओं की विशेषता के आधार पर निर्धारित मूल्य, उस मूल्य की अपेक्षा संकीर्ण एवं गौण होगा जो अनेक देशों और अनेक काल-खण्डों के अनेक वर्गों की सामान्य विशेषताओं पर आधारित है। ऐसी स्थिति में निश्चय ही व्यापक एवं स्थायी महत्त्व के मूल्य की स्थापना के लिए हमें एक वर्ग की **विशिष्ट प्रवृत्तियों** की अपेक्षा विभिन्न वर्गों की **सामान्य प्रवृत्तियों** को अधिक महत्त्व देना होगा; अन्यथा हमारे मूल्य या मानदण्ड एकांगी सिद्ध होंगे। देश-काल की व्यापकता की दृष्टि से स्थानीय एवं क्षणिक तत्त्वों व प्रवृत्तियों की अपेक्षा

अन्तर्देशीय एवं स्थायी तत्त्वों व प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानना होगा। वर्ग विशेष की क्षणिक प्रवृत्तियों पर आधारित मूल्य निश्चय ही सीमित एवं अल्प-कालीन सिद्ध होगा जबकि यूनिवर्सल मूल्यों के लिए हमें उन तत्त्वों व विशेषताओं की खोज करनी होगी जो होमर, बाल्मीकि, कालिदास, वर्जिल दाँते, शेक्सपीयर, गेटे, आदि भिन्न देशीय एवं भिन्न युगीन कवियों में समान रूप में विद्यमान हैं। जिनकी दृष्टि बाह्य प्रवृत्तियों तक ही सीमित है, वे कदाचित् इन सबकी उस आन्तरिक एकता को न खोज पाये, जिसके कारण ये रचनाएँ सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक बन गयी हैं तथा हर युग एवं हर देश के हर सहृदय को संवेद्य होती हैं, किन्तु इसी से यह समझ लेना कि उनमें कोई आन्तरिक एकता है ही नहीं—बहुत बड़ी भूल होगी। समुद्र की लहरों को अलग-अलग रूप में देखने वाले लोग भले ही उसकी आन्तर्निहित एकता को न समझ पायें, किन्तु इसी से समुद्र की आन्तरिक एकता खंडित नहीं हो जाती। अस्तु, संक्षेप में व्यापक एवं सामान्य मूल्यों के निर्धारण के लिए एक अत्यन्त व्यापक दृष्टि एवं व्यापक आधार की अपेक्षा है, जबकि हमारे नये कवि ऐसे मूल्यों के पक्ष में है जो एक वर्ग की व एक काल-खण्ड की विशिष्ट प्रवृत्तियों पर आधारित हो।

जिस प्रकार देश-काल की व्यापकता के आधार पर यूनिवर्सल मूल्यों की स्थापना संभव है, उसी प्रकार देश-काल खंड के वर्ग-विशेष की विशेषताओं के आधार पर वर्गीय मूल्य भी स्थापित किये जा सकते हैं, जिनका उपयोग उक्त वर्ग तक ही सीमित रहेगा। किन्तु ऐसा करते समय भी 'प्रवृत्ति' एवं 'विशेषता' के अन्तर को ध्यान में रखना होगा; प्रवृत्ति का मूल्य के निर्धारण में योग नहीं हो सकता जबकि विशेषता का होता है। कल्पना कीजिए कि एक रसोइया ठीक समय पर सफ़ाई से भोजन तैयार करता है। वह मिर्च-मसाले ठीक डाल कर भोजन को सुस्वादु बनाता है। वह बर्तनों को भी साबुन से भली-भाँति साफ करता है। पर वह कभी-कभी झूठ बोलता है; पैसे भी उधार माँगता है। वह पिक्चर देखने का शौकीन है।'.........आदि-आदि। अब यदि कई रसोइयों में यही विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ मिलती हों तथा इनके आधार पर हमें किसी भोजनालय का मानदण्ड या मूल्य निर्धारित करना हो तो उसकी इन विशेषताओं को आधार बना सकते हैं—समय पर भोजन का बनना, साफ सुथरा बनना, स्वादिष्ट बनना, बर्तनों का साफ होना ; आदि। पर यदि कोई कहे कि आजकल सारे रसोइये सिगरेट पीते हैं, पिक्चर जाते हैं—अतः इन प्रवृत्तियों को भी अच्छे रसोइये के गुण या मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो यह बात हास्यास्पद लगेगी। हाँ, यदि कोई यह सिद्ध करदे कि अच्छे भोजन की निर्माण की प्रक्रिया के साथ रसोइये का सिगरेट पीना आवश्यक है, तो अवश्य ही हम उसे मूल्य सूचक तत्त्वों में स्थान दे देंगे।

अस्तु, मूल्यों के निर्धारण के लिए व्यक्तियों की सामूहिक या वर्गीय प्रवृत्तियों

का विश्लेषण एवं उनकी विशेषताओं का उद्घाटन आवश्यक है; साथ ही किसी प्रवृत्ति एवं विशेषता को मूल्य के आधार रूप में स्वीकार किया जाय या नहीं—इसका निर्णय भी विवेक बुद्धि के आधार पर किया जाना चाहिए।

अब यदि पूर्वोक्त तर्कों पर विचार किया जाय तो श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार आज के कवियों में अर्थहीनता एवं सिनिसिज्म की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, अतः जब तक इन्हें मूल्य रूप में स्वीकार न किया जायगा, तब तक आगे नहीं बढ़ा जा सकता। प्रश्न है— अर्थहीनता के बोध एवं सिनिसिज्म की प्रवृत्ति से काव्य की कलात्मकता में क्या योग मिलता है ? क्या यह बात वैसी ही नहीं है कि सभी रसोइये सिगरेट पीते हैं, अतः सिगरेट को भोजन का मानदण्ड या मूल्य मान लिया जाय ? अधिक से अधिक हम यही कर सकते हैं कि सिगरेट पीने वाले रसोइये को, यदि वह भोजन स्वादिष्ट बनाता है तो सिगरेट पीना उसकी आदत या प्रवृत्ति मानकर उसे क्षमा कर सकते हैं, पर यदि रसोइया यह कहे कि सिगरेट की गन्ध भोजन तक पहुँच जाती है, इससे उसका बनाया हुआ भोजन उन लोगों को स्वादिष्ट नहीं लगता जो सिगरेट नहीं पीते; इसलिए भोजन करने वालों के लिए भी—यदि वे उसके भोजन का स्वाद लेना चाहते हैं तो—सिगरेट पीना स्वीकार करना चाहिए या सिगरेट पीने को गुण या मूल्य रूप में मानना चाहिए—तो इसका क्या उत्तर होगा ? कदाचित् इसे हम रसोइये की बेतुकी बात कह सकते हैं या रसोइये की दृष्टि से यह हमारी जिद्द या हठ हो सकती है कि हम बीसवीं शती में रहते हुए भी सिगरेट नहीं पीते ! हमारे विचार में लगभग ऐसी ही स्थिति नयी कविता के सर्जकों एवं पाठकों व आलोचकों के मध्य बनी हुई है।

अस्तु, हमारे विचार में कवियों की वस्तुगत प्रवृत्तियों को मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता—यूनिवर्सल मूल्य को बात जाने दीजिए—वर्गीय मूल्य के रूप में भी नहीं। वस्तुतः 'मूल्य' शब्द उपलब्धि का सूचक है न कि न्यूनता या अभाव का। उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त नयी कविता के अन्य अभावों को—रागात्मकता के अभाव को, साधारणीकरण के अभाव को, प्रसन्नता प्रदान (रिझाने की) करने की क्षमता के अभाव को, स्थायी भावों एवं तत्त्वों के अभाव को—भी मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने की दुश्चेष्टा की गयी है। वस्तुत; जब तक यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि निरर्थकता-बोध, एवं सिनिसिज्म की प्रवृत्तियाँ काव्य के काव्यत्व या उसके कलात्मक गुणों के लिए अनिवार्य हैं तथा उपर्युक्त अभाव काव्य की संवेदनशीलता एवं कलात्मकता में कोई न्यूनता या त्रुटि उत्पन्न नहीं करते तब तक इन्हें 'मूल्य' रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास बेतुका ही होगा। दूसरी ओर, उपर्युक्त प्रवृत्तियों एवं अभावों के होते हुए भी यदि कोई कविता काव्यात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति प्रदान करने में समर्थ हो तो केवल इनके कारण ही उसकी अवहेलना करना भी विवेकशून्यता का परिचायक होगा। वस्तुतः

कलाकृति के सौन्दर्य के मूल्यांकन में उसके आधारभूत पदार्थों के कला-निरपेक्ष तत्त्वों, गुण-दोषों, प्रवृत्तियों आदि की चर्चा उसी प्रकार अनावश्यक एवं महत्त्वशून्य है जिस प्रकार किसी चित्र में चित्रित गुलाब के फूल को देख कर यह मीमांसा करना कि गुलाब के फूल का उपयोग गुलकन्द बनाने में किस प्रकार होता है, या गुलकन्द के क्या-क्या गुण-दोष हैं, या इस गुलाब की गन्ध अच्छी या बुरी होती है। अवश्य ही इन सब बातों का सम्बन्ध गुलाब के फूल से है, तथा गुलाब का फूल ही उक्त कृति का आधारभूत विषय है किन्तु फिर भी चित्रकला की दृष्टि से ये सब बातें गौण ही नहीं, निरर्थक भी हैं। अतः कलाकार या कला-कृति की वैयक्तिक एवं विशिष्ट प्रवृत्तियों को, जब तक कि उनका सम्बन्ध कला के सामान्य गुणों से स्थापित नहीं हो जाता 'मल्य' के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता—प्रवृत्तियाँ प्रवृत्तियाँ ही रहेंगी।

अब हमें दूसरे पक्ष के मत पर भी विचार कर लेना चाहिए जिसके अनुसार काव्य की इन नूतन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन परम्परागत सिद्धान्तों या मूल्यों—जिनमें मुख्य रस-सिद्धान्त है—के आधार पर किया जा सकता है, इतना ही नहीं किया जाना आवश्यक है। इस पक्ष का नेतृत्व करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने विरोधियों की विभिन्न दलीलों पर विचार करने के अनन्तर प्रतिपादित किया है—'नयी कविता यदि अनुभूति का आधार मान कर चलती है तो रस से उसकी मुक्ति नहीं है; रस के पाश से वह यह यह कह कर भी नहीं निकल सकती कि हमारी अनुभूति शुद्ध मानव-अनुभूति है, आनन्दानुभूति नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अनुभूति—तीव्र से तीव्र द्वन्द्व की कलात्मक अनुभूति भी—समंजित अर्थात् अद्वन्द्वमयी ही हो सकती है; द्वन्द्व प्रक्रिया में हो सकता है, परिणति में नहीं········।'[८]

हमारे दृष्टिकोण से डॉ० नगेन्द्र भी यहाँ एक अनावश्यक आग्रह करते हुए प्रतीत होते हैं; जिस रसात्मकता के सुन्दर पाश (या बाहुपाश ?) में जाने के लिए डॉ० नगेन्द्र बार-बार नये कवियों को प्रेरित कर रहे हैं, वह कभी भी सफल नहीं हो सकता क्योंकि जब उन्होंने पहले से ही रसात्मकता के पाश को किसी उर्वशी का पाश न समझ कर विष-कन्या का स्पर्श मान लिया है तो यह कैसे संभव है कि वे उसमें बँध कर ही रहेंगे। दूसरे, नये कवियों की ओर से अज्ञेयजी पहले ही कह चुके हैं कि 'रस का आधार है समाहिति, अद्वन्द्व किन्तु नयी कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है।' यह ठीक है किसी कविता में रागात्मकता, संवेद्यता, प्रेषणीयता एवं रसात्मकता या सौन्दर्यानुभूति के लिए विभिन्न अनुभूतियों की अन्ततः समाहिति आवश्यक हैं, किन्तु जिनका लक्ष्य ही पाठक को 'रिझाना' न होकर 'सताना' मात्र है, उन्हें इन सब तत्त्वों व प्रक्रिया की क्या आवश्यकता है ! फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि

---

८. रस-सिद्धान्त ; पृ० सं० ३४७

प्रत्येक अनुभूति की परिणिति कलात्मक या रसात्मक अनुभूति में होती है; अनुभूति सत्य होकर भी कला-शून्य रूप में व्यक्त हो सकती है। हमारे विचार में कोरी अनुभूति या सच्ची अनुभूति ही रसात्मकता के लिए पर्याप्त नहीं है—इसके लिए अनुभूति का कल्पनात्मक माध्यम से अभिव्यंजन, निर्विशेषीकरण, तादात्म्य आदि भी आवश्यक है। स्वयं डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भाषा का भावमय प्रयोग ही अनुभूति को साधारणीकृत रूप दे पाता है। इसी को दूसरे शब्दों में अभिव्यंजना की शक्ति कह सकते हैं। अवश्य ही नये कवियों के पास कुछ अनुभूतियाँ हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतिभा और कल्पना का जो संयोग अपेक्षित है, वह भी उनके पास है—यह निर्विवाद रूप में कैसे कह सकते हैं। अस्तु, प्रत्येक अनुभूति की परिणति सदा 'रस' में नहीं होती—इस बात को डॉ० नगेन्द्र की अपेक्षा स्वयं नये कवि और उनके आचार्य अधिक अच्छी तरह जानते हैं—अतः यदि वे रस को अस्वीकार करें तो स्वाभाविक ही है। इतना अवश्य है कि रस के अभाव में भी कोई अभिव्यक्ति कविता बन सकती है या नहीं—इस सम्बन्ध में अवश्य दो मत हैं। नये कवियों के अनुसार 'रस' कविता के लिए आवश्यक नहीं है, अतः वे रस-सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं।

अस्तु, हमारे विचार में रस और नयी कविता में परस्पर सम्बन्ध न भी स्थापित हो तो इससे रस-सिद्धान्त की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि स्वयं नयी कविता के प्रवक्ता के अनुसार कालिदास के काव्य से लेकर छायावादी काव्य तक तो रस-सिद्धान्त लागू होता है; किन्तु नयी कविता इसकी अपवाद है। जो सिद्धान्त लगभग दो हजार वर्ष तक के साहित्य के लिए उपयुक्त है, उसकी मान्यता एवं प्रतिष्ठा में इस बात से विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि विगत बीस वर्षों का साहित्य उसे स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं। यदि हम अपने सीमित दायरे से बाहर निकल कर देखे तो बीस शताब्दियों के सम्मुख बीस वर्ष विशेष महत्त्व नहीं रखते। फिर भी हमारा विश्वास है कि ज्यों-ज्यों नयी कविता अपने असामान्य या 'अब्नार्मल' लक्षणों को त्याग कर सामान्य और नार्मल होती जायगी, त्यों-त्यों वह रस के भी निकट आती जायगी और कविता के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती जायगी, अन्यथा वह साहित्य के इतिहास की वस्तु मात्र बनकर रह जायगी। साहित्य में में ऐसे आन्दोलन भी आते रहते हैं जिनकी आयु कुछ दशाब्दियों से अधिक नहीं होती। जैसा कि हम पहले निवेदन कर चुके हैं, प्रत्येक धारा एवं प्रवृत्ति का जीवन-काल उसकी अन्तर्निहित शक्ति पर अवलम्बित होता है; अतः यह भविष्य ही बता सकेगा कि हमारी नयी कविता में कितनी शक्ति है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त की बात है—यह किसी एक विद्वान् या, एक वर्ग, एक देश, एक भाषा और एक काल के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है; इसे विभिन्न देशों और विभिन्न काल-खंडों की मान्यता प्राप्त है; और इस मान्यता का एक मात्र कारण यह है कि वह क्षण-विशेष, काल-विशेष स्थान-विशेष या वर्ग-विशेष की परिवर्तनशील प्रवृत्तियों पर आधारित न होकर उन स्थायी भावनाओं पर आधारित

हैं जो 'यूनिवर्सल' हैं। अपने इस आधार की दृढ़ता—या शक्ति—के कारण यह जीवित ही नहीं है, अपितु दिन पर दिन विकासोन्मुख है। भारत में ही नहीं, बाहर भी जर्मन, फ्रेंच, रूसी, ब्रिटिश, अमरीकन आदि विद्वानों ने भी अपने-अपने अनुभव एवं दृष्टिकोण के अनुसार कला के संदर्भ में एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की है, जो कृति की भावात्मकता, संप्रेषणीयता, तादात्म्य एवं रसात्मकता का विवेचन-विश्लेषण करता है, जिसे विभिन्न भाषाओं में विभिन्न नाम दिये गये हैं, किन्तु भारतीय शब्दावली में उसे निस्संकोच रस-सिद्धान्त कहा जा सकता है। रस-सिद्धान्त के इस सार्वभौमिक रूप का परिचय हम इसी प्रबन्ध के द्वितीय खंड में प्रस्तुत कर चुके हैं। अस्तु, हमारे सामने समस्या रस-सिद्धान्त को मान्यता या प्रतिष्ठा दिलवाने की नहीं है, अपितु यह है कि जो रस सिद्धान्त अब तक केवल भारतीय विद्वानों के चिन्तन पर आधारित था, उसे पाश्चात्य कला-चिन्तकों की धारणाओं से समन्वित करके किस प्रकार राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय या यूनिवर्सल रूप प्रदान किया जाय ? अवश्य ही विभिन्न देशों में इसके विभिन्न रूप प्रचलित हैं, जो एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं; उन्हें परस्पर सम्बन्धित एवं समन्वित करके एक व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है। दूसरे, उसके अनेक पक्ष अब भी अविकसित हैं, जिनके विकास की पूरी संभावना है, अतः उन्हें विकसित करने का भी लक्ष्य हमारे सामने है। तीसरे, रसेतर क्षेत्र के आचार्यों एवं विद्वानों तथा उनके सिद्धान्तों—यथा, अलंकार, रीति, अनुकृति, औदात्य, बिम्ब आदि—के साथ भी रस-सिद्धान्त का भली-भाँति सामंजस्य नहीं हो पाया है, जबकि हमारे विचार से यदि इन सभी सिद्धान्तों का लक्ष्य एक ही वस्तु के अन्तर्निहित सौन्दर्य का उद्घाटन करना है तो अवश्य ही इनमें परस्पर सामंजस्य होना स्वाभाविक है। अन्ततः अन्य सिद्धान्त भी कलागत सौन्दर्य एवं सौन्दर्यानुभूति की ही व्याख्या कुछ अन्य दृष्टियों से करते हैं—लक्ष्य उनका भी वहीं है जो रस-सिद्धान्त का है; अतः उनमें सामंजस्य-स्थापना की पूरी संभावना है। चौथे, अभी तक रस-सिद्धान्त को प्रायः नाटक और काव्य पर ही लागू किया जाता रहा है, जबकि अन्य काव्य-रूपों के भी वह प्रतिकूल नहीं है। किन्तु उसका व्यावहारिक रूप इस दृष्टि से विकसित नहीं है। इसी प्रकार कवि की सर्जन-प्रक्रिया की व्याख्या भी रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से उतनी स्पष्ट रूप में नहीं हुई है जितनी कि उसकी आस्वादन प्रक्रिया का हुई है। फिर रस के काव्य-शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों में भी अनेक दृष्टियों से असंगत है। अस्तु, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं आधुनिक काव्य-रूपों (विशेषतः उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि) की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का पुनराख्यान करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, प्रौढ़ एवं प्रामाणिक रूप प्रदान किया जा सकता है। (प्रस्तुत प्रबन्ध के चार खंडों में इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए क्रमशः भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का अध्ययन करते हुए) कतिपय निष्कर्षों की उपलब्धि अलग-अलग की गई थी जबकि आगे हम भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के निष्कर्षों का समन्वय एवं समीकरण करते हुए रस-सिद्धान्त के पुनराख्यान का प्रयास करेंगे। •

२ रस : व्यापक संदर्भ में

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रारम्भिक तीन खंडों में विभिन्न दृष्टियों से रस के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि रस के साधन एवं माध्यम जो भी हो, उसके स्वरूप एवं प्रक्रिया के बारे में भी चाहे मत-भेद हो, किन्तु यह प्रायः सभी को मान्य है कि काव्य के संदर्भ में रस अन्ततः काव्यानभूति का आस्वाद' है, जिसे कला के संदर्भ 'काव्यानुभूति का आस्वाद' कहा जा सकता है। सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से इसी 'काव्यानुभूति' या 'कलानुभूति, को 'सौन्दर्यानुभूति' (Aesthetic Experience) की संज्ञा दी जाती है। अतः यदि हम इस को व्यापक संदर्भ प्रदान करते हुए सौन्दर्य-शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करे तो उसे निःसंकोच 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जा सकता है—इस निष्कर्ष की स्थापना तृतीय खंड में सम्यक् रूप में की जा चुकी है। किन्तु यह निष्कर्ष मूलतः उन काव्य-शास्त्रियों एवं सौन्दर्य-शास्त्रियों के मतों के आधार पर स्थापित था जो सामान्यतः कला का आधारभूत तत्त्व 'भाव' को मानते हैं; ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष एक वर्गीय, एकांगो एवं संकीर्ण भी कहा जा सकता है; इसे सर्व सामान्य, एवं व्यापक रूप देने के लिए उन विचारकों की सहमति आवश्यक है जो काव्य या कला में भाव को ही प्रमुख न मानकर उसके अन्य तत्त्वों या पक्षों को मानते हैं। सामान्यतः सौन्दर्य-शास्त्र में विद्वानों के दो वर्ग हैं—एक वस्तुवादी (Materialist) और दूसरे रूपवादी (Formalist)। इसी प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र में भी रसेतर संप्रदायों में भी अलंकार, विक्रोन्ति, ध्वनि आदि को रूपवादी कहा जा सकता है, जो कथ्य की अपेक्षा कथन-विधि या शैली को प्रमुखता देते हैं। अस्तु, रस को व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए विपक्षी मतों की दृष्टि से भी विचार अपेक्षित है।

भारतीय काव्य-सिद्धान्त और रस—

सर्वप्रथम हम भारतीय संप्रदायों—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, एवं औचित्य–की दृष्टि से विचार करते हैं। यह तो निश्चित है कि प्रायः विभिन्न संप्रदायों के संस्थापकों के दृष्टिकोण में उस तटस्थता एवं वैज्ञानिकता का अभाव था जिसके कारण वे इतर सिद्धान्तों के महत्त्व को समझ पाते या उनके साथ सामंजस्य स्थापित कर पाते ; उनका लक्ष्य प्रायः अपने ही संप्रदाय द्वारा अनुमोदित तत्त्व को 'सर्वप्रमुख' ही नहीं अपितु 'एक मात्र' आधार सिद्ध करने का रहा। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के प्रतिपादक या तो रस के सम्बन्ध में मौन रहे, या फिर उसे अपने ही तत्त्व के अन्तर्गत समन्वित करके उस पर अपना लेबिल लगा दिया—यथा ; अनेक अलंकारवादी रस को भी रसवत् अलंकार के रूप में या ध्वनिवादी उसे रस-ध्वनि के रूप में ग्रहण करते हुए क्रमशः अलंकार ध्वनि को ही काव्यात्मा स्वीकार करते हैं। जैसा कि हम 'साहित्य-विज्ञान' में विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं, इन संप्रदायों में परस्पर सामंजस्य की अपेक्षा स्पर्द्धा का भाव अधिक रहा; जिससे वे बिना इस बात का विचार किये कि काव्य का कौनसा पक्ष या क्षेत्र उनकी सीमा में पड़ता है, समस्त काव्य-क्षेत्र पर अपना अधिकार सिद्ध करने में लगे रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उचित और अनुचित सभी तत्त्व प्रत्येक क्षेत्र में नाम-भेद के साथ विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि इन संप्रदायों के आचार्य स्पष्ट रूप में 'रस' को मान्यता देते। फिर भी अप्रत्यक्ष में कुछ बिन्दु ऐसे मिलते हैं जहाँ रस के व्यापक स्वरूप के साथ उनका सामंजस्य हो जाता है ; और जैसा कि हम पीछे निवेदन कर चुके हैं, वह व्यापक स्वरूप है—रस अर्थात् "सौन्दर्यानुभूति"।

यह विचित्र बात है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य—इन सभी संप्रदायों के संस्थापकों व आचार्यों ने प्रायः अपने-अपने द्वारा अनुमोदित तत्त्व को काव्यगत सौन्दर्य का साधन मात्र स्वीकार किया है। 'अलंकार' संप्रदाय के प्रमुख आचार्य दंडी ने अलंकार की परिभाषा ही इन शब्दों में की है—"**काव्यशोभाकरान् धर्मान्लङ्कारान् प्रचक्षते**' (काव्यादर्श, २।१) अर्थात् काव्य के **शोभाकारक** धर्म अलंकार कहे जाते हैं। यहाँ यदि 'शोभाकारक' का अभिप्राय 'सौन्दर्य कारक' या 'सौन्दर्य-उत्पादक' ले लिया जाय तो अनुचित न होगा। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उद्भट ने भी स्वीकार किया है—"चारुत्व हेतुत्वे ऽपि गुणानामलंकाराणां........" अर्थात् गुण और अलंकार **चारुत्व** के हेतु हैं।[1] यहाँ 'चारुत्व' शोभा, सुन्दरता या सौन्दर्य का ही पर्याय है। किन्तु वामन ने तो अलंकार का सौन्दर्य से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध माना है कि उसे 'सौन्दर्य' का ही पर्याय

---

१. भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा, पृ० सं० ४१

घोषित कर दिया, ऐसी स्थिति में यदि अलंकार सिद्धान्त के अनुसार 'काव्यानुभूति' को 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जाय तो अनुचित न होगा।

रीति-संप्रदाय के प्रवर्त्तक वामन ने काव्य में अलंकार की अपेक्षा 'रीति' को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए उसे ही काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है। प्रश्न है—यह 'रीति' क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है—'विशेष प्रकार की पद-रचना ही रीति है' और उस 'विशेष प्रकार' का अर्थ है—'गुण-युक्त रचना'; और ये 'गुण' क्या हैं ? इसका उत्तर है—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणः' अर्थात् काव्य में **शोभा** उत्पन्न करने वाले धर्म ही **गुण** हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि गुण केवल साधन-मात्र हैं; उनका साध्य तो **शोभा** ही है; और काव्यानुभूति इस शोभा या सुन्दरता अथवा **सौन्दर्य** की ही अनुभूति है।

ध्वनिकार ने काव्य-संदर्भ में 'शोभा' या 'सौन्दर्य की अपेक्षा 'चारुत्व' शब्द पर विशेष बल दिया है। ध्वनि की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—"जो **चारुत्व** किसी अन्य उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता, उसे प्रकाशित करने वाला व्यंजना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि' कहलाने का अधिकारी हो सकता है।" (ध्वन्यालोक १।१५) यहाँ निश्चय ही ध्वनि का लक्ष्य तो 'चारुत्व' या सौन्दर्य का प्रकाशन है, जबकि व्यंजना व्यापार उसका साधन या माध्यम मात्र है। अतः केवल व्यंजना या कोरी व्यंजना या ध्वनि काव्य की द्योतक नहीं मानी जा सकती है। 'आज रविवार है।' इस वाक्य से यह अर्थ व्यंजित होता कि 'हमें छुट्टी है' या 'हमें कॉलेज नहीं जाना' है' आदि—पर फिर भी यह काव्यत्व का सूचक नहीं है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि के प्रसंग में व्यंजना-व्यापार को इतना महत्त्व दिया कि 'चारुत्व' गौण हो गया किन्तु सैद्धान्तिक व व्यावहारिक—दोनों दृष्टियों से ही यह प्रमाणित होता है कि व्यंजना व्यापार केवल चारुत्व प्रकाशन का साधनमात्र है; साध्य तो उसका 'चारुत्व' ही है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि ध्वनिकार ने शब्दालंकार, अर्थालंकार, वृत्ति, रीति, प्रबन्ध, रस आदि विभिन्न प्रसंगों में इन सबका लक्ष्य चारुत्व या सौन्दर्य को ही माना है; यहाँ कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(क) 'अनुप्रासादि शब्दगत **चारुत्व** के हेतु हैं।' (ध्वन्यालोक ; १।१)

(ख) 'उपमादि अर्थगत **चारुत्व** के हेतु हैं।' (वही)

(ग) 'अतिशयोक्ति जिस अलंकार को प्रभावित करती है, उसे ही **चारुत्वातिशय** प्राप्त होता है। (ध्वन्यालोक ; ३।३७)

(घ) 'जो प्रबन्ध के **सौन्दर्यातिशय** को चाहता है उसे इन रसों में से किसी ....एक रस को ही प्रधान-रूप से समाविष्ट करना चाहिए।' (ध्वन्यालोक ; ३।२१)

(ङ) '(ध्वनि में) व्यंजकत्व पूर्वोक्त चारुत्व-हेतु व्यंग्य के बिना नहीं रहता।' (ध्वन्यालोक ; ३।३३)

अस्तु, उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ध्वनिकार के मत में अनुप्रास, उपमा, अतिशयोक्ति, आदि शब्द का लक्ष्य काव्य में चारुत्व या सौन्दर्य का प्रकाशन है ; ध्वनि का भी यही लक्ष्य है ; जहाँ अन्य साधन इस लक्ष्य की पूर्ति में असफल हो जाते हैं, वहाँ व्यंजना-शक्ति या ध्वनि इसकी पूर्ति करती है । ऐसी स्थिति में काव्यानुभूति को चारुत्व या सौन्दर्य की अनुभूति माना जाय तो ध्वनिकार को भी स्वीकार्य होगा ।

वक्रोक्ति-संप्रदाय के प्रवर्त्तक कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को ही काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए प्रतिपादित किया है कि 'वक्रोक्ति' का अर्थ है—'प्रसिद्ध कथन से भिन्न या **विचित्र** अभिधा' तथा 'विचित्र' का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है—'ऐसी उक्ति जिसमें कवि-कर्म का कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता) हो ।' अतः संक्षेप में, कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया जा सकता है—

- वक्रोक्ति =विचित्र उक्ति
- विचित्र उक्ति =वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति ।
- वैदग्ध्यपूर्ण =कवि कर्म कौशल जन्य शोभा या चारुता से युक्त ।

इसी प्रकार वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का निरूपण करते समय भी उसे कवि व्यापार के वैचित्र्य से **शोभित** (**कवि व्यापार वक्रत्व प्रकार**............ **विच्छित्ति शोभिनः** ; वक्रोक्ति जीवितम् १।१८), माना है । वर्ण-विन्यास वक्रता के प्रसंग में उन्होंने वक्रता को **शोभातिशय** कारी माना है । वस्तुतः डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्र, विचित्र, चारु आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है ।'[२] अस्तु, कुन्तक का अन्य संप्रदायों से इस बात का तो मत-भेद है कि काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि किस साधन या माध्यम से होती है, किन्तु इस बात को वे भी स्वीकार करते हैं कि अन्ततः काव्य में कवि व्यापार का लक्ष्य शोभा चारुता या सौन्दर्य की सृष्टि करना है, जिससे पाठक आह्लादित होता है । अस्तु, 'काव्यानुभूति=सौन्दर्यानुभूति'—इस मत के सम्बन्ध में कुन्तक की भी सहमति मानी जा सकती है ।

औचित्य-संप्रदाय के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो प्रायः सर्वत्र ही औचित्य का लक्ष्य काव्य में शोभा, रुचिरता या सौन्दर्य की स्थापना करना अथवा उसकी अभिवृद्धि करना स्वीकार्य किया है, जो निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है—

(क) 'अलंकार तभी **शोभा** बढ़ाने में समर्थ होते हैं, जबकि उनका विन्यास उचित स्थान (औचित्य पूर्ण) पर हो ।'

(ख) 'औचित्य के बिना न अलंकार **रुचिरता** देते हैं न गुण ।'

---

२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् ; भूमिका पृ० सं० ३२

(ग) 'प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलंकार का प्रयोग हो तो इस औचित्य से काव्य-भारती इस प्रकार **शोभित** होती है ; जैसे—पीन-स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।'

इस प्रकार औचित्य-संप्रदाय के अनुसार भी औचित्य काव्य-सौन्दर्य का साधक या रक्षक मात्र है ; किन्तु वह स्वयं सौन्दर्य का पर्याय नहीं है । व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो औचित्य एक बौद्धिक तत्त्व है जो काव्य में संगति, संतुलन आदि के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा करता है । 'राम दशरथ के पुत्र थे', 'दो और दो चार होते हैं'—इन वाक्यों में पूर्ण औचित्य होते हुए भी' वे सौन्दर्य के अभाव में काव्यात्मक नहीं माने जा सकते । अस्तु, काव्य में औचित्य का भी कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं है, उसका महत्त्व उसी सीमा तक है जहाँ तक वह शोभा, रुचिता या सौन्दर्य की उत्पत्ति एवं रक्षा में योग देता है ; अतः इस संप्रदाय के अनुसार भी काव्यानुभूति को 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जा सकता है क्योंकि काव्यत्व सौन्दर्य का ही पर्याय है ।

अस्तु, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य—इन पाँचों संप्रदायों की आधारभूत स्थापनाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भले ही वे काव्यात्मा के रूप में क्रमशः अलंकारादि को प्रतिष्ठित करें किन्तु अन्ततः वे सभी स्वीकार कर लेते हैं कि अलंकार, रीति (गुण), ध्वनि आदि ये सब काव्य में शोभा, रुचिरता, चारुता, सुन्दरता या (इन सब को समन्वित रूप में कहें तो) **सौन्दर्य** की सृष्टि, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति या रक्षा के साधन मात्र हैं; अतः काव्य का प्रमुख तत्त्व सौन्दर्य है, जिसे काव्य का धर्म या उसकी आत्मा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है; शेष सब तत्त्व उसी के साधक या सहायक मात्र हैं । इस स्थिति में काव्यानुभूति का अर्थ है—काव्यत्व या सौन्दर्य की अनुभूति । अन्यत्र हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि व्यापक दृष्टि से 'रस' का भी अर्थ—'सौन्दर्यानुभूति' है । अतः उपर्युक्त सभी तत्त्वों को अन्ततः सौन्दर्यानुभूति या रस के संयोजक, घटक या साधक तत्त्वों में स्थान देते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना सूत्र-रूप में इस प्रकार की जा सकती है—

अलंकार, रीति (गुण), ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य,	} —→	सौन्दर्य (काव्यगत सौन्दर्य)	—→	सौन्दर्यानुभूति या रस

उपर्युक्त निष्कर्ष के अनुसार अलंकार, रीति, ध्वनि आदि को एक ही वर्ग में अर्थात् सौन्दर्य के साधनों में ही स्थान दिया गया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है—अवश्य ही, इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है तथा उसी अन्तर के अनुसार उनसे उत्पन्न होने वाले 'सौन्दर्य' एवं उसकी अनुभूति की प्रकृति में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर रहेगा; इस अन्तर का स्पष्टीकरण अन्यत्र

किया जायगा, यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यही है कि अन्ततः ये सभी तत्त्व या गुण काव्यगत या कलागत सौन्दर्य की सृष्टि में योग देते हुए पाठक या सामाजिक को सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति प्रदान करते हैं। अतः रस के संदर्भ में इन्हें विच्छिन्न, पृथक या असम्बद्ध तत्त्व न मानकर रस की आधारभूत वस्तु—सौन्दर्य—के घटक साधक एवं पोषक तत्त्वों के रूप में इनका रस से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

● पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त एवं रस—

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों में अनुकृति, औदात्य, औचित्य, अलंकार, कल्पना, बिम्ब, प्रतीक आदि हैं जो कि काव्य की प्रकृति की व्याख्या विभिन्न रूपों में करते हैं। इन सिद्धान्तों का रस से कोई सम्बन्ध स्थापित हो सकता है या नहीं, और यदि हो सकता है तो किस रूप में—इस प्रश्न पर विचार करने के लिए इनके स्वरूप की विवेचना यहाँ अपेक्षित है।

अनुकृति सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक तो प्लेटो थे, किन्तु इसे विकसित करने का श्रेय अरस्तू को प्राप्त है। प्लेटो के अनुसार काव्य में मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत की जाती है, अतः वह सत्य के प्रचार में बाधक सिद्ध होता है, जबकि अरस्तू ने कला का मूल गुण ही 'प्रकृति की अनुकृति' को मानते हुए, कलाजन्य आनन्द का आधार इसी को बताया। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य में प्रकृति और जगत् के स्वरूप का वर्णन-चित्रण प्रायः उसी रूप में किया जाता है, जिस रूप में वह हमें दृष्टिगोचर होता है—इसी तथ्य की व्यंजना 'अनुकृति' (Imitation) के अन्तर्गत की गयी है; पर यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो काव्य के संदर्भ में 'अनुकृति' शब्द अनुपयुक्त सिद्ध होगा। कवि मूल पात्रों के क्रिया-कलापों के अनुरूप वर्णन या चित्रण करता है, उनका अनुकरण नहीं; अनुकरण की बात एक सीमा तक अभिनय कला पर ही लागू होती है—काव्य पर नहीं। अतः यहाँ 'अनुकरण' को लाक्षणिक प्रयोग मानते हुए उसका लक्ष्यार्थ 'अनुरूप वर्णन या चित्रण' अथवा 'प्रकृति के सदृश वर्णन' ग्रहण करना चाहिये। पर अनुकृति सिद्धान्त अपने-आप में एक अविकसित एवं एकांगी सिद्धान्त है—वह कलागत यथार्थ-चित्रण, स्वाभाविकता, भावात्मक सत्य की तो व्याख्या करता है, किन्तु इस बात का उत्तर नहीं दे पाता कि जिन दृश्यों, घटनाओं व पात्रों को हम जगत में 'कुरूप' 'वीभत्स' या 'घृणित' कहते हैं, उनकी अनुकृति (या सादृश्य-विधान) कला के माध्यम से सुन्दर, मधुर एवं आनन्ददायक क्यों प्रतीत होती है ? अरस्तू ने इसका उत्तर दिया है—जब हम चित्र में घोड़े की अनुकृति देखते हैं तो इससे हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है, और ज्ञान की उपलब्धि से दार्शनिक को ही नहीं—जन-सामान्य को भी आनन्द प्राप्त होता है। अरस्तू का यह उत्तर शंका का समाधान करने में असमर्थ है क्योंकि घोड़े का चित्र देखकर उन

व्यक्तियों का ही ज्ञान बढ़ेगा जिन्होंने पहले कभी घोड़ा नहीं देखा हो; दूसरे, ज्ञान-प्राप्ति का संतोष कला की अपेक्षा दर्शन, इतिहास, कानून-शास्त्र आदि से अधिक संभव है। अस्तु, अनुकृति सिद्धान्त काव्य की सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाता। इसलिए इस सिद्धान्त को विकसित करते हुए बूचर ने अनुकृति का अर्थ 'सादृश्य-विधान', पाट्स ने 'मूल के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करना', स्काटजेम्स ने 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' एवं डॉ० नगेन्द्र ने 'भावात्मक एवं कल्पनात्मक पुनः सृजन' किया है। हमारे विचार में काव्य में अनुकृति या सृष्टि के अनुरूप वर्णन-चित्रण तो रहता है किन्तु उस वर्णन में प्रभावोत्पादकता, भावात्मकता या प्रेषणीयता भी आवश्यक है; इस पक्ष की अरस्तू ने उपेक्षा करदी है। हाँ, यदि अनुकृति या अनुरूप वर्णन सौन्दर्यात्मक (=प्रभावोत्पादक या भावात्मक) रूप को प्राप्त करके पाठक को आनन्दानुभूति प्रदान करने में समर्थ हो तो वह अवश्य कला की कोटि में आ सकता है। संक्षेप में, अनुकृति+सौन्दर्यानुभूति=काव्य।

लौंजाइनस ने 'औदात्य' (Sublime) को ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व घोषित किया तथा आगे चलकर काण्ट, हीगल, बर्क, ब्रेडले, सैंतायना प्रभृति ने भी इसे कला के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में मान्यता दी है। सामान्यतः 'औदात्य' का अर्थ 'उच्चता', 'महानता', 'अलौकिकता', आदि किया जाता है तथा इन सब का सम्बन्ध तात्त्विक बोध या बुद्धि की प्रक्रिया से है। काव्य की वस्तु यदि उदात्त गुणों से समन्वित हो तो निश्चय ही उसमें महानता का संचार होता है किन्तु केवल 'औदात्य' के बल पर ही कोई रचना काव्यात्मक या कलात्मक श्रेणी में नहीं आ जाती। सुकरात, बुद्ध, व्यास, दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द, गाँधी आदि महान् चिन्तकों के विचार औदात्य के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करते हैं फिर भी वे 'काव्य' की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते क्योंकि उदात्त केवल वस्तुगत गुण है, कलात्मक या काव्यात्मक अभिव्यंजना से ही वह कला या काव्य में परिणित हो सकता है। दूसरी ओर यदि अभिव्यंजना कलात्मक या काव्यात्मक हो तो बिना 'उदात्त' के भी कोई रचना कला-श्रेणी में आ सकती है; बिहारी-देव की रचनाएँ इसकी प्रमाण है। अतः औदात्य स्वयं काव्यत्व का साधक तत्त्व नहीं है, वह अतिरिक्त बाह्य तत्त्व है। मूर्ति पीतल की बन सकती है, पर यदि सोने की बनायी जाय तो उसका मूल्य बढ़ जायगा—अवश्य ही यह मूल्य-वृद्धि मूर्ति के कलात्मक महत्त्व की अभिवृद्धि में कोई विशेष योग नहीं देगी; उसमें प्रयुक्त द्रव्य की उत्तमता की ही सूचक होगी; ठीक इसी प्रकार विषय-वस्तु उदात्त हो तो वह रचना के कलात्मक नहीं—वस्तुगत गुणों की अभिवृद्धि में अतिरिक्त योग देगा। इसलिए सैंतायना ने स्पष्ट किया है कि कला में केवल उदात्त की नहीं—उदात्त की अनुभूति अपेक्षित है। अतः सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के विभिन्न घटक या संयोजक तत्त्वों में उदात्त को भी स्थान दिया जा सकता है।

अनेक पाश्चात्य आचार्यों ने—मुख्यतः होरेस, सिसरो, क्विन्टिलियन, दमित्रियस प्रभृति ने—औचित्य, अलंकार, गुण, रीति आदि सिद्धान्तों की भी स्थापना की, जो क्रमशः भारतीय औचित्य, अलंकार, गुण, रीति के अनुरूप हैं। इन्होंने भी इन तत्त्वों को काव्य में सौन्दर्य, आकर्षण, दीप्ति, शोभा आदि की उत्पत्ति के साधन रूप में ही स्वीकार किया है। दमित्रियस के शब्दों में—'Often the subject-matter is naturally unattractive and even repulsive, but a touch of brightness is added by the writer. (On style; Page 134) अर्थात् विषय-वस्तु तो स्वाभाविक रूप में ही आकर्षण-शून्य या विकर्षक भी हो सकती है, किन्तु लेखक द्वारा (अलंकारों के प्रयोग से) उसमें दीप्ति उत्पन्न की जाती है। इन सिद्धान्तों पर विस्तार से हम अपने 'साहित्य-विज्ञान' में विचार कर चुके हैं; यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय तत्त्वों के अनुरूप इन तत्त्वों को भी काव्य-सौन्दर्य एवं सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के साधनों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कल्पना, बिम्ब और प्रतीक—ये तीनों सिद्धान्त वस्तुतः एक प्रक्रिया के विभिन्न रूपों को सूचित करते हैं। वह प्रक्रिया है—कल्पना की। कल्पना द्वारा एक ओर विषय-वस्तु का विस्तार होता है तो दूसरी ओर शैली-पक्ष में बिम्बों एवं प्रतीकों की योजना होती है। अतः हम यहाँ तीनों पर समन्वित रूप में ही विचार कर सकते हैं।

काव्य में कल्पना के महत्त्व की स्थापना आधुनिक युग में मुख्यतः स्वछन्दता वादी कवियों—वर्ड्सवर्थ, कालरिज, प्रभृति के द्वारा हुई। अनुकृति सिद्धान्त कवि की मौलिकता, स्वच्छन्दता एवं नूतनता के प्रतिकूल पड़ता है क्योंकि वह सारा महत्त्व प्रकृति या जगत् को देता हुआ कवि को उसका अनुकर्त्ता मात्र घोषित कर देता है—ऐसी स्थिति में कवि की मौलिक प्रतिभा एवं नूतन सर्जना के लिये कहाँ अवकाश रहता है! इसी के विरुद्ध कल्पना की खोज एवं स्थापना हुयी। कॉलरिज ने अपने 'बायग्राफिया लिट्रेरिया' में कल्पना की विस्तार से मीमांसा करने अनन्तर उसे काव्य की आत्मा घोषित करते हुए लिखा—"Finally, good sense is the body of poetic genius, Fancy its drapery, Motion its life and **Imagination** the soul that is every-where and in each, and forms all into one graceful and intelligent whole." (Biographia Literaria II, Page 13) अर्थात्-'अन्ततः विवेक' शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है। अनुमान शक्ति उसकी पोशाक, आवेग उसका जीवन और **कल्पना-शक्ति ही वह आत्मा** है जो प्रत्येक (काव्य एवं कवि) में सर्वत्र होती है....।' कवि की इस कल्पना-शक्ति की ही अभिव्यक्ति काव्य में बिम्ब-योजना (Imagery) एवं प्रतीक-योजना (Symbol) के रूप में होती है।

अवश्य ही काव्य के शैली पक्ष या अभिव्यंजना-शक्ति की दृष्टि से कल्पना का महत्त्व है, तथा बिम्ब और प्रतीक ही नहीं, पूर्वोक्त अलंकार, वक्रोक्ति एवं ध्वनि का भी आयोजन कल्पना-शक्ति के द्वारा ही होता है; इसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र जैसे प्रमुख रसवादी विद्वान भी स्वीकार करते हैं। अतः कहना चाहिए कि कल्पना का सम्बन्ध किसी एक ही तत्त्व से नहीं, अपितु शैली-पक्ष या अभिव्यंजना-शक्ति के प्रायः सभी गुणों से है। पर विचारणीय यह है कि क्या केवल कल्पना के बल पर काव्य-सृष्टि या सौन्दर्य-सृष्टि सम्भव है? क्या कल्पना को ही काव्य का एक मात्र शक्ति या तत्त्व घोषित किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर कल्पना को काव्यात्मा मानने वाले विद्वान् कवि कालरिज के शब्दों में ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने कल्पना एवं कल्पनाजन्य बिम्बों (Images) की काव्यगत महत्ता पर विचार करते हुए लिखा है—"Images become proofs of original genius only so far as they are modified by a predominant passion." (Biographia Literaria, Chapter 15) अर्थात् कल्पनात्मक बिम्ब उसी सीमा तक प्रतिभा (काव्य-प्रतिभा) को प्रमाणित करते हैं जहाँ तक वे किसी भावावेग से अनुप्राणित या परिष्कृत हो? कॉलिज के ही विचारों का अनुमोदन अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों एवं आलोचकों द्वारा हुआ है तथा आज भी उनका उपर्युक्त विचार मान्य है। सी० डी० लेविस ने अपनी पुस्तक 'The Poetic Image' (प्रथम प्रकाशन-काल १९४७) में कालरिज के ही विचार-को पल्लवित करते हुए विस्तार से स्पष्ट किया है कि कल्पना और बिम्ब-योजना के लिए उनका भावानुभूति से प्रेरित एवं अनुप्राणित होना अत्यावश्यक है। उनके शब्दों में—"Images, however, beautiful....do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by pre-dominant passion; or by associated thoughts or images awakened by that passion'. (The Poetic; Page 19) अर्थात् 'बिम्ब कितने ही सुन्दर क्यों न हो; वे अपने-आप में कवित्व (कवि) के परिचायक नहीं है। वे उसी सीमा तक काव्य-प्रतिभा के प्रमाण हैं जहाँ तक वे प्रमुख भावावेश से परिष्कृत या अनुप्रमाणित हैं, या उस भावावेश के द्वारा उद्वेलित प्रत्यय या बिम्ब से सम्बन्धित है। यहाँ **'उस भावावेश के द्वारा उद्वेलित'** अंश स्वयं लेविस महोदय द्वारा जोड़ा हुआ अंश है; उनके विचार से यदि बिम्ब पूर्णतः भावावेग से अनुप्राणित या परिष्कृत न भी हो तो कम के कम भावावेश से प्रेरित अवश्य हो।

अस्तु, हम यहाँ विस्तार में न पड़कर, इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि शुष्क या भावशून्य कल्पना से काव्य में सुन्दर बिम्बों या सौन्दर्यात्मक बिम्बों अथवा सौन्दर्य का उत्पादन या सर्जन सम्भव नहीं। दूसरे, कल्पना, बिम्ब आदि के

विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि अन्ततः इनका भी लक्ष्य भावावेग की प्रेरणा या सहायता से इन्हें भी सौन्दर्य के साधक तत्त्वों में स्थान दे दिया जाय तो अनुचित न होगा।

पाश्चात्य सिद्धान्तों के विश्लेषण से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

● 'अनुकृति' का काव्य में लक्ष्यार्थ अर्थात् 'अनुरूप-वर्णन' ग्रहण किया जाना चाहिए तथा इस दृष्टि से यह सिद्धान्त काव्य के वस्तुप्रक्ष की यर्थाथिता एवं स्वाभाविकता पर प्रकाश डालता है, किन्तु केवल यथार्थता या स्वाभाविकता के कारण ही व्यावहारिक जगत् के कुरूप एवं वीभत्स दृश्य सुन्दरता में परिणत नहीं हो सकते। इस समस्या का समाधान अरस्तू भी नहीं कर पाते। हमारी प्रत्येक अनुकृति कला या काव्य नहीं, अपितु अनुकृत रूप की सौन्दर्य में परिणति ही काव्य है। अतः अनुकृति काव्य-सौन्दर्य का एक गौण साधन मात्र है।

● उदात्त एक बौद्धिक तत्त्व है जो काव्य एवं कला के वस्तु-पक्ष का अतिरिक्त किन्तु महत्त्व-वर्द्धक तत्त्व है। पर काव्यत्व के लिए उसकी भी सौन्दर्य में परिणति आवश्यक है। इसके लिए उदात्त की भावानुभूति अपेक्षित है।

● पाश्चात्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित औचित्य, अलंकार, गुण-रीति आदि भारतीय औचित्य, अलंकारादि के अनुरूप हैं, अतः इन्हें भी काव्य-सौन्दर्य के साधन रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

● कल्पना, बिम्ब, प्रतीक—मूलतः कल्पना-शक्ति की ही विभिन्न प्रक्रियाओं के सूचक हैं। यद्यपि कालरिज ने कल्पना को काव्य की आत्मा माना है किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि कल्पना, बिम्ब आदि भावात्मकता से अनुप्राणित या भाव-प्रेरित होने पर ही काव्य में सौन्दर्य की व्यंजना कर पाते हैं।

अब पूर्वोक्त भारतीय मतों के निष्कर्ष के साथ इन निष्कर्षों को समन्वित करते हुए उनका रस या सौन्दर्यानुभूति से इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है—(१) पूर्वोक्त सभी भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्व किसी न किसी प्रकार काव्यगत सौन्दर्य के साधक, पोषक या संरक्षक हैं। (२) किसी भी साधन से उत्पन्न काव्यगत (कलागत) सौन्दर्य की अनुभूति अन्ततः आह्लादक होती है जिसे 'सौन्दर्यानुभूति' या रसानुभूति कहा जा सकता है; इस प्रकार सभी तत्त्व काव्य-सौन्दर्य के साधन-रूप में सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति से भी सम्बन्धित हैं।

स्पष्टता के लिए सभी भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्वों को तीन वर्गों में भी विभक्त किया जा सकता है—(१) बौद्धिक तत्त्व (२) भावात्मक तत्त्व और (३) कल्पनात्मक तत्त्व। इन तीनों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) वस्तु-पक्ष से सम्बन्धित और (१) शैली या अभिव्यक्ति पक्ष से सम्बन्धित।

पूर्वोक्त तत्त्वों में से बौद्धिक तत्त्वों में औचित्य, अनुकृति एवं औदात्य, भावात्मक तत्त्वों में स्थायीभाव एवं उसके विभिन्न अवयव—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि (इनकी व्याख्या इस अध्याय में नहीं की गयी, किन्तु अन्यत्र पहले की जा चुकी है—) एवं कल्पनात्मक तत्त्वों में—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, बिम्ब, प्रतीक आदि आते हैं। इन सब तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है।

तालिका : विभिन्न तत्त्वों का रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्ध

काव्य के साधक तत्त्व		काव्यगत साध्य तत्त्व	पाठक की उपलब्धि
वस्तुगत तत्त्व	शैलीगत तत्त्व		
(क) बौद्धिक तत्त्व (१) औचित्य (२) अनुकृति (३) औदात्य (ख) भावात्मक तत्त्व (१) स्थायीभाव (२) विभाव (३) अनुभाव (४) संचारी भाव	(ग) कल्पनात्मक तत्त्व (१) अलंकार (२) गुण (३) वक्रोति (४) ध्वनि (५) बिम्ब (६) प्रतीक	सौन्दर्य → (शोभा, चारुता, दीप्ति, रुचिरता, आदि)	सौन्दर्यानुभूति (रसानुभूति)

अस्तु, उपर्युक्त तालिका को भी सूत्र-रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—**बौद्धिक तत्त्व + भावात्मक तत्त्व + कल्पनात्मक तत्त्व = सौन्दर्य → सौन्दर्यानुभूति**। इन तत्त्वों का सौन्दर्याभूति या रस से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित होता है तथा विभिन्न तत्त्वों के अनुसार सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप में क्या परिवर्तन होता है—इन सब प्रश्नों पर आगे विचार किया जायगा, यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विभिन्न तत्त्व जिस सीमा तक काव्य-सौन्दर्य के उत्पादन, पोषण एवं संरक्षण में सहायक सिद्ध होते हैं, उसी सीमा तक वे रसानुभूति से भी सम्बन्धित हैं—यह दूसरी बात है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध का उद्घाटन पूर्ववर्ती रसवादी आचार्यों द्वारा सम्यक् रूप में न हो पाया हो। साथ ही स्वयं सौन्दर्य या काव्यात्मक सौन्दर्य का स्वरूप क्या है—इसका भी स्पष्टीकरण अपेक्षित है। इन अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रयास हम अगले अध्यायों में करेंगे, अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा।

●

३ रस : समन्वयात्मक दृष्टि से

विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के संदर्भ में रस पर विचार करते हुए पिछले अध्याय में इस निष्कर्ष की उपलब्धि की गयी थी कि व्यापक रूप में रस काव्यगत या कलागत सौन्दर्य की अनुभूति हैं तथा काव्यगत सौन्दर्य का सर्जन, उत्पादन, निर्माण या प्रकाशन विभिन्न वस्तुगत एवं शैलीगत तत्त्वों के सहयोग से होता है। यद्यपि विभिन्न सिद्धान्तों में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, बिम्ब, प्रतीक, औचित्य, आदि विभिन्न तत्त्वों को काव्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में स्थापित किया गया है जो एकांगिता एवं अतिवादिता से युक्त है, किन्तु सत्य यह है कि ये सभी तत्त्व किसी न किसी किसी रूप में काव्य सौन्दर्य के घटक या साधक हैं—यह दूसरी बात है कि किसी का महत्त्व न्यून एवं किसी का अधिक है। अस्तु, सभी तत्त्वों का काव्यगत सौन्दर्य से तथा सौन्दर्यानुभूति या रस से न्यूनाधिक सम्बन्ध अवश्य है : इस स्थापना से रस-सिद्धान्त को एक व्यापक संदर्भ प्राप्त हो जाता है तथा वह सभी तत्त्वों व सिद्धान्तों से सम्बन्धित हो जाता है, किन्तु यहाँ एक नयी समस्या उपस्थित हो जाती है, वह यह कि स्वयं 'सौन्दर्य का स्वरूप एवं लक्षण क्या है—इसका निर्धारण कैसे किया जाय। सौन्दर्य शास्त्र में विभिन्न कलाओं की दृष्टि से सौन्दर्य की व्याख्या का प्रयास विभिन्न शताब्दियों में शताधिक विद्वान कर चुके है—किन्तु अभी तक वे किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाये हैं; ऐसी स्थिति में काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करना सरल कार्य प्रतीत नहीं होता। फिर भी जब तक स्वयं 'सौन्दर्य' का अर्थ स्पष्ट न करलें तब तक सौन्दर्यानुभूति या रस के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं सोचा जा सकता है; अतः हमें भी इस समस्या का सामाना करना ही होगा।

● सौन्दर्य का सामान्य लक्षण—

यदि हम सौन्दर्य की परम्परागत परिभाषाओं एवं व्याख्याओं से बचकर व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्य का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि इसका सम्बन्ध वस्तुओं के उन प्रतीत्यात्मक गुणों से है, जिन्हें देखकर हमें आकर्षण की अनुभूति होती है। सामान्यतः सभी इन्द्रियों की यह प्रकृति है कि बाह्य पदार्थों, वस्तुओं, दृश्यों, व्यक्तियों आदि के संपर्क से वे विशिष्ट प्रकार का प्रभाव या बोध ग्रहण करती है; यह बोध भी मुख्यतः दो प्रकार का होता है—एक अनुकूल और दूसरा—प्रतिकूल। जिन पदार्थों से इन्द्रियों को अनुकूल प्रभाव या बोध प्राप्त होता है, उनके प्रति वे आकर्षण तथा प्रतिकूल प्रभाव या बोध प्रदान करने वाले पदार्थों के प्रति विकर्षण अनुभव करती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के प्रभाव को इस दृष्टि से दो वर्ग में विभाजित किया जाता है, यथा—श्रवणेन्द्रिय से मधुर और कर्कश, स्वादेन्द्रिय से मधुर एवं कटु, स्पर्शेन्द्रिय से कोमल और कठोर, घ्राणेन्द्रिय से सुगन्ध एवं दुर्गन्ध तथा चक्षुरिन्द्रिय से सुन्दर एवं असुन्दर का बोध प्राप्त होता है। इस दृष्टि से 'सौन्दर्य' वस्तुओं के उस गुण का सूचक है जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय को अनुकूल या आकर्षक प्रभाव या बोध प्रदान करे—सौन्दर्य की यह सामान्य परिभाषा मानी जा सकती है।

उपर्युक्त दृष्टि से 'सौन्दर्य' वस्तुओं के उस गुण या प्रभाव का ही द्योतक है जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय को प्रभावित या आकर्षित करें, किन्तु हम कई बार ऐसे गुणों के लिए भी 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग करते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी चक्षुरिन्द्रिय से न होकर अन्य इन्द्रियों से होता है; यथा—जब हम कहते हैं—'तुम बहुत सुन्दर गाती हो' या 'तुम्हारे विचार बहुत सुन्दर हैं'—तो निश्चय ही यहाँ 'सुन्दर' का सम्बन्ध चक्षुरिन्द्रिय से नहीं होता। गीत की सुन्दरता का बोध श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से होता है तथा विचारों की सुन्दरता का निर्णय बुद्धि करती है—किन्तु फिर भी यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो वस्तुतः लाक्षणिक प्रयोग है। हम केवल 'सुन्दर' या 'सौन्दर्य' का ही नहीं अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित गुणों के वाचक शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में करते हैं; जैसे—'आपका व्यवहार बड़ा **मधुर** एवं **कोमल** है; यहाँ 'मधुर' एवं 'कोमल' का प्रयोग भी लाक्षणिक अर्थ में हुआ है। अस्तु, सौन्दर्य, मधुर, कोमल आदि शब्दों का प्रायः दोहरा प्रयोग होता रहता है; एक वाच्यार्थ या अभिधात्मक अर्थ में और दूसरा लक्ष्यार्थ में। यहाँ इसका भी निषेध नहीं किया जा सकता कि अन्य अर्थों—व्यंग्यार्थ, प्रतीकार्थ आदि में भी इनका प्रयोग प्रसंगानुसार एवं भाषा (अभिव्यक्ति) की आवश्यकतानुसार होता रहता है।

अब यहाँ यह विचारणीय है कि काव्य के संदर्भ में हम 'सौन्दर्य' का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं—वाच्यार्थ में या लक्ष्यार्थ में अथवा किसी अन्य प्रकार के अर्थ में ? हमारे विचार से सामान्यतः काव्य का आस्वाद सुनकर ही लिया

जाता है, यह दूसरी बात है कि कई बार हम पुस्तक के माध्यम से उसे पढ़ते या देखते भी हैं; ऐसी स्थिति में—विशेषतः जब कि हम काव्य को सुन रहे हैं, उसे 'सुन्दर' बताना लाक्षणिक प्रयोग का ही सूचक होगा। वैसे भी काव्य में जिन व्यक्तियों घटनाओं, दृश्यों एवं कार्य-व्यापारों का वर्णन या चित्रण होता है, वे हमारी प्रत्यक्ष या चाक्षुष अनुभूति के विषय नहीं बनते; हम पहले शब्दों को सुनकर या पढ़कर उनका अर्थ-बोध प्राप्त करते हैं, तथा यह अर्थ-बोध बुद्धि की प्रतिक्रिया है—इसके अनन्तर अर्थ-बोध भी भावना के स्तर पर पहुँचता है जो भावना या संवेदन की प्रक्रिया है। अस्तु, भले ही हम चक्षुओं के माध्यम से पुस्तक का अध्ययन करें किन्तु अन्ततः वह बोध चाक्षुष अनुभूति तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु बुद्धि एवं भावना के स्तर पर पहुँचेगा तथा जब हम काव्य को सुन्दर बताते हैं तो उसका भी सम्बन्ध इनमें से किसी एक प्रक्रिया से नहीं रहेगा—उन सबके समन्वित प्रभाव का ही वह सूचक होगा। अतः यहाँ निश्चय ही 'सौन्दर्य' का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया जाता है; इसीलिए हम काव्य के संदर्भ में 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'माधुर्य' 'कोमल' (यथा—'कोमल कान्त पदावली' में) का भी प्रयोग कर सकते हैं क्योंकि 'माधुर्य' एवं 'कोमल भी यहाँ लाक्षणिक अर्थ में ही प्रयुक्त होंगे। वास्तव में परम्परागत भारतीय काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में 'माधुर्य' शब्द का भी प्रयोग बहु-प्रचलित रहा है। अस्तु, यहाँ 'सौन्दर्य', 'माधुर्य' आदि शब्दों का लाक्षणिक अर्थ एक हो है।

प्रश्न है, काव्य संदर्भ में 'सौन्दर्य' या 'माधुर्य' का लाक्षणिक अर्थ क्या है ? इसके लिए पहले हमें इनके वाच्यार्थ को स्पष्ट करना होगा। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, वाच्यार्थ के रूप में हम कह सकते हैं—'वस्तु का जो गुण चक्षुरिन्द्रिय को आकर्षित करे वह सौन्दर्य है तथा जो स्वादेन्द्रिय को आकर्षित करे (=अनुकूल प्रभाव प्रदान करे) वह 'माधुर्य' है। इनके लाक्षणिक अर्थ में हम इन दोनों अर्थों का समीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

- सौन्दर्य=जो चक्षुरिन्द्रिय को **आकर्षित करे**। (वाच्यार्थ)
- माधुर्य=जो स्वादेन्द्रिय को **आकर्षित करे**। (वाच्यार्थ)
- सौन्दर्य/माधुर्य=जो·········आकर्षित करे। (लक्ष्यार्थ)

अस्तु, संक्षेप में काव्य-संदर्भ में 'सौन्दर्य' का लक्ष्यार्थ है—'वह गुण या शक्ति जो आकर्षित करे। इसे और संक्षेप में कहें तो **'आकर्षण-शक्ति'** ही **'सौन्दर्य'** है। वस्तुतः 'आकर्षण' शब्द ही एक ऐसा शब्द है, जिसका प्रयोग न केवल सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में अपितु बुद्धि, मन और चेतना के भी विभिन्न संदर्भों में अनकूल प्रभाव के लिए इसका प्रयोग अभिधात्मक रूप में ही किया जा सकता है जबकि सौन्दर्य, का प्रयोग चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रसंगों में लक्ष्यार्थ में ही होता है। शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवेचन में लक्ष्यार्थ शब्दों का प्रयोग भ्रामक एवं दोषपूर्ण सिद्ध होता है; यथा—

'मनोविज्ञान' में यदि कोई बुद्धि की अल्पता को सूचित करने के लिये 'गदर्भ' विशेषण का प्रयोग करदे तो इससे अनर्थ हो सकता है। अतः निश्चय ही 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'आकर्षण' का प्रयोग न केवल काव्य में अपितु अन्य कलाओं के संदर्भ में भी निर्दोष एवं संगत सिद्ध होगा। हमारे विचार में 'सौन्दर्य-शास्त्र' के क्षेत्र में शताब्दियों के बाद भी सौन्दर्य की व्याख्या स्पष्ट न हो पाने का एक बड़ा कारण यह भी है कि विभिन्न विचारकों ने कलागत सौन्दर्य को लक्ष्यार्थ के स्थान पर वाच्यार्थ में ग्रहण कर लिया, अतः वे अपने लक्ष्य से दूर चले गये या भटक गये।

● **सौन्दर्यानुभूति या रस की व्याख्या**—

जब हम 'सौन्दर्य' को 'आकर्षण' मानते है तो 'सौन्दर्यानुभूति' को 'आकर्षण की अनुभूति' मानने में कोई बाधा नहीं है। कला एवं काव्य में विषय-वस्तु को आकर्षण-युक्त या आकर्षक रूप या माध्यम में प्रस्तुत किया जाता है; वस्तुगत तत्त्व चाहे स्वयं आकर्षक हों या न हो, शैलीगत तत्त्वों के द्वारा उनमें आकर्षण उत्पन्न किया जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए ग्रीक आचार्य दमित्रियस ने बहुत पहले अपने ग्रन्थ 'On style' में लिखा था—"Often the subject-matter is naturally unattractive and even repulsive, but a touch of brightness is added by the writer" (Para, 134) अर्थात् विषय-वस्तु तो प्रायः स्वभाविक रूप में ही आकर्षण-शून्य या विकर्षक होती है किन्तु लेखक अपनी (प्रतिभा के) स्पर्श से उसमें दीप्ति (=आकर्षण) उत्पन्न करता है।' इसी प्रकार होरेस ने भी लिखा—'कविताओं का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं, वे आकर्षक भी होनी चाहिए—उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींचलें।' दूसरी ओर भामह ने भी स्वीकार किया कि 'शब्द-रचना की चतुराई जितनी चित्ताकर्षक होती है, उतनी अन्य नहीं।' वस्तुतः इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न आचार्यों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में काव्य में आकर्षण की सत्ता को स्वीकार करते हुए अलंकार आदि का लक्ष्य आकर्षण उत्पन्न करना ही माना है तथा शोभा, रुचिरता, रमीयणता चारुता, सुन्दरता आदि का समन्वय भी 'आकर्षण' में हो जाता है।

रूपवादी या शैली को प्रमुखता देने वाले आचार्य तो 'आकर्षण' को सहज ही स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि उन्होंने अन्ततः रूपगत आकर्षण के ही विभिन्न साधनों की व्याख्या की है, किन्तु वस्तुवादी आचार्यों को इसमें थोड़ी कठिनाई प्रतीत हो सकती है क्योंकि उन्हें इससे विचार तत्त्व या भाव तत्त्व की उपेक्षा हो जाने की आशंका हो सकती है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि जहाँ तक विचार तत्त्व या बौद्धिक तत्त्वों—औचित्य, अनुकृति, औदात्य आदि—की बात है, यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई भी विचार चाहे वह कितना **संगत** (=औचित्यपूर्ण), **यथार्थ** (=अनुकृति मूलक) एवं **उच्च** (=औदात्य से युक्त) क्यों न हो, जब तक उसे आकर्षक

रूप या आकर्षण-युक्त शैली में प्रस्तुत न किया जायगा तब तक न तो वह कलात्मक रूप में परिणत हो पायेगा और न ही सामान्य पाठक या सामाजिक की उसमें सामान्य रूचि एवं प्रवृति (बौद्धिक रूचि एवं प्रवृति नहीं) हो सकेगी। अत: उन्हें तो आकर्षण की अनिवार्यता स्वीकार करनी ही होगी, यह दूसरी बात है कि वे 'आकर्षण' के स्थान पर सौन्दर्य या माधुर्य के लाक्षणिक प्रयोग के अभ्यस्त होने के कारण उसे अधिक पसन्द करें।

रही बात भाववादियों की—जिनमें पाश्चात्य भावोद्दीप्तिवादी, भाववलम्बनवादी, भाव-प्रेषणावादी, भावाभिव्यक्तिवादी तथा भारतीय रसवादी आचार्य आ जाते हैं—अवश्य ही कला के भाव तत्त्व में ही रुचि एवं प्रवृत्तिकी क्षमता मानते हैं कि उसके लिए 'आकर्षण' की अपेक्षा नहीं समझी जायगी। इनमें भी दो प्रकार के विद्वान् हैं, कुछ तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में भावतत्त्व को कलागत सौन्दर्य का ही अंग, साधन या आधार स्वीकार करते हैं; इस वर्ग के विद्वानों को तो 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'आकर्षण' स्वीकार कर लेने से भी विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। दूसरे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जिन्होंने कलागत भाव की व्याख्या सौन्दर्य निरपेक्ष रूप में की है; इस वर्ग में अनेक भारतीय रसवादी आते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग और भी है जो भाव और सौन्दर्य से पृथक 'सौन्दर्यात्मक भाव' (Aesthetic) का अस्तित्व मानते हुए कलानुभूति का सारा श्रेय उसकी प्रदान करते हैं। यहाँ हम इन दोनों के ही दृष्टिकोण से आकर्षण तत्त्व की स्थिति पर विचार करेंगे।

पहले भारतीय रसवादी आचार्यों की दृष्टि से विचार करते है। इनमें अनेक आचार्यों ने तो स्वयं ही कलागत भाव का सम्बन्ध सौन्दर्य से मानते हुए, उसी की परिणति रस में बताई है। यथा—**भट्टनायक** ने भावन-प्रक्रिया का आधार विभावों का दोषाभाव, गुण अलंकार से युक्त हो जाना माना है तो **अभिनव गुप्त** ने इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए काव्य में साधारणीकरण का कारण अर्थ का गुण, अलंकार आदि से 'सुन्दरीभूत' हो जाना या सौन्दर्य युक्त हो जाना बताया है—यह अन्यत्र विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने भी रसानुभूति के व्यावहारिक स्वरूप की मीमांसा करते हुए लिखा है—'सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं·········शुद्ध काव्य क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है, न बुरी·········सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर।' अन्यत्र वे प्रतिपादित करते हैं—'कविता केवल वस्तुओं के रूप-रंग के **सौन्दर्य** की छटा नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के **सौन्दर्य** के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।·········यह रसदशा नहीं तो और क्या है?' इसी प्रकार आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी सौन्दर्य और रस का अभिन्न सम्बन्ध मानते हुए लिखा है—'इसी **सौन्दर्य-संवेदन** को भारतीय परिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं।' डॉ० नगेन्द्र ने 'रस' की विस्तृत व्याख्या के अनन्तर ये

निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं—'अतः संक्षेप में रस के तीन अर्थ है : (१) भाव मूलक काव्य-सौन्दर्य (२) भाव मूलक काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति (३) सामान्य काव्य-सौन्दर्य[1] । यहाँ 'भाव' शब्द चाहे तीनों निष्कर्षों में न आ पाया हो किन्तु 'सौन्दर्य' सर्वत्र विद्यमान है । अतः यदि हम भट्टनायक से लेकर डॉ० नगेन्द्र की परम्परा के अनुसार काव्यगत भाव के संदर्भ में सौन्दर्य या आकर्षण को आवश्यक मानें तो अनुचित न होगा ।

उक्त प्रश्न पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है—मधुर भावों में तो सर्वसाधारण की रूचि एवं प्रवृत्ति सहज है किन्तु काव्यगत कटु भावों में सामाजिक की प्रवृत्ति का क्या कारण है ? रस,सैद्धान्तिक आचार्यों के अनुसार कटु भावों का निर्वैयक्तिक, निर्विशेष या साधारणीकृत हो जाना ही इसका कारण है। पर मनोविज्ञान की दृष्टि से 'निर्वैयक्तिकता' को क्या कहा जायगा ? डॉ० भगवान दास ने अपने ग्रन्थ 'दी साइन्स आफ इमोशन्स' में प्रतिपादित किया है कि विभिन्न भाव मूलतः आकर्षण-विकर्षण के विकसित रूप हैं; जब आकर्षण और विकर्षण के साथ 'अहंतत्त्व संयुक्त हो जाता है तो वे क्रमशः राग-द्वेष में परिणत हो जाते हैं और उन्हीं से परिस्थिति भेद से अनेक भाव उत्पन्न होते हैं; जैसे, राग बडे के प्रति श्रद्धा में, छोटे के प्रति स्नेह में, समलैंगिक के प्रति मित्रता में, भिन्न लैंगिक के प्रति रति·में परिणत हो जाता है । अस्तु, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आकर्षण+अहं=राग या भाव । जिसे रस सैद्धान्तिक आचार्यों ने वैयक्तिकताशून्य या निर्वैयक्तिक, निर्विशेष, साधारणीकृत भाव कहा है, वह वस्तुतः 'अहं शून्य भाव' है, जिसे 'आकर्षण' कहना उचित होगा; क्योंकि यदि 'आकर्षण+अहं=भाव' उचित है तो 'भाव—अहं=आकर्षण' भी उचित होगा । भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की रस-निष्पत्ति प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भी बताया है कि साधारणीकरण का मूल कारण हमारी चेतना का अहं के बन्धन से मुक्त हो जाना है; इसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हृदय की मुक्त दशा' मानी है । ऐसी स्थिति में काव्यगत 'निर्विशेष भाव' की अनुभूति को 'अहंशून्य भाव' या 'आकर्षण' की अनुभूति कहें, तो अनुचित न होगा क्योंकि अन्ततः परम्परागत दर्शन और आधुनिक मनोविश्लेषण—दोनों की ही दृष्टि से 'अहं' का बन्धन ही व्यक्ति की चेतना व अनुभूति को 'इदं' या सामाजिक बोध से पृथक करता है ।

काव्यजन्य भावानुभूति के निर्विशेष या साधारणीकृत रूप को आकर्षण की अनुभूति मान लेने पर सौन्दर्यानुभूति की अनेक समस्याएं स्वतः ही सुलझ जाती हैं । हमारी कलागत कुरूप, वीभत्स एवं करुण में क्यों प्रवृत्ति होती है तथा उनसे

---

१. रस-सिद्धान्त; पृ० सं० ८४

हम आनन्दित क्यों होते हैं—इसका सम्यक् उत्तर न भाव के आधार पर दिया जा सकता है और न सौन्दर्य के आधार पर जबकि आकर्षण के प्रसंग में यह समस्या उपस्थित ही नहीं होती। व्यावहारिक जीवन में भी एक कुरुप, गन्दा, नग्न भिखारी भी हमें आकर्षित करके अपनी दीनता के बोध को संप्रेषित करने में सफल हो जाता है? हम अपनी कुरूप माता के भी या कुरूप पुत्र के भी दर्शन के लिए लालायित रहते हैं या महात्मा गान्धी जैसे व्यक्ति को देखकर भी भाव विभोर हो जाते हैं; अथवा फटा पुराना सौ रुपये का नोट भी दस रुपये के नये नये नोटों के बदले में स्वीकार कर लेते हैं; काले कोयलों और गन्दी खाद को भी घर या खेत के लिए रुचिपूर्वक खरीदते हैं—अवश्य ही इन सब उदाहरणों में हमारी रुचि एवं प्रवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होंगे किन्तु एक बात स्पष्ट है कि उनके आलम्बन सभी सौन्दर्य-युक्त या सुन्दर नहीं हैं। इसका तात्पर्य है कि जीवन में भी हम ऐसे पदार्थों, तत्त्वों या व्यक्तियों को रुचि पूर्वक ग्रहण करते हैं जो बाह्य रूप की दृष्टि से भले ही कितने ही कुरुप क्यों न हों! इन के मूल में रुचि, स्वार्थ, आवश्यकता आदि अनेक कारण दृष्टि-गोचर होंगे, किन्तु वे सब आकर्षण के ही विभिन्न भेद हैं। आकर्षण के अनेक स्तर एवं भेद हैं—ऐन्द्रियक आकर्षण, भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण आदि। रुचि, प्रवृत्ति जिज्ञासा आदि आंकर्षण के ही भावात्मक एवं बौद्धिक रूप की सूचक हैं। यह सब हम अन्यत्र स्पष्ट करेंगे—यहाँ हमारा प्रयोजन इतना ही स्पष्ट करना है कि जहाँ 'कुरूप भिखारी' 'कुरूप माता' 'फटे हुए पुराने नोट में सौन्दर्य की सत्ता नहीं मानते वहाँ भी उनमें भावात्मक या बौद्धिक आकर्षण अवश्य मान लेंगे; अन्ततः कुरूप भिखारी भी अपनी चेष्टाओं द्वारा हमें आकर्षित कर लेता है तथा सौ रुपये का मैला कुचला नोट भी किसी को इतना आकर्षित कर सकता है कि वह घन्टों हमारा साथ न छोड़े।

कहा जा सकता है कि हमने यहाँ आकर्षण में बौद्धिक आकर्षण को भी सम्मिलित करके उचित रहीं किया—जो लोग कला या रस का क्षेत्र भावनाओं तक ही सीमित समझते हैं, उनके मन में अवश्य ऐसा विचार उठेगा; किन्तु यदि हम कला में बौद्धिक तत्त्वों का भी आस्तित्त्व स्वीकार करते हैं तो उनसे बौद्धिक आकर्षण की भी उद्दीप्ति संभव है। यह बौद्धिक आकर्षण कला के सामान्य सौन्दर्य या आकर्षण से कितना भिन्न या अभिन्न है, इसका निर्णय हम अन्यत्र करेंगे; यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आकर्षण का अर्थ क्षेत्र 'सौन्दर्य' जैसे शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक तो है ही, साथ ही वह उन समस्याओं का भी समाधान कर पाता है जो 'सौन्दर्य' या 'माधुर्य' जैसे शब्दों के लाक्षणिक प्रयोगों के कारण उत्पन्न हुई हैं।

क्या लौकिक आकर्षण एवं कलाजन्य आकर्षण को एक ही माना जा सकता है—इस प्रश्न का उत्तर भी अन्यत्र दिया जायगा। यहाँ संक्षेप में कहा जा सकता है कि हमें आकर्षित करने वाले सड़क के भिखारी एवं रंग-मंच के भिखारी में 'आकर्षण'

की दृष्टि से तो अन्तर नहीं है किन्तु परिस्थितियों का भेद अवश्य है जिससे एक परिस्थिति में उत्पन्न 'आकर्षण' शक्ति एवं मात्रा की दृष्टि से उतना सबल नहीं होता जितना अन्यत्र उत्पन्न आकर्षण हो सकता है। वस्तुतः आकर्षण की मात्रा के साथ-साथ उसकी प्रकृति में भी अन्तर रहता है—विभिन्न प्रकार की कलाओं, एवं विभिन्न विषयों पर आधारित कलाओं में आकर्षण तो सर्वत्र विद्यमान रहता है—यदि वे कला कोटि में आती है तो—किन्तु आकर्षण की प्रकृति एवं मात्रा में उनमें परस्पर अन्तर संभव है।

आकर्षण की प्रकृति एवं मात्रा का विस्तृत विवेचन हम अपने अन्य ग्रन्थ 'साहित्य-विज्ञान' में सप्रमाण कर चुके हैं; यहाँ हम उस ग्रन्थ में उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर संक्षेप में आकर्षण शक्ति के रूप-भेदों पर प्रकाश डालते हैं।

कला में ऐन्द्रियक, भावात्मक एवं बौद्धिक—तीनों प्रकार के तत्त्व रहते हैं, जिनसे क्रमशः ऐन्द्रियक आकर्षण, भावात्मक आकर्षण एवं बौद्धिक आकर्षण की सृष्टि होती है। विभिन्न कला कृतियों में ऐन्द्रियक, भावात्मक एवं बौद्धिक तत्त्व समान रूप में ही नहीं होते, किसी में कोई तत्त्व अधिक और कोई गौण होता है। इसी स्थिति के अनुसार कुछ कला दृष्टियों में ऐन्द्रियक आकर्षण की, कुछ में भावात्मक आकर्षण की कुछ में बौद्धिक आकर्षण की प्रमुखता रहती है तो कहीं-कहीं कल्पनात्मक या रूपात्मक आकर्षण की भी प्रमुखता संभव है। अस्तु, कला-कृति एवं काव्य के वस्तुगत तत्त्वों के अनुसार आकर्षण के भी विभिन्न भेद किये जा सकते हैं—जिनका निरूपण एवं स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा; यहाँ हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि कला कृति में सौन्दर्य या आकर्षण की उद्दीप्ति विभिन्न साधनों एवं माध्यमों से की जाती है, तथा उनसे उत्पन्न या उद्दीप्त सौन्दर्य अथवा आकर्षण के विभिन्न भेदों में प्रकृति, गुण एवं मात्रा की दृष्टि से परस्पर अन्तर रहना भी स्वाभाविक है—किन्तु अन्ततः वे सभी आकर्षण की ही कोटि में आते हैं तथा कला के माध्यम से अनुभूत किसी भी प्रकार के आकर्षण से रसानुभूति की उपलब्धि संभव है।

अस्तु, पूर्वोक्त स्थापना के अनुसार 'रस' का अर्थ या तात्पर्य 'सौन्दर्यानुभूति' था, जिसे अब अधिक स्पष्ट एवं निश्चित रूप देने के लिए कहा जा सकता है—'आकर्षण की अनुभूति' ही सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति है। परम्परागत रस सिद्धान्त में मुख्यतः भावात्मक आकर्षण का ही विवेचन विश्लेषण हुआ है; जब कि उसे व्यापक रूप देने के लिए बौद्धिक, कल्पनात्मक, एवं रूपात्मक (शैली जन्य) आकर्षण को भी स्वीकृति देते हुए उसकी भी विवेचना आवश्यक है। अतः आगे विभिन्न अध्यायों में आकर्षण के विभिन्न भेदों की व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त को व्यापक रूप देने का प्रयास किया जायगा।

●

४ | बौद्धिक रस : एक स्थापना

कला और साहित्य में बौद्धिक तत्त्व—विचार, प्रत्यय, सिद्धान्त आदि—न्यूनाधिक रूप में सदा विद्यमान रहते हैं; यह एक सामान्य तथ्य है जिसकी पुष्टि के लिए विशेष प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। मनोविज्ञान के अनुसार हमारे विभिन्न संवेदन विचार से संपृक्त होकर ही, भाव, मनोवेग, संवेग आदि में परिवर्तित होते हैं, अतः कोई भी भाव, भावना एवं स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति विचार से नितान्त शून्य नहीं हो सकती। फिर भी साहित्य में विचार की दो स्थितियाँ संभव हैं—एक तो वह जिसमें विचार किसी भाव या भावना का अंग बनकर प्रस्तुत हो तथा वहाँ उसका लक्ष्य भी भाव विशेष की पुष्टि में योग देना होता है। दूसरी स्थिति यह है कि वह भाव का अंग या सहायक न होकर वही प्रमुख होता है तथा उसी की अनुभूति को किसी न किसी प्रकार संवेद्य रूप दे दिया जाता है। दूसरी स्थिति के द्योतक कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

(क) करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पै परत निसान ॥

(ख) माखी गुड़ में गडि रही पंख रही लपटाय।
ताली पीटै सिर धुनै मीठै बोइ माय ॥

(ग) अपने न दोष पेखे, पर के औगुण पेखे,
दुष्ट को सुभाव, उठि निन्दा ही करतु है।

× × ×

पाँव के तरे की नहीं सूझै आग मूरख कूँ,
और सूँ कहत तेरे सिर पै बरतु है।

उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमशः अभ्यास की महिमा, लोभ की बुराई और दुष्ट के लक्षणों का निरूपण किया गया है; इनमें किसी भाव-विशेष की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती—अतः इन्हें हम सामान्य रूप में विचार-प्रधान काव्य के उदाहरण के रूप में ग्रहण करते हुए 'विचारात्मकता' या 'बौद्धिकता' को उसकी प्रमुख प्रवृत्ति मान सकते हैं।

● परम्परागत साहित्य-शास्त्र और बौद्धिकता—

जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, परम्परागत साहित्य-शास्त्र में भी अनेक ऐसे सिद्धान्त स्थापित हुए हैं जो विचार तत्त्व या बौद्धिकता को ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में महत्त्व प्रदान करते हैं। इनमें चार प्रमुख हैं—अनुकृति, औचित्य, उदात्त और शान्त रस। अनुकृति सिद्धान्त के अनुसार कवि या कलाकार वस्तुओं, एवं व्यक्तियों एवं घटनाओं का वर्णन अपने पूर्व ज्ञान के अधार पर करता है, अतः इस दृष्टि से अनुकृति सिद्धान्त पूर्व ज्ञान या यथार्थ ज्ञान का अनुमोदक सिद्ध होता है। अरस्तु ने कला से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता को भी ज्ञान-प्राप्ति का आनन्द माना है। अतः निश्चय ही अनुकृति सिद्धान्त विचार या ज्ञान की प्रमुखता का घोषक है, किन्तु वह भाव-निरूपण का भी निषेध नहीं करता। उसका बल 'यथार्थता' या 'स्वाभाविकता' पर अधिक है—यह ययार्थता चाहे विचार या ज्ञान की हो अथवा भाव और अनुभव की।

औचित्य सिद्धान्त विषय-वस्तु की उपयुक्तता, उचित-संघटना, एवं संगति का निर्देशक है। वैसे 'औचित्य' बुद्धि की प्रक्रिया से सम्बन्धित है—कोई वस्तु या कार्य उचित है या नहीं; इसका निर्णय हम विवेक बुद्धि के आधार पर करते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि औचित्य सिद्धान्त काव्य में भाव तत्त्व का निषेध करता है; अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह भावों के भी उचित (=स्वाभाविक) प्रतिपादन पर बल देता है।

इस प्रकार अनुकृति एवं औचित्य—दोनों बौद्धिक तत्त्व होते हुए भी काव्य एवं कला में विचार और भाव—दोनों के ही यथार्थ एवं संगत रूप के अनुमोदक हैं; अतः इन्हें शुद्ध बुद्धिवादी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता जबकि शान्तरस और उदात्त सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में काव्यगत बौद्धिकता से है, किन्तु इनके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है; अतः काव्यगत बौद्धिकता के संदर्भ में इनकी व्याख्या करने से पूर्व इनके स्वरूप का विश्लेषण व स्पष्टीकरण कर लेना उचित होगा।

● शान्त रस का स्वरूप-विवेचन—

प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता भरत ने आठ ही रस-भेद माने थे, नवें रस के रूप में शान्त रस की कल्पना परवर्ती

आचार्यों की उपलब्धि है; अतः 'नाटय् शास्त्र' में शान्त रस सम्बन्धी धारणाएँ बाद में प्रक्षिप्त की हुई हैं। हमारे विचार में शांत रस भरत की अपनी खोज हो या बाद के विद्वानों की—इससे इसके महत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु शांत रस की स्थापना रस सिद्धान्त की विकासोन्मुखता को अवश्य प्रमाणित करती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत उस काव्य या साहित्य को स्थान दिया गया है जो किसी अन्य रस के अन्तर्गत नहीं आता। वस्तुतः जहाँ अन्य आठ रसों का सम्बन्ध किसी भाव-विशेष की प्रमुखता से है, वहाँ इसका सम्बन्ध विचार-विशेष की प्रमुखता से है। ऐसी स्थिति में यह पूछना कि इसका 'स्थायी भाव' या प्रमुख भाव क्या है—निरर्थक प्रतीत होगा क्योंकि जिस रचना का स्थिर, प्रमुख एवं केन्द्रीय तत्त्व ही 'विचार' है, उसमें भाव-विशेष की प्रमुखता को खोजने का प्रयास ही असंगत होगा। फिर भी रसों की परम्परागत व्याख्या में स्थायी भाव विभाव, संचारी भाव आदि के विश्लेषण को प्रमुखता दी गयी थी—अतः शांत रस के बारे में भी उसी विश्लेषण पद्धति को अपनाना स्वाभाविक था।

अस्तु, शांत रस के स्थायी भाव को खोजने का प्रयास अपने आप में असंगत था, फिर भी वह किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न आचार्य विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे। भरत के 'नाट्य शास्त्र' में प्रक्षिप्त अंशों के अनुसार शांत रस का स्थायी भाव **शम** है तो रुद्रट के अनुसार **सम्यग्ज्ञान** (सम्यक् ज्ञान) है[१]। आनन्दवर्धन ने तृष्णाक्षय-सुख को ही शांत रस का स्थायी भाव बताते हुए प्रतिपादित किया कि यदि तृष्णा (इच्छा) को सारे भावों को उपलक्षण मान लें तो तृष्णाक्षय-सुख सभी तृष्णाओं, भावों या चित्तवृत्तियों की शांति का द्योतक होगा, अतः तृष्णाक्षयसुख एवं शम (शांति) में कोई अन्तर नहीं है।[२] 'लोचन' में एक अज्ञात विद्वान् के मतानुसार **सर्वचित्तवृत्ति प्रथम** शांत-रस का स्थायी भाव है जब कि एक अन्य विद्वान् के अनुसार '**निर्विशेष चित्तवृत्ति** को ही इस रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।[३] भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में **घृति** को तथा 'शृंगार-प्रकाश' में **शम** को शांत रस के स्थायी भाव के रूप में प्रतिष्ठित किया है।[४] अभिनवगुप्त ने 'अभिनव-भारती' में प्रायः सभी मतोंपर पुनर्विचार करते हुए **तत्त्व-ज्ञान** को ही शांत रस का स्थायी भाव प्रमाणित किया है।[५]

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने क्रमशः शम, सम्यग्ज्ञान, तृष्णाक्षय-सुख, सर्वचित्तवृत्तिप्रशम, निर्विशेष चित्तवृत्ति, धृति, एवं तत्त्व-ज्ञान को शांत रस के स्थायी भाव के रूप में प्रस्तुत किया है। आगे चलकर तत्त्व-ज्ञानजन्य निर्वेद को ही शांत रस के स्थायी भाव के रूप में उल्लिखित करने की परम्परा या रूढ़ि चलती रही, पर इसका स्वरूप अब भी अस्पष्ट एवं भ्रान्त है। विभिन्न आचार्यों ने इस

१-५, The Numbur of Rasas; By V. Raghavan; 1940, Pages 59-84

रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में इतने अधिक मत क्यों प्रस्तुत किये—इसका समाधान अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया है। हमारे विचार से इन सभी मतों का चाहें स्वीकार न किया जाय किन्तु वे आंशिक रूप में शांत रस की विभिन्न विशेषताओं का उद्घाटन अवश्य करते हैं—अत: उन पर समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करते हुए शांत की मूल प्रकृति का अनुसंधान किया जा सकता है। अतः आगे हम ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

यदि हम यहाँ इस परिकल्पना (Hypothesis) को लेकर चलें कि शांतरस किसी भाव-विशेष के आस्वाद से सम्बन्धित न होकर विचार-विशेष के आस्वाद से सम्बन्धित है, अत: उससे वस्तुओं का भावन तथ्यों एवं तत्त्वों के बोध के रूप में होता है तथा शान्तरस की अनुभूति तत्त्व बोध की अनुभूति होती है—अत: उसका स्थायी भाव—केन्द्रीय तत्त्व—तत्त्वबोध की प्रवृत्ति है; तो कदाचित् उपर्युक्त विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित हो सकता है। यहाँ क्रमशः उन पर विचार किया जाता है।

सर्वप्रथम '**शम**' को लीजिए। 'शम क्या है ? हिन्दी में इसे हम 'शान्ति' का पर्याय मान सकते हैं। तत्त्व बोध के समय हमारी भावात्मक प्रवृत्तियाँ शान्त या निष्क्रिय हो जाती हैं, फलस्वरूप हमें मानसिक शान्ति=बौद्धिक शान्ति का अनुभव प्राप्त होता है। यदि यह अनुभव अधिक गम्भीर हो तो उसी के अनुरूप आनन्द की अधिकता का भी द्योतक सिद्ध हो सकता है। अस्तु, 'शम' तत्त्व बोधजन्य मानसिक या बौद्धिक शान्ति का ही पर्याय है।

सम्यग्ज्ञान या 'सम्यक् ज्ञान' शुद्ध ज्ञान या शुद्ध तत्त्व-बोध (जिसमें हम अपने पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों से मुक्त होकर सत्य का साक्षात्कार करते हैं–) का ही परिचायक है, अत: यह तो स्पष्ट ही हमारी परिकल्पना के अनुरूप है। इसी प्रकार तत्त्व-बोध या बौद्धिक तल्लीनता के क्षणों में हम व्यावहारिक जीवन की समस्याओं, आवश्यकताओं, इच्छाओं, तृष्णाओं आदि से मुक्त हो जाते हैं—इसीलिए तत्त्ववेताओं व आचार्यों को 'फिलास्फर (दार्शनिक) एवं भुलक्कड़ प्रोफेसर' की संज्ञा दी जाती है, जो तत्त्वबोध की इसी स्थिति के परिचायक हैं—ऐसी स्थिति **तृष्णाक्षयसुख, सर्वचित्त-वृत्ति प्रशम, निर्विशेषचित्तवृत्ति** आदि स्थायी भाव भी इसी तत्त्व-बोध की भावात्मक स्थिति के द्योतक माने जा सकते हैं।

अभिनवगुप्त ने इन सभी मतों के स्थान पर तत्त्व-ज्ञान को ही स्थायी भाव प्रमाणित किया है जो हमारी **तत्त्वबोध** की परिकल्पना से अभिन्न है; दोनों में शब्दावली का ही अन्तर है, अर्थ का नहीं। 'ज्ञान' परम्परागत शब्द है जबकि 'बोध' आधुनिक मनोविज्ञान एवं साहित्य का ही बहु प्रचलित शब्द है। आज की शब्दावली में 'ज्ञान' शब्द शुष्क विचार का पर्याय बन गया है जब कि 'बोध' ज्ञान या विचार के अनुभूतिगम्य रूप या भावात्मक रूप का सूचक है। प्राचीन दर्शन में

ज्ञान का अर्थ-क्षेत्र व्यापक था, जिसमें विचार, अनुभव, बोध आदि सभी अर्थ सम्मिलित थे। अस्तु, अभिनवगुप्त का 'तत्त्व-ज्ञान' हमारे 'तत्त्व-बोध' का ही पर्याय है, और यदि न भी है तो उसे इसी अर्थ में ग्रहण करना होगा क्योंकि साहित्य और विज्ञान में यही तो अन्तर है। जहाँ साहित्येतर या वैज्ञानिक पुस्तकों से तत्त्व का **ज्ञान** मात्र होता है वहाँ साहित्य एवं कला से उसका **बोध** प्राप्त होता है, अतः प्रस्तुत संदर्भ में **तत्त्व-ज्ञान** को **तत्त्व-बोध** के ही अर्थ में ग्रहण करना आवश्यक है।

अभिनव-परवर्ती आचार्यों ने तत्त्व-ज्ञानजन्य निर्वेद की चर्चा करते-करते, तत्त्व-ज्ञान को तो प्रायः भूला ही दिया—मध्यकाल एवं आधुनिककाल के आचार्यों ने प्रायः 'निर्वेद' को ही शान्तरस के स्थायी के रूप के उल्लिखित किया है, तथा 'निर्वेद' का सम्बन्ध पलायन, वैराग्य, अध्यात्म आदि से स्थापित करते हुए शुद्ध बौद्धिक आनन्द को एक आध्यात्मिक या रहस्यात्मक आनन्द में परिणत कर दिया है जो निश्चय ही आचार्यों के दृष्टि-संकोच का परिचायक है। तत्त्व-बोध की अनुभूति एवं प्रवृत्ति यदि स्थिर एवं दीर्घकालीन हो जाय तो उस, स्थिति में सम्भव है कि हम सांसारिक विषयों एवं इच्छाओं से मुक्त हो जायँ तथा इसी स्थिति को विरक्ति या निर्वेद की स्थिति मान सकते हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि तत्त्व-बोध की प्रत्येक अनुभूति हमें स्थायी रूप में विरक्त या वैरागी बना दे। फिर भी बौद्धिक अनुभूति व्यक्ति में धैर्य, संतोष, निष्क्रियता आदि का भी संचार कर सकती है—इसीलिए कुछ आचार्यों ने धृति एवं संतुष्टि का भी उल्लेख शान्तरस के स्थायी भाव के रूप में किया है। अस्तु, शान्त रस की अनुभूति में प्रमुख तो तत्त्व-बोध की अनुभूति ही है—उसके अवान्तर भेद शम या मानसिक शांति, तृष्णाओं या इच्छाओं से मुक्ति का सुख, सांसारिक विषयों से विरक्ति का सूचक निर्वेद, धैर्य, संतोष आदि अनेक हो सकते हैं। यदि रस-सिद्धान्त की ही शब्दावली में कहें तो शान्तरस की रचना में केन्द्रीय या स्थायी तत्त्व तो तत्त्वबोध की अनुभूति ही है अस्थिर, गौण या संचारी तत्त्वों में भले ही हम शम, निर्वेद, घृति आदि विभिन्न तत्त्वों को स्थान दें। अतः इस विश्लेषण के अनुसार शान्त रस को बौद्धिक तत्त्वों की काव्यात्मक या कलात्मक अनुभूति से प्राप्त **बौद्धिक आनन्द** का पर्याय स्वीकार करें तो अनुचित न होगा।

विभिन्न आचार्यों ने शान्तरस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके अन्य लक्षणों पर भी प्रकाश डाला है, जिनसे भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि शान्तरस बौद्धिक आनन्द है। यहाँ 'अभिनव भारती' से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(क) 'वह तत्त्व-ज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों (कारणों) से उत्पन्न होता है।····निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमांच, आदि उसके व्यभिचारि भाव हैं।'[६]

---

६. हिन्दी अभिनव-भारती; आचार्य विश्वेश्वर; प्रथम संस्करण; पृ० सं० ६०९-१०

(ख) 'जहाँ न दुःख रहता है, न सुख, न द्वेष रहता है, और न ईर्ष्या रहती है। समस्त प्राणियों में समभाव वाला वह शान्तरस प्रसिद्ध माना गया है।'[७]

(ग) 'रत्यादि स्थायी भाव विकार रूप हैं और शान्तरस (उन सबका) प्रकृति रूप है। विकार (अथात् शृंगार आदि अन्य सब रस) प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और अन्त में फिर उसी में लीन हो जाते हैं।'[८]

(घ) शान्तरस में 'शम' चेष्टा के अभाव का द्योतक है; अतः कुछ लोगों के विचार से शान्तरस की इस निष्क्रिय स्थिति को रंगमंच पर अभिनीत करना कठिन है।

(ङ) 'तत्त्वज्ञानी को सर्वत्र ही दृढ़तर वैराग्य होता देखा जाता है।.... किन्तु उस प्रकार का वैराग्य तो ज्ञान को ही पराकाष्ठा का नाम है, यह बात भी स्वयं पतंजलि मुनि ने कही है।'[९]

(च) 'इसलिए निर्वेद स्थायिभाव नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञान ही स्थायिभाव है।'[१०]

(छ) निर्वेद एवं वैराग्य भी सर्वथा एक ही बात नहीं है—शान्त रस का सम्बन्ध निर्वेद से है न कि वैराग्य से।[११]

(ज) 'तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है, इसीलिये उसी को स्थायिभाव मानना उचित है।'[१२]

(झ) 'ज्ञानानन्दादि विशुद्ध धर्मयोगी परिकल्पित विषय-भोग रहितोऽत्र स्थायी' अर्थात् विशुद्ध ज्ञानानन्द (=बौद्धिक आनन्द) के धर्म या लक्षणों से युक्त परिकल्पित विषय-भोग रहित (=ऐन्द्रियक विषयों एवं तत्त्वों के बाह्य ज्ञान से रहित) तत्त्वज्ञान (तत्त्व-बोध) या आतमज्ञान ही शान्तरस का स्थायी भाव है।[१३]

(ञ) अन्य सारी भावात्मक प्रवृत्तियाँ तत्त्वज्ञान की ही संचारी भाव हैं। (वही पृ० ६२७)

(ट) सभी रसों का आस्वाद भी अन्ततः विभिन्न विषयों की विमुखताजन्य मानसिक शान्ति के रूप (शम) में होता है, अतः यह कहा जा सकता है कि सभी रसों की परिणति शान्त रस में होती है।[१४]

७-८. हिन्दी अभिनव-भारती ; आचार्य विश्वेश्वर ; प्रथम संस्करण ; पृ० सं० ६०९-१०

९-१०. वही पृ० सं० ६१७

११. वही, पृ० सं० ६१९।

१२-१३. वही ; पृ० सं० ६२३ ;

१४. वही ; पृ० सं० ६२५

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर शान्तरस के प्रमुख लक्षण ये निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) उसकी उत्पत्ति तत्त्व-बोध की अनुभूति से होती है। (२) निर्वेद, चित्त-शुद्धि (व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्ति), पूर्व स्मृति, धैर्य्य, पवित्रता का भाव, आदि उसकी संचरणशील अवस्थाएँ हैं। (३) उसमें राग-द्वेष से उत्पन्न दुःख-सुख आदि से मन मुक्त हो जाता है। (४) शान्तरस मानव चेतना की मूल प्रकृति या स्थिति—शान्ति की अवस्था—का सूचक है जबकि विभिन्न मनोविकार मन की उद्दीप्त स्थिति के सूचक हैं; इसीलिए एक का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की मूल एवं स्थिर प्रकृति से है जबकि अन्य मनोविकारों एवं भावों का सम्बन्ध उसी प्रकृति की विकृत या परिवर्तित अवस्था से है। (५) शान्तरस में निष्क्रियता की स्थिति भी सम्भव है। (६) तत्त्व-बोध की चरम स्थिति में व्यक्ति बाध्य विषयों से निवृत्त या विरक्त हो जाता है, किन्तु इस निवृत्ति (निर्वेद) को वैराग्य भाव से भिन्न समझना चाहिए। (७) तत्त्व बोध मोक्ष या मुक्ति (=आचार्य शुक्ल के शब्दों में—'आत्मा की मुक्तावस्था) का साधक है। (८) अन्ततः शान्तरस राग-द्वेष से मुक्त शुद्ध **'ज्ञानानन्द'** या बौद्धिक आनन्द का पर्याय है। (९) अन्य भाव शान्तरस के संचारी रूप में आ सकते हैं। (१०) सभी रसों या कला-रूपों के आस्वाद की चरम परिणति शान्तरस अर्थात राग-द्वेष से मुक्त बौद्धिक आनन्द में होती है।

अतः यहाँ अधिक विस्तार में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शान्तरस का मूलाधार तत्त्व-बोध है; तत्त्व-बोध की गम्भीर अवस्था में व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त एवं व्यावहारिक जगत् की इच्छाओं, आवश्यकताओं व समस्याओं से ऊपर उठकर शुद्ध बौद्धिक आनन्द का आस्वादन करता है; जिसे मानसिक शान्ति (शम), विरक्ति (निर्वेद), मुक्ति या मुक्त-दशा आदि विभिन्न रूपों में निर्देशित किया गया है। हमारे विचार से इसे यों भी कहा जाय कि काव्यगत बौद्धिकता से बौद्धिक आकर्षण की उद्दीप्त होती है तथा उसी के विकसित एवं गम्भीर रूप का आस्वादन ही—'शान्तरस' है; जिसे दूसरे शब्दों में 'बौद्धिकरस' कहा जा सकता है—तो अनुचित न होगा। मध्ययुगीन आचार्यों ने केवल वैराग्य, मोक्ष, भक्ति, अध्यात्म आदि तक ही शान्तरस के क्षेत्र को सीमित करके न केवल अभिनवगुप्त के आशय को सीमित कर दिया अपितु स्वयं शान्तरस को ही एक ऐसा संकीर्ण, सीमित एवं अव्यावहारिक रूप दे दिया जो काव्य की अपेक्षा दर्शन के अधिक अनुकूल है।

• उदात्त का स्वरूप-विवेचन—

'उदात्त' (Sublime) सम्बन्धी सिद्धान्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र का एक अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है जिसकी विस्तृत विवेचना सर्व प्रथम ग्रीक आचार्य लौंजाइनस (लगभग प्रथम शती ईस्वी) के ग्रन्थ 'On the Sublime' में उपलब्ध है। लौंजाइनस ने उदात्त को काव्य के आधारभूत प्रमुख तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए विचार, भाव, अलंकार, शैली, रूप आदि सभी के औदात्य को इसके अन्तर्गत

सम्मिलित कर लिया जो निश्चय ही अति व्याप्ति के दोष से युक्त है। परवर्ती युग में कला-मीमांसा एवं सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी उदात्त तत्त्व को व्यापक मान्यता प्राप्त हुई तथा अनेक उच्चकोटि के विद्वानों ने इसके स्वरूप का विवेचन-विश्लेषण कला के संदर्भ में किया। जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

शब्द-कोष के अनुसार 'उदात्त' (Sublime) का सामान्य अर्थ है—'raised, aloft, high up, highest, top' अर्थात् ऊपर उठा हुआ, उन्नत, उच्च, सर्वोच्च, शिखर आदि। किन्तु कला के संदर्भ में इसका अर्थ यह ग्रहण किया जाता है—"of ideas, truths, subjects belonging to the highest regions of thought, reality or human activity"[१५] (Oxford Dictionary) अर्थात् वे विचार, तत्त्व या सत्य अथवा विषय जिनका सम्बन्ध तत्त्व-चिन्तन, यथार्थता (=यथार्थ बोध) एवं मानवी-प्रक्रिया के सर्वोच्च स्तर से है।' इन सभी अर्थों को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि उदात्त का सामान्य अर्थ 'उन्नत' या 'उच्च' है किन्तु कला-संदर्भ में तत्त्व-चिन्तन की सर्वोच्चता को उदात्त का गुण माना जाता है। संक्षेप में, उदात्त=सर्वोच्च विचार।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (Immanuel Kant) ने अपने ग्रन्थ 'critique of Judgment' में कलाजन्य आस्वादों के दो प्रमुख भेद—सौन्दर्य (Beautiful) एवं उदात्त (Sublime) करते हुए दोनों की मीमांसा अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत की है। काण्ट के मतानुसार सौन्दर्य और उदात्त के भेदक लक्षण ये हैं—(१) सौन्दर्य का सम्बन्ध प्रकृति एवं वस्तु के बाह्य रूप से है जबकि उदात्त का रूप-निरपेक्ष तत्त्वों से है। (२) सौन्दर्य में बोध के अनिश्चित रूप का प्रस्तुतीकरण होता है जबकि उदात्त में बुद्धि या तर्क के स्पष्ट रूप का होता है। (३) सौन्दर्य गुण से सम्बन्धित है, उदात्त मात्रा से। (४) सौन्दर्य की अनुभूति सुन्दर वस्तुओं के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त होती है जबकि उदात्त विभिन्न शक्तिशाली वेगों (मनोवेगों) के तात्कालिक अवरोध या नियंत्रण से प्राप्त अप्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होता है। (५) अतः जहाँ सौन्दर्य आकर्षक तत्त्वों से प्रवृत्ति मूलक अनुभूति का द्योतक है वहाँ उदात्त विकर्षक तत्त्वों से विकर्षण, निवृत्ति (=निर्वेद ?) से उत्पन्न निषेधात्मक आनन्द है। स्वयं काण्ट के शब्दों में—"Hence it is incompatible with (Physical) Charm ; and as the mind is not merely attracted by the object but is ever being alternately repelled, the satisfaction in the snblime does not so much involve a positive pleasure····which rather deserves to be called negative pleasure."[१६] अर्थात् "अस्तु, यह (उदात्त) आकर्षण

---

15. *Oxford Dictionary.*
16. *Critique of Judgment* ; Translated by J. H. Bernard; Page 83.

(भौतिक) से अतुलनीय है; इसमें मस्तिष्क का वस्तु से आकर्षित होना तो दूर रहा, अपितु उसके स्थान पर प्राय: विकर्षित होता है, अत: उदात्तजन्य संतोष के मूल में विधेयात्मक (प्रवृत्तिमूलक) प्रसन्नता नहीं होती····अपितु उसे निषेधात्मक (निवृत्ति-मूलक) प्रसन्नता कहा जाय तो अधिक उचित होगा।"

अस्तु, संक्षेप में करें तो काण्ट के मतानुसार उदात्त वस्तुओं के ऐन्द्रियक गुणों के स्थान पर उनके आन्तरिक बुद्धिगम्य तत्त्वों पर आधारित हैं; उसके अनुभूति काल में जीवन की अन्य प्रबल मनोवेग (भाव) अवरुद्ध या नियंत्रित रहते हैं; उसके मूल में आकर्षण न होकर विकर्षण रहता है अत: वह प्रवृत्तिमूलक न होकर निवृत्ति-मूलक होता है तथा उससे प्राप्त प्रसन्नता भी प्रवृत्यात्मक न होकर निवृत्यात्मक या निर्वेदमूलक होती है। इस प्रकार उदात्त का बौद्धिकता, भावों की शान्ति, निवृत्ति, निर्वेद आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है, तथा ये सभी लक्षण पीछे शान्तरस के भी द्योतक माने गये हैं—अत: यदि उदात्त को भारतीय शब्दावली में 'शान्त रस' का भी पर्याय कहदें तो कदाचित् अनुचित न होगा। किन्तु हमें ऐसा निर्णय करने से पूर्व काण्ट के अतिरिक्त अन्य विद्वानों की भी उदात्त सम्बन्धी धारणाओं पर विचार कर लेना चाहिए।

हीगल ने उदात्त की उच्चता एवं भव्यता को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करते हुए उसे एक ओर तो यूनिवर्सल या सार्वभौमिक सत्य एवं हित का रूप दिया तो दूसरी ओर उसे अध्यात्म या आलौकिक सत्ता से सम्बन्धित किया[१७]। आगे चलकर ब्रेडले ने पुनः उदात्त को लौकिक स्तर पर प्रस्तुत करते हुए इसे सांसारिक महानता या वस्तुओं के महान गुणों से सम्बन्धित किया। यदि कोई वस्तु सुन्दर होने के साथ-साथ महान् भी हो तो ब्रेडले के विचार से उसे उदात्त कहा जा सकता है। फिर भी सौन्दर्य और उदात्त की अनुभूति में सूक्ष्म अन्तर है "The pleasure we take in sublimity is conditioned by a previous negative stage of repulsion in which we feel 'checked, baffled, menaced........this however, is followed by a feeling of 'expansion or uplifting.'[१८] अर्थात् औदात्य की अनुभूति में हम जिस प्रसन्नता का आस्वादन करते है वह पूर्व विकसित 'विकर्षण' की निषेधात्मक स्थिति से सम्बन्धित होती है। इस स्थिति में हम (हमारी भावनाएँ) नियंत्रित, अवरुद्ध या प्रशमित अनुभव करते है।···· इसके अनन्तर हम आत्म-विस्तार या ऊपर उठने (=मुक्ति) की ही अनुभूति प्राप्त करते हैं।' अस्तु, हीगल के अनुसार जहाँ उदात्त आध्यात्मिक तत्त्वों से सम्बन्धित अनुभूति है वहाँ ब्रेडले के अनुसार वह महान् तत्त्वों के बोध से प्राप्त निषेधात्मक या निवृत्तिमूलक अनुभूति है जिसमें आत्म-विस्तार होता है।

---

17. *'The Theory of Beauty'*: E. F. caritt; 1949; Pase 224.
18. The same; Pase 230.

जार्ज सैंतायना ने अपनी कृति—'The sense of Beauty' में औदात्य की विस्तृत विवेचना करते हुए इसे विभिन्न दृश्यों के बोध से उत्पन्न विराग और मुक्ति का भावावेग माना है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि कुछ लोग केवल कुरूप, कुत्सित एवं भयानक से ही उदात्त का सम्बन्ध मानते हैं जो ठीक नहीं। उन्होंने औदात्य की काव्यगत निष्पति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित किया—"Love makes us poets and the approach of death should make us philosophers........when a man knows that his life is over, he can look back upon it from a universal stand—point........this comprehensive and impartial views, this synthesis and objectification of experience, constitutes the liberation of the soul and the essense of sublimity........**emotion of detachment and liberation in which the sublime really consists.**"[१९] अर्थात् "जहाँ प्रणय हमें भावुक कवि बना देता है वहाँ मृत्यु का चिन्तन हमें दार्शनिक में परिणत कर देता है। जब एक व्यक्ति सोचता है कि उसका जीवन समाप्ति पर है तो वह एक निर्वैयक्तिक या सार्वजनिक दृष्टि से उस पर विचार कर सकता है। ....यह निष्पक्ष एवं व्यापक दृष्टि तथा जीवन-अनुभव का समन्वय एवं साधारणीकरण—ये मिलकर आत्मा को वह मुक्ति प्रदान करते हैं जिसे हम उदात्त का सार तत्त्व कह सकते हैं। ....**वस्तुतः निर्वेद एवं मुक्ति के भावों में ही औदात्य का अस्तित्व होता है।**" इन शब्दों को पढ़कर लगता है मानों कोई भारतीय दार्शनिक ही शान्तरस की व्याख्या कर रहा है। वस्तुतः सैंतायना की उपर्युक्त व्याख्या में अभिनव गुप्त का यह मत कि शान्तरस का स्थायी भाव तत्त्व-ज्ञान ही मोक्ष का साधन है या आचार्य शुक्ल की यह धारणा की हृदय की मुक्तावस्था ही रस-दशा है—समन्वित रूप में दिखाई पड़ती है।

कला में करुण एवं वीभत्स के आस्वादन का मूलकारण भी सैंतायना के अनुसार औदात्य की अनुभूति ही है। औदात्य के कारण ही इनमें हम शुद्ध बुद्धि या चैतन्य सत्ता के मूलस्वरूप का साक्षात्कार करते हुए आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। वस्तुतः इन भावों की अनुभूतियों के समय हमारी सत्ता शुद्ध बौद्धिकता में परिणत हो जाती है, जिसे अनेक दार्शनिकों ने 'अमरता' या दिव्यता' का नाम दिया है।

सैंतायना महोदय ने उदात्त को 'कुरूपता' से पृथक बताते हुए यह भी प्रतिपादित किया है कि वह शुद्ध एवं गम्भीर चिन्तना से प्राप्त ऐसा आनन्द है जिसमें हम सर्वथा विषय-निरपेक्ष हो जाते हैं और अन्तरात्मा का साक्षात्कार करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में इसे आत्मानुभूति कहा जा सकता है। उसमें हम एक ऐसी स्थिति में

---

19. *The Sense of Beauty* ; George Santayana ; page 180-181

पहुँच जाते है जहाँ जीवन और मृत्यु को भी तुच्छ समझते हुए सार्वभौमिक सत्य से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं के आधार पर औदात्य के प्रमुख लक्षण संक्षेप में निम्नलिखित बताये जा सकते हैं—

(क) सामान्य अर्थ : उन्नत, उच्च या महान्।

(ख) कला सन्दर्भ में : सर्वोच्च विचार (आक्सफोर्ड डिक्शनेरी)

(ग) बौद्धिकता, भाव-शान्ति, निवृत्ति, निर्वेद (काण्ट)

(घ) सार्वभौमिक सत्य, अध्यात्म (हीगल)

(ङ) महानता, विकर्षणजन्य निवृत्ति, भावनाओं का अवरोध, आत्म-विस्तार की अनुभूति, निषेधात्मक स्थिति। (ब्रेडले)

(च) निर्वैयक्तिक दृष्टि से चिन्तनजन्य अनुभूति, निर्वेद एवं मुक्ति का भाव, शुद्धबुद्धि या चेतना की क्रिया, आत्मानुभूति, सार्वभौमिक सत्य का बोध।

उपर्युक्त सूची में अनेक लक्षणों की पुनरावृत्ति हुई है, अतः उन्हें परस्पर सम्बद्ध एवं समान्वित करते हुए उदात्त के प्रमुख गुण ये बताये जा सकते हैं— (१) उच्चता या महानता (२) बौद्धिकता (६) भावात्मक शान्ति (४) निर्वेद भाव (५) निवृत्तिमूलक (६) सार्वभौमिक सत्य-बोध (७) आध्यात्मिक (८) मुक्तिबोध (९) शुद्ध चिन्तन-प्रक्रिया से सम्बन्धित।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो उपर्युक्त सभी लक्षण शान्तरस में भी उपलब्ध होंगे। जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने—मुख्यतः अभिनवगुप्त ने—शान्तरस को तत्त्व-ज्ञान या तत्त्व-बोध जन्य निर्वेद की एक ऐसी अनुभूति माना है जिसमें आत्मा मुक्त होकर शुद्ध 'ज्ञानानन्द' या बौद्धिक आनन्द का अनुभव प्राप्त करती है; उसी प्रकार पाश्चात्य चिन्तकों ने—मुख्यतः सैंतायना ने—उदात्त को सार्वभौमिक सत्य के बोध से प्राप्त शुद्ध बुद्धि एवं चेतना के साक्षात्कार एवं आत्मानुभूति, मुक्ति एवं निर्वेद की आनन्दात्मक अनुभूति के रूप में स्वीकार किया है। हमारे कुछ आचार्यों ने शान्तरस को अलौकिकता एवं अध्यात्म तक सीमित करने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर हीगल ने उदात्त के विषय में भी ऐसा ही किया है। अन्य रसों या कटु एवं करुण भावों के बोध में भी शान्तरस एवं उदात्त भाव की सत्ता दोनों पक्षों ने ही स्वीकार की है तथा दोनों ने ही इन्हें निषेधात्मक, निवृत्तिमूलक, विकर्षणमूलक समान रूप में माना है—अतः शान्तरस एवं औदात्य में आश्चर्यजनक रूप में समानता दृष्टिगोचर होती है। भिन्न देश-कालों के विद्वानों में एक ही तथ्य के सम्बन्ध में इस प्रकार का मतैक्य स्थापित होना इस तथ्य की सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता एवं सार्वजनीनता का प्रमाण है।

अस्तु, हम यहाँ शान्तरस और औदात्य में शाब्दिक अन्तर मानते हुए भी अर्थ और लक्षणों की दृष्टि से इन्हें परस्पर पर्यायवाची घोषित कर सकते हैं तथा जिस प्रकार शान्तरस का स्थायी तत्त्व—'तत्त्व-बोध' को माना था, उसी प्रकार उदात्त को भी मान सकते हैं। वस्तुतः पाश्चात्य आचार्यों ने प्रायः उदात्त के सर्वोच्च विचार, निरपेक्ष तत्त्व-बोध, सार्वभौमिक सत्य-बोध आदि के रूप में उल्लिखित किया है—अतः उदात्त एवं 'तत्त्व-बोध' को समानार्थक भी मान लिया जाय तो अनुचित न होगा।

● **बौद्धिक रस की स्थापना—**

शान्तरस एवं उदात्त तत्त्व के अध्ययन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने इनके माध्यम से काव्यगत बौद्धिकता या बौद्धिक काव्य की व्याख्या का प्रयास किया है। ये सिद्धान्त न केवल काव्यगत विचारात्मकता का अस्तित्व प्रमाणित करते हैं, अपितु उसकी महत्ता को भी मान्यता प्रदान करते हैं—अतः इनके आधार पर—इन दोनों सिद्धान्त को समन्वित करते हुए—हम काव्य एवं कला में 'बौद्धिक रस' की स्थापना कर सकते हैं। हमारे दृष्टिकोण से जिस कलाकृति में विचार तत्त्व ही उसका केन्द्रीय या प्रमुख तत्त्व हो तथा उसी को व्यक्त एवं संवेदित करने के लिए अन्य साधनों—भाव, कल्पना या शैली आदि—का उपयोग किया गया हो, जिससे उस कृति में बौद्धिक आकर्षण (बौद्धिक स्तर का आकर्षण) उत्पन्न होता हो, तो उसके आस्वादन की अनुभूति को हम 'बौद्धिक रस' की संज्ञा दे सकते हैं; इसी को अभिनवगुप्त ने 'ज्ञानानन्द' तथा पाश्चात्य विचारकों ने 'बौद्धिक आनन्द' (Intellectual Joy) के रूप में मान्यता दी है।

क्या बौद्धिक रस में शान्त रस एवं उदात्त तत्त्व पूर्णतः समन्वित हो जाते हैं ? क्या बौद्धिक रस की सीमा इन्हीं दो तत्त्वों तक सीमित है ? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा जा सकता है कि शान्तरस एवं उदात्त तत्त्व के व्यापक एवं सामान्य रूप को ही बौद्धिक रस में ग्रहण किया जायगा, उस स्थिति में केवल 'अलौकिता, आध्यात्मिकता या सार्वभौमिकता' के सूचक विशेषणों को जिनसे इनका क्षेत्र सीमित हो जाता है—परित्याग करना आवश्यक होगा। शान्तरस एवं उदात्त की कुछ स्थापनाएँ परस्पर-विरोधी एवं असंगत भी हैं, उन्हें भी त्यागना या उन्हें परस्पर समन्वित करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, शान्तरस के सन्दर्भ में कुछ आचार्य 'शम' या 'शान्ति' के भाव को प्रमुखता देते हैं तो कुछ 'निर्वेद' को—ऐसी स्थिति में हम किसे ग्रहण करें, यह समस्या है। हमारे विचार मे ये दोनों ही तत्त्व बुद्धि की दो प्रक्रियाओं को सूचित करते हैं। बुद्धि की दो प्रमुख प्रक्रियाएँ हैं—जिज्ञासा और तर्क। जिज्ञासा के कारण वह किसी विषय में प्रवृत्त होती है तो तर्क के कारण वह उससे निवृत्त होती है। जिज्ञासा सन्तुष्ट होने पर 'शान्ति' की अनुभूति तथा तर्क सफल होकर निवृत्ति या 'निर्वेद' की अनुभूति प्रदान करता है। अतः शम जहाँ जिज्ञासा की शान्ति का

सूचक है, निर्वेद वहाँ तर्क की चरम परिणति का द्योतक है' अत: शम और निर्वेद— बुद्धि की ही प्रक्रिया एवं बौद्धिक रस की दो स्थितियों के सूचक हैं, जिस प्रकार प्रेम या श्रृंगार की दो स्थितियाँ 'संयोग' और 'वियोग' हैं, उसी प्रकार इन्हें भी बौद्धिक रस की दो स्थितियों के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि बौद्धिक रस में शान्त और उदात्त सम्बन्धी सभी क्षेत्र समन्वित हो जायेंगे किन्तु उसका क्षेत्र इन्हीं तक सीमित नहीं रहेगा। यदि बौद्धिक अनुभूति का कोई क्षेत्र इस शान्त और उदात्त की सीमा से बाहर भी पड़ता है तो उसे हम बौद्धिक रस के क्षेत्र में स्थान दे सकते हैं, इतना अवश्य है कि उसे अन्ततः बौद्धिक आकर्षण से युक्त होना चाहिए अर्थात् कोई भी बौद्धिक तत्त्व काव्य या कला में कलात्मक या आकर्षक रूप में ही स्थान प्राप्त कर सकता है; अत: वह बौद्धिक आकर्षण से युक्त होकर ही कला का अंग बन सकता है।

● बौद्धिक रस की व्यंजना : आधार और प्रक्रिया—

बौद्धिक रस का आधार-तत्त्व 'तत्त्व-बोध' है, तथा तत्त्व का स्वरूप वस्तु की भाँति स्थूल एवं इन्द्रियगोचर नहीं होता; इसलिए काण्ट ने उदात्त के आधार को भी सूक्ष्म एवं ऐन्द्रिय-शून्य बताया है। जहाँ सौन्दर्य से उत्पन्न होने वाली भावात्मक अनुभूतियों के लिए काव्य और कला में वस्तुओं एवं पदार्थों के ऐन्द्रिय-गुणों एवं बाह्य रूपों का चित्रण अपेक्षित होता है, वहाँ तत्त्व-बोध जन्य बौद्धिक आकर्षण के लिए न ये अपेक्षित हैं, और न ही पर्याप्त। इसीलिए इसमें परम्परागत विभाव, अनुभाव, संचारी भाव की पद्धति अव्यावहारिक एवं अनुपयोगी सिद्ध होगी। आचार्य अभिनवगुप्त ने कदाचित् इसी दृष्टि से 'काव्यार्थ के भावन' में प्रत्येक अर्थ (विचार) को ही विभाव माना है तो दूसरी ओर सैंतायना ने उदात्त की व्यंजना के लिए व्यक्तियों एवं पदार्थों के स्थान पर क्रियाओं एवं क्रिया-कलापों के चित्रण को श्रेयस्कर बताया है। हमने 'साहित्य-विज्ञान' में विचार-प्रधान साहित्य का विश्लेषण करते हुए काव्य या साहित्य में तत्त्व-बोध की प्रक्रिया के तीन रूप निर्धारित किये हैं—(१) तत्त्व या विचार को अनुभूतिगम्य बनाने के लिए किसी अन्य तत्त्व या विचार को तर्क, प्रमाण, सादृश्य, दृष्टान्त आदि के रूप में प्रस्तुत किया जाना। (२) तत्त्व या विचार को किसी भावात्मक प्रवृत्ति से सुसम्बन्धित करके उसे भाव के सहयोग से प्रस्तुत करना। (३) विचार को कल्पना एवं शैली के चमत्कार से युक्त करके प्रस्तुत करना। संक्षेप में विचार या तत्त्व का प्रतिपादन या उसकी व्यंजना किसी अन्य विचार, भाव या कल्पना के सहयोग से की जाती है; यहाँ तीनों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) विचार का अन्य विचार के सहयोग से प्रस्तुतीकरण :

(१) करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान॥

(२) सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय ।।

(ख) विचार का भाव के सहयोग से प्रस्तुतीकरण :

(३) स्वारथ, सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंग विचारि ।
बाज पराये पानि परि तू पच्छीनन‍ु न मारि ।।

(४) माखी गुड़ में गड़ि रही पंख रही लपटाय ।
ताली पीटै सिर धुनै मीठै बोइ माय ।।

(ग) विचार का कल्पना या शैली के सहयोग से प्रस्तुतीकरण :

(५) माली आवत देखि कै कलियाँ करैं पुकार ।
फूले-फूले चुनि लिये काल्हि हमारी बार ।।

(६) मृग मरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर,
गर्वित कहता 'मैं मधु हूँ मुझसे,
क्या पतझड़ का नाता ?

उपर्युक्त उदाहरणों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इनका आधार या प्रतिपाद्य तत्त्व विचार है, जिसे संप्रेषित करने के लिए क्रमशः अन्य विचार, भाव या कल्पना का सहयोग प्राप्त किया गया है । वैसे तो मानव-मन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में भाव, विचार एवं कल्पना का मिश्रण किसी न किसी मात्रा में उपलब्ध होगा किन्तु उनकी मात्रा एवं पारस्परिक अनुपात-भेद के कारण ही हम किसी में विचार की, किसी में भाव को एवं किसी में कल्पना एवं शैली की प्रमुखता स्वीकार करते हैं । अतः न्यूनाधिक मात्रा में भाव, विचार एवं कल्पना की सत्ता तो उपर्युक्त सभी उदाहरणों में दृष्टिगोचर होगी, किन्तु उनमें प्रमुखता विचार तत्त्व की है, अतः इस आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ विचार को भाव के सहयोग से प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ विचार ही प्रमुख एवं भाव गौण होता है, जबकि अन्य रसों—शृंगार, वीभत्स, हास्य आदि—में भाव प्रमुख और विचार गौण रहता है । पीछे **ख** वर्ग के दोनों उदाहरणों में क्रमशः व्यंग्य एवं ग्लानि के भाव की व्यंजना हुई है, किन्तु इस व्यंजना का लक्ष्य विचार-विशेष को संप्रेष्य बनाना रहा है, अतः इन उदाहरणों को शुद्ध हास्य या वीभत्स में स्थान देना अनुचित होगा ।

भाव के सहयोग से प्रस्तुत विचार-प्रधान रचना में परम्परागत विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भी खोजे जा सकते हैं, जैसे कि पूर्वोक्त उदाहरण संख्या-चार में

सम्भव है। यहाँ 'मक्खी' ग्लानि भाव का आश्रय है, ताली पीटना अनुभाव, 'मीठे ने डूबा दिया' यह मति संचारी है। पर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसका स्थायी भाव या मूल भाव क्या है ? उत्तर में कहा जा सकता है—'निर्वेद' है। अवश्य ही 'निर्वेद भाव' शान्तरस एवं बौद्धिक रस का पोषक है किन्तु यह बात सर्वत्र लागू नहीं होती। अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विचार को भाव के सहयोग से प्रस्तुत करने के लिए स्थूल विभावादि का भी आयोजन किया जा सकता है, किन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं है।

● सामान्य तत्त्व-बोध एवं काव्य जन्य बोध—

बोध बुद्धि की प्रक्रिया है जो लोक-व्यवहार, दर्शन, विज्ञान और साहित्य—आदि विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित है। अतः यहाँ यह विचारणीय है कि सामान्य बोध एवं काव्य के माध्यम से होने वाले तत्त्व-बोध में क्या अन्तर है ? इसके उत्तर में दो बातें कहीं जा सकती है; एक तो सामान्य बोध में हम निजी रुचियों, पूर्वाग्रहों, स्वार्थों आदि से बँधे रहते हैं, अतः प्रत्येक तत्त्व, विचार या सिद्धान्त का बोध वैयक्तिक दृष्टि से करते हैं, जिससे उसका बोध भी एकांगी या एकपक्षीय हो पाता है। उदाहरण के लिए—'कश्मीर भारत का है या पाकिस्तान का ?' इस समस्या पर विचार करते समय हमारे निष्कर्ष पूर्वाग्रहों से प्रभावित रहेंगे ; अतः जहाँ भारतीय की दृष्टि में वह भारत का सिद्ध होता है वहाँ पाकिस्तानी की दृष्टि में पाकिस्तान का प्रतीत होगा। ऐसी स्थिति में विचार के एक वैयक्तिक, सीमित एवं संकीर्ण रूप का ही बोध होगा, जिसका हमारी अन्तश्चेतना एवं शुद्ध बुद्धि के साथ तादात्म्य संभव नहीं। वह हमारे अहं की सीमाओं से रुद्ध रहेगा। अतः उसकी अनुभूति बौद्धिक अनुभूति तो होगी किन्तु उसका स्तर ऊपरी एवं हलका रहेगा; इस लिए उसमें उस सार्वजनीनता (Universality) का प्रादुर्भाव संभव नहीं, जो रसानुभूति का प्रमुख लक्षण है। दूसरे, सामान्य बोध में तत्त्व बुद्धिग्राह्य होकर ही रह जायगा, उसमें उस विशेष सौंदर्य या आकर्षण का संचार नहीं हो पायेगा जो काव्य जन्य बोध में संभव है। एक दार्शनिक अपने विवेचन से यह तो सिद्ध कर देगा कि वह यह संसार नश्वर है, अतः सबको मरना है, किन्तु उसके विवेचन में कदाचित् उस आकर्षण की उद्दीप्ति न हो पाये जो कबीर की निम्नांकित उक्ति में उपलब्ध है :

माली आवत देखिकै कलियाँ करै पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये, काल्हि हमारी बार।

अस्तु सामान्य बोध एवं कलाजन्य बोध में इन्हीं दो बातों का अन्तर है—(१) बोध की तटस्थता, निर्वैयक्तिकता या सार्वजनीनता और (२) बोध का आकर्षण-युक्त होना। यदि संयोगवश व्यावहारिक क्षेत्र में भी हमारा कोई बोध

उपर्युक्त दोनों विशेषताओं से समन्वित हो जाय तो वहाँ भी उसी शुद्ध बौद्धिक आनन्द या बौद्धिक रस की अनुभूति संभव है जो विचार-प्रधान काव्य से उपलब्ध होती है। काव्यानुभूति में उपर्युक्त दोनों विशेषताओं का संचार किन कारणों से होता है—इसका स्पष्टीकरण हम अन्यत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति की प्रक्रिया पर पुनर्विचार करते समय करेंगे। अतः यहाँ निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य या साहित्य में न्यून मात्रा में तो बौद्धिक तत्त्व सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु जब वे किसी रचना में प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं तो ऐसी रचना को हम विचार-प्रधान रचना मानते हुए उससे बौद्धिक आकर्षण की उद्दीप्ति की तथा बौद्धिक रस की अनुभूति की संभावना कर सकते हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तों में से औचित्य, उदात्त शांत रस आदि का भी समन्वय इसी बौद्धिक रस में किया जा सकता है। किन्तु इस प्रसंग में इस बात का सदा ध्यान रखा जाना चाहिए कि साहित्य और कला में विचार की प्रमुखता या प्रधानता का महत्त्व उसी स्थिति में है जबकि वह आकर्षण शक्ति या बौद्धिक आकर्षण से युक्त हो पाता है, अन्यथा उसकी स्थिति उस 'शून्य' के समतुल्य है जो किसी अन्य अंक (=कला-प्रसंग में 'आकर्षण') के साथ जुड़कर तो उसके महत्त्व को दस गुना बढ़ा देती हैं; किन्तु स्वतन्त्र रूप में उसका कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः कोरे विचार के आधार पर दर्शन और विज्ञान की रचना तो संभव है, किन्तु कला और साहित्य के लिए उसका सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त होना अत्यावश्यक है।

•

५ कल्पना और शैली की दृष्टि से रस का विवेचन

जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं,[१] भारतीय रसवादी आचार्यों एवं पाश्चात्य भाववादी चिन्तकों ने कला और साहित्य में भाव तत्त्व को प्रमुखता देते हुए भी ऐन्द्रियक विषयों, कल्पनात्मक तत्त्वों व शैली के गुणों का भी महत्त्व न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया है। एक ओर जहाँ प्राचीन भारतीय आचार्यों ने गुण, अलंकार, दोषाभाव, भावकत्व व्यापार, व्यंजना-शक्ति या ध्वनि को स्थायी भाव के साधारणीकरण एवं उसकी अभिव्यंजना का साधन माना है तो आधुनिक युग के भारतीय आचार्यों—जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र प्रमुख हैं—ने ऐन्द्रिय बोध, प्रत्यक्षानुभूति एवं कल्पना शक्ति को काव्यगत भावादि के भावन व संप्रेषण का आधार माना है। इसी प्रकार पाश्चात्य भाववादी चिन्तकों ने भी कला के माध्यम से भावानुभूति, भावाभिव्यक्ति एवं भाव-संप्रेषण के लिए ऐन्द्रिय बोध व कल्पना-शक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः कलानुभूति में कला की विषय वस्तु के साथ साथ उसकी अभिव्यंजना-शैली का भी पर्याप्त महत्त्व है; विषय और शैली-दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, तथा दोनों के ही सहयोग से कलात्मक सौन्दर्य या आकर्षण की उद्दीप्ति होती है। अतः कोई भी सिद्धान्त जो केवल विषय या केवल अभिव्यंजना शैली पर बल देता है, कला के मर्म का उद्घाटन नहीं कर सकता। परम्परागत सिद्धान्तों में जहाँ अनुकृति, औदात्य आदि ने केवल वस्तु पक्ष पर ही बल दिया वहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि,

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत प्रबन्ध के तृतीय खण्ड में 'रसानुभूति का कलागत आधार' शीर्षक अध्याय।

बिम्ब, प्रतीक आदि ने केवल शैली पक्ष को ही अपना लक्ष्य बनाया—ऐसी स्थिति में ये सभी सिद्धान्त जहाँ एकांगी व एक पक्षीय हैं वहाँ वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं। रस सिद्धान्त में भी प्रारंभ में वस्तुपक्ष पर ही अधिक बल था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने गुण, अलंकार, ध्वनि आदि शैली तत्त्वों से इसका सम्बन्ध स्थापित करके उसे परिपूर्ण सिद्धान्त का रूप देने का प्रयास किया। फिर भी रस की दृष्टि से शैली पक्ष का विवेचन-विश्लेषण, वस्तु पक्ष की अपेक्षा गौण रूप में ही हुआ है तथा वस्तु और शैली में परस्पर गहरा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है, इसलिए आज भी यह आक्षेप प्रस्तुत किया जाता है कि रस-सिद्धान्त शैली पक्ष की उपेक्षा करता है। फिर शैली पक्ष में से भी केवल ध्वनि से ही रस का सम्बन्ध अधिक माना गया है—अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि से बहुत कम। वस्तुतः कल्पना और शैली की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का विवेचन-विश्लेषण बहुत कम हुआ है। यदि हम रस को कलानुभूति या सौन्दर्यानुभूति मानते हुए उसे व्यापक रूप प्रदान करना चाहते हैं तो निश्चय ही उपर्युक्त तत्त्वों व पक्षों की उपेक्षा नहीं कर सकते। अस्तु, प्रस्तुत अध्याय में हम ऐन्द्रियक गुणों, कल्पना एवं शैली के तत्त्वों की दृष्टि से रस के विवेचन-विश्लेषण का प्रयास करते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करेंगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऐन्द्रियक गुणों का समावेश कल्पनात्मक बिम्बों के अन्तर्गत हो जाता है (इसके सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण आगे किया जायगा), अतः अध्याय के शीर्षक में इनका उल्लेख पृथक रूप में नहीं किया गया है।

● कल्पना शक्ति और साहित्य—

कल्पना शक्ति (Imagination) के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रियाओं का सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में किया गया है, जिससे यह स्पष्ट है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो कि अप्रत्यक्ष वस्तुओं के भी रूप-गुणों का प्रत्यक्षीकरण करवाती हुई उन्हें नूतन रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता से युक्त है।[२] हमारे दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त संवेदन, संस्कार व अनुभव हमारे अवचेतन मन में बिम्ब रूप में विद्यमान रहते हैं; कल्पनाशक्ति इन्हीं बिम्बों को यथार्थ या परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करके पुराने संवेदनों का पुनरुत्पादन या नये रूपों की सृष्टि करती है। वस्तुतः मानसिक बिम्बों (Images) के रूप में संचित संवेदनों व अनुभवों के आधार पर ही कल्पना शक्ति काव्य वस्तु का उत्पादन करती है और उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करती है। अतः कल्पना का सम्बन्ध साहित्य के वस्तु-पक्ष एवं शैली-पक्ष दोनों से ही है।

वस्तुपक्ष की कल्पना—साहित्य के वस्तु पक्ष की दृष्टि से कल्पना-शक्ति के

---

२. कल्पना शक्ति के मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य शास्त्रीय विवेचन के लिए द्रष्टव्य—'साहित्य-विज्ञान' (साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन), खण्ड-२।

कार्य को हमने पाँच प्रक्रियाओं में विभक्त किया है—(१) द्रव्य या वस्तु का चेतन-स्तर पर प्रस्तुतीकरण (२) द्रव्य का विस्तार (३) नये द्रव्य का आविर्भाव (४) द्रव्य या विषय-वस्तु को अनुभूति गम्य बनाना और (५) विषय-वस्तु को देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त करना। इन पाँचों प्रक्रियाओं की विस्तृत व्याख्या हम अन्यत्र कर चुके हैं,[३] अतः यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इन प्रक्रियाओं द्वारा क्रमशः ये कार्य संम्पादित होते हैं—(१) अवचेतन एवं अचेतन स्तर पर विद्यमान संस्कारों, प्रत्ययों और बिम्बों को चेतन-स्तर पर लाना। यह कल्पना-शक्ति की पहली प्रक्रिया है। (२) इसके अनन्तर कल्पना-शक्ति विभिन्न संस्कारों, प्रत्ययों, संवेदनों आदि का विश्लेषण एवं विस्तार करती हुई उन्हें मूर्त्त रूप प्रदान करती है। (३) साथ ही वह पूर्व अनुभूत रूपों के अनुरूप, उनसे भिन्न या पृथक रूप में नूतन रूपों की सृष्टि करतो है। (४) नूतन रूपों को अनुभूति गम्य बनाने के लिए उनमें ऐन्द्रियक एवं भावात्मक गुणों का संचार करती है। (५) अन्त में वह विषय-वस्तु को निर्वैयक्तिक एवं देश-काल से मुक्त रूप प्रदान करती है। इस प्रकार कल्पना-शक्ति की ही प्रक्रिया द्वारा विभिन्न तथ्य, विचार, प्रत्यय, अनुभव, संवेदन आदि काव्य-वस्तु या कलागत द्रव्य के रूप में परिवर्तित होते हैं।

शैली पक्ष और कल्पना—काव्य वस्तु या कलागत तत्त्वों का काव्यात्मक या कलात्मक रूप प्रदान करने का कार्य भी कल्पना-शक्ति द्वारा ही संपन्न होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार कल्पना शक्ति की अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा मूल विषय का रूपान्तरण विभिन्न रूपों में होता है, जिन्हें हम मुख्यतः पाँच प्रकारों या भेदों में विभक्त कर सकते हैं—(१) संयोजनात्मक रूप-विधान (२) विश्लेषणात्मक रूप-विधान (३) विस्थापनात्मक रूप-विधान। (४) विनिमयात्मक रूप-विधान (५) समावयात्मक रूप-विधान। इन भेदों की भी विस्तृत विवेचना हम अपने शोध-प्रबन्ध 'साहित्य विज्ञान' में कर चुके हैं,[४] अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति न करते हुए संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इन पाँचों रूप-भेदों में कल्पना-शक्ति क्रमशः पाँच कार्य करती हैं—(१) एक विषय के साथ दूसरे का **संयोजन**। (२) मूल विषय का ही **विश्लेषण** एवं विस्तार। (३) मूल (प्रस्तुत) विषय के स्थान पर अन्य (अप्रस्तुत) विषय की **स्थापना**। (४) एक विषय (प्रस्तुत) के गुणों का अन्य विषय (अप्रस्तुत) में **विनिमय** या आदान-प्रदान; और (५) विभिन्न विरोधी गुणों या तत्त्वों में बाह्य एकता या एकरूपता की स्थापना, जिसे रसायन-शास्त्र में **समावयात्मक** परिवर्तन कहते हैं।

कल्पना-शक्ति की उपर्युक्त प्रक्रियाओं द्वारा ही काव्य, साहित्य एवं कला में

---

३. साहित्य विज्ञान; (साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन); पृ० सं० १८८-१९२

४. वही; पृ० सं० ३६८-७४।

शैली के सभी रूपों, तत्त्वों या गुणों का सर्जन, उत्पादन एवं संचार होता है, जिन्हें परम्परागत काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र में विभिन्न तत्त्वों या शैली-गुणों के रूप में मान्यता दी गई है। दुर्भाग्य से परम्परागत काव्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्त एवं संप्रदाय जो कि काव्य में शैली या रूप को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं तथा जिन्हें सौन्दर्य-शास्त्र में 'रूपवादी' कहा जाता है—इनमें से किसी एक ही रूप या तत्त्व को मान्यता देते हुए काव्यात्मकता या कलात्मकता का सारा श्रेय उसी का प्रदान कर देते हैं जो अतिवादिता एवं एकांगिता का परिचायक है। शैली सम्बन्धी परम्परागत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का सम्बन्ध उपर्युक्त पाँचों प्रक्रियाओं एवं तत्सम्बन्धी रूप-भेदों से है इस सम्बन्ध में आगे स्पष्ट किया जाता है।

परम्परागत शैली तत्त्व एवं कल्पनात्मक रूप-विधान—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के शैली, अभिव्यक्ति या या अभिव्यंजन सम्बन्धी सभी तत्त्वों व सिद्धान्तों का समन्वय कल्पना-शक्ति की पूर्वोक्त पाँच प्रक्रियाओं एवं तद्जन्य रूपों या रूप-भेदों में किया जा सकता हैं। किन्तु विभिन्न तत्त्वों या सिद्धान्तों का सम्बन्ध कल्पना की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं रूप-भेदों से है। अतः यहाँ प्रत्येक प्रक्रिया एवं रूप-भेदों से सम्बन्धित परम्परागत तत्त्वों का परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है—

(१) **संयोजनात्मक रूप-विधान**—जहाँ कल्पना शक्ति प्रस्तुत विषय का अप्रस्तुत विषय से संयोजन करती है, वहाँ संयोजनात्मक रूप-विधान होता है जिसके अन्तर्गत परम्परागत सादृश्यमूलक अलंकारों को स्थान दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए—शकुन्तला।

(२) **विश्लेषणात्मक रूप-विधान**—इसमें कल्पना-शक्ति मूल विषय (प्रस्तुत विषय) के साथ किसी बाह्य या अप्रस्तुत विषय का संयोजन या मेल न करके उसी का विश्लेषण एवं विस्तार इस प्रकार कर देती है जिससे कि उसके विभिन्न आकर्षक तत्त्व उद्दीप्त हो जायें। इसी प्रक्रिया को परम्परागत काव्य-शास्त्र में 'बिम्ब-विधान' (Imagery) कहते हैं।

(३) **विस्थापनात्मक रूप-विधान**—इसमें प्रस्तुत विषय के स्थान पर अप्रस्तुत विषय ही स्थापित हो जाता है—यहाँ तक कि प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत की सत्ता अदृश्य हो जाती है। इसे भारतीय काव्य-शास्त्र में ध्वनि (व्यंजना शक्ति) तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रतीक (Symbol) की योजना कहते हैं।

(४) **विनिमयात्मक रूप-विधान**—इसमें कल्पना-शक्ति द्वारा प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विषयों के रूप-गुणों को परस्पर आदान-प्रदान या विनिमय (Exchange) हो जाता है। इसी प्रक्रिया को परम्परागत काव्य-शास्त्र में 'लक्षणा शक्ति', 'लाक्षणिक प्रयोग' तथा 'वक्रोक्ति' की संज्ञा दी जाती है।

(५) **समावयात्मक रूप-विधान**—इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत विषय के परस्पर विरोधी या आन्तरिक रूप में विरोधी गुणों व तत्त्वों में या प्रस्तुत के ही परस्पर विरोधी तत्त्वों में, बाह्य एकरूपता स्थापित हो जाती है; जिसे परम्परागत काव्य शास्त्र में अनुप्रास, वृत्ति, यमक आदि शब्दालंकारों तथा वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों के रूप में विवेचित किया जाता है।

यहाँ हम उपर्युक्त पाँच-भेदों का स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण तालिका-रूप में प्रस्तुत करते हैं—

तालिका : कल्पनात्मक रूप-विधान और परम्परागत शैली-तत्त्व

कल्पनात्मक रूप-भेद	लक्षण	परम्परागत तत्त्व	उदाहरण
१. संयोजनात्मक रूप-विधान	प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का संयोजन।	१. सादृश्य मूलक अलंकार।	(क) '**तापस**-बाला सी **गंगा** कल' (गंगा = प्रस्तुत; तापस-बाला = अप्रस्तुत)
२. विश्लेषणात्मक रूप-विधान।	प्रस्तुत के ही गुणों का विस्तार या विश्लेषण।	२. बिम्ब-विधान।	(ख) '**बेंदी** भाल, **तमोल** मुख, सीस **सिलसिले बार**, **दृग** आँजे, राजे खरी, वेई सहज सिंगार।'
३. विस्थाप-नात्मक रूप विधान।	प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की प्रतिष्ठा।	३. व्यंजना-शक्ति या ध्वनि।	(ग) 'मधुर-मधुर मेरे **दीपक** जल!' (घ) '**अली कली** ही सौं बध्यो·····।'
४. विनिमयात्मक रूप-विधान।	प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के गुणों का परस्पर आदान-प्रदान या विनिमय।	४. प्रतीक-योजना। ५. लक्षणा-शक्ति (लाक्षणिक प्रयोग) ६. वक्रोक्ति	(ङ) **अरसानि गही** वह बानि कछू·····' (च) 'आँचल में है **दूध** और आँख में **पानी**। (छ) 'राखी सजी पर **कलाई** नहीं·····'
५. समवयात्मक रूप-विधान	प्रस्तुत या अप्रस्तुत आन्तरिक विषम तत्त्वों में बाह्य साम्य की स्थापना।	७. अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दा-लंकार। ८. वृत्ति या गुण।	(ज) '**पाप करे** तो **पा** पकर·····' (झ) '**पानी** गये न ऊबरे, मोती मानस, चून।' (ञ) "मृदु मंद मंद, मंथर, मंथर·····'

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि मूलतः शैली सम्बन्धी सभी तत्त्व-गुणादि कल्पना की ही विभिन्न प्रक्रियाओं एवं रूप-भेदों पर आधारित हैं; तथा विभिन्न परम्परागत सिद्धान्त विभिन्न रूप-भेदों की ही व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। परम्परागत सिद्धान्तों में एक प्रवृत्ति यह भी रही है कि वे अपना क्षेत्र-विस्तार करने के लिए कई बार ऐसे तत्त्वों या रूपों पर भी अपना लेबिल लगा देते हैं जो मूलतः उनके क्षेत्र से बाहर पड़ते हैं। उदाहरण के लिए अलंकार सिद्धान्त में सादृश्य मूलक अलंकारों को छोड़कर अन्य अलंकार इसी प्रकार के हैं। विरोध मूलक अलंकारों के मूल में लक्षणा शक्ति कार्य करती है, अतः वे वक्रोक्ति के ही विभिन्न रूप हैं, तो व्यंजना मूलक अलंकार—यथा, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, अन्योक्ति आदि—मूलतः ध्वनि के उदाहरण हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण विस्तार से 'साहित्य-विज्ञान' में करते हुए प्रत्येक सिद्धान्त के प्रकृत क्षेत्र एवं बाह्य क्षेत्र का निर्धारण किया जा चुका है। यहाँ हमने तालिका में विभिन्न सिद्धान्तों या तत्त्वों का उल्लेख उनके प्रकृत क्षेत्र को ही ध्यान में रखकर किया है—अन्यथा सभी तत्त्व किसी न किसी रूप में सभी सिद्धान्तों में अधिकृत या अनधिकृत रूप में उपलब्ध होंगे।

कल्पना, शैली और रस—कल्पना-शक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा कला एवं साहित्य में विभिन्न रूप भेदों या शैली के तत्त्वों (अलंकार, बिम्ब; वक्रता प्रतीक, ध्वनि, अनुप्रास आदि) की सृष्टि या उद्भावना होती है किन्तु कल्पना-शक्ति का अन्तिम लक्ष्य या उद्देश्य यही नहीं है। अन्ततः उपर्युक्त सभी रूप-भेदों या तत्त्वों की सार्थकता काव्य-वस्तु में सौन्दर्य या आकर्षण का संचार करने में है; यदि कोई रूप-भेद या शैली-गुण सौन्दर्य या आकर्षण की उद्दीप्ति में असमर्थ सिद्ध होता है तो वहाँ उसका काव्यात्मक या कलात्मक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। कल्पना की उपर्युक्त प्रक्रियाओं द्वारा पूर्वोक्त रूप-भेदों एवं तत्त्वों में आकर्षण की उद्दीप्ति क्यों और कैसे होती है—यह पृथक अनुसंधान का विषय है, जिसका निरूपण हम आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के संदर्भ में अन्यत्र (साहित्य-विज्ञान में) विस्तार से कर चुके हैं। यहाँ निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जब स्वयं कवि की कल्पना सहज आकर्षण की प्रेरणा से किसी विषय-वस्तु का संयोजन, संप्रेषण एवं अभिव्यंजन करती है तो स्वतः ही उसकी अभिव्यंजना में आकर्षण की क्षमता का संचार हो जाता है।

कला-विवेचकों एवं काव्य-शास्त्रियों ने कल्पनात्मक रूप-भेदों द्वारा उत्पन्न आकर्षण को ही सुन्दरता, शोभा, चारुता, दीप्ति, रमणीयता, रुचिरता आदि विभिन्न नामों से पुकारा है, तथा इसी को सौन्दर्य-शास्त्र में '**सौन्दर्य** (Beauty) के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, किन्तु जैसा कि हम पिछले अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं, इसे हम सामान्य रूप में तथा व्यापक अर्थ में 'आकर्षण' ही कहना उचित एवं श्रेयस्कर समझते हैं। सौन्दर्य या आकर्षण की ही अनुभूति 'सौन्दर्यानुभूति' या 'रसानुभूति' है—इसका स्पष्टीकरण भी अन्यत्र किया जा चुका है। अतः कल्पना

और रस के सम्बन्ध को सूत्र रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

कल्पना-शक्ति →	संयोजन = अलंकरण विश्लेषण = बिम्ब-विधान विस्थापन = प्रतीक या ध्वनि विनिमय = वक्रोक्ति, लक्षण समन्वय = अनुप्रास, श्लेष	→ सौन्दर्य या आकर्षण	→ सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति ।

कल्पना प्रधान साहित्य और रस—साहित्य में कल्पना की सामान्यतः दो स्थितियाँ हो सकती हैं—एक जिसमें, कल्पना शक्ति भाव एवं विचार की प्रेरणा से उनकी सहयोगिनी के रूप में विषय का प्रस्तुतीकरण या रूप-विधान करती है; दूसरी स्थिति वह है जिसमें कल्पना स्वयं प्रमुख होकर भाव एवं विचार को गौण कर देती है। जिस रचना में दूसरी स्थिति हो अर्थात् कल्पना भाव और विचार को गौण कर देती हो, उसे हम 'कल्पना-प्रधान रचना' कह सकते हैं। कल्पना-प्रधान रचना में भी कल्पना का प्रयोग इस ढंग से हो सकता है कि वह रचना में आकर्षण की उद्दीप्ति कर सके; इस प्रकार के आकर्षण को हम 'कौतूहल' या 'चमत्कार' का नाम दे सकते हैं, किन्तु जहाँ वह भावानुभव या वैचारिक औचित्य से सर्वथा शून्य होने के कारण अस्वाभाविता एवं अध्यात्मिकता के दोष से ग्रस्त हो जाती है, वहाँ वह आकर्षण की उद्दीप्ति में असफल सिद्ध होती है। अतः कला और साहित्य में कल्पना का सहज स्वाभाविक या संतुलित रूप ही ग्राह्य है।

जिस प्रकार भाव-प्रधान रचना से सौन्दर्य या माधुर्य की तथा विचार-प्रधान से औदात्य या शान्त रस की सृष्टि होती है, उसी प्रकार कल्पना-प्रधान साहित्य में चमत्कार की सृष्टि होती है, जिसे परम्परागत दृष्टि से 'अद्भुत रस' भी कहा जा सकता है। वस्तुतः सौन्दर्य श्रृंगार का आलम्बन है, औदात्य शान्त का तथा चमत्कार अद्भुत का है तथा ये तीनों क्रमशः साहित्य में भाव, विचार एवं कल्पना की प्रधानता पर बल देते हैं, इसीलिए भावात्मकता को पसन्द करने वाले आचार्यों ने श्रृंगार (प्रेम) को, विचारात्मकता या बौद्धिकता में रुचि रखने वालों ने शान्त को तथा कल्पना एवं शैली को महत्ता प्रदान करने वालों ने अद्भुत रस को ही एक मात्र रस घोषित करते हुए रुचि-भेद का प्रदर्शन किया है। हमारे विचार में ये तीनों रस कलागत वस्तु की तीन स्थितियों के सूचक हैं जो रसास्वाद के तीन पक्षों या भेदों को प्रमाणित करते हैं—अतः तीनों ही महत्त्वपूर्ण एवं ग्राह्य हैं। जिस प्रकार मिष्टान्नों के नाना रूप-भेद एवं स्वाद हैं, फिर भी सभी को 'स्वादिष्ट' कहा जाता है, वैसे ही काव्य-वस्तु एवं काव्य-रूपों के भेद से उनके आस्वाद में भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर का होना स्वाभाविक है; इसीलिए आचार्यों ने रसास्वाद के अनेक भेद—श्रृंगार, करुण, वीभत्स, अद्भुत किये हैं, किन्तु अन्ततः सभी रसानुभूति के अन्तर्गत समन्वित हो जाते हैं, अतः इन भेदों को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।

●

६ रस-भेद एवं काव्य-रूप : पुनर्विवेचन

साहित्य के क्षेत्र में रचनाओं के वर्गीकरण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ विषय-वस्तु के स्रोत (पौराणिक, ऐतिहासिक, कल्पना-प्रसूत) को, कुछ विषय-वस्तु की मुख्य प्रवृत्ति को, (जैसे आदर्शवादी, स्वच्छन्दतावादी, यथार्थवादी आदि), कुछ रचयिता के लक्ष्य—यथा, सामाजिक, मनोविश्लेषणात्मक प्रगतिवादी आदि—को तथा कुछ बाह्य रूपों—जैसे, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि—को आधार रूप में स्वीकार करती है। दूसरी ओर, रस सिद्धान्त के क्षेत्र में भाव-विशेष की प्रमुखता के आधार पर रचनाओं का वर्गीकरण किया जाता है तथा उन्हें विभिन्न रस-भेदों के अनुसार संज्ञा दी जाती है। वर्तमान स्थिति में साहित्य में प्रचलित वर्गीकरण की विभिन्न पद्धतियों से रस-सैद्धान्तिक वर्गीकरण का सामंजस्य नहीं है—इसके मुख्यतः दो कारण हैं—एक तो रस-सैद्धान्तिक वर्गीकरण अपने-आप में भी सर्व-सम्मत, स्पष्ट, निश्चित, संगत एवं व्यापक नहीं है। दूसरे, साहित्य के वर्गीकरण की अन्य पद्धतियाँ भी किसी सुनिश्चित एवं वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में न केवल रस सैद्धान्तिक पद्धति में संशोधन की अपितु इतर पद्धतियों को भी सुनिश्चित रूप दिये जाने की आवश्यकता है। अतः हम यहाँ रस-सैद्धान्तिक पद्धति एवं अन्य पद्धतियों पर विचार करते हुए इन आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करेंगे।

● रस-भेदों का वर्गीकरण—

भारतीय आचार्यों ने कलाकृति में प्रस्तुत या व्यंजित प्रमुख स्थायीभाव के आधार पर विभिन्न रस-भेदों की स्थापना की है; उनके मतानुसार जितने स्थायी

भाव हैं, उतने ही रस-भेद सम्भव है, किन्तु स्थायी भावों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मत-भेद दृष्टिगोचर होता है। आचार्य भरत ने मूलतः आठ स्थायी भावों के आधार पर आठ रसों का निरूपण किया था—१. शृंगार (रति स्थायी भाव) २. हास्य (हास्य) ३. करुण (शोक) ४. रौद्र (क्रोध) ५. वीर (उत्साह) ६. भयानक (भय) ७. बीभत्स (जुगुप्सा) और ८. अद्‌भुत (आश्चर्य)। आगे चलकर भरत के 'नाटय शास्त्र में ही नवाँ रस—शान्त—और जोड़ दिया गया तथा उसका स्थायी भाव 'शम' को बताया गया है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों में शान्त-रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में अत्यधिक मत-भेद रहा; किसी ने निर्वेद को, किसी ने तत्त्व-ज्ञान को तो किसी ने तृष्णा-क्षय सुख को शान्तरस का स्थायी भाव सिद्ध करने का यत्न किया—किन्तु फिर भी शान्त रस की सत्ता प्रायः सभी को मान्य रही। हाँ जो आचार्य किसी एक ही रस-भेद को एक मात्र रस मानते थे, वे अवश्य इसके अपवाद हैं। परवर्ती युग में विभिन्न आचार्यों द्वारा और भी कई रस भेदों की स्थापना की गयी; जिनमें से प्रमुख का उल्लेख यहाँ किया जाता है[1]—(१) प्रेयान् (स्नेह), लौल्य (लालसा), उदात्त (मति), उद्धत (गर्व), कार्पण्य (स्पृहा), ब्राह्म (आनन्द), माया (मिथ्या ज्ञान), वात्सल्य (वत्सलता), सख्य (मैत्री), भक्ति (भक्ति भाव), देश-भक्ति देश-भक्ति का भाव), प्रकृति-रस (प्रकृति प्रेम) आदि। यहाँ कोष्ठक में प्रत्येक रस से सम्बन्धित स्थायी भाव का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त सूची में प्रस्तुत रसों में से पूर्वोक्त नौ रसों के अतिरिक्त भक्ति एवं वात्सल्य को ही विद्वानों की स्वीकृति प्राप्त हुई तथा भक्ति का भी अन्तर्भाव शान्त-रस में कर दिया गया—इस प्रकार वात्सल्य को मिलाकर कुल दस भेद ही परम्परा के द्वारा मान्य हैं, शेष की उपेक्षा कर दी गयी। अवश्य ही उपेक्षित रसों में से अनेक का समन्वय पूर्व प्रचलित रस-भेदों में ही हो जाता है, फिर भी यह कहना अत्युक्ति होगी कि शेष सभी भेद त्याज्य एवं उपेक्षणीय ही थे। हमारे विचार में अनेक भेदों की उपेक्षा इसलिए भी कर दी गयी कि उन्हें समझने के लिए रूढ़ि-मुक्त दृष्टि, व्यापक दृष्टिकोण एवं गंभीर चिन्तन की अपेक्षा थी। उदाहरण के लिए, भोजराज द्वारा प्रस्तुत उदात्त रस, जिसका स्थायीभाव मति को बताया गया था, एक अत्यन्त गम्भीर एवं नूतन अनुसंधान का परिचायक था; उसका महत्त्व हम आज पाश्चात्य उदात्त या औदात्य (Sublime) के संदर्भ में समझ सकते हैं। हम पीछे औदात्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कर चुके हैं कि औदात्य कला-संदर्भ में बौद्धिक अनुभूति का आस्वाद है—इसी बौद्धिक अनुभूति का सँकेत भोजराज ने 'मति' स्थायी के रूप में दिया है। वस्तुतः भोजराज अपने देश और काल से बहुत

---

१. रस-सिद्धान्त : ५१० नगेन्द्र ; पृ० सं० २४२-२५४

आगे थे, इसी से उनकी अनेक मान्यताओं के साथ समकालीन एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा न्याय नहीं हो पाया। अतः हमारे विचार से परम्परागत रस-भेद सम्बन्धी वर्गीकरण पर पुनर्विचार करते हुए उसे व्यापक एवं संगत रूप दिये जाने की आवश्यकता है।

यहाँ उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास करने से पूर्व इस बात पर भी विचार कर लिया जाना चाहिए कि क्या इस प्रकार का वर्गीकरण उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा क्योंकि आधुनिक युग के अनेक विद्वान् इसे अनावश्यक एवं अनुपयोगी ही नहीं अपितु काव्य-रचना के मार्ग में बाधक भी मानते हैं। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि किसी वस्तु को सम्यक् विवेचन-विश्लेषण के लिए ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वर्गीकरण की पद्धति न केवल उपयोगी हैं, अपितु आवश्यक भी है। किन्तु यदि कोई वर्गीकरण ही व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित न हो या उसका रूप संगत न हो तो उस रूप में वह अवश्य हमारे अध्ययन-विवेचन विश्लेषण में बाधक सिद्ध हो सकता है। अतः दोष वर्गीकरण का नहीं, वर्गीकरण के दोषपूर्ण प्रयास का है। फिर भी यदि निर्दोष वर्गीकरण को भी हमारे कुछ विद्वान् काव्य-रचना या काव्य-मूल्यांकन में बाधक मानें तो इसके उत्तर में क्या कहा जा सकता है। सम्भवतः ऐसे विद्वानों के लिए न केवल वर्गीकरण अपितु अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन की प्रत्येक प्रक्रिया ही बाधक सिद्ध हो सकती है। तुलसीदासजी के कथानुसार कुछ व्यक्तियों के लिए दिन का प्रकाश और रात्रि की ज्योत्स्ना भी अहितकर सिद्ध होती है—अतः ऐसे व्यक्तियों को अपवाद मानकर हम आगे बढ़ सकते हैं।

वैसे यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि काव्य-रचना का समन्वित प्रभाव सामान्यतः उसके मूलभाव या स्थायीभाव अथवा केन्द्रीय तत्त्व के अनुरूप ही होता है; इसीलिए जाने या अनजाने इस दृष्टि से साहित्य का वर्गीकरण विभिन्न देश-काल के आचार्य करते रहे हैं; यथा—अरस्तू का त्रासदी एवं कामदी का वर्गीकरण, काण्ट का सौन्दर्यात्मक एवं औदात्य के आधार पर कला-भेदों का निरूपण, हीगल द्वारा असुन्दर (Ugliness), उदात्त (Sublime), करुण (Tragic), हास्य (Comic) के आधार पर कला का पृथक-पृथक विवेचन, टालस्टाय द्वारा व्यापक एवं नैतिक भावों से आधार पर कला की उत्कृष्टता एवं निकृष्टता का विश्लेषण, जार्ज सैंतायना द्वारा रति, करुण, उदात्त एवं हास्य से सम्बन्धित रचनाओं के महत्त्व का निरूपण—ये उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि कलागत भाव की प्रमुखता के आधार पर उनका वर्गीकरण, विश्लेषण एवं मूल्यांकन संभव है, यह दूसरी बात है कि इस दृष्टि से वर्गीकरण का कोई भी प्रयास अभी पूर्णतः सफल नहीं हुआ।

किसी भी वर्गीकरण को सुसंगत एवं वैज्ञानिक रूप देने के लिए सर्व प्रथम हमें यह देखना चाहिए कि उसका आधार क्या है तथा तदनन्तर उस आधारभूत तत्त्व

के ही विभिन्न भेदों का अनुसन्धान करते हुए विभिन्न वर्गों की स्थापना की जानी चाहिए। रस-सिद्धान्त के भारतीय आचार्यों ने प्रायः कलागत स्थायीभाव—यदि अनेक स्थायीभाव हैं तो प्रमुख या अंगी स्थायीभाव—को ही आधार माना है किन्तु इसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं। यथा, अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित शान्तरस के स्थायीभाव 'तत्त्व-ज्ञान' को, भोजराज द्वारा प्रतिपादित 'उदात्त रस' के स्थायीभाव 'मति' को, भानुदत्त द्वारा प्रतिपादित मायारस के स्थायीभाव 'मिथ्याज्ञान' को, भारतेन्दु द्वारा उल्लिखित प्रमोद रस के स्थायीभाव 'आनन्द' को, 'स्थायीभाव' कहना ही असंगत होगा क्योंकि जहाँ तत्त्व-ज्ञान, मति और मिथ्याज्ञान भाव न होकर बौद्धिक तत्त्व हैं; वहाँ 'आनन्द' भी एक अनुभूति मात्र है—उसे भाव-विशेष के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसा कि हम अन्यत्र बौद्धिकरस की विवेचना करते समय बता चुके हैं, तत्त्व-ज्ञान, उदात्त (मति) आदि काव्यगत बौद्धिकता की प्रमुखता के सूचक हैं तथा इस प्रकार की रचनाओं में 'स्थायीभाव' की प्रमुखता न होकर 'स्थायी विचार' या केन्द्रीय तत्त्व की प्रमुखता रहती है; अतः विचार-प्रधान रचनाओं में स्थायीभाव की अपेक्षा केन्द्रीय विचार या तत्त्व का अनुसंधान करना अधिक उचित होगा। अस्तु, स्थायीभाव को आधार बनाने की बात केवल उन्हीं रचनाओं पर लागू होगी जिनमें किसी स्थायीभावात्मक प्रवृत्ति की ही प्रमुखता हो तथा अन्य तत्त्व गौण हों। वस्तुतः परम्परागत रस-सिद्धान्त की सबसे बड़ी सीमा यही है कि वह केवल उन भाव-प्रधान रचनाओं पर लागू होता है जिनमें प्रमुखता स्थायीभाव की है; विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान रचनाओं की व्याख्या वह सम्यक् रूप में नहीं कर पाता। अवश्य ही अभिनवगुप्त की शान्तरस की धारणा या भोजराज की उदात्तरस की स्थापना, विचार-प्रधान साहित्य को ध्यान में रखकर हुई होगी, किन्तु उन धारणाओं के अनुसार रस-सिद्धान्त के स्वरूप एवं अंगों में अपेक्षित संशोधन-परिवर्द्धन नहीं हो पाया; अर्थात् आधार और लक्ष्य बदल जाने पर भी रस के अवयवों का निरूपण पूर्ववत् ही रहा। अतः यदि हमें रस-सिद्धान्त को व्यापक रूप में प्रतिष्ठित करना है, उसे केवल भाव-प्रधान रचनाओं तक ही सीमित नहीं रखना है तो उसके परम्परागत प्ररूप में भी संशोधन-परिवर्तन करना आवश्यक है। अतः हम थोड़ी देर के लिए परम्परागत स्वरूप को भूलकर स्वतन्त्र दृष्टि से रस-भेदों के वर्गीकरण का प्रयास करते हैं।

जैसा कि इसी खण्ड के विगत अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है—व्यापक रूप में रस काव्यानुभूति या सौन्दर्यानुभूति का पर्याय है। वह काव्य या कला में विभिन्न साधनों द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य या आकर्षण के आस्वाद की अनुभूति है। यह सौन्दर्य या आकर्षण तीन प्रकार ने तत्त्वों द्वारा उत्पन्न या उद्दीप्त होता है—(१) भावात्मक तत्त्व (२) विचारात्मक या बौद्धिक तत्त्व और (३) कल्पनात्मक या

शैली सम्बन्धी तत्त्व यद्यपि प्रत्येक रचना में ये तीनों ही प्रकार के तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु विभिन्न रचनाओं में प्रमुखतया विभिन्न वर्ग के तत्त्वों की रहती है। साहित्यकार की रुचि-भेद, लक्ष्य-भेद, एवं विषय-वस्तु के भेद के कारण किसी में भावात्मक तत्त्व किसी में विचारात्मक तत्त्व एवं किसी में कल्पनात्मक तत्त्व प्रमुख एवं अन्य तत्त्व गौण हो जाते हैं। इस दृष्टि से सभी रचनाओं को सर्व प्रथम तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) भाव-प्रधान (२) विचार-प्रधान और (३) कल्पना-प्रधान। इन तीनों प्रकार की रचनाओं में आकर्षण के ही तीन रूपों की क्रमशः प्रमुखता रहती है—भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण एवं रूपात्मक (=शैली सम्बन्धी) आकर्षण। परम्परागत शब्दावली में इन तीनों को क्रमशः सौन्दर्य, औदात्य एवं चमत्कार की भी संज्ञा दी जा सकती है। अब प्रत्येक वर्ग के भी अवान्तर-भेद रचनागत प्रमुख तत्त्व के उपभेदों के आधार पर किये जा सकते हैं। संक्षेप में, भाव, विचार एवं कल्पना के भेदोपभेद के आधार पर ही उनकी काव्यात्मक अनुभूति (=रस) के भेद निर्धारित किये जा सकते हैं। अतः आगे क्रमशः ऐसा ही करने का प्रयास किया जायगा।

● भाव-प्रधान साहित्य के भेदोपभेद—

सर्व प्रथम हम भाव-प्रधान साहित्य को लेते हैं। इसका वर्गीकरण भाव-विशेष की ही प्रमुखता के आधार पर करना उचित होगा, किन्तु स्वयं भावों को किस आधार पर वर्गीकृत किया जाय—इसका सर्वमान्य एवं सम्यक् उत्तर अभी तक आधुनिक मनोविज्ञान भी नहीं दे पाया है। किन्तु डा० भगवानदास ने अपने ग्रन्थ 'The Science of Emotions' में सभी भावों को मूलतः आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रियाओं के रूप में स्वीकार करते हुए उन्हें एक वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है। हमने 'साहित्य-विज्ञान' में इस वर्गीकरण पर विस्तार से विचार करते हुए उसे संशोधित रूप देने की चेष्टा की है; जिससे हमारे सभी भाव एक सुसंगत एवं व्यापक आधार पर वर्गीकृत हो जाते हैं। यहाँ संक्षेप में उक्त वर्गीकरण का परिचय दिया जाता है।

डा० भगवान दास के अनुसार हमारे सभी भावों के मूल में आकर्षण या विकर्षण की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। सामान्य आकर्षण या विकर्षण के साथ जब हमारे 'अहं' तत्त्व का मिश्रण हो जाता है तो वे राग-द्वेष में परिणत होकर आलंबन-भेद के अनुसार विभिन्न भावों का रूप धारण कर लेते हैं; इसे यहाँ तालिका के रूप में स्पष्ट किया जाता है।

तालिका : आकर्षण-विकर्षण के आधार पर भावों का वर्गीकरण

परिस्थिति-भेद		आकर्षण (राग)		विकर्षण (द्वेष)
(१) समान व्यक्ति के प्रति आकर्षण या विकर्षण	→	प्रेम	या	घृणा
(२) समलैंगिक समान व्यक्ति के प्रति आकर्षण या विकर्षण	→	मैत्री	या	घृणा
(३) बड़े के प्रति आकर्षण या विकर्षण	→	श्रद्धा (भक्ति)	या	भय
(४) छोटे के प्रति आकर्षण या विकर्षण	→	स्नेह, (वात्सल्य) करुणा	या	क्रोध

तालिका के अनुसार परिस्थिति-भेद से आकर्षण के क्रमशः प्रेम, मैत्री, श्रद्धा, स्नेह, करुणा—इन पाँच भावों की तथा विकर्षण से क्रमशः घृणा, भय और क्रोध की व्युत्पति संभव है। यहाँ हमने विभिन्न भावों के आलम्बन की ही प्रमुख विशेषता का संकेत किया है किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि विभिन्न भावों की व्युत्पति या उद्दीप्ति के लिए केवल आलम्बन का ही सम्पर्क पर्याप्त है, अपितु आलम्बन के साथ-साथ भावानुकूल परिस्थितियों का भी संयोग अपेक्षित है।

तालिका में प्रस्तुत आठ भावों के अतिरिक्त चार भाव और उल्लेखनीय हैं—हास्य, आश्चर्य, उत्साह और निर्वेद। इन भावों में से हास्य और आश्चर्य तो क्रमशः विचार और कल्पना मिश्रित हैं, जबकि उत्साह और निर्वेद चेष्टात्मक प्रवृत्ति की दो स्थितियों—प्रवृत्तियों और निवृत्ति के सूचक हैं। हास्य में विद्रूपता या अनौचित्य को तथा आश्चर्य में वैचित्र्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वे सामन्यतः आकर्षक प्रतीत होते हैं। पर जहाँ हम दूसरों पर हँसना या चकित होना पसन्द करेंगे, वहाँ स्वयं उसके पात्र बनना कम चाहेंगे—अतः व्यवहारिक क्षेत्र में ये दोनों भाव आकर्षण-विकर्षणयुक्त अर्थात् उभयात्मक हैं, किन्तु फिर भी अपेक्षाकृत 'हास्य' में हमारी प्रवृत्ति तथा 'आश्चर्य' में निवृत्ति अधिक रहती है। अतः इन्हें क्रमशः बौद्धिक प्रवृत्ति से समन्वित आकर्षण-विकर्षण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

जिस प्रकार आकर्षण की प्रवृत्ति और चेष्टात्मक प्रवृत्ति के संयोग से उत्साह की व्युत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विकर्षण एवं चेष्टात्मक प्रवृत्ति के संयोग से निर्वेद (निष्क्रियता) की स्थिति उत्पन्न होती है। आकर्षण का चेष्टात्मक रूप जहाँ हमें

प्रवृत्ति की प्रेरणा देता है, वहाँ विकर्षण का चेष्टात्मक रूप निवृत्ति की प्रेरणा देता है—जिसे 'निर्वेद' भाव कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कुल प्रमुख भाव बारह सिद्ध होते हैं। रस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते समय पीछे हमने मानव-मन की उन मूल प्रवृत्तियों या सहज प्रवृत्तियों के भी बारह ही प्रकार निश्चित किये हैं, जिनसे विभिन्न भावों, भावनाओं या स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों का विकास सम्भव है। उपर्युक्त बारह भाव भी पूर्वोक्त मूल प्रवृत्तियों व स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों के अनुरूप है। अतः हमारे विचार से भाव-प्रधान साहित्य का वर्गीकरण पूर्वोक्त बारह सहज प्रवृत्तियों एवं तत्सम्बन्धी भावों के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है—

सहज प्रवृत्ति		**मूलभाव**	**काव्य-रस**
१. काम प्रवृत्ति	→	प्रणय	शृंगार रस
२. सन्तति पालन की प्रवृत्ति	→	वात्सल्य (स्नेह)	वात्सल्य रस
३. सामाजिकता या सामूहिकता की प्रवृत्ति	→	सहानुभूति या सख्यभाव	सख्य रस
४. आत्मसमर्पण या दैन्यता की प्रवृत्ति	→	श्रद्धा या दैन्यता	भक्ति रस
५. हास्य की प्रवृत्ति	→	हास्य	हास्य रस
६. संग्रह या अधिकार की प्रवृत्ति	→	उत्साह	वीर रस
७. निवृत्ति की प्रवृत्ति	→	घृणा	वीभत्स रस
८. पलायन की प्रवृत्ति	→	भय	भयानक रस
९. युयुत्सा की प्रवृत्ति	→	क्रोध	रौद्र रस
१०. आत्मगौरव या आत्म प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति	→	आत्मत्याग या बलिदान का भाव (निर्वेद)	शान्त रस
११. शरणागति की प्रवृत्ति	→	करुणा (शोक)	करुण रस
१२. जिज्ञासा की प्रवृत्ति	→	आश्चर्य	अद्भुत रस

उपर्युक्त बारह भावों एवं रसों के सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जहाँ प्रथम छह भाव व रस आकर्षक-मूलक हैं, वहाँ अन्तिम छह विकर्षण मूलक हैं। यदि हम इस वर्गीकरण को संक्षिप्त रूप देना चाहें तो सभी भावों और रसों को दो ही वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) आकर्षणमूलक भाव—प्रणय, वात्सल्य, सख्य, श्रद्धा (भक्ति), हास्य और उत्साह। (२) विकर्षण मूलक भाव—घृणा, भय, क्रोध, निर्वेद, शोक (करुणा) और आश्चर्य।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार स्नेह और सख्य भाव को मान्यता नहीं दी जाती, किन्तु हमारे विचार से छोटे भाई-बहिनों, एवं मित्रों के प्रति क्रमश; स्नेह और सख्य भाव की अनुभूति व्यवहारिक क्षेत्र एवं काव्य—दोनों में ही उपलब्ध होती है। रामायण के राम का भरत के प्रति स्नेह, कृष्ण और सुदामा का सख्य भाव, शेक्सपियर 'मर्चेन्ट आफ् वेनिस' में चित्रित मैत्री भावना—ये सभी रसानुभूति प्रदान कर सकते हैं। अतः व्यापक दृष्टि से इन्हें भी रस रूप में स्वीकार किया जाना आवश्यक है। इतना अवश्य है कि स्नेह को वात्सल्य के अन्तर्गत भी स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि दोनों मूलतः एक ही प्रकृति के हैं।

● **विचार-प्रधान साहित्य के भेदोपभेद—**

अब हम साहित्य के दूसरे वर्ग—विचार-प्रधान—को लेते है। जिस प्रकार भाव-प्रधान साहित्य के भेदोपभेदों के निर्धारण के लिए भाव के भेदोपभेदों को आधार बनाया गया था, उसी प्रकार विचार-प्रधान में विचार के भेदोपभेद विचारणीय हैं। मनोविज्ञान के अनुसार विचार के तीन स्तर-भेद माने जाते हैं— (१) प्रत्यक्षात्मक विचार (Perception) (२) कल्पनात्मक विचार (Manipulation) और (३) प्रत्ययात्मक विचार (Conception)। साहित्य में भी विचारों के ये तीनों रूप उपलब्ध होते हैं, कहीं उन्हें प्रत्यक्ष रूप में कहीं ऐन्द्रियक बिम्बों के रूप में, कहीं कल्पनात्मक रूपों के रूप में और कहीं प्रत्यय रूप में उनकी व्यंजना की जाती है। इस लिए विचार के प्रस्तुती-करण की दृष्टि से हमने 'साहित्य-विज्ञान' में विचार प्रधान साहित्य के तीन प्रकार निश्चित किये हैं— (१) जिसमें विचार ऐन्द्रियानुभूति भावानुभूति के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। (२) जिसमें विचार को कल्पनात्मक रूप के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। और (३) जिसमें विचार को अन्य विचार के सहयोग से प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ तीनों के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) विचार का भावानुभूति के माध्यम से प्रस्तुतीकरण—

माखी गुड़ में गडि रही, पंख रही लपटाय।
ताली पीटे सिर धुनैं, मीठै बोई माय॥

(ख) विचार का कल्पनात्मक रूप के माध्यम से प्रस्तुतीकरण—

माली आवत देखिकै कलियाँ करै पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये, काल्हि हमारी बार।

(ग) विचार का अन्य विचार या तथ्य के सहयोग से प्रस्तुतीकरण—

करत करत अभ्यास कै जड़ मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तै, सिल पर होत निसान॥

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में कवि का लक्ष्य विचार विशेष को ही प्रस्तुत करने का रहा है, किन्तु उनमें क्रमशः ऐन्द्रियकता (भावानुभूति), कल्पनात्मक रूप एवं अन्य विचार को साधन रूप में ग्रहण किया गया है।

दर्शन एवं नीतिशास्त्र की दृष्टि से सभी विचारों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (१) सत्य, उचित या उच्च विचार। (२) असत्य, अनुचित या हेय विचार। साहित्य में प्रथम प्रकार के विचारों की अनुभूति से औदात्य भाव या शांत रस अथवा बौद्धिकरस की सृष्टि होती है, जब कि दूसरे प्रकार के विचारों के प्रति उपहास या व्यंग्य का भाव उद्दीप्त होता है यहाँ दोनों के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) 'दु:ख की पिछली रजनी बीच, विकसता सुख का नवल प्रभात!'

(ख) स्वारथ सुकृत न श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज पराये पनि परी, तू पच्छीननु न मारि॥

(ग) मरत प्यास पिंजरा परयो सुआ समै के फेर।
आदर दे दे बोलियतु वायस बलि की बेर॥

उपर्युक्त उदाहरणों में जहाँ प्रथम सार्वभौमिक सत्य या महान् विचार को प्रस्तुत करता है, अतः उसमें औदात्य की सत्ता है जबकि शेष उदाहरणों में ऐसे तथ्यों एवं कार्यों पर व्यंग्य किया गया है, जो सामाजिक या नैतिक दृष्टि से अनुचित विचार या तत्त्व के द्योतक हैं।

प्रायः हास्य और व्यंग्य को एक ही समझा जाता है, किन्तु हमारे विचार से दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। यद्यपि दोनों में असंगत विचार एवं भावानुभूति का योग रहता है किन्तु हास्य में विचार भाव के अधीन होता है जबकि व्यंग्य में भाव विचार के अधीन रहता है—अतः हास्य को जहाँ हम भाव-प्रधान साहित्य में स्थान देते हैं, वहाँ व्यंग्य को विचार-प्रधान का ही एक भेद मानना उचित होगा।

वस्तुतः चिन्तन-प्रक्रिया के भी दो पक्ष होते हैं; एक जिज्ञासा और दूसरा तर्क। जिज्ञासा ग्राह्य विचारों में प्रवृत्त होती है जबकि तर्क अग्राह्य विचारों का निषेध या उनसे निवृत्त करता है। अतः जहाँ ग्राह्य विचारों (=उच्च, उचित, सत्य विचार) से औदात्य या शान्ति की अनुभूति प्राप्त होती है, वहाँ दूसरे वर्ग के विचारों से तर्क-शक्ति की ही प्रक्रिया से विरक्ति, उपहास एवं व्यंग्य की प्रेरणा मिलती है। अतः इस दृष्टि से विचार-प्रधान रचनाओं के दो वर्ग—जिज्ञासा मूलक एवं तर्क मूलक—करते हुए उनमें क्रमशः औदात्य एवं व्यंग्य सम्बन्धी रचनाओं को स्थान दिया जा सकता है।

● कल्पना-प्रधान साहित्य के भेदोपभेद—

वैसे तो भाव-प्रधान एवं विचार-प्रधान साहित्य में भी क्रमशः भावों एवं विचारों की व्यंजना के लिए कल्पना-शक्ति का सहयोग प्रायः लिया जाता है, किन्तु कल्पना-प्रधान साहित्य में हम उन रचनाओं को स्थान देंगे जिनमें कल्पना का लक्ष्य भाव और विचार की अभिव्यक्ति करना न होकर स्वयं कल्पना-शक्ति का ही चमत्कार उत्पन्न करना हो। अवश्य ही, इस प्रकार की रचनाओं में भी विचार और भाव न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होंगे, किन्तु वहाँ उनकी स्थिति एवं महत्ता कल्पना के समक्ष गौण रहेगी।

काव्यगत कल्पना के मुख्यतः चार भेद किये जा सकते हैं—(१) जहाँ कल्पना मूल ऐन्द्रियक बिम्बों को केवल बिम्बात्मकता के लिए ही प्रस्तुत करती हो। (२) जहाँ कल्पना शक्ति वस्तुओं, क्रिया-कलापों एवं तथ्यों को अस्वाभाविक, विचित्र एवं चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती हो। (३) जहाँ शैलीगत साधनों—वर्ण-विन्यास, शब्द-योजना, अनुप्रास, श्लेष आदि के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया हो। वस्तुतः कल्पना के प्रथम दो भेद जहाँ विषयगत वैचित्र्य के सूचक हैं, वहाँ अन्तिम भेद शैलीगत चमत्कार का सूचक है। इनके कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

(क) फूल खिले हैं—रंग-बिरंगे;
सफेद, लाल, नीले, पीले !

(ख) इत आवति, चलि जाति उत, चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥

(ग) पानी गये न उबरै, मोती, मानस, चून।

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में कल्पना-शक्ति का लक्ष्य वैचित्र्य उत्पन्न करने का है, जिसे हम दूसरे शब्दों में 'कल्पनात्मक आकर्षण या चमत्कार', कह सकते हैं। प्रायः कल्पना शक्ति भाव एवं विचार के सम्यक् सहयोग के अभाव में उच्चकोटि की रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति प्रदान करने में असमर्थ और असफल ही सिद्ध होती है; तथा उस स्थिति में वह रचना में शुष्कता, कृत्रिमता, अस्वाभाविकता, अस्पष्टता आदि दोषों का संचार करती है। सामान्यतः कल्पना-प्रधान साहित्य कौतूहल की प्रवृत्ति को तुष्ट करता हुआ मनोरंजन के लक्ष्य की ही पूर्ति करता है।

● काव्य-रूपों की दृष्टि से विवेचन—

अब तक हमने स्वतन्त्र दृष्टि से काव्य या साहित्य के वस्तु तत्त्व के आधार पर उसके तीन रूपों—भाव प्रधान, विचार-प्रधान, एवं कल्पना-प्रधान—के भेदोपभेदों का विवेचन करते हुए उनके स्वरूप-भेदों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है; उसमें उनके बाह्य रूपों की दृष्टि से कोई विचार नहीं किया गया है, जबकि परम्परागत साहित्य-

शास्त्र में साहित्य का वर्गीकरण मुख्यतः उसके बाह्य रूप-भेदों के आधार पर ही किया जाता है। रूप-भेदों का परम्परागत प्रचलित वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

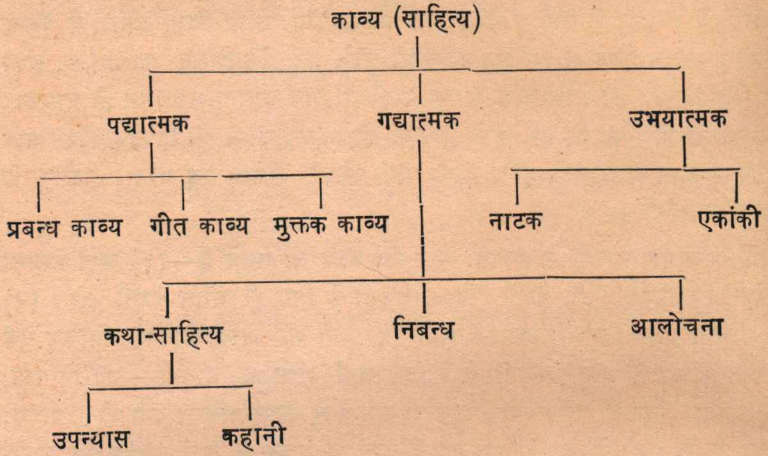

तालिका में प्रस्तुत भेदों के अतिरिक्त भी अनेक भेद; यथा—जीवनी. संस्मरण, आत्मकथा, रेखाचित्र, रेडियो रूपक, गद्य-काव्य आदि उपलब्ध हैं, जिन्हें हमारे विचार से उनकी प्रकृति को देखते हुए उपर्युक्त भेदों के ही उपभेद के रूप में स्थान दिया जा सकता है; जैसे—जीवनी आत्म-कथा, संस्मरण रेखाचित्र को कथा-साहित्य के उपभेदों में, गद्यकाव्य को निबन्ध के उपभेद में, रेडियो रूपक को एकांकी के उपभेद के रूप में समन्वित किया जा सकता है।

वस्तुतः यहाँ मूल प्रश्न विभिन्न रूप-भेदों के विस्तार या संकोच का नहीं है, अपितु यह है कि क्या रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध इन सभी रूपों से स्थापित होता है, या उसका क्षेत्र नाटक एवं प्रबन्ध काव्य तक ही सीमित है, क्योंकि अनेक विद्वानों के विचार से रस-सिद्धान्त की स्थापना मूलतः नाटक को ध्यान में रखकर ही की गयी थी तथा आगे उसे प्रबन्ध काव्यों पर भी लागू किया गया, जबकि अन्य रूपों में विभाव, अनुभाव, संचारी आदि की योजना सम्यक् रूप में सम्भव नहीं—अतः अन्य काव्य-रूपों पर उसे लागू करना उचित नहीं। अवश्य ही इस आक्षेप में आंशिक सत्य है; विभावादि के प्रस्तुतीकरण की जैसी सम्भावना नाटक में होती है, वैसी ही अन्य काव्य-रूपों में नहीं है; तथा मूलतः नाट्यकला की दृष्टि से ही रस-सिद्धान्त की स्थापना हुई थी। किन्तु परवर्ती युग में प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक को ध्यान में रखकर ही रस सिद्धान्त में संशोधन-परिवर्द्धन भट्टनायक, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों द्वारा हुआ। फिर भी यह तथ्य है कि मुक्तक, गीति, निबन्ध, आलोचना आदि में प्रायः रचयिता (आश्रय) के ही भावों, अनुभावों, दृष्टिकोण एवं विचारों की अभिव्यक्ति होती है—शेष अवयव, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी आदि उसमें प्रत्यक्ष रूप में उस प्रकार प्रस्तुत

नहीं होते जिस प्रकार कि नाटक या प्रबन्धकाव्य में सम्भव है। दूसरे, जहाँ नाटक में विभावादि के प्रस्तुतीकरण द्वारा ही भाव को व्यक्त किया जाता है, वहाँ उपर्युक्त रूपों में विभावादि के स्थान पर कल्पना-शक्ति एवं शैलीगत तत्त्वों के माध्यम से भी भाव को संवेदित या संप्रेषित कर दिया जाता है। तीसरे, गद्य साहित्य के अनेक रूप-भेदों में स्थायी भाव की प्रमुखता न होकर लेखक के दृष्टिकोण, विचार या तत्त्व-बोध की प्रमुखता रहती है; जबकि विभावादि से सम्बन्धित सूत्र में इनके लिए कोई अवकाश नहीं है। अतः निश्चय ही रस सिद्धान्त का परम्परागत रूप जो कि आचार्य भरत के सूत्र पर आधारित है- मुक्तक, गीति, निबन्ध, समीक्षा आदि रूपों का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन सम्यक् रूप में नहीं कर पाता।

अस्तु, उपर्युक्त स्थिति हमारे मूल लक्ष्य के प्रतिकूल है किन्तु यह बात परम्परागत रूप पर ही लागू होती हैं; यदि हम रस को व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए प्रत्येक प्रकार की कलानुभूति, काव्यानुभूति या काव्यात्मक सौन्दर्यानुभूति को ही रस की अनुभूति की पर्याय मानते हैं तो उस स्थिति में निश्चय ही सभी काव्य-रूपों का सम्बन्ध रसानुभूति से स्वीकार करना होगा क्योंकि अन्ततः काव्य या साहित्य की श्रेणी में आने वाली प्रत्येक रचना का प्रमुख गुण या आधारभूत लक्षण रसानुभूति (सौन्दर्यानुभूति) प्रदान करने की क्षमता ही है; उसकी विषय-वस्तु एवं बाह्य विधा जो चाहे हो। किन्तु इस सम्बन्ध की स्थापना या उसके सम्यक् विश्लेषण के लिए हमें एक तो विभिन्न काव्य-रूपों के आधारभूत अवयवों, तत्त्वों या अंगों का विश्लेषण करना होगा तथा दूसरे उन्हें ध्यान में रखकर ही रसानुभूति के अवयवों—विभावादि पर पुनर्विचार करना होगा। अतः आगे क्रमशः ऐसा ही करने का प्रयास किया जाता है।

काव्य-रूपों के आधारभूत तत्त्व—परम्परागत साहित्य-शास्त्र में विभिन्न काव्य-रूपों के वैशिष्ट्य एवं उनके पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न तत्त्वों का निर्धारण किया गया है; जो संक्षेप में इस प्रकार है—

नाटक	**प्रबन्ध-काव्य**	**कथा-साहित्य**	**गीति-काव्य**	**निबन्ध**	**समीक्षा**
१. वस्तु	१. वस्तु	१. वस्तु	×	विषय-वस्तु	आलोच्यकृति
२. पात्र	२. पात्र	२. पात्र	वैयक्तिकता	वैयक्तिकता	×
३. संवाद	३. संवाद	३. संवाद	×	×	×
४. देश-काल	४. देशकाल	४. देशकाल	×	×	×
५. शैली	५. शैली	५. शैली	{ संगीतात्मकता कोमलता संक्षिप्तता	शैली	शैली
६. उद्देश्य	६. उद्देश्य	६. उद्देश्य	भावात्मकता	×	दृष्टिकोण/निर्णय

यहाँ हमने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के प्रचलित तत्त्व-निरूपण को ही स्थूल रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे एक बात स्पष्ट है कि उपर्युक्त तत्त्व विभिन्न काव्य-रूपों के भेदक लक्षण कम हैं, उनकी पारस्परिक समानता के द्योतक अधिक हैं; यथा—नाटक, प्रबन्ध-काव्य और कथा-साहित्य में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, जिससे यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः तात्त्विक समानता के होते हुए भी इनमें विभिन्न तत्त्वों की नियोजन-पद्धति एवं उपयोग-विधि में अन्तर है, जिसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया—अतः कहना चाहिए कि प्रचलित निरूपण भ्रामक या दोष-पूर्ण है।

हमारे विचार में विभिन्न काव्य-रूपों का स्वरूप स्पष्ट करने एवं उनके पारस्परिक अन्तर को उद्‌घाटित करने के लिए उन पर तीन दृष्टियों से विचार किया जाना चाहिए—एक तो प्रत्येक काव्य-रूप की मूल प्रकृति की दृष्टि से, दूसरे उसकी विषय-वस्तु के क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से और तीसरे उसके माध्यम या बाह्य रूप के भेदक लक्षणों की दृष्टि से। जहाँ तक मूल प्रकृति की बात है, कुछ काव्य-रूप भाव-प्रधान हैं, कुछ विचार-प्रधान एवं कुछ कल्पना-प्रधान। उदाहरण के लिए, जहाँ पद्यात्मक रूपों में भावात्मकता अपेक्षाकृत अधिक सम्भव है, वहाँ गद्यात्मक में अपेक्षाकृत न्यून रहेगी। फिर गद्य और पद्य में भी क्रमशः प्रबन्ध-काव्य निबन्ध, समीक्षा आदि में विचार-तत्त्व की, नाटक और गीति काव्य में भाव तत्त्व की तथा मुक्तक, काव्य व उपन्यास-कहानी में कल्पना की प्रमुखता स्वीकार की जा सकती है—यद्यपि इसके अपवाद भी रचयिता के लक्ष्य-विशेष के अनुसार सम्भव है।

जहाँ तक विषय-वस्तु के विस्तार की बात है, हम सृष्टि के सभी विषयों को साहित्य की दृष्टि से निम्नांकित वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

(१) प्राकृतिक जगत्—(क) स्थान, पदार्थ, दृश्य, स्थितियाँ आदि। (देश)
(ख) वातावरण, जलवायु, परिवेश आदि। (काल)

(२) प्राणी जगत्—(क) व्यक्ति (मानव)
(ख) मानवेतर प्राणी।

(३) परिस्थितियाँ और घटनाएँ।

(४) क्रिया-कलाप, कार्य आदि।

(५) भावानुभूतियाँ—प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ, भावनाएँ आदि।

(६) विचार (तत्त्व), सिद्धान्त आदि।

जिन काव्य-रूपों का लक्ष्य जीवन को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करना है उनमें तो उपर्युक्त सभी वर्गों का प्रस्तुतीकरण सम्भव है, किन्तु जो जीवन के एक ही पक्ष को लेकर चलते हैं इनमें से किसी एक ही वर्ग को प्रमुख बनाकर शेष को गौण कर देते हैं; इस दृष्टि से नाटक प्रबन्ध, उपन्यास—प्रथम प्रकार के हैं, तथा गीति, मुक्तक,

निबन्ध, समीक्षा, कहानी, एकांकी आदि दूसरे प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार के रूपों में भी क्रमशः भावानुभूति (गीति काव्य में) विचार या कल्पना (मुक्तक में), विचार (निबन्ध, समीक्षा आदि में), पात्र, घटना या कार्य में से किसी एक (एकांकी, कहानी आदि में) को प्रमुखता दी जाती है, पर इसके सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता।

बाह्य रूप-भेदों या माध्यम की दृष्टि से विभिन्न काव्य-रूपों में एक अन्तर तो यह है कि यहाँ नाटक एवं एकांकी को अभिनय (अनुमति) के माध्यम से प्रस्तुत करने का लक्ष्य रहता है, वहाँ शेष काव्य रूप भाषा-माध्यम तक ही सीमित रहते हैं। तदनन्तर पद्यात्मक काव्य-रूप छन्द एवं लय का आश्रय ग्रहण करते हैं जबकि गद्यात्मक रूपों में ऐसा नहीं होता। तीसरे, प्रबन्ध, उपन्यास, कथा आदि में लेखक किसी अन्य पात्र के माध्यम से अपनी बात कह सकता है, वहाँ गीत, निबन्ध, समीक्षा आदि में वह स्वयं ही कथ्य को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार निबन्ध, समीक्षा आदि में भी रचयिता के पास भाषा-शैली का ही प्रमुख माध्यम रह जाता है।

अस्तु, विभिन्न काव्य-रूपों की प्रकृति, विषय-वस्तु के क्षेत्र-विस्तार, शैली या माध्यम की विशेषताएँ संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

	सामान्य प्रकृति	विषय-क्षेत्र	शैली या माध्यम
१. प्रबन्ध काव्य	भाव-प्रधान	सम्पूर्ण जीवन	छन्द, लय, भाषाशैली
२. गीति काव्य	भाव-प्रधान	जीवन का एक पक्ष	संगीत, छन्द शैली,
३. मुक्त काव्य	कल्पना-प्रधान	,,	लय, भाषा-शैली
४. उपन्यास	कल्पना-प्रधान	सम्पूर्ण जीवन	भाष-शैलो
५. कहानी	कल्पना-प्रधान	एक पक्ष	,,
६. निबन्ध	विचार-प्रधान	एक पक्ष	,,
७. आलोचना	विचार-प्रधान	आंशिक जीवन	,,
८. नाटक	भाव-प्रधान	आंशिक जीवन	अभिनय, संगीत, वाद्य, भाषा-शैली
९. एकांकी	कल्पना-प्रधान	एक पक्ष	,,

उपर्युक्त विश्लेषण के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि एक तो इसमें भाव-प्रधान, विचार-प्रधान, कल्पना-प्रधान आदि से यही तात्पर्य है कि उनमें क्रमशः भाव-विचार, कल्पना की प्रमुखता रहती है, किन्तु अंग-रूप में दूसरे तत्त्व भी समन्वित रहते हैं। दूसरे, रूप भेदों की प्रकृति का निर्णय विभिन्न रूप भेदों की प्रमुख प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर ही किया गया है किन्तु रचयिता की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके लक्ष्य के अनुसार इनमें बहुत-कुछ परिवर्तन की भी संभावना है: अतः इसे सामान्य नियम के रूप में ग्रहण करना उचित न होगा। वस्तुतः इस दृष्टि से प्रत्येक काव्य

रूप का विस्तृत अध्ययन—रचयिता की मूल प्रकृति, रुचि, प्रवृत्ति, प्रेरणा, प्रयोजन एवं उसके आधारभूत विषय की विशेषताओं के आधार पर किये जाने की अपेक्षा है। फिर भी यहाँ प्रस्तुत विश्लेषण से विभिन्न काव्य-रूपों के भेदक लक्षणों का बोध प्राप्त करने में थोड़ी सहायता अवश्य मिलेगी—ऐसा हमारा विश्वास है।

● **रसावयवों का पुनर्विवेचन**—

अब हमें रस के परम्परागत अवयवों—स्थायी भाव, संचारी भाव, और अनुभाव—पर इस दृष्टि से विचार करना है कि उनसे विभिन्न काव्य-रूपों के विवेचन-विश्लेषण में कहाँ तक सहायता प्राप्त हो सकती है ? इस सम्बन्ध में एक बात तो यह उल्लेखनीय है कि इन अवयवों की परम्परागत व्याख्या के अनुसार इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित, संकीर्ण एवं रूढ़िबद्ध हो गया है, अतः इनके क्षेत्र विस्तार की अपेक्षा है। दूसरे, वे केवल भाव-प्रधान साहित्य के ही संदर्भ में उपयुक्त सिद्ध होते हैं जबकि अब उन्हें विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य पर भी लागू किये जाने की आवश्यकता है—अतः इस दृष्टि से भी उनमें संशोधन परिवर्तन की अपेक्षा है। अस्तु, इन दोनों ही अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रयास यहाँ किया जाता है।

स्थायी भाव—सर्व प्रथम हम 'स्थायी भाव' को लेते हैं। जैसा कि इसका मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करते समय पीछे स्पष्ट किया गया था—मनोविज्ञान की दृष्टि से स्थायी भाव किसी एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व का पर्याय नहीं है अपितु उसमें मानव-मन की उन सभी स्थिर एवं दीर्घकालीन भावात्मक प्रवृत्तियों का समन्वय हो जाता है, जिन्हें मनोविज्ञान के क्षेत्र में सहज प्रवृत्ति (Instinct), भावना (Sentiment). मनोवृत्ति (Temperament), भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude) आदि कहा जाता है। वस्तुतः अनुभूति, संवेग, व्युत्पन्न भाव, मनः स्थिति (Mood) आदि अस्थिर, अल्पकालीन एवं संचरणशील भावात्मक प्रवृत्तियों की तुलना में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ स्थिर, दीर्घकालीन या स्थायी हैं—इसी से जहाँ संचरणशील प्रवृत्तियों को इस सिद्धान्त में संचारी भाव कहा गया, वहाँ इन्हें स्थायी भाव की संज्ञा दी गयी है। किन्तु स्थायी भावों का नामकरण उनसे सम्बन्धित मूल भावों (Primary emotions) के आधार पर किये जाने के कारण स्थायी भावों का क्षेत्र सीमित दिखाई पड़ता है, जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए 'रौद्र रस' के स्थायी भाव को 'क्रोध' कहा गया है जबकि 'क्रोध' स्वयं स्थायी भावात्मक न होकर संचरणशील भाव है—अतः इसका मूल आधार युयुत्सा की प्रवृत्ति है तथा इसके स्थायी भावात्मक रूप में द्वेष, प्रतिशोध, विद्रोह क्रान्ति आदि की वे सभी भावनाएँ स्वीकार की जा सकती हैं जिनकी अभिव्यक्ति मुख्यतः या मूलतः 'क्रोध' के रूप में होती है। अस्तु, स्थायी भावों का क्षेत्र मूल भावों तक सीमित नहीं है, अपितु प्रत्येक मूल भाव से सम्बन्धित उन सभी भावनाओं, मनोवृत्तियों एवं चारित्रिक प्रवृत्तियों को उनके

अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है, जो एक ओर तो व्यक्ति के जीवन में तथा दूसरी ओर काव्य, नाटक, उपन्यास आदि में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक स्थायी प्रेरणा, लक्ष्य, या मूलाधार के रूप में कार्य करती है। वस्तुतः काव्य में जहाँ स्थायी भाव के भावात्मक रूप का ही चित्रण प्रमुख रूप में होता है, वहाँ उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समीक्षा आदि में क्रमशः उसकी स्थिर मनोवृत्ति, चारित्रिक प्रवृत्ति, वैचारिक दृष्टि एवं दृष्टिकोण का भी चित्रण संभव है। यदि परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्र एवं व्यापक दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि जिन्हें भारतीय आचार्यों ने 'स्थायी भाव' की संज्ञा दी है, वे वस्तुतः वे मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं जो व्यक्ति के मन में—उपचेतन या अचेतन स्तर पर—सदा विद्यमान रहते हैं और व्यक्ति के जीवन को प्रेरित एवं संचालित करते रहते हैं; प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र, स्वभाव, व्यवहार, क्रिया-कलाप—इन्हीं स्थिर किन्तु विकासोन्मुख मानसिक तत्त्वों से परिचालित होता है। इन्हें मनोविज्ञान की शब्दावली में 'प्रेरक तत्त्व' (Motive) कहा जाता है। पहले मनोवैज्ञानिक का यह विचार था कि केवल सहज प्रवृत्तियाँ (Instinets) ही हमारी प्रेरक शक्तियाँ हैं किन्तु अब यह समझा जाने लगा है कि सहज प्रवृत्तियाँ परिस्थिति, वातावरण एवं संस्कार से मिलकर अनेक भावात्मक एवं चारित्रिक प्रवृत्तियों में विकसित होती है; तथा इसके अतिरिक्त कुछ प्रेरणाएँ जन्मजात न होकर वैयक्तिक एवं सामाजिक वातावरण से अर्जित भी होती हैं जबकि सहज प्रवृत्तियाँ जन्मजात ही होती हैं—अतः सभी व्यक्तियों की एक मात्र प्रेरक शक्ति के रूप में केवल वासनाओं या सहज प्रवृत्तियों तथा उनके विकसित रूपों को ही स्वीकार करना दृष्टिकोण की एकांगिता का परिचायक होगा। कुछ प्रेरणायें स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक या असामान्य (Abnormal) भी होती हैं, जिनका अध्ययन मनोविश्लेषण में प्रस्तुत किया गया है—इन्हें 'कुंठा' या 'ग्रन्थि' (जैसे हीनता की ग्रन्थि) कहा गया है तथा कुछ व्यक्तियों के जीवन में कुंठाओं एवं ग्रन्थियों का प्रभाव इतना प्रमुख हो जाता है कि उनके समक्ष अन्य सभी प्रेरक गौण हो जाते हैं तथा मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में इन्ही को प्रमुखता दी जाती है। ऐसी स्थिति में इन्हें भी व्यक्ति-विशेष या रचना विशेष के संदर्भ में स्थायी प्रेरणा (या रस सिद्धान्त की शब्दावली में 'स्थायी भाव') के रूप में स्वीकार करना होगा। वस्तुतः आधुनिक मनोविज्ञान में प्रेरकों (Motives) के अन्तर्गत सहज प्रवृत्ति से लेकर अवचेतन मन की ग्रन्थियों तक विभिन्न स्थिर तत्त्वों को स्थान देते हुए उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

(क) **प्रेरक या प्रेरणा के दो प्रमुख भेद**—(१) जन्मजात (२) अर्जित।

(ख) **जन्मजात प्रेरणाओं के उपभेद**—भूख, प्यास, काम, क्रोध, आदि से सम्बन्धित वासनाएँ या सहज प्रवृत्तियाँ।

(ग) **अर्जित प्रेरणाओं के भी दो प्रकार**—(१) वैयक्तिक (२) सामाजिक।

१—वैयक्तिक प्रेरणाओं के भेद—(१) आकांक्षा (२) लक्ष्य (३) रुचि (४) अचेतन प्रेरणाएँ—कुण्ठाएँ व ग्रन्थियाँ आदि। (५) मनोवृत्तियाँ (६) आदत (७) व्यसन-शौक (चारित्रिक वैशिष्ट्य)।

२—सामाजिक प्रेरणाओं के भेद—(१) सामुदायिकता या सामाजिकता की प्रवृत्ति (२) आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति (३) अधिकार-भावना (४) युयुत्सा (युद्ध-संघर्ष) की प्रवृत्ति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेरकों के अन्तर्गत उन सभी स्थिर मानसिक तत्त्वों, भावों एवं प्रवृत्तियों को स्थान दिया जाता है जो व्यक्ति के समस्त व्यवहार (क्रिया-कलाप) को प्रेरित एवं संचालित करते हैं। इनमें परम्परागत सभी स्थायीभाव न केवल भली भाँति समन्वित हो जाते हैं, अपितु उनका क्षेत्र भी इतना व्यापक हो जाता है कि जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं—भाव प्रधान कविताओं, विचार-प्रधान मुक्तकों, कल्पना प्रधान उपन्यासों या चरित्र-प्रधान अथवा मनोविश्लेषणात्मक कथा-साहित्य आदि सभी की व्याख्या उनके आधार पर सम्भव है। वस्तुतः आज के न केवल गद्यात्मक साहित्य में अपितु पद्यात्मक काव्य में भी पात्र के भाव-विशेष के स्थान पर उसकी मनोवृत्ति, चारित्रिक प्रवृत्ति, आकांक्षा, कुण्ठा, ग्रन्थि आदि का ही निरूपण कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है—अवश्य ही इनमें सम्बन्धित वृत्ति, प्रवृत्ति, आकांक्षा आदि का चित्रण अनुभूति के रूप में तथा विभिन्न भावों के सहयोग से ही किया जाता है, किन्तु फिर भी उनमें प्रमुखता उपर्युक्त तत्त्वों में से ही किसी एक की सम्भव है। अतः हम परम्परागत स्थायी भाव के क्षेत्र में न केवल स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों को अपितु प्रेरक के अन्तर्गत उल्लिखित सभी प्रेरणाओं, मनोवृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को स्थान देना आवश्यक समझते हैं। साथ ही यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'स्थायी भाव' शब्द में 'भाव' शब्द संकीर्णता का द्योतक है—क्योंकि यह केवल भावात्मक रचनाओं या भाव-प्रधान रचनाओं पर ही लागू होता है—अतः इसे 'स्थायी तत्त्व' या 'केन्द्रीय तत्त्व' कहना अधिक उचित होगा। जहाँ भाव-प्रधान रचनाओं में स्थायी तत्त्व या केन्द्रीय तत्त्व कोई स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति या भावना विशेष होगी, वहाँ विचार-प्रधान रचनाओं में साहित्यकार का लक्ष्य-विशेष, या प्रतिपाद्य तत्त्व ही केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार्य होगा तथा इसी प्रकार कल्पना प्रधान साहित्य में भी बिम्ब-विशेष या रूप-विशेष का प्रस्तुतीकरण ही उसका लक्ष्य होगा—अस्तु, इसका निर्णय रचना-विशेष के अनुसार किया जा सकता है, किन्तु सामान्य रूप में हम सभी प्रकार की रचनाओं के संदर्भ में 'स्थायीभाव' के स्थान पर 'केन्द्रीय तत्त्व' संज्ञा का प्रयोग करते हुए उसके अन्तर्गत उस तत्त्व-विशेष को ग्रहण करेंगे जो कि सम्पूर्ण रचना में आधारभूत केन्द्रीय एवं प्रेरक तत्त्व के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

संचारी भाव—संचारी भाव में परम्परागत रस-सिद्धान्त के अनुसार उन संचरणशील एवं अस्थिर भाव-दशाओं एवं अनुभूतियों को स्थान दिया जाता है जो एक ओर तो स्थायी भाव पर ही आधारित होती हैं तथा दूसरी ओर उसी की पुष्टि एवं अभिव्यक्ति में योग देती हैं। संचारी भाव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि परम्परागत ३३ संचारियों में मनोविज्ञान के व्युत्पन्न भावों, मिश्रित भावों, एवं अनुभूतियों के विभिन्न भेदों को स्थान दिया गया है तथा साथ ही कुछ ऐसी शारीरिक प्रवृत्तियों को भी सम्मिलित कर लिया गया है जो संचारी भाव की अपेक्षा अनुभाव के स्वरूप के अधिक अनुकूल हैं। अस्तु, स्थायी भाव की ही भाँति संचारी भावों का भी निर्धारण भाव-प्रधान साहित्य की ही दृष्टि से हुआ है, अतः विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य की दृष्टि से भी इसके स्वरूप एवं क्षेत्र में संशोधन व विस्तार अपेक्षित है। हमारे विचार में 'संचारी भाव' का मूल प्रयोजन स्थायी भाव के ही विभिन्न अंगों, स्थितियों, रूप-भेदों को प्रस्तुत करने का है—उदाहरण के लिए प्रणय स्थायी भाव के अन्तर्गत नायक की उपस्थिति में नायिका के मन में 'हर्ष', उसकी अनुपस्थिति में 'चिन्ता', उसकी प्रतीक्षा में 'औत्सुक्य', उसकी स्मृति में 'विषाद' आदि संचारियों का उद्दीपन होना—'प्रणय' के ही विभिन्न स्थिति-भेदों का परिचायक होगा। वस्तुतः जिस प्रकार अनेक बूँदों से समुद्र का बोध होता है, या अनेक मणियों के सामूहिक रूप से माला का, उसी प्रकार विभिन्न संचारियों के योग से स्थायीभाव का बोध होता है—अतः कहना चाहिए कि संचारी भाव स्थायी भाव के ही 'घटक' 'पूरक' या साधक तत्त्व हैं। सामान्य रूप में यदि स्थायीभाव को हम 'स्थायी तत्त्व' या 'केन्द्रीय तत्त्व' की संज्ञा देते हैं तो 'संचारी भाव' को स्थिति-विशेष, परिस्थिति-विशेष, क्षण-विशेष एवं अंग-विशेष से सम्बन्धित उसका घटक, साधक या पोषक तत्त्व कह सकते हैं। वस्तुतः स्थायी भाव यदि केन्द्रीय या अंगी तत्त्व है तो संचारी भाव उसी पर केन्द्रित अंग या साधक तत्त्व है। सामान्य रूप में हम उसे सहयोगी या पूरक तत्त्व कह सकते हैं। विचार प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य में उन बिन्दुओं, बिम्बों, सूत्रों, तथ्यों व 'निष्कर्षों की अनुभूति को संचारी या 'सहयोगी तत्त्व' के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जो मूल भाव, आशय, तत्त्व, रूप आदि—जिन्हें हम सामान्य रूप में 'केन्द्रीय तत्त्व' की संज्ञा देते हैं—प्रतिपादन, चित्रण, पोषण या अभिव्यंजन में सहयोग देते हैं या जिनके द्वारा केन्द्रीय तत्त्व की पुष्टि एवं अभिव्यक्ति होती है।

विभाव—'विभाव' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए रस सिद्धान्त के आचार्यों ने इसे स्थायी भाव एवं रस के 'हेतु, कारण अथवा निमित्त' के रूप में स्वीकार किया है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित के शब्दों में—'अतएव लोक में प्रचलित **हेतु, कारण** अथवा **निमित्त** शब्दों के लिए रस शास्त्र में पृथक रूप से 'विभाव' शब्द को ग्रहण

किया गया है।''[1] वस्तुतः पीछे विभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते समय यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया गया है कि विभिन्न विद्वानों की मान्यता के अनुसार रस-शास्त्र में स्थायीभाव एवं संचारी भावों की उद्दीप्ति के कारणों को ही विभाव, की संज्ञा दी गयी है; ये कारण भी दो प्रकार के हैं—एक, 'आलम्बन', और दूसरा 'उद्दीपन'। इन दोनों के भी परम्परागत विवेचन एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया था कि आलम्बन के अन्तर्गत व्यक्ति-विशेष तथा 'उद्दीपन' के अन्तर्गत प्रकृति, ऋत एवं दृश्यों को ही लेना संकुचित दृष्टि का परिणाम है। भाव के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन सभी प्रकार के पदार्थों, वस्तुओं, व्यक्तियों एवं प्रयोजनों को आलम्बन में स्थान दिया जा सकता है जो भाव-विशेष की उद्दीप्ति के आधारभूत कारण हैं तो 'उद्दीपन' के अन्तर्गत उन सब स्थितियों, परिस्थितियों, घटनाओं एवं मनोवैज्ञानिक स्थितियों को ग्रहण किया जा सकता है जो भाव-विशेष के उद्दीपन एवं पोषण में आलम्बन को सहयोग देती हैं। दूसरे शब्दों में 'उद्दीपन' के अन्तर्गत न केवल प्राकृतिक **वातावरण** को अपितु सामाजिक **परिवेश** राजनीतिक **परिस्थितियों**, सांस्कृतिक **अवस्थाओं** एवं मनोवैज्ञानिक **स्थितियों** आदि उन सभी तथ्यों को लिया जा सकता है जो 'आलम्बन' को भावोद्दीपन के उपयुक्त **संदर्भ** प्रदान करती है। हम जंगल में सिंह को देखकर भयभीत होते हैं, जबकि चिड़िया घर एवं सर्कस में ऐसा नहीं होता—यद्यपि दोनों ही परिस्थितियों में आलम्बन विद्यमान है, फिर भी एक स्थिति में भय का भाव उद्दीप्त होता है, तथा दूसरी में नहीं—वस्तुतः दोनों में अन्तर आलम्बन का नहीं; स्थिति, परिस्थिति, परिवेश, या संदर्भ का है। संदर्भ-विशेष में ही वस्तु-विशेष अपना प्रभाव या भाव उत्पन्न करती—अस्तु, हम परम्परागत शब्द 'उद्दीपन' को व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए उसके स्थान पर 'परिवेश' या 'संदर्भ' का प्रयोग करें तो अधिक उचित होगा। विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य की दृष्टि से भी 'आलम्बन' को 'आधार' या 'हेतु' (आधारभूत हेतु) तथा 'उद्दीपन' को 'परिवेश' या 'संदर्भ' कहा जा सकता है।

अनुभाव—रस-शास्त्रीय विवेचना में 'अनुभाव' के दो अर्थ किये जाते हैं—एक जो भाव का अनुवर्ती हो तथा दूसरा जो भाव का अनुभव (प्रतीत या बोध) प्रदान करे। नाटक और काव्य में उन शारीरिक, मानसिक एवं सात्त्विक चेष्टाओं व अभिव्यक्तियों को जो भाव-विशेष की व्यंजना करती हैं, अनुभाव के तीन भेदों के रूप में स्वीकार किया गया है; और साथ ही यह भी निर्देश है कि लोक में इन्हें 'कार्य' कहा जाता है। इसका स्पष्टीकरण हम चतुर्थ खण्ड में विस्तार से कर चुके हैं; अतः पुनरावृत्ति से बचते हुए यही कहना पर्याप्त समझेंगे कि जहाँ नाटक की

---

१. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; पृ० सं० १७-१८।

बात है, उसमें अभिनेता कार्य नहीं करते—चेष्टाओं से ही कार्यों की अनुकृति का प्रस्तुतीकरण व भावों की व्यंजना करते हैं, किन्तु लौकिक दृष्टि से हमारे वे समस्त क्रिया-कलाप, कार्य-व्यापार एवं व्यवहार-भेद जो हमारी किसी न किसी मानसिक प्रवृत्ति के व्यंजक हैं, 'अनुभाव' के ही क्षेत्र में आते हैं। जिस प्रकार नाटक में नायक एवं अन्य पात्रों के मनोभावों की अभिव्यक्ति शारीरिक, मानसिक, सात्त्विक चेष्टाओं के माध्यम से होती है. उसी प्रकार व्यावहारिक जीवन में हमारी विभिन्न सहज प्रवृत्तियों, मनोवृत्तियों, भावनाओं, चारित्रिक प्रवृत्तियों, धारणाओं, रुचियों एवं दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति हमारे विभिन्न क्रिया-कलापों, कार्यों एवं व्यवहारों से होती है तथा मनोविज्ञान में इन सबको 'व्यवहार' (Behaviour) के अन्तर्गत ही लिया जाता है। पर कला की दृष्टि से इन्हें अभिव्यक्ति के माध्यम या केवल 'माध्यम' के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः रस-सिद्धान्त के व्यापक रूप की दृष्टि से जहाँ भाव-प्रधान साहित्य में उन सब क्रिया-कलापों, कार्यों एवं व्यावहारिक प्रवृत्तियों को 'अनुभाव' के अन्तर्गत लिया जा सकता है जो मूल भाव या केन्द्रीय तत्त्व से सम्बन्धित हैं तो विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य में हम केन्द्रीय तत्त्व को व्यक्त करने वाले उन सब साधनों को जो कि केन्द्रीय तत्त्व से पृथक होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति या पुष्टि के प्रत्यक्षीकरण का कार्य करते हैं—अनुभाव के अन्तर्गत ले सकते हैं तथा सामान्य रूप में इन्हें 'माध्यम' की संज्ञा दे सकते हैं। विचार तत्त्व की पुष्टि या अभिव्यक्ति में जहाँ विभिन्न युक्तियाँ, तर्क, प्रमाण, सादृश्य, दृष्टान्त, उदाहरण आदि माध्यम का कार्य करते हैं, वहाँ कल्पना-प्रधान साहित्य में कल्पित रूप की अभिव्यक्ति में योग देने वाले साधनों—यथा; उपमान, प्रतीक, अप्रस्तुत-रूप, आदि—को 'माध्यम' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अस्तु, 'अनुभाव' के स्थान पर 'माध्यम' शब्द का प्रयोग परम्परागत अर्थ को सुरक्षित रखता हुआ भी उसे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं संगत रूप प्रदान करता है, क्योंकि 'माध्यम' का सम्बन्ध न केवल भावों की अभिव्यक्ति से है, अपितु विचारों के प्रस्तुतीकरण, कल्पनात्मक तत्त्वों की व्यंजना एवं विभिन्न वस्तुओं, पदार्थों व कलाकृतियों के रूप-विधान से भी है; तथा साथ ही, 'माध्यम' रूप की अभिव्यक्ति एवं उसके बोध के उस उभयपक्षी कार्य का भी सूचक है, जो अनुभाव का मूल लक्ष्य रहा है। अतः व्यापक दृष्टि से 'अनुभाव' का अर्थ है—'माध्यम'।

रसावयवों का समन्वित रूप—स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव (आलंबन और उद्दीपन), अनुभाव आदि के पुनर्विवेचन से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ समन्वित रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

(क) **स्थायी भाव**—

(अ) **परम्परागत अर्थ**—विभिन्न स्थायी भावात्मक प्रवृतियाँ जो मूल भावों से सम्बन्धित हैं।

(आ) **व्यापक अर्थ में**—वे सभी स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ, चारित्रिक प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ, ग्रन्थियाँ, प्रेरणायें आदि जो व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलाप या व्यवहार की स्थायी आधार हैं तथा जिन्हें मनोविज्ञान में 'प्रेरक' (Motives) की संज्ञा दी गयी है।

(इ) **पर्यावायची नूतन शब्द**—'केन्द्रीय तत्त्व'

(ख) **संचारी भाव**—

(अ) **परम्परागत अर्थ**—विभिन्न अस्थिर एवं संचरणशील अनुभूतिमाँ जो स्थायी भाव की पुष्टि में योग देती हैं।

(आ) **व्यापक अर्थ में**—विभिन्न तथ्यों, तत्त्वों, रूपों, सूत्रों व निष्कर्षों की अनुभूति जो केन्द्रीय तत्त्व की पुष्टि में योग देती है।

(इ) **नया पर्यायवाची शब्द**—'सहयोगी तत्त्व'

(ग) **विभाव (आलम्बन-उद्दीपन)**—

(अ) **परम्परागत अर्थ**—विभाव का 'कारण', आलम्बन का 'व्यक्ति विशेष', एवं उद्दीपन का 'उद्दीपक वातावरण या दृश्य'।

(आ) **व्यापक अर्थ में**—'आलम्बन' के अन्तर्गत वे सभी पदार्थ, वस्तुएँ, व्यक्ति अवं प्रयोजन जो केन्द्रीय तत्त्व के आधारभूत हेतु हैं, तथा 'उद्दीपन' के अन्तर्गत वे सब स्थितियाँ, परिस्थितियाँ, घटनाएँ, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, व मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमियाँ जो आलम्बन एवं केन्द्रीय तत्त्व में सम्बन्ध स्थापित करती हैं, रखी जा सकती हैं।

(इ) **नया नामकरण**—'आलम्बन' को 'आधारभूत हेतु' तथा 'उद्दीपन' को 'परिवेश या संदर्भ' कहना उचित होगा।

(घ) **अनुभाव**—

(अ) **परम्परागत अर्थ**—नाटक में पात्रों की शारीरिक, मानसिक एवं सात्विक चेष्टाएँ जो भाव की अभिव्यक्ति व प्रतीति में सहायक होती हैं।

(आ) **व्यापक अर्थ में**—भावप्रधान साहित्य में उन सब चेष्टाओं, क्रिया-कलापों, कार्य-व्यवहारों जिनके माध्यम से केन्द्रीय तत्त्व व्यक्त होता है तथा विचार-प्रधान साहित्य में उन सब युक्तियों, प्रमाणों, तर्कों, उदाहरणों आदि को तथा कल्पना-प्रधान साहित्य में उन सब उपमानों, प्रतीकों, अप्रस्तुत तत्त्वों को जो केन्द्रीय तत्त्व की अभिव्यक्ति एवं प्रतीति में योग देते हैं—अनुभाव के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(इ) **नया नाम**—इन्हें सभी प्रकार के साहित्य में '**माध्यम**' कहना उचित होगा।

अस्तु, संक्षेप में स्थायी भाव, संचारी भाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव को व्यापक दृष्टि से क्रमशः केन्द्रीय तत्त्व, सहयोगी तत्त्व, आधारभूत हेतु, संदर्भ एवं माध्यम का नाम देना उचित होगा। वस्तुतः ये नाम मूल शब्दावली के परिवर्तित या आरोपित अर्थों के सूचक नहीं है, अपितु मूल के अर्थ को सुरक्षित रखते हुए भी वे उनके व्यापक एवं सामान्यीकृत रूप को प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए यदि खाद्य पदार्थों की सूची में दिए गए विवरण—'लड्डू, समोसा, आम' आदि—में संशोधन करते हुए उन्हें क्रमशः 'मिष्ठान्, नमकीन एवं फल' की नामावली प्रस्तुत करदें तो इससे मूल सूची का आशय सुरक्षित रहता हुआ भी वह व्यापक एवं सामान्यीकृत अर्थ प्राप्त कर लेता है; अस्तु, ऐसा ही संशोधन हमने रस-शास्त्रीय शब्दावली में किया है। इसके आधार पर एक ओर तो भाव, विचार एवं कल्पना को प्रमुखता देने वाले साहित्य-भेदों का तथा दूसरी ओर विभिन्न काव्य-रूपों का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन अपेक्षाकृत अधिक सरल, स्पष्ट एवं सुसंगत रूप में सम्भव है—यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है।

● **रसावयव एवं परम्परागत तत्त्व—**

रसावयवों के परिवर्तित एवं व्यापक रूपों की तुलना काव्य-रूपों के परम्परागत तत्त्वों से करते हुए उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। सामान्यतः आधुनिक साहित्य-शास्त्र में प्रबन्ध काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि के छह तत्त्व माने जाते हैं—(१) कथा वस्तु (२) पात्र (३) संवाद (४) देश-काल (५) शैली एवं (६) उद्देश्य। रस के परम्परागत एवं शोधित अवयवों के साथ इनका सामंजस्य इस प्रकार स्थापित किया जा सकता है—

	रस के परम्परागत अवयव		**शोधित अवयव**		**आधुनिक साहित्य-शास्त्र में प्रचलित तत्त्व**
१.	स्थायी भाव	=	केन्द्रीय तत्त्व	=	उद्देश्य
२.	संचारी भाव	=	सहयोगी तत्त्व	=	वस्तु
३.	आलम्बन	=	(आधारभूत हेतु)	=	पात्र
४.	उद्दीपन	=	संदर्भ (परिवेश)	=	देश-काल
५.	अनुभाव	=	माध्यम	=	संवाद (वाचिक अनुभाव), शैली

उपर्युक्त तालिका का स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भाव-प्रधान रचनाओं का मूल उद्देश्य किसी स्थायी भाव को व्यक्त करना होता है, वहाँ विचार प्रधान में किसी विचार, सिद्धान्त या संदेश का प्रतिपादन करना हो सकता है, जिसे हमने सामान्य रूप में 'केन्द्रीय तत्त्व' की संज्ञा दी है। इसी प्रकार कथावस्तु को उसी केन्द्रीय तत्त्व के साधन एवं नायक व अन्य पात्रों को उसकी

अभिव्यंजना के आधारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए उन्हें क्रमशः सहयोगी तत्त्व एवं आधारभूत हेतु के समकक्ष स्थान दिया गया है जो अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार संदर्भ (परिवेश) में देश-काल का तथा माध्यम के विभिन्न अंगों में संवाद एवं शैली का भी समन्वय हो जाता है।

विभिन्न अवयवों की दृष्टि से विभिन्न काव्य-रूपों का भी विश्लेषण किया जा सकता है—कुछ काव्य-रूपों में उपर्युक्त पाँचों अवयव होते हैं, जबकि कुछ में कम होते हैं; इसका स्पष्टीकरण यहाँ तालिका के माध्यम से किया जाता है—

तालिका—विभिन्न काव्य-रूप एवं रस के अवयव

	केन्द्रीय तत्त्व **(स्थायी भाव)**	माध्यम **(अनुभाव)**	संदर्भ या परिवेश **(उद्दीपन)**	आधारभूत हेतु **(आलम्बन)**	सहयोगी तत्त्व **(संचारी)**
(१) महाकाव्य	●	●	●	●	●
(२) नाटक	●	●	●	●	●
(३) उपन्यास	●	●	●	●	●
(४) कहानी	●	●	●	●	×
(५) गीतिकाव्य	●	●	●	×	×
(६) मुक्तककाव्य	●	●	●	×	×
(७) एकांकी	●	●	●	×	×
(८) समीक्षा	●	●	×	●	×
(९) निबन्ध	●	●	×	●	×

उपर्युक्त तालिका में बिन्दु (●) जहाँ अवयव-विशेष की उपस्थिति का सूचक है, वहां गुणक-चिह्न (×) उसके अभाव का द्योतक है। यहाँ हमने विभिन्न काव्य-रूपों में विभिन्न अवयवों की उपस्थिति एवं अभाव का उल्लेख सामान्य रचनाओं की दृष्टि से किया है, किन्तु विशिष्ट रचनाओं में उनके अपवाद भी संभव है। वस्तुतः केन्द्रीय तत्त्व एवं माध्यम—इन दो अवयवों की तो सभी काव्य रूपों में अपेक्षा है जबकि संदर्भ, आधार, एवं सहयोगी तत्त्व उत्तरोत्तर न्यून एवं गौण सिद्ध होते हैं। अवयवों के इस विस्तार एवं संकोच का मूल कारण रचयिता की जीवन-दृष्टि एवं विषय-वस्तु का विस्तार एवं संकोच ही है; जहाँ साहित्यकार व्यापक दृष्टि से समग्र जीवन को प्रस्तुत करता है, वहाँ सभी अवयव उपलब्ध होते हैं किन्तु जहां जीवन का आंशिक या एकांगी रूप होता है, वहाँ उसी के अनुसार कुछ अवयव गौण या तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकार अवयवों का प्रयोग जहाँ एक ओर जीवन-क्षेत्र के विस्तार एवं संकोच का प्रमाण माना जा सकता है वहाँ

दूसरी ओर वह काव्य-रूप की भी तुलनात्मक स्थिति का परिचायक सिद्ध होता है। अतः साहित्य के अध्ययन, विवेचन एवं विश्लेषण में इन अवयवों को आधार-रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है।

अस्तु, प्रस्तुत अध्याय में विवेचित विभिन्न साहित्य-भेदों, रस-भेदों एवं रस के अवयवों के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि साहित्य की किसी भी रचना के तात्त्विक एवं रूपात्मक विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन में रस-सिद्धान्त (अपने विकसित रूप में) पूर्णतः समर्थ है—इतना ही नहीं विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित अन्य पद्धतियों की अपेक्षा वह इन लक्ष्यों की पूर्ति अधिक कुशलता एवं प्रौढता से कर सकता है—ऐसा भी कहा जाय तो कदाचित् अनुचित न होगा।

•

७

साहित्य की सर्जन-प्रक्रिया और रस-सिद्धान्त

रस सिद्धान्त के भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने रस या सौन्दर्यानुभूति (कलानुभूति) की जितनी मीमांसा सामाजिक या पाठक की आस्वादन-प्रक्रिया की दृष्टि से की है, उतनी कलाकार या कवि की सर्जन-प्रक्रिया की दृष्टि से नहीं की; अतः रस-सिद्धान्त के परम्परागत स्वरूप पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि वह साहित्य के स्रष्टा एवं उसके सर्जन-व्यापार की उपेक्षा करता है—और निश्चय ही यह आक्षेप एक सीमा तक उचित प्रतीत होता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रस-सिद्धान्त में ऐसी क्षमता या सम्भावना का अभाव है जिसके बल पर सर्जन-प्रक्रिया का विश्लेषण किया जा सके। वस्तुतः इस दृष्टि से रस-सिद्धान्त पर विचार ही नहीं किया, अन्यथा सर्जन-प्रक्रिया की जैसी स्पष्ट एवं सुसंगत व्याख्या रस-सिद्धान्त द्वारा संभव है, वैसी कदाचित् किसी अन्य काव्य-शास्त्रीय या सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त द्वारा संभव नहीं—इस तथ्य की पुष्टि इस अध्याय में प्रस्तुत विवेचन-विश्लेषण से हो सकेगी; ऐसा हमारा विश्वास है।

● रस-सिद्धान्त के विभिन्न अवयव एवं सर्जन-प्रक्रिया—

जिस प्रकार रस-सिद्धान्त के विभिन्न अवयव स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव आदि—साहित्य की विषय-वस्तु के विश्लेषण एवं आस्वादन-व्यापार की व्याख्या में सहायक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार ये सर्जन-प्रक्रिया के विवेचन-विश्लेषण के भी आधार प्रमाणित होते हैं, इतना अवश्य है कि इन अवयवों पर इस दृष्टि से विचार करते समय उनके उस व्यापक एवं विकसित अर्थ को ध्यान में रखना

होगा जिसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। संक्षेप में वह व्यापक अर्थ इस प्रकार है—

(क)	स्थायीभाव	=	स्थायीभावात्मक प्रवृत्तियाँ भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ, ग्रन्थियाँ, रुचियाँ, प्रेरेणाएँ आदि	=केन्द्रीय तत्त्व
(ख)	संचारीभाव	=	अनुभूतियाँ, अनुभव, बोध,	=सहयोगी तत्त्व
(ग)	आलम्बन	=	व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, लक्ष्य आदि।	=आधारभूत हेतु
(घ)	उद्दीपन	=	स्थितियाँ, परिस्थितियाँ, वातावरण आदि।	=संदर्भ (परिवेश)
(ङ)	अनुभाव	=	चेष्टाएँ, कार्य-व्यवहार, वचन अभिव्यक्ति के साधन आदि	=माध्यम

उपर्युक्त अवयवों के आधार पर सर्जन-प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व हम अपनी परिकल्पना (Hypothesis) को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं— साहित्यकार या कवि अपनी **स्थायीभावात्मक प्रवृत्ति** अर्थात् मूल प्रकृति, रुचि, मनोवृत्ति, प्रेरणा आदि के अनुसार आलम्बन या विषय-वस्तु के प्रति संदर्भ-विशेष, परिवेश, वातावरण (उद्दीपन) के प्रभाव से आकर्षित होकर इसमें प्रवृत्त होता है तथा जब उस विषय में उसकी प्रवृत्ति इतनी गहरी हो जाती है कि उसका आधारभूत विषय के साथ आन्तरिक सामंजस्य या तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तो वह विभिन्न सहयोगी तत्त्वों—(संचारी तत्त्वों) सम्बन्धित अनुभूतियों, अनुभवों, बोध व विचार-सूत्रों के सहयोग से उसे वाणी (भाषा), चेष्टा (अभिनय) आदि विभिन्न प्रकार के अनुभावों या कलात्मक माध्यम से व्यक्त कर देता है। संक्षेप में, यही कलाकार की सर्जन-प्रक्रिया है; जिसे रस-सिद्धान्त के पाँच अवयवों या सूत्रों के आधार पर विवेचित किया जा सकता है। इस परिकल्पना (Hypothesis) की पुष्टि तथा इसके औचित्य की परीक्षा के लिए हम आगे आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण के आधार पर सर्जन-प्रक्रिया का विवेचन रसेतर दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए, उससे उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर उपर्युक्त परिकल्पना की पुनर्परीक्षा करेंगे।

● आधुनिक मनोविश्लेषण के आधार पर सर्जन-प्रक्रिया का विवेचन—

कला और साहित्य का सर्जन स्रष्टा की मानसिक प्रवृत्तियों एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से होता है, अतः इस दृष्टि से सर्जन-प्रक्रिया शुद्ध मनोवैज्ञानिक विषय हैं, किन्तु अभी तक मनोविज्ञान के क्षेत्र में कला एवं साहित्य से सम्बन्धित प्रवृत्तियों का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से नहीं हुआ अर्थात् विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों

का अध्ययन लोक-व्यवहार की दृष्टि से हुआ है, कला-संदर्भ में उनके विश्लेषण का प्रयास न के बराबर ही है: किन्तु मनोविज्ञान की ही एक शाखा ,मनोविश्लेषण' (Psycho-analysis) में अवश्य इस प्रकार का प्रयास अनेक शोध-कर्त्ताओं द्वारा गम्भीरतापूर्वक हुआ है। इन शोध-कर्त्ताओं में फ्रायड, एडलर, युंग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं अतः हम साहित्य की सर्जन-प्रक्रिया के विवेचन-विश्लेषण की प्रामाणिकता के लिए 'मनोविश्लेषण' के निष्कर्षों को आधार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

मनोविश्लेषण के आचार्य मानव-मन को तीन स्तरों या खण्डों में विभक्त करते हैं— चेतन, अचेतन एवं उपचेतन। फ्रायड ने इन्हें क्रमशः अहं (Igo), इदम् (Id), एवं नैतिकमन (Super ego) के नाम से पुकारा है तो युंग ने नया वर्गीकरण करते हुए मन के केवल दो ही स्तर माने हैं—चेतन (Conscious) और अचेतन (Unconscious) तथा अचेतन मन के दो भेद (भाग)—व्यक्तिगत अचेतन मन (Personal Unconscious) एवं सामूहिक अचेतन मन (Collective Unconscious) किये हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के वर्गीकरण में स्थूल रूप में इस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है—

मन के स्तर ↓	फ्रायड का नया वर्गीकरण ↓		युंग का वर्गीकरण ↓
(१) चेतन (Conscious)	= अहं (Ego)	=	चेतन मन
(२) अचेतन (Unconscious)	= इदम (Id)	=	अचेतन मन— (सामूहिक अचेतन)
(३) उपचेतन (Sub-Conscious)	= नैतिकमन (Super-ego)	=	व्यक्तिगत अचेतनमन

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार फ्रायड एवं युंग में मत-भेद परिलक्षित होता है किन्तु यह मत-भेद नामकरण की दृष्टि से ही अधिक है, लक्षणों की दृष्टि से उनमें बहुत-कुछ मतैक्य है। जहाँ तक कला-सर्जन की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, मनोविश्लेषण के विद्वानों ने इसे अचेतन मन (Unconscious) से ही सम्बन्धित किया है। प्रायः सभी ने अचेतनमन की शक्ति की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकारों में से एक कला-सर्जन को माना है। अतः हमें यहाँ सर्व प्रथम अचेतन मन का स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए।

अचेतन मन—मनोविश्लेषण के विद्वानों के अनुसार मानसिक शक्तियों का सबसे बड़ा स्रोत एवं आधार अचेतन (Unconscious) ही है, जो एक प्रकार से सम्पूर्ण मन का तीन-चौथाई भाग है। यद्यपि हम प्रत्यक्ष रूप में अचेतन मन की शक्तियों एवं क्रियाओं का बोध प्रायः नहीं करते किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि चेतन एवं अचेतन मन की सभी प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों को प्रेरित एवं संचालित

करने वाला अचेतन मन ही मान गया है। हमारी जन्मजात वासनायें एवं दमित इच्छाएँ, कुण्ठाएँ आदि भी इसी में दबी रहती है, जो बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से कई बार ऊपर आकर व्यक्त भी हो जाती हैं।

युंग ने अचेतन मन को ही दो भागों में—व्यक्तिगत एवं सामूहिक अचेतन मन—विभक्त करते हुए स्पष्ट किया कि जहाँ व्यक्तिगत अचेतन मन में व्यक्ति की निजी अनुभूतियाँ और कुण्ठाएँ दबी रहती हैं, वहाँ सामूहिक अचेतन मन का सम्बन्ध केवल व्यक्ति से ही नहीं समस्त परिवार, वंश और जाति की पूर्व परम्परा से होता है, अर्थात् उसमें हमारी जाति (Race) के पूर्वजों की वे सभी मानसिक प्रवृत्तियाँ व विशेषताएँ रहती हैं जो हमें वंश-परम्परा से प्राप्त हुई हैं; अतः इसका क्षेत्र एवं बल निश्चय ही व्यक्तिगत अचेतन मन से अधिक व्यापक एवं प्रबल होता है।

हमारे अचेतन मन में स्थित विभिन्न वंशगत प्रवृत्तियां भाव प्रतिमाओं (Archetype) के रूप में संचित रहती हैं जो दो प्रकार की मानी गयी हैं—(१) स्त्री-गुण प्रधान 'ऐनिमा' (Anima) और (२) पुरुष गुण-प्रधान (Animus) ऐनिमस। व्यक्ति की प्रकृति, स्वभाव एवं प्रवृत्तियाँ का निर्धारण भी इन्हीं प्रतिमाओं की प्रधानता के अनुसार होता है—किसी में नारी की भाँति कोमलता एवं भीरूता होती है तो किसी में दृढ़ता एवं निडरता होती है जो वस्तुतः इस बात पर निर्भर है कि उसमें किस प्रकार की भाव-प्रतिमाओं की प्रमुखता है। कला एवं साहित्य में भी जातीय प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति इन भाव-प्रतिमाओं के ही माध्यम से होती है।

मनोविश्लेषण और कला-सर्जन की प्रक्रिया—मनोविश्लेषण के अनुसार कला-सर्जन की शक्ति का आधार अचेतन मन की शक्ति है जिसे विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। फ्रायड ने इसे 'काम-शक्ति' (Libido) से भिन्न मानते हुए दमित काम-वासना के उदात्तीकरण को ही कला-सर्जन की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जबकि एडलर ने इसे 'हीनता की ग्रन्थि' के रूप में विवेचित किया। किन्तु इन दोनों ही विद्वानों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण एवं संकुचित था, वस्तुतः केवल मात्र काम वासना या हीनता की ग्रन्थि को ही कला-सर्जन के आधार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता; अतः युंग ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं संतुलित दृष्टि का परिचय देते हुए कला का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार की वृत्तियों—धार्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक, काम-वासनात्मक आदि—से स्थापित किया। साथ ही उन्होंने सर्जनात्मक प्रेरणा (Creative urge) एवं सर्जन-शक्ति (Creative energy) के सिद्धान्त को भी स्थापना की। युंग के विचारानुसार प्रत्येक व्यक्ति के मन में सजर्नात्मक वृत्ति एवं शक्ति न्यूनाधिक मात्रा में सदा विद्यमान रहती है। यह कामवृत्ति न होकर उससे भिन्न है जिसका लक्ष्य सन्तानोत्पादन द्वारा जाति-रक्षा करना न होकर कल्पनात्मक सृष्टि द्वारा मन की भूख को—प्रेरणा को—संतुष्ट करना है।

सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कलाकार में यह अधिक प्रबल होती है। इसके बल पर वह कला-सर्जन करता है।

सर्जनात्मक वृत्ति का सम्बन्ध सामूहिक अचेतन मन (Collective unconscious) से हैं—अर्थात् यह केवल व्यक्ति-विशेष की निजी प्रवृत्ति न होकर, पूरे समाज, वंश एवं जाति की प्रवृत्ति है जो कि हमारे सामूहिक अचेतन मन में स्थित है। सामूहिक अचेतन मन में पूरे मानव-समाज ने—यहाँ तक कि उसके पूर्वज पशु-समाज ने भी—जो अनुभव और संस्कार प्राप्त किये, वे सूक्ष्म प्रतिमाओं (Archetypes) के रूप में विद्यमान हैं, तथा वे ही कला-सर्जन की आधारभूत मानसिक सामग्री का रूप ग्रहण करते हैं। जब बाह्य प्रभाव से कलाकार की सर्जनात्मक वृत्ति या सर्जन शक्ति उद्दीप्त होकर सक्रिय होती है तो उसकी आन्तरिक भाव-प्रतिमाओं में से जो अधिक विकसित होंगी—वे कला के रूप में व्यक्त हो जाती हैं।

इस प्रकार कला का सम्बन्ध मूलतः सामूहिक अचेतन मन में विद्यमान वंश परम्परागत सर्जनात्मक वृत्ति से है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसकी व्यक्तिगत वृत्तियों, अनुभूतियों व संवेदनाओं का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। अवश्य ही जब उसकी सर्जन वृत्ति उद्दीप्त होकर सर्जन-शक्ति के रूप में कार्य करती है तो वह सामूहिक मन की सामग्री के साथ-साथ वैयक्तिक मन की सामग्री का भी उपयोग एवं संयोजन करती है; यहाँ तक कि जिन कलाकारों व साहित्यकारों में वैयक्तिक कुण्ठाओं, ग्रन्थियों एवं प्रवृत्तियों की प्रमुखता होती है, उनकी रचनाओं में सामूहिक मन की अपेक्षा वैयक्तिक मन की अनुभूतियाँ अधिक मुखर होती हैं। इस दृष्टि से कला-वस्तु के दो वर्ग भी किये जा सकते हैं—एक, जिनमें सामूहिक मन की प्रमुखता परिलक्षित होती है; दूसरा-जिसमें वैयक्तिक मन की प्रमुखता है। इसी प्रकार कलाकार में नारी प्रतिमाओं (Anima) या पुरुष प्रतिमाओं (Animus) की प्रमुखता के अनुसार भी उसकी विषय-वस्तु की प्रकृति में परिवर्तन संभव है किसी की प्रवृत्ति कोमल भावों, सुन्दर पदार्थों में होती है तो किसी की कठोर भावों व असुन्दर वस्तुओं में होती है—इस अन्तर का कारण अचेतन मन में संचित एवं वंश-परम्परागत प्रतिमाओं का अन्तर है।

फिर भी कला-वस्तु में यदि वैयक्तिक मन की अपेक्षा सामूहिक मन की सामग्री अधिक हो तो अवश्य ही उसका प्रभाव अधिक व्यापक होगा—अर्थात् उसका साधारणीकरण व्यापक रूप में हो सकेगा। इसीलिए युंग ने सामूहिक मन को अधिक महत्त्व दिया हैं। डा० पद्मा अग्रवाल के शब्दों में—'युंग के दृष्टिकोण से कला में व्यक्तिगत अनुभव का कम महत्त्व है। उनके अनुसार अच्छी भली कला वही है जिसमें वंश-परम्परागत विशेषताएँ या जातीय गुण समायें हों, अर्थात् (उनसे सम्बन्धित) भाव प्रतिमाओं का प्रदर्शन (अभिव्यंजन) हो। इस कारण से युंग ने कला

के सम्बन्ध में 'सामूहिक अज्ञात मन' पर 'व्यक्तिगत अज्ञात मन'[1] से अधिक बल दिया है।

इस प्रकार युग के विश्लेषण के अनुसार कला की सर्जन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) कला का मूलाधार व्यक्ति का सामूहिक अवचेतन मन है—जिसमें वंश-परम्परागत एवं जातीय विशेषताएँ भाव-प्रतिभाओं के रूप में विद्यमान रहती हैं।

(२) सामूहिक मन में अतीतकाल से सर्जन की वृत्ति एवं शक्ति विद्यमान है।

(३) यह सर्जन की वृत्ति उद्दीप्त होकर वंश-परम्परागत एवं वैयक्तिक अनुभूतियों—भाव-प्रतिमाओं—की अभिव्यक्ति कला के रूप में करती है।

(४) वैयक्तिक मन की भाव-प्रतिमाओं को अपेक्षा, सामूहिक मन की भाव-प्रतिमाओं का कला-सर्जन की दृष्टि से अधिक महत्त्व है।

● रसावयवों का पुनराख्यान

उपर्युक्त विवेचन एवं निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए अब हम रस के विभिन्न अवयवों पर क्रमशः पुनर्विचार कर सकते हैं। सर्व प्रथम स्थायी भाव को लेते हैं—रस सिद्धान्त के अनुसार कला या रचना का यह वह आधारभूत केन्द्रीय तत्त्व है तो अनादि काल से मानव-मन में वासना के रूप में स्थित है; इसी की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से होती है। यदि इस केन्द्रीय तत्त्व को हम युंग की शब्दावली में सामूहिक अचेतन मन में स्थित वंश-परम्परागत अनादिकाल की भाव-प्रतिमाओं या वृत्तियों अथवा वासनाओं के रूप में ग्रहण करें तो अनुचित न होगा। युंग ने भी इन्हें समस्त मानव जाति में दीर्घकाल से विद्यमान स्थिर, स्थायी या चिरकालीन संस्कारों व वृत्तियों के रूप में स्वीकार किया है तथा ये सभी लक्षण भारतीय आचार्यों ने स्थायी भाव के उल्लिखित किये हैं—अतः यदि हम स्थायी भाव को सामूहिक अचेतन मन की स्थायी भाव-प्रतिमाओं के रूप में या कला केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

स्थायी भाव की तुलना में संचारी भाव—क्षणिक, चंचल किन्तु उसका सहयोगी तत्त्व माना गया है। संचारी भाव स्थायी भाव की तुलना में दुर्बल होता है तथा वह उसी पर निर्भर रहता है। व्यापक रूप में इसे हमने व्यक्ति की अनुभूतियाँ, अनुभवों, प्रत्यक्ष-बोधादि के रूप में ग्रहण करते हुए 'सहयोगी तत्त्व' की संज्ञा दी है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि युंग

---

१. मनोविश्लेषण एवं मानसिक प्रक्रियाएँ : डॉ० पद्मा अग्रवाल; पृ० सं० १९३

ने सामूहिक मन की तुलना में वैयक्तिक मन की जो विशेषताएँ बताई हैं, वे सब स्थायीभाव के संदर्भ में संचारी भाव में दृष्टिगोचर होंगी। जिस प्रकार सामूहिक मन की भाव प्रतिमाएँ कला की आधारभूत सामग्री प्रदान करती हैं किन्तु उनमें वैयक्तिक मन की संचरणशील अस्थिर भाव-वृत्तियों व अनुभूतियों का योग अपेक्षित है—यहाँ तक कि कई बार ये प्रमुख भी हो उठती है—उसी प्रकार स्थायी भाव भी केन्द्रीय तत्त्व होता हुआ भी संचारी भावों--विभिन्न अनुभूतियों का सहयोग प्राप्त करता है। अस्तु, स्थायीभाव यदि सामूहिक मन की वृत्तियों एवं संस्कारों का सूचक है तो संचारी भाव वैयक्तिक मन की अनुभूतियाँ, धारणाओं, वृत्तियों आदि का द्योतक माना जा सकता है।

कलाकार की सर्जन-शक्ति (Creative energy) को सर्जन के लिए प्रेरित एवं उद्दीप्त करने के लिए बाह्य कारणों व परिस्थितियों का भी योग सदा अपेक्षित है—यह तथ्य मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के भी प्रतिकूल नहीं है। दूसरे शब्दों में, कलाकार की सर्जन-शक्ति एक तो किसी रुचिकर विषय का सन्धान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में करती रहती है, तो दूसरी ओर विभिन्न स्थितियाँ, परिस्थितियाँ, वातावरण, परिवेश एवं संदर्भ के प्रभाव के कारण भी विषय-विशेष में उसकी रुचि एवं प्रवृत्ति अधिक होती है। जीवन और जगत् में नाना प्रकार के विषय हैं, किन्तु वे स्थिति-विशेष या परिस्थिति-विशेष में ही हमें रुचिकर प्रतीत होते हैं। कुछ विषय जो मध्यकालीन कवियों के लिए रुचिकर थे, आज रुचिकर प्रतीत नहीं होते—इसका कारण वातावरण, परिस्थिति, परिवेश एवं संदर्भ का परिवर्तन ही है। कई बार एक सामान्य विषय भी परिस्थिति-विशेष या युग-विशेष के वातावरण में कवि के लिए इतना अधिक आकर्षक एवं रुचिकर सिद्ध होता है कि उसकी सर्जन-शक्ति उद्दीप्त होकर सक्रिय हो जाती है। अस्तु, सजन-शक्ति की उद्दीप्ति एवं सक्रियता के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—एक आधारभूत विषय और दूसरा—परिस्थिति या वातावरण। रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने इन दोनों का निरूपण क्रमशः विभाव के दो भेदों—आलम्बन एवं उद्दीपन—के रूप में किया है, जिन्हें हमने व्यापक रूप में क्रमशः आधार-हेतु, एवं संदर्भ (परिवेश) की संज्ञा दी है।

कलाकार की सर्जन-शक्ति उद्दीप्त होकर विभिन्न प्रकार के साधनों एवं माध्यमों से व्यक्त होती है—वह वाणी, चेष्टाओं, मुद्राओं, सात्विक भावों आदि किसी भी माध्यम से व्यक्त हो सकती है; जब वह वाणी के माध्यम से व्यक्त होती है तो साहित्य एवं काव्य की; चेष्टाओं के माध्यम से व्यक्त होती है तो अभिनय, नृत्य आदि कलाओं की तथा रेखाओं के माध्यम से व्यक्त होने पर चित्र-कला की संज्ञा प्राप्त करती है। वस्तुतः हमारे अचेतन मन की वृत्तियों—सामूहिक एवं वैयक्तिक इन सभी की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के माध्यम से संभव है; किन्तु उन्हें हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं--एक जो स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व से अभिन्न

हैं; दूसरे जो व्यक्तित्व से भिन्न बाह्य पदार्थ हैं। इस दृष्टि से काव्य, अभिनय, नृत्य गीत आदि के माध्यम व्यक्ति के व्यक्तित्व से अभिन्न हैं, जबकि अन्य कलाओं में बाह्य पदार्थों—रंग, तूलिका, आदि साधनों—का भी सहयोग अपेक्षित हैं। अतः अभिव्यक्ति के प्रत्यक्ष माध्यम तो वे ही हैं जो हमारे व्यक्तित्व से भिन्न नहीं है, तथा इन्हें भी तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) वाणी या भाषा। (२) सत्त्वोद्रेक (३) चेष्टा (अभिनय, नृत्य आदि से सम्बन्धित)। वस्तुतः ये तीनों प्रकार के माध्यम अनुभाव के ही तीन भेदों—वाचिक, सात्विक व आंगिक के ही सूचक हैं। अस्तु, अभिव्यक्ति के माध्यम ही अनुभाव हैं, इसीलिए हमने व्यापक रूप में इन्हें 'माध्यम' की संज्ञा दी है।

कला के माध्यम के सम्बन्ध में मनोविश्लेषण की यह महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि अचेतन मन अपनी वृत्तियों, भावनाओं व संस्कारों को सामान्य भाषा में या अभिधात्मक शैली में व्यक्त नहीं करता क्योंकि अचेतन मन में वे भाव-प्रतिमाओं, बिम्बों (Images), आदि के रूप में संचित रहते हैं। अतः अचेतन मन की अभिव्यक्ति सदा बिम्बों व प्रतीकों के माध्मम से अप्रत्यक्ष रूप में ही होती है। दूसरे शब्दों में अचेतन स्तर की अनुभूतियाँ अभिधा के स्थान पर सदा लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति का ही प्रयोग करती है, इसी से काव्य-भाषा में उपमान, बिम्ब, प्रतीक या अप्रस्तुत-योजना की प्रमुखता रहती है। रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने भी स्थायीभाव के अभिधात्मक उल्लेख को 'स्वशब्दवाच्य'[३] दोष मानते हुए, स्थायीभाव की अभिव्यक्ति सदा अप्रत्यक्ष या 'व्यंजना शक्ति' के द्वारा ही आवश्यक मानी है। इसमें स्थायीभाव की व्यंजना पर विशेष बल देने का मूलाधार कदाचित यही मनोवैज्ञानिक तथ्य या सत्य है कि स्वाभाविक रूप में वह सदा अप्रत्यक्ष रूप में—बिम्बों एवं प्रतीकों केमाध्यम से ही—व्यंजित होता है; उसका 'कथन' या 'उल्लेख' तो भाषा की बौद्धिक प्रक्रिया मात्र है।

रस-सिद्धान्त के अनुसार कवि और सामाजिक में तादात्म्य या कला-वस्तु का साधारणीकरण भी अपेक्षित है। इसका आधार भी, यही है कि कलाकार पहले स्वयं विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तथा फिर उसे व्यक्त करता है; किन्तु अपने व्यक्तितत्व से सम्बन्धित स्वयं की रुचि पर आधारित विषय के साथ कवि का तादात्म्य होना कठिन नहीं, किन्तु सामाजिक के साथ तादात्म्य होना अवश्य कठिन है। इसका उत्तर युंग के अनुसार यह दिया जा सकता है कि कवि जिस विषय को ग्रहण करता है, वह उसके 'सामूहिक अचेतत मन' की वृत्ति एवं प्रवृत्ति के अनुकूल होता है या अनुकूल रूप प्राप्त कर लेता है, इसीलिए वह समूह या समाज के लिए भी संप्रेष्य एवं ग्रहण हो जाता है; किन्तु यदि फिर भी इसमें वैयक्तिक मन की अत्यधिक प्रमुखता हो तो यह भी संभव है कि समूह या समाज को वह रूचिकर प्रतीत न हो —इसे ही हम 'साधारणीकरण' का अभाव कह सकते हैं। किन्तु ऐसा बहुत कम

होता है—प्राय: अचेतन मन की सर्जन-शक्ति के उद्दाम आवेग में कवि का चेतन मन जो कि सदा 'अहं' पर केन्द्रित होता है—कुछ क्षणों के लिए अहं की सीमाओं का उल्लंघन करके सामूहिक मन में निमज्जित हो जाता है—व्यक्ति और समूह की सीमाएँ लुप्त हो जाती हैं—ऐसी स्थिति में ही सच्ची एवं उदान्त कला का सर्जन होता है जो व्यक्ति, युग और प्रदेश की सीमाओं से ऊपर उठकर यूनिवर्सल रूप प्राप्त कर लेती है। किन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ कला-कृति का प्रभाव की सीमित रहेगा। अस्तु, हम सर्जन-प्रक्रिया के विभिन्न सोपानों में वैयक्तिक मन का अहं से मुक्त होकर सामूहिक मन से संयुक्त हो जाना भी आवश्यक मान सकते हैं; इसी प्रक्रिया को रस सिद्धान्त की शब्दावली में 'वैयक्तिक अनुभूतियाँ का साधारणीकरण' कह सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से उपलब्ध निष्कर्षों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

- सर्जन-प्रक्रिया की मूल शक्ति हमारे सामूहिक अचेतन मन की वंश-परम्परागत एवं जातीय वृत्तियों, संस्कारों, भावनाओं में निहित है, जिसे युंग ने सामूहिक अवचेतन मन की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। इसी को रस की शब्दावली में 'स्थायी भाव' या 'केन्द्रीय तत्त्व' कहा जा सकता है।
- बाह्य विषय एवं परिस्थितियों व वातावरण के प्रभाव से ही अचेतन मन की सर्जन-शक्ति प्रेरित और उद्दीप्त होकर सर्जन-कार्य में प्रवृत्त होती है। 'बाह्य विषय' को रस-शास्त्रीय शब्दावली में 'आलम्बन' (आधार हेतु) एवं 'परिस्थितियों व वातावरण' को 'उद्दीपन' (व्यापक रूप में—'संदर्भ या परिवेश') कहा जाता है।
- सामूहिक अचेतन मन की सर्जन शक्ति उद्दीप्त होकर वैयक्तिक अचेतन मन की सामग्री—अनुभूतियां, अनुभव, बोध, आदि—का उपयोग करती है; जिससे सामूहिक मन की वृत्तियाँ वैयक्तिक मन की अनुभूतियों से समन्वित हो जाती हैं। वैयक्तिक मन की इस सामग्री को ही रस सिद्धान्त में'संचारी भाव' (सहयोगी तत्त्व) कहा गया है।
- सामूहिक अचेतन मन की भाव-प्रतिमाएं, वैयक्तिक मन की अनुभूतियों के सहयोग से बिम्बों व प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। बिम्बों व प्रतीकों के कारण ही भाषा-शैली में अभिधा के स्थान पर लक्षणा व व्यंजना का संचार हो जाता है। अभिव्यक्ति के माध्यम को ही रस-शास्त्रीय शब्दावली में 'अनुभाव' कहा गया है, जिसे व्यापक दृष्टि से हमने 'माध्यम' का ही पर्याय माना है।

इस प्रकार कवि का 'स्थायी भाव' (केन्द्रीय तत्त्व, विचार, प्रयोजन) 'आलम्बन' से प्रेरित एवं 'उद्दीपन' से उद्दीप्त होकर 'संचारी भाव' के सहयोग से 'अनुभावों' के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त (व्यंजित) होता है—इसी क्रिया को काव्य-सर्जन या कला-सर्जन प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अस्तु, स्थायी भाव, संचारी भाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव आदि केवल काव्य-वस्तु के घटक तत्त्व और पाठक की आस्वादन-प्रक्रिया के साधक तत्त्व ही नहीं है, अपितु वे स्वयं कवि, कलाकार एवं स्रष्टा की भी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के विभिन्न सोपानों के सूचक हैं, जिनके आधार पर किसी भी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया या सर्जन-प्रक्रिया का तर्क-संगत विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है। वैसे, आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण के आधार पर इन सोपानों का और भी सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण संभव है—किन्तु इसके लिए प्रस्तुत प्रबन्ध में अवकाश नहीं है, अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा।

•

८ रस-सिद्धान्त का व्यापक स्वरूप : स्थापनाएँ

अब तक विभिन्न अध्यायों में रस-सिद्धान्त के व्यापक रूप की प्रतिष्ठा का प्रयास करते हुए उसके विभिन्न पक्षों का विवेचन-विश्लेषण अलग-अलग संदर्भों में प्रस्तुत किया गया हैं जिससे उसके विकसित रूप की विभिन्न विशेषताओं का बोध खण्ड-खण्ड रूप में होता है । प्रस्तुत अध्याय में उन सभी विशेषताओं का आकलन करते हुए उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जायगा जिससे कि रस-सिद्धान्त के व्यापक रूप का बोध समग्र एवं समन्वित रूप में एक साथ प्राप्त हो सके । किन्तु यहाँ हमारी शैली संकेतात्मक ही रहेगी अर्थात् उसमें पूर्व उपलब्ध निष्कर्षों का संकेत मात्र ही किया जा सकेगा, विस्तृत-निरूपण नहीं—अतः ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि इन संकेतों को सम्यक् रूप में ग्रहण करने के लिए पूर्ववर्ती अध्यायों में निरूपित निष्कर्षों का अध्ययन भली-भाँति कर लिया जाय अन्यथा संभव है कि अनेक निष्कर्ष अस्पष्ट, असंगत एवं अव्यावहारिक प्रतीत हों ।

सर्व प्रथम हम स्वयं 'रस' शब्द के अर्थ को ही लेते हैं । परम्परागत मतों के अनुसार भरत मुनि ने इसे काव्यगत या कलागत तत्त्व मानते हुए 'आस्वाद्य' पदार्थ माना था , जबकि परवर्ती युग में इसका अर्थ 'आस्वाद्य' से 'आस्वाद' या 'आस्वाद की अनुभूति' हो गया जो अधिक समीचीन है । अस्तु, काव्य के संदर्भ में रस 'काव्यास्वाद की अनुभूति' का पर्याय है तो कला के संदर्भ में इसे 'कलास्वाद की अनुभूति' या संक्षेप में 'कलानुभूति' भी कह सकते हैं । सौन्दर्य-शास्त्र एवं मनोविज्ञान की शब्दावली में 'कलानुभूति' को ही 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जाता है—अतः इस दृष्टि से रस=काव्यानुभूति=कलानुभूति=सौन्दर्यानुभूति अर्थात् रस का व्यापक अर्थ 'सौन्दर्यानुभूति' (Aesthetic Experience) सिद्ध होता है ।

काव्य एवं कला के संदर्भ में उनकी अनुभूति अर्थात् सौन्दर्यानुभूति को एक यूनिवर्सल धारणा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि कलागत वस्तु, शैली, प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में विश्व के विभिन्न कला-सिद्धान्तों में परस्पर मत-भेद होते हुए भी **सौन्दर्यानुभूति** एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ आकर सब समन्वित हो जाते हैं; अर्थात् विभिन्न सिद्धान्तों में पारस्परिक मत-भेद इस सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप एवं आधार को लेकर है, स्वयं सौन्दर्यानुभूति के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रायः सब में मतैक्य है। यह स्थिति लगभग वैसी ही हैं जैसी कि सभी आस्तिकवादी दर्शन ब्रह्म या परमसत्ता के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके रूप-भेद एवं सृष्टि-सम्बन्धों को लेकर एक-दूसरे का विरोध करते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि रस की धारणा कला-शास्त्र के मूलाधार (Fundamental) की द्योतक या सूचक है; इसी लिए किसी भी सिद्धान्त का अनुयायी रस या सौन्दर्यानुभूति के अस्तित्व का विरोध नहीं करेगा—ऐसा सामान्य रूप में कहा जा सकता है।

सौन्दर्यानुभूति (रस) के स्वरूप एवं आधार को लेकर विभिन्न कला-सिद्धान्तों एवं काव्यशास्त्रीय मतों में परस्पर जो मत-भेद हैं वह निरर्थक एवं निराधार नहीं है; उसके पीछे वास्तविक आधार हैं। यह बात न केवल सौन्दर्यानुभूति पर लागू होती है अपितु विभिन्न क्षेत्रों के प्रत्येक मूलाधार पर लागू होती है क्योंकि मूलाधार विभिन्न वस्तुओं के परस्पर-विरोधी तत्त्वों व लक्षणों के सामान्यीकृत रूप पर आधारित होता है. अर्थात् मूलाधार के आधार अपने-आप में एक नहीं होते, वे अनेक होते हैं—ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि मूलाधार से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों एवं तत्त्वों में परस्पर भिन्नता हो। ऐसी स्थिति में सत्य के शोधक के लिए यह आवश्यक है कि वह आधार से सम्बन्धित विभिन्न अंगों, पक्षों व रूपों की अनेकता को स्वीकार करता हुआ मूलाधार की स्थापना में उन सभी का योगदान स्वीकार करे, न कि एक ही अंग, पक्ष, रूप या प्रवृत्ति को लेकर मूलाधार की स्थापना का सारा श्रेय उसी को प्रदान कर दे—किन्तु व्यवहार में प्रायः यह देखा जाता है कि विद्वान् एवं बुद्धिमान लोग भी सत्य के एकपक्षीय, एकांगी व एक रूपी बोध को ही निजी मत का का आधार बनाते हुए उसे ही समग्र तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं, जिसके फलस्वरूप दूसरे पक्ष, दूसरे अंग व दूसरे रूप के समर्थकों से उसका विरोध होता हैं। कहा जा सकता है कि यह 'अंध गज-न्याय' की स्थिति है—हाथी की सत्ता सभी स्वीकार करते है किन्तु उसके रूप के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने एकांगी व एकपक्षीय बोध को ही सर्वांगीण एवं सर्वपक्षीय ज्ञान या सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। परम्परागत काव्य-शास्त्र एवं कलाशास्त्र पर भी यह बात भली-भाँति लागू होती है तथा रस-सिद्धान्त के समर्थक एवं विरोधी भी इसके अपवाद नहीं है—अतः ऐसी स्थिति में सत्य की स्थापना या सत्य के सर्वांगीण बोध के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने ही बोध, ज्ञान व विश्वास को सब कुछ न

मानकर इतर विश्वासों व धारणाओं पर भी तटस्थता पूर्वक विचार करते हुए परस्पर-विरोधी विभिन्न विशेषताओं का समन्वय एवं समीकरण करते हुए उन्हें यथा-शक्ति सर्व सामान्य रूप में प्रतिष्ठित करें—यदि रस-सिद्धान्त की ही शब्दावली में कहें तो उनका निर्विशेषीकरण या साधारणीकरण करें। साहित्य में ही नहीं, विज्ञान में भी सत्य का बोध-तथ्यों के निर्विशेषीकरण या साधारणीकरण द्वारा होता है। वस्तुतः दर्शन की शब्दावली में जो आदर्शीकरण (Idealization) है, साहित्य की शब्दावली में वही साधारणीकरण तथा विज्ञान की शब्दावली में सामान्यीकरण या विज्ञानीकरण की प्रक्रिया है; अतः न केवल रस-सिद्धान्त के लिए अपितु सभी प्रचलित सिद्धान्तों के विज्ञानीकरण के लिए सामान्यीकरण की प्रक्रिया अपेक्षित है।

उपर्युक्त व्यापक दृष्टि से परम्परागत सिद्धान्तों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि रसेतर संप्रदाय भी सौन्दर्यानुभूति (रस) की सत्ता को ही प्रमुख मानते हैं। अलंकारवादियों ने अलंकार का लक्ष्य काव्य में **सौन्दर्य**, उत्पन्न करना, रीति-वादियों ने **शोभा** उत्पन्न करना, वक्रोक्तिवादियों ने **लावण्य** का संचार करना, ध्वनि-वादियों ने **चारुत्व** प्रदान करना, औचित्यवादियों ने काव्य को **चारुत्व** एवं **रमणीय** बनाना स्वीकार किया है—यह स्वयं उन्हीं की उक्तियों से सिद्ध हो जाता है; ऐसी स्थिति में सौन्दर्य, शोभा, लावण्य, चारुत्व, रुचिकर, रमणीयता—इन सभी शब्दों को सौन्दर्य के ही पर्यायवाची के रूप में ग्रहण करते हुए यह कहा जाय कि काव्यगत या कलागत प्रमुख तत्त्व या उसका सामान्य गुण तो 'सौन्दर्य' ही है, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सब उसके साधन या माध्यम मात्र हैं तो अनुचित न होगा। विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण से यह भली-भाँति प्रमाणित हो जाता है कि ये सभी सिद्धान्त काव्यगत सौन्दर्य की उत्पत्ति के ही विभिन्न साधनों, विधियों एवं प्रकारों का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि इनमें से प्रत्येक स्वयं के द्वारा प्रस्तुत साधन को ही काव्य का साध्य घोषित करता हुआ एक ओर तो स्वयं साध्य की अवमानना करता है और दूसरी ओर अन्य संप्रदायों द्वारा प्रस्तुत साधनों का तिरस्कार करता है; इस प्रकार एक साधन को ही सब साधनों एवं साध्य का भी स्थानापन्न बनाने की दुश्चेष्टा करता है—इससे उनकी मौलिकता एवं तार्किकता का तो परिचय मिलता है किन्तु सत्य की शोध अधूरी, एवं अपूर्ण ही रह जाती है। अब यदि हम इनमें समन्वय स्थापित करते हुए एकांगी मतों का सर्वांगीण रूप देते हुए कहें कि काव्यगत साध्य **सौन्दर्य** है, जबकि अलंकार, गुण, वक्रता, ध्वनि, औचित्य आदि सब उस साध्य के ही विभिन्न साधन हैं; जिस प्रकार एक स्वादिष्ट व्यंजन अनेक प्रकार के द्रव्यों से बन सकता है, उसी प्रकार काव्यगत सौन्दर्य की भी उत्पत्ति या उद्दीप्ति विभिन्न साधनों से संभव है, यह दूसरी बात है कि कोई साधन अधिक महत्त्वपूर्ण है और कोई कम। इस स्थापना को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है—ये सब काव्यगत सौन्दर्य के साधन हैं; तथा काव्यगत सौन्दर्य के

आस्वादन से पाठक को जो अनुभूति प्राप्त होती है, वही सौन्दर्यानुभूति या रस है। यह एक ऐसा बिन्दु है जहाँ आकर सभी सिद्धान्त रस सिद्धान्त से समन्वित हो जाते हैं। संक्षेप में—अलंकार, गुण, वक्रता, व्यंजना आदि→ सौन्दर्य →सौन्दर्यानुभूति या रस।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी अनेक और सिद्धान्त प्रचलित हैं जो काव्य में अनुकृति, औदात्य, औचित्य, कल्पना, बिम्ब, प्रतीक आदि को प्रमुखता प्रदान करते हैं, किन्तु उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से कुछ तो काव्य-वस्तु एवं विचार तत्त्व को प्रमुखता देते हैं; जबकि कुछ शैली पक्ष के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या करते हैं; किन्तु विषय-वस्तु का अंतिम लक्ष्य सौन्दर्य के घटक तत्त्वों को प्रस्तुत करना तथा शैली सम्बन्धी तत्त्वों या साधनों का लक्ष्य वस्तु को 'रूप' या सौन्दर्य प्रदान करना है। कोई भी वस्तुगत तत्त्व या शैली का प्रकार अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है जब तक कि वह काव्यगत सौन्दर्य का साधन, अंग या माध्यम न बन जाय। अस्तु, इन सिद्धान्तों को भी काव्य सौन्दर्य के साधनों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र में अनेक ऐसे सिद्धान्त भी उपलब्ध हैं तो काव्यगत सामग्री में भाव तत्त्व को ही प्रमुखता प्रदान करते हुए सारी वस्तु की नियोजना उसी के साधन या अंग-रूप में करने का निर्देश देते हैं या अभिव्यंजना के सभी साधनों व माध्यमों का लक्ष्य भाव की व्यंजना करना बताते हैं—इस वर्ग के सिद्धान्त परम्परागत भारतीय रस-सिद्धान्त के ही समरूप हैं, अतः उन्हें भारतीय शब्दावली में 'रस-सिद्धान्त' (जबकि पश्चिम में वे 'भाव सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं) कह सकते हैं। उनके भी अनेक रूप—भावोद्दीप्तिवाद, भावावलम्बनवाद, भावाभिव्यक्तिवाद, भावाभिव्यक्तिवाद, भावप्रेषणवाद आदि—उपलब्ध होते हैं, जिनका विवेचन-विश्लेषण विस्तार से करते हुए अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जहाँ औचित्य व उदात्त सम्बन्धी सिद्धान्त काव्यगत बौद्धिक तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान करते हैं वहाँ ये भावात्मक तत्त्वों को महत्त्व देते हैं : इसी प्रकार कुछ सिद्धान्त कल्पनात्मक तत्त्वों (बिम्ब, प्रतीक आदि) को काव्यत्व का आधार घोषित करते हैं। किन्तु इन सबका समन्वय इसी रूप में होता है कि बौद्धिक, भावात्मक, कल्पनात्मक या शैलीगत तत्त्वों के द्वारा काव्य में सौन्दर्य की उद्दीप्ति होती है तथा उसी की अनुभूति रस है। अस्तु, परम्परागत सिद्धान्तों में से कुछ विषय-वस्तु के साधनों की और कुछ शैलीगत साधनों की व्याख्या करते हैं, किन्तु उन सबकी सार्थकता विषय और शैली, वस्तु और रूप के संयोग से 'सौन्दर्य' की उत्पत्ति में ही है, वही उनका साध्य या लक्ष्य है तथा उसी सौन्दर्य की अनुभूति 'रस' है।

इस प्रकार परम्परागत सिद्धान्तों से साहित्य के घटक तत्त्वों के रूप में विचारात्मक, भावात्मक, एवं कल्पनात्मक तत्त्वों की सत्ता पर प्रकाश पड़ता है।

शैली पक्ष के सभी तत्त्व अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, बिम्ब, प्रतीक आदि—भी कल्पना-शक्ति के ही विभिन्न व्यक्त रूपों के सूचक हैं, अतः उनका भी समन्वय कल्पनात्मक तत्त्वों में हो जाता है। अतः कहना चाहिए कि काव्य में तीनों प्रकार के तत्त्वों—विचारात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक—की ही नियोजना से सौन्दर्य की सृष्टि होती है; यह दूसरी बात है कि किसी कृति में कोई एक प्रकार प्रमुख हो जाय। परम्परागत रस सिद्धान्त भावात्मक तत्त्वों को ही प्रमुखता देता है, जबकि अन्य सिद्धान्त (जैसे—उदात्त) विचारात्मक तत्त्वों का तथा कल्पनात्मक तत्त्वों (अलंकार, बिम्बादि) को प्रमुखता देते हैं, जबकि सत्य यह है कि किसी कृति में किसी की प्रमुखता होतो है और किसी में किसी की। एक ही कवि बिहारी के अलग-अलग दोहों में हम विचार, भाव एवं कल्पना की प्रमुखता प्रमाणित कर सकते हैं; अतः यह कहना कि साहित्य के सभी रूपों एवं कृतियों में सदा एक ही प्रकार के तत्त्वों की प्रमुखता रहती है—एकांगी व एक पक्षीय कथन होगा। वास्तविकता यह है कि विचार, भाव, कल्पना में से कोई एक प्रमुख एवं शेष दो गौण रूप में विद्यमान रहते हैं तथा इस दृष्टि से साहित्यिक कृतियों को तीन वर्गों में—विचार-प्रधान, भाव-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान वर्गीकृत किया जा सकता है। इन तीनों से ही सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होती है किन्तु उनके आस्वाद में परस्पर थोड़ा अन्तर अवश्य रहता है—इसका स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

सौन्दर्यानुभूति के प्रसंग में सर्व प्रथम 'सौन्दर्य' की व्याख्या अपेक्षित है। 'सौन्दर्य' क्या है—इसका भी सर्व सम्मत् उत्तर सौन्दर्य-शास्त्रियों के द्वारा शताब्दियों तक किये गये प्रयास से भी उपलब्ध नहीं हो पाया। व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्य दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—अभिधात्मक एवं लाक्षणिक। अभिधात्मक अर्थ में हम वस्तुओं के बाह्य रूप की उस विशेषता को सौन्दर्य कहते हैं जो हमारी चक्षुरन्द्रिय को आकर्षित करती है जबकि लाक्षणिक अर्थ में उन सब विशेषताओं को 'सौन्दर्य' कहते जो कि न केवल हमारी विभिन्न इन्द्रियों, को भी अपितु मन, बुद्धि, चेतना को आकर्षित करता है। कला-क्षेत्र में सौन्दर्य अपने इस व्यापक लाक्षणिक अर्थ में ही प्रयुक्त होता है जबकि व्यवहार जगत् में ऐसा कम होता है। सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचक एवं चिन्तक भी कई बार कला-सौन्दर्य की मीमांसा करते समय उसके अभिधात्मक एवं लाक्षणिक अर्थों के अन्तर को ध्यान में नहीं रख पाते, वे व्याख्या एक की करते हैं, आधार दूसरे को बना लेते हैं, जिससे वे भ्रान्त एवं असंगत निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं। वस्तुतः इस छोटी सी प्रारम्भिक भ्रान्ति के कारण हमारी समस्त चिन्तन-परम्परा अपने लक्ष्य से आगे-पीछे भटकती रही है। इस भ्रान्ति के निराकरण का सबसे बड़ा उपाय यह है कि हम 'सौन्दर्य' के स्थान पर किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करें जो उसके उभयपक्षी अर्थों को अभिधात्मक रूप में ही प्रस्तुत कर सके क्योंकि किसी भी वैज्ञानिक विश्लेषण एवं सुसंगत निर्णय के लिए लक्षणा शक्ति बाधक ही सिद्ध होती

है। जब हम सौन्दर्य के दोनों प्रकार के अर्थों—चक्षुरिन्द्रिय को आकर्षित करने वाली विशेषता एवं समस्त इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चेतना को आकर्षित करने वाली विशेषता—को समन्वित एवं समीकृत करते हैं तो 'आकर्षण' शब्द की उपलब्धि होती है। वस्तुतः 'आकर्षण' शब्द सौन्दर्य के संकीर्ण और व्यापक, अभिधात्मक एवं लाक्षणिक आदि सभी प्रकार के अर्थों को व्यापक, स्पष्ट एवं निर्दोष रूप में प्रस्तुत करता है। अतः हम अपने पूर्व उपलब्ध निष्कर्ष में संशोधन करते हुए कह सकते हैं कि काव्य एवं कला में सभी विचारात्मक, भावात्मक एवं कल्पनात्मक तत्त्वों का लक्ष्य सौन्दर्य या आकर्षण की उद्दीप्ति करना है तथा यह सौन्दर्य या आकर्षण की अनुभूति ही सौन्दर्यानुभूति या रस की अनुभूति है। अस्तु, संक्षेप में—रस=सौदर्यानुभूति=आकर्षण की अनुभूति।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है—विभिन्न कलाकृतियों में क्रमशः विचारात्मक, भावात्मक, या कल्पनात्मक तत्त्वों की प्रमुखता (एवं शेष दो का गौण रूप में योग) रहती है—इस प्रमुखता के अनुसार ही उनमें उद्दीप्त सौन्दर्य एवं उसकी अनूभूति में सूक्ष्म अन्तर आ जाता है; इनसे सौन्दर्य या आकर्षण के तीन रूपों—क्रमशः बौद्धिक आकर्षण, भावात्मक आकर्षण एवं कल्पनात्मक आकर्षण—की उद्दीप्ति होती है तथा इनसे प्राप्त आस्वाद की अनुभूति भी क्रमशः इसी प्रकार बौद्धिक आकर्षण से युक्त, भावात्मक आकर्षण से युक्त एवं रूपात्मक आकर्षण से युक्त होती है। परम्परागत काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र में कलागत सौन्दर्य या आकर्षण के इन तीन रूपों की विवेचना क्रमशः उदात्त (Sublime), सौन्दर्य (Beauty) एवं चमत्कार के अन्तर्गत हुई है। वस्तुतः सूक्ष्म विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परागत विवेचन में 'सौन्दर्य' की अवधारणा भावात्मक आकर्षण पर, औदात्य की अवधारणा बौद्धिक आकर्षण पर तथा चमत्कार की अवधारणा कल्पनात्मक या रूपात्मक आकर्षण पर ही प्रतिष्ठित है।

परम्परागत भाव-वादियों एवं रस-वादियों ने उपर्युक्त तीन रूपों में से प्रारंभ में एक पर ही—भावात्मक सौन्दर्य या आकर्षण पर ही अधिक बल दिया, किन्तु आगे चलकर उन्होंने वैचारिक सौन्दर्य एवं अभिव्यंजना के महत्त्व को भी न्यूनाधिक रूप में स्वीकार कर लिया। भारतीय आचार्यों द्वारा 'तत्त्व-ज्ञान' या तत्त्व-बोध' स्थायी भाव पर आधारित 'शान्त रस' एवं पाश्चात्य आचार्यों —ई० एफ० कैरिट्ट, कालिंगवुड एवं सैंतायना द्वारा बौद्धिक अनुभूति पर आधारित 'औदात्य भाव' को मान्यता देना वस्तुतः रस-सिद्धान्त या भाव-सिद्धान्त में बौद्धिक तत्त्वों को ही समन्वित करने की चेष्टा के सूचक हैं; तथा इसी प्रकार भट्ट-नायक द्वारा स्थायी भाव का गुण, अलंकार द्वारा 'सुन्दरीभूत' होने की बात तथा अभिनव गुप्त द्वारा ध्वनि के माध्यम से रस के व्यंजित होने की धारणा तथा कैरिट्ट एवं कालिंगवुड द्वारा भाव की अभिव्यंजना (Expression of emotion) पर बल देना, रस-सिद्धान्त या भाव-सिद्धान्त में कल्पना या शैलीगत तत्त्वों को समन्वित करने के

लक्ष्य को ही सूचित करता है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि पूर्ववर्ती परम्परा में भी रस-सिद्धान्त के क्षेत्र को भाव-प्रधान साहित्य की सीमा के बाहर निकाल कर विचार प्रधान एवं कल्पना-प्रधान (रूप-प्रधान) साहित्य तक व्याप्त करने के प्रयास होते रहे हैं, यह दूसरी बात है कि पारस्परिक मेल, संगति एवं सामंजस्य के अभाव में वे परस्पर सूत्र-बद्ध नहीं हो पाये।

अस्तु, रस को सौन्दर्यानुभूति या आकर्षण की अनुभूति के अर्थ में व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए विचार-प्रधान, भाव-प्रधान, व कल्पना-प्रधान साहित्य में क्रमशः बौद्धिक औदात्य, भावात्मक सौन्दर्य, कल्पनात्मक चमत्कार की प्रमुखता स्वीकार की जा सकती है—साहित्यकार की रुचि, प्रवृत्ति, विषय-वस्तु एवं काव्य-रूप की विशिष्टता के अनुसार इनमें किसी भी प्रकार के साहित्य की रचना सम्भव है; तथा उन सभी से हम आकर्षण की अनुभूति या रस की निष्पित्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं, इतना अवश्य है कि उस अनुभूति के स्तर—मानसिक स्तर एवं प्रभाव की प्रकृति एवं मात्रा—में परस्पर थोड़ा अन्तर अवश्य रहेगा। कुछ रचनाओं का प्रभाव बौद्धिक स्तर तक सीमित रहता है तो कुछ हृदय को भी द्रवित करती हैं तो कुछ केवल चमत्कार उत्पन्न करके ही रह जाती हैं। अवश्य ही उच्चस्तरीय अनुभूति वही मानी जायगी जो केवल इन्द्रियों, मन ओर बुद्धि को ही प्रभावित एवं आकर्षित न करके चेतना के विभिन्न पक्षों और अंगों को प्रभावित, उद्वेलित एवं समन्वित करती हो; किन्तु ऐसी अनुभूति सभी रचनाओं से संभव नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इसीलिए रसानुभूति के अनेक स्तर-भेद करते हुए बौद्धिक आकर्षण एवं कल्पनात्मक आकर्षण—चमत्कार—की अनुभूति को 'मध्यम कोटि' की अनुभूति कहा है। किन्तु इस बारे में कोई एक निर्णय देना आंशिक सत्य की प्रतिष्ठा करना होगा—कुछ विद्वान जो श्रृंगार को ही एक मात्र रस मानते रहे हैं वे भावात्मक सौन्दर्य को; शान्त और उदात्त को प्रमुखता देने वाले बौद्धिक आकर्षण को तथा कल्पना और शैली को प्रमुखता देने वाले चमत्कार एवं अद्‌भुत रस या रूपात्मक आकर्षण को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित करते रहे हैं। वस्तुतः सौन्दर्य, औदात्य एवं चमत्कार कवि और पाठक की प्रकृति, रुचि एवं प्रवृत्ति के तीन पक्षों—भाव-प्रधान, विचार-प्रधान, कल्पना-प्रधान—के सूचक हैं; अतः व्यक्तित्व-भेद के अनुसार विभिन्न कवियों और पाठकों की रुचि, एवं प्रवृत्ति इनमें से किसी एक में अधिक सम्भव है। कई बार किसी एक युग, समाज, एवं वर्ग की ही रुचि एवं प्रवृत्ति इनमें से किसी एक पक्ष की ओर अधिक उन्मुख हो जाती है—अतः इस सम्बन्ध में हम 'रुचि-भेद' को ही मूल आधार मान सकते हैं।

सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति के क्षेत्र में सौन्दर्य एवं माधुर्य के लाक्षणिक अर्थ को ही अभिधात्मक रूप में ग्रहण कर लिए जाने के कारण ही यह शंका प्रस्तुत हुई कि कला में कुरूप, असुन्दर, वीभत्स एवं करुण आदि से रस या आनन्द की अनुभूति क्यों होती है? यदि हम सौन्दर्य के स्थान पर आकर्षण एवं उसके तीन भेदों को ध्यान

में रख कर विचार करें तो इस शंका का मूलाधार ही नहीं रहता। जिन रचनाओं में ऐन्द्रियक सौन्दर्य नहीं होता उनमें भावात्मक आकर्षण रहता है, तथा जिनमें भावात्मक दृष्टि से कुरूपता या वीभत्सता रहती है उनमें बौद्धिक आकर्षण रहता है, इसी से उनमें हमारी रुचि एवं प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिए, हमारी कुरूप माँ या कुरूप सन्तान हमारी इन्द्रियों को विकर्षणमूलक बोध प्रदान करती हैं फिर भी उनमें हमारी रुचि, प्रवृत्ति एवं आत्मीयता का कारण भावात्मक सम्बन्ध है—सहानुभूति और आत्मीयता के कारण उनसे हमें प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार महात्मागाँधी का बाह्य व्यक्तित्व कुरूप होता हुआ भी बौद्धिक आकर्षण के कारण हमें आकर्षित करता है। सौ रुपये का मैला-कुचला नोट ऐन्द्रियक दृष्टि से विकर्षक होता हुआ भी बौद्धिक आकर्षण के कारण इतना ग्राह्य होता है कि उसे हम किसी सुन्दर, चिकने व रंग-बिरंगे कागज के बदले में भी देना नहीं चाहेंगे। संक्षेप में, व्यावहारिक जीवन के कुरूप एवं कुत्सित रूप एवं कटु भाव कला में औदात्य या बौद्धिक तत्त्वों से अथवा कल्पनात्मक (रूपगत) तत्त्वों से समन्वित होकर ही हमें आकर्षण की अनुभूति प्रदान करते हैं। इसीलिए हमें उनसे आह्लाद की अनुभूति होती है क्योंकि प्रत्येक प्रकार के आकर्षण का आस्वाद अन्ततः प्रसन्नता दायक होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस भाव या स्थायी भाव न होकर भाव या अनुभूति की एक ऐसी अनुभूति है जो निर्वैयक्तिक या साधारणीकृत होती है। एक तो कवि या साहित्यकार अपनी रचना में भावों, विचारों एवं कल्पित रूपों को नहीं—अपितु इनकी अनुभूति को प्रस्तुत करता है जिसे पाठक निर्वैयक्तिक या साधारणीकृत रूप में ग्रहण करता है। भारतीय एवं पाश्चात्य कला-चिन्तन के क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्त—भावकत्व व्यापार, साधारणीकरण, सहानुभुति (Empathy), तटस्थता (Detachment), निःस्वार्थता (Disinterestedness), निर्वैयक्तिकता, मानसिक अन्तराल (Psychical distance) आदि से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त—अन्ततः कलानुभूति के निर्वैयक्तिक या सामान्यीकृत रूप का ही प्रतिपादन करते हैं; मनोविज्ञान के अनुसार इसे 'अहं शून्य' या 'अहं से मुक्त' अनुभूति कह सकते है। डा० भगवानदास ने अपने ग्रन्थ 'The Science of Emotions' में सप्रमाण सिद्ध किया है कि हमारी सभी अनुभूतियों के मूल में आकर्षण-विकर्षण की अनुभूति होती है; जिनमें अहं समन्वित हो जाने पर राग-द्वेष मूलक सभी भावों का उद्भव हो जाता है। अतः कह सकते हैं 'आकर्षण+अहं=भावानुभूति' या 'भावानुभूति—अहं=आकर्षण' अर्थात् अनुभूति की निर्वैयक्तिकता का अर्थ है, उसका अहं से मुक्त होना और अहं से मुक्त अनुभूति (अनुकूल या प्रसन्नतादायक अनुभूति) ही 'आकर्षण' की अनुभूति है। वस्तुतः लौकिक क्षेत्र की अन्य अनुभूतियों एवं कलानुभूतियों में 'अहं' का ही अन्तर है। व्यावहारिक क्षेत्र में आकर्षण की अनुभूति तुरन्त ही अहं से मिश्रित

होकर इच्छा, राग-द्वेष आदि में परिणित हो जाती है, जिससे हम शुद्ध आकर्षण का आस्वाद प्राप्त नहीं कर पाते जबकि कलानुभूति में हम अहं मुक्त अनुभूति अर्थात् शुद्ध आकर्षण की अनुभूति का आस्वाद प्राप्त करते हैं, किन्तु जो लोग काव्य रचयिता या काव्यगत पात्र के प्रति व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण आस्वादन के समय अहं-मुक्त नहीं हो पाते वे शुद्ध आकर्षण या रस की शुद्ध अनुभूति भी प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। यदि व्यावहारिक जीवन में भी हम अहं मुक्त होने की स्थिति प्राप्त कर लें तो उस स्थिति में समस्त जगत् एक रंगीन मंच तुल्य प्रतीत हो सकता है। संसार में सुन्दर वस्तुओं, सुन्दर दृश्यों, व सुन्दर व्यक्तियों का अभाव नहीं है किन्तु अपन-पराये (अहं) की भावना के कारण ही हम कई बार दूसरों की सुन्दर वस्तु से प्रसन्नता के स्थान पर ईर्ष्या, कुण्ठा, अभाव, लोभ, क्रोध आदि के कटु एवं कष्ट-दायक भावों की अनुभूति प्राप्त करते हैं। अस्तु, संक्षेप में रस विभिन्न तत्त्वों व रूपों की अनुभूति का निर्वैयक्तिक आस्वादन मात्र है, वह चाहे किसी भी माध्यम से प्राप्त हो। निर्वैयक्तिक अनुभूति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आकर्षण की अनुभूति है।

रस के परम्परागत अवयवों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं व्यापक दृष्टि से विवेचन से उनके ऐसे रूपों की उपलब्धि होती है जो न केवल भाव-प्रधान साहित्य अपितु विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान रचनाओं की भी व्याख्या के आधार बन सकते हैं। संक्षेप में कहें तो हमने स्थायी भाव को मानव-मन की सभी परम्परागत एवं चिरकालीन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि के रूप में **'केन्द्रीय तत्त्व'**, संचारी भाव की विभिन्न अनुभूतियों, व तत्त्व बोध एवं रूप-बोध से प्राप्त संचरणशील अनुभूतियो के प्रतिनिधि के रूप में **'सहयोगी तत्त्व'**, आलम्बन-विभाव को न केवल व्यक्ति विशेष तक सीमित रखकर पदार्थों, वस्तुओं, लक्ष्यों आदि सभी आधारभूत विषयों के रूप में स्वीकार करते हुए **'आधारभूत हेतु'**, के रूप में, 'उद्दीपन विभाव' को स्थितियों, परिस्थितियों, वातावरण सम्बन्धी सभी तत्त्वों का प्रतिनिधि मानते हुए **'परिवेश या सन्दर्भ'** के रूप में तथा अनुभावों को विभिन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों के रूप में स्वीकार करते हुए 'माध्यम' की संज्ञा प्रदान की है। वस्तुतः रसावयवों के इन नये रूपों—केन्द्रीय तत्त्व (स्थायी भाव), सहयोगी तत्त्व (संचारी भाव), आधारभूत हेतु (आलम्बन), सन्दर्भ या परिवेश (उद्दीपन) एवं माध्यम (अनुभाव) के आधार पर न केवल रस-सिद्धान्त के विभिन्न अवयवों की परम्परागत विशेषताओं को व्यापक सन्दर्भ प्राप्त हो जाता है अपितु वह भाव-प्रधान, विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान—तीनों प्रकार के साहित्य के घटक तत्त्वों एवं उनकी सर्जन-प्रक्रिया व आस्वादन-प्रक्रिया की भी व्याख्या सुसंगत रूप में करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है—यह विस्तार से विभिन्न अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है। साहित्य के विभिन्न बाह्य रूपों या विधाओं का भी विश्लेषण इनके आधार पर भली-भाँति सम्भव है।

इस प्रकार इस नूतन एवं व्यापक रूप में रस सिद्धान्त का समन्वय एक ओर तो विभिन्न परम्परागत भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय मतों, सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों व मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं से हो जाता है तो दूसरी ओर उसका सबन्ध भाव-प्रधान, व कल्पना-प्रधान अथवा सौन्दर्यमूलक, औदात्यमूलक एवं चमत्कारमूलक साहित्य से, प्रचलित काव्य-रूपों व विधाओं एवं अभिव्यंजनाशैलियों से और सर्जन-प्रक्रिया व आस्वाद-प्रक्रिया की बहुमान्य मनोविश्लेषणात्मक व मनोविज्ञानिक व्याख्याओं से भी स्थापित हो जाता है—ऐसी स्थिति में वह एकांगी व एक पक्षीय सिद्धान्त न रहकर काव्यानुभूति, व सौन्दर्यानुभूति की सर्वांगीण व्याख्या का आधार बन जाता है। फिर भी उसकी यह चरम परिणति या—उसका अंतिम रूप नहीं है; इसमें भी अनेक संशोधन, परिवर्तन परिष्कार की अपेक्षाएँ संभव है, किन्तु वर्तमान संदर्भ में एक व्यक्ति की दृष्टि जितना देख सकती है; उतना उसमें अवश्य है। वैयक्तिक दृष्टि की उपलब्धि एवं सीमाएं—दोनों की ही उसमें संभावना है—यह दूसरी बात है कि हमने अपनी वैयक्तिक दृष्टि को भी निर्वैयक्तिक रूप देने का प्रयास पूरी शक्ति से किया है। पर पूर्ण निर्वैयक्तिकता का दावा करना मिथ्याभिमान व अहंकार का ही सूचक होगा और बिना पूर्ण निर्वैयक्तिकता के सत्य के पूर्ण रूप के साक्षात्कार की बात भी मिथ्या सिद्ध होगी। अस्तु, कलानुभूति या रसानुभूति के पूर्ण एवं अन्तिम सत्य को खोज लेने का दावा हम नहीं करते, किन्तु तत्त्व-विकास एवं सत्यानुसंधान की दीर्घ शृंखला में एक नूतन कड़ी जोड़ देने का एक विनम्र प्रयास अवश्य इसे कह सकते हैं।

•

सहायक पुस्तक-सूची

(क) हिन्दी पुस्तकें

१. अभिनव भारती (हिन्दी); सं० डा० नगेन्द्र एवं आचार्य विश्वेश्वर
२. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, सं० डा० नगेन्द्र
३. आचार्य क्षेमेन्द्र; डा० मनोहरलाल गौड
४. आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्य-शास्त्रीय अध्ययन; डा० मनोहर काले
५. कला, साहित्य और समीक्षा; डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र
६. काव्य-दर्पण; रामदहिन मिश्र
७. काव्य में उदात्त तत्त्व; डा० नगेन्द्र
८. काव्य-प्रकाश; मम्मट, अनु० हरिमंगल मिश्र
९. काव्यादर्श दंडी, अनु० रणवीर सिंह
१०. कुवलयानन्द; सं० डा० भोलाशंकर व्यास
११. ग्रीक साहित्य-शास्त्र; हरीश करुण
१२. नये प्रतिमान : पुराने निकष; लक्ष्मीकान्त वर्मा
१३. नाट्य-शास्त्र; सं० बलदेव उपाध्याय
१४. पाश्चात्य समीक्षा; ड० केसरी नारायण शुक्ल
१५. बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य; डा० कृष्णदेव झारी
१६. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा; डा० नगेन्द्र
१७. भारतीय काव्य-सिद्धान्त; सं० काका कालेलकर
१८. भारतीय नाट्य परम्परा और दशरूपक; डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१९. भारतीय दर्शन; श्री बलदेव उपाध्याय
२०. भारतीय साहित्य-शास्त्र; श्री बलदेव उपाध्याय
२१. मनोविज्ञान; डा० जदुनाथ, सिन्हा
२२. मनोविश्लेषण और मानसिक प्रवृत्तियाँ; डा० पद्मा अग्रवाल
२३. रस-गंगाधर, पं० जगन्नाथ, अनु० मदन मोहन झा
२४. रस-मीमांसा; पं० रामचन्द्र शुक्ल
२५. रस-विमर्श; डा० राममूर्ति त्रिपाठी
२६. रस-सिद्धान्त; डा० नगेन्द्र (प्रथम संस्करण)

२७. रस-सिद्धान्त की दार्शनिक व नैतिक व्याख्या; डा० तारकनाथबाली
२८. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र; डा० निर्मला जैन
२९. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित
३०. रस-शास्त्र और सहित्य-समीक्षा; डा० कृष्णदेव झारी
३१. समीक्षा-दर्शन; डा० रामलालसिंह
३२. सरल मनोविज्ञान; लालजी शुक्ल
३३. साधारणीकरण : शास्त्रीय विवेचन; डा० रामलखन शुक्ल
३४. सामान्य मनोविज्ञान; डा० एस० एस० माथुर
३५. सामान्य मनोविज्ञान; रामबाबू गुप्त
३६. साहित्य-दर्पण; आ० विश्वनाथ,
३७. साहित्य-विज्ञान;; डा० गणपतिचन्द्र गुप्त
३८. साहित्यिक निबन्ध; डा० गणपतिचन्द्र गुप्त
३९. सिद्धान्त और अध्ययन; डा० गुलाबराय
४०. सौन्दर्य-मीमांसा (हिन्दी अनुवाद); कान्त
४१. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास; डा० गणपतिचन्द्र गुप्त

(ख) अँग्रेजी पुस्तकें

1. Aesthetics ; Benedetto Croce, 1956.
2. Aesthetics & Criticism ; Harold Osborne, 1955.
3. A History of Esthetics ; K.E. Gilbert and Kuhn, 1954.
4. A History of Aesthetics ; Bosanquet ; Second,
5. A History of Criticism and Literary Taste in Europe ; G. Saintsbury, 7th edition.
6. An Introduction to Aesthetics ; E.F. Carritt, 1955.
7. An Introduction to Aesthetics ; Huntermeads, 1952.
8. An Introduction to the Study of Literature ; W.H. Hu son, '57
9. An Introduction to Social Psychology ; W. Mcdougall, 1950.
10. An outline of Psychology ; W, Mcdougall, 1949.
11. Art as Experience ; John Dewey, 1934.
12. Biographia Literaria ; S.T. Coleridge, 1939.
13. Contemporary Studies in Aesthetics ; Coleman, 1968.
14. Creative Imagination ; J.E. Downey, 1929.
15. Critique of Judgement ; Kant, Trans. Bernard, 1951.
16. Elements of Poetry ; I.R. Krenzer, 1955.
17. Elizabathen and Metaphysical Imagery ; Tuve, 1957.
18. Emotions in Man and Animal ; P.T. Young, 1947.
19. Encyclopaedia of Arts ; D.D. Runes, 1946

20. English Prose Style ; Herbart Read, 1956.
21. Evolution and Creation ; Oliver Lodge, 1926.
22. Illusion and Reality ; Christopher Caudwell, 1947.
23. Indian Aesthetics ; Dr. K.C. Pandey.
24. Language and Reality ; W.H. Urban, 1957.
25. Language and Reality ; M. Hope Parker, 1949.
26. Literary Criticism : A short History ; Brooks, 1957.
27. Nature of Thought ; Brand Blanshard, 1939.
28. Origin Through Evolution ; Nathen Fasten, 1930.
29. Poetic Process ; George Whally, 1953.
30. Psychology ; R.S. Woodworth, 1937.
31. Studies in Sanskrit Aesthetics ; A.C. Shastri, '52.
32. The Analysis of Beauty ; William Hogarth, 1955.
33. The Art and Art-Criticism. T.M. Greene, 1947.
34. The Meaning of Art ; Herbar't Read 1951.
35. The Principles of Art ; R.G. Collingwood, 1945.
36. The Psychology and Imagination ; J. P. Sartre, 1948.
37. The Psychology of Jung ; J. Jacobi, 1946.
38. The Quest for Beauty ; J. L. Jarrett, 1957.
39. The Science of Emotions ; Dr. Bhagwan dass, 1953.
40. The Sense of Beauty ; George Santayana, 1949.
41. The Structure and Dynamics of the Psyche ; C.G. Jung, 1963.
42. The Theory of Beauty ; E.F. Carritt, 1949.
43. Western Aesthetics ; Dr. K.C. Pandey,
44. What is Art ? Leo Tolstoy.

हमारे उत्कृष्ट आलोचना-ग्रन्थ

आस्था के चरण	डा० नगेन्द्र	५०.००
रस सिद्धान्त	डा० नगेन्द्र	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र	१७.५०
देव और उनकी कविता	डा० नगेन्द्र	१२.००
आलोचक की आस्था	डा० नगेन्द्र	७.००
अनुसंधान और आलोचना	डा० नगेन्द्र	४.००
आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	डा० नगेन्द्र	५.५०
सियारामशरण गुप्त	डा० नगेन्द्र	१०.००
काव्य-बिम्ब	डा० नगेन्द्र	४.००
साकेत : एक अध्ययन	डा० नगेन्द्र	७.५०
सुमित्रानन्दन पंत	डा० नगेन्द्र	७.५०
आधुनिक हिन्दी नाटक	डा० नगेन्द्र	५.००
नई समीक्षा, नये संदर्भ	डा० नगेन्द्र	७.००
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	डा० नगेन्द्र	४.००
हिन्दी समस्या नाटक	डा० मान्धाता ओझा	२५.००
रस-सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र	डा० निर्मला जैन	३०.००
रंगमंच और नाटक की भूमिका	डा० लक्ष्मीनारायण लाल	१२.००
देव-ग्रन्थावली	डा० लक्ष्मीधर मालवीय	२०.००
महिमभट्ट	डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	२५.००
ताजुज़्बेकी	डा० भोलानाथ तिवारी	८.००
साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान	सं० डा० देवराज उपाध्याय	१०.००
सूर की काव्य-साधना	डा० गोविन्दराम शर्मा	२०.००
विद्यापति-विभा	डा० वीरेन्द्रकुमार बड़सूवाला	१५.००
हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास	डा० शान्ति मलिक	४०.००
साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन	डा० गणपतिचन्द्र गुप्त	३५.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली